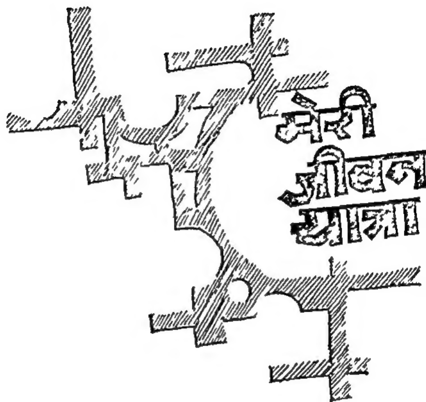
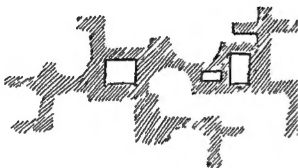
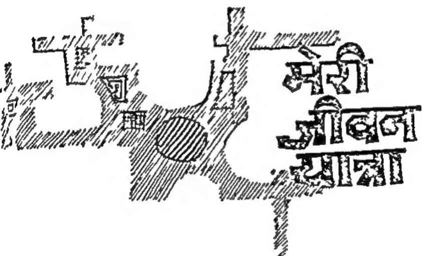

मेरी
जीवन
यात्रा





राजकमल प्रकाश

राहुल सांकृत्यायन



४

प्रथम संस्करण एप्रिल १९६७

मूल्य ११ ००

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८ फैज बाजार दिल्ली ६

मुद्रक
नवीन प्रेस
नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ स्वर्गीय महापण्डित राहुलजी की बहुचर्चित 'जीवन यात्रा' का शेष भाग है, जिसे तीन खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम तथा द्वितीय खण्ड को पढ़ने वाले राहुलजी के पाठक शेष खण्डों के लिए भी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे, किन्तु लेखक की लेखनी से वर्षों पहले लिखे जाने के बाद भी यह खण्ड किन्हीं कारणों से अप्रकाशित रहा। लेखक ने अपने जीवन-काल में उसे प्रकाशित करवाने की ओर उतनी तत्परता भी नहीं दिखलाई क्योंकि वे अपने जीवन-काल में इसे प्रकाशित देखने के इच्छुक नहीं थे।

राहुलजी के देहावसान के बाद हिन्दी प्रेमियों तथा राहुल-साहित्य के पाठकों ने जीवनी के शेष खण्डों के लिए बहुत उत्कण्ठा व्यक्त की है। आज यह आपके हाथों में आ रहा है। पाठक इस ग्रन्थ की नरम और गरम दोनों प्रकार की शैली का रसास्वादन करेंगे जो राहुलजी की चुस्त लेखनी की विशेषता रही है।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढ़कर उसके प्रकाशन को सम्भव बनाने के लिए हम राहुलजी के अनन्य मित्र श्रद्धेय भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी का कृतज्ञ होना चाहिए। ग्रन्थ को इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित कर देने के लिए हम राजकमल प्रकाशन के आभारी हैं।

कमला सांकृत्यायन

राहुल निवास
२१, कचहरी रोड,
दार्जिलिंग

क्रम

१

रूस से लौटा

बम्बई—१७ अगस्त १९४७ को मैं 'स्ट्रैथमोर' जहाज से बम्बई उतरा। दो सप्ताह से अधिक बम्बई में ही रहा। १५ अगस्त को अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। उस दिन भारत के और भागों की तरह बम्बई में भी स्वतन्त्रता का उत्सव मनाया गया। हमें इस बात का अफसोस था, कि हम उस पुण्य पर्व के दो दिन बाद बम्बई उतरे। लाई सा के हुए परिवर्तन को ही हम देखना नहीं था, बल्कि अंग्रेजों के शासन की कालरात्रि के अन्त के रूप में देश में जो ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ था, उसे भी देखना था। बम्बई में पार्टी-केन्द्र में देश भर के अखबार आते थे। हिन्दी में पत्र पत्रिकाओं की बाढ़ सी आ गई थी, लेकिन सब चीज के लिए नियए रहे थे। भाग्य मराठी से निस्तार कैसे हो सकता है? जानकर दुःख हुआ, कि जिस वामपन्थ के ऊपर देश का भविष्य निर्भर है, वह आपस में बुरी तरह से उलझ रहा है। कम्युनिस्ट चाहते थे, कि सब में एकता स्थापित हो, लेकिन सोशलिस्ट, फारवर्ड ब्लाक, क्रांतिकारी समाजवादी पार्टियाँ इसके लिए तैयार नहीं थी।

सबसे दिल हिलाने वाली बात यह थी कि १५ अगस्त के महोत्सव के साथ ही बँटे हुए भारत में आग लग गई। पंजाब में मानव-मानव को घास मूली की तरह काट रहा था—बच्चा, बूढ़ा, स्त्री किसी की जान सुरक्षित

नहीं थी। सामान्त कमीशन ने पूर्व और पश्चिम की सीमाओं के बारे में निर्णय दे दिया था। जहाज पर मेरे साथ आने वाले सिक्ख भाई ने बड़े विश्वास के साथ कहा था—लाहौर जरूर भारत को मिलेगा, नहीं तो खून की नदियाँ बह जाएँगी। लाहौर हिन्दुस्तान को कैसे मिल सकता था जब कि वह मुस्लिम बहुमत समुद्र के बीच एक द्वीप सा था? हाँ, खून की नदियाँ उस वक्त बह रही थी। सीमा निर्धारण के पहले यदि दोनों ओर से अनिच्छुक निवासियों को बदलने का प्रबन्ध कर दिया गया होता, तो शायद इन दिनों का दर्शन की नौबत नहीं आती। राजनीतिज्ञों को यह पहले ही से सोच लेना चाहिए था, कि देश के बटवारे के समय ऐसी स्थिति का पैदा होना बिलकुल सम्भव है। बम्बई में बैठा-बैठा इन खबरों को सुनकर मैं केवल चुपचाप मार्मिक वेदनाओं को सह सकता था।

अगस्त का महीना वर्षा का ही महीना है। लगातार वर्षा हो रही थी अब के साल वह देर से शुरू हुई थी। वर्षा के होते भी पसीना तंग कर रहा था। सड़कें और गलियाँ कीचड़ से भरी थीं। तो भी जहाँ-तहाँ व्याख्यान देने के लिए जाना पड़ता था। २१ अगस्त को ही महादेव भाई (माहो) २८ सितम्बर तक साथ रहने के लिए आ गए। एकाकी तपस्या ही की जा सकती है दूसरे कामों के लिए दो रहने से मन लगता है। २३ अगस्त को मुख्य वर्ज़न विहार में जाना पड़ा। आचार्य धर्मानन्द कोसाम्बी का बनवाया यह पुनीत विहार था। कितनी ही बार मैंने उनसे यहाँ पर मुलाकात की थी। सफेद दाढ़ी से ढका उनका सौम्य मुख कभी भूला नहीं जा सकता। उनकी किसी से पटती नहीं थी। क्यों यह मुझे समझ में नहीं आता था। वह सरलता की साकार मूर्ति थे, और व्यवहार में अति मधुर। जब कभी जाने पर चाय बनाकर पिलाने का उनका आग्रह होता और चाय बिना पिंड नहीं छूटता था जिन भावों के साथ बनती थी उसके कारण वह सौगुनी मधुर हो जाती थी। लंका जाने पर मैंने उनकी जीवन-यात्रा गुजराती में पढ़ी थी। मराठी और गुजराती में बौद्ध साहित्य के निर्माण का उन्होंने भारी काम किया। पाली का गम्भीर ज्ञान उनकी कृतियों में झलकता

है। वह विद्वान् और साथ ही घुमक्कड भी थे। शायद यह घुमक्कडी प्रवृत्ति ही उन्हें स्थान और व्यक्ति से रुष्ट कर देती थी। वह व्यवस्था के अत्यन्त प्रेमी थे और जरा भी अव्यवस्था देखने पर अपने को सम्भाल नहीं सकते थे। यही कारण था जो वह कहीं भी टिक नहीं सकते थे। लेकिन क्या, इस एक दोष के कारण उनके सैकडों गुण भुलाए जा सकते हैं? मुझे यह आशा नहीं थी कि मेरे प्रवास के समय वह सदा के लिए चल बसेंगे और सो भी अपनी इच्छा से। शरीर व्याधि से जर्जर हो रहा था। जिसे देखकर उनके मन में भारी निराशा पैदा हो गई। वह अपने जीवन को भार समझने लगे। नहीं चाहते थे कि उस भार को दूसरे भी उठाने के लिए मजबूर हों। अनशन शुरू कर दिया जिसका अन्त जीवन के साथ हुआ। यह आत्महत्या थी। आचार्य कौशाम्बी बौद्ध थे और जानते थे आत्महत्या को बुद्ध ने बुरा बतलाया है। उस दिन उस स्थान में बोलते समय आचार्य का ख्याल आना जरूरी था। हृदय विचलित हो गया, गला रुँध गया और बोलना समाप्त करना पड़ा था। लेकिन, प्रिय हो या अप्रिय सबका महाप्रस्थान एक दिन होना ही है।

२५ अगस्त को चेक का पैसा भुनाने के लिए टामस कुक के आफिस हम जा रहे थे। भिंडी बाजार में ट्राम की प्रतीक्षा कर रहे थे। बहुत भीड़ नहीं थी, लेकिन वह इतनी जरूर थी कि पाकेटमार अपना काम बना सके। कुर्ते में मेरे पाकेट में से उसने कोई चीज निकाल ली। उसने समझा, जिस चमड़े की थैली को वह निकाल रहा है उसमें नोट भरे होंगे। लेकिन उसे कितना निराश होना पड़ा होगा, जब उस थैली में नोट की जगह मेरा पासपोर्ट मिला होगा। पासपोर्ट के खो जाने की सूचना मैंने पुलिस को दे दी। भले मानुस पाकेटमार ने पासपोर्ट को किसी तरह पुलिस के पास पहुँचाने में जरूर सहायता की, तभी तो कुछ समय बाद वह मेरे पास चला आया। चोर के पास गया पासपोर्ट लौट सकता है, लेकिन पासपोर्ट के दूसरी प्रकार के भी चोर होते हैं, जिनके हाथ में पड़ा वह फिर लौट नहीं आता। मैं नहीं जानता कि पासपोर्ट की चोरी करना खुफिया पुलिस

के वक्तव्यों में से है, लेकिन सुविधा के एक चोर ने लड़ाई के दिनों में ऐसा किया था। पाकेटमार के पास से लौटा यह पासपोर्ट भी उसी तरह एक दिन कलिम्पोंग में गायब हो गया। पासपोर्ट न होने से रूस की यात्रा का चेक भुनाने में दिक्कत हो सकती थी, लेकिन वहाँ के आदमी भलमानुस निकले, उन्होंने विश्वास करके रुपये दे दिए।

व्याख्यान रोज ही कहीं न कहीं होते थे। कभी-कभी एक बार दादर में मराठीभाषी नर-नारियों के सामने भाषण देने में कुछ अड़चन सी मालूम हुई। लेकिन मैं जानता था, उस समय यदि संस्कृत शब्दों से लदी भाषा हिन्दी का उपयोग किया जाए, तो श्रोताओं के समझने में आसानी होती है। बंगाल में भी यह तजर्बा अक्सर देखा। असल बात यह है कि उर्दू छोड़ हमारे देश की सभी साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत के एक ही तरह के शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिनके कारण हम एक दूसरे की भाषा को बहुत कुछ समझ लेते हैं।

अंग्रेजों के शासन-काल में ही भारतीय करोड़पतियों ने अखबारों को हाथ में लेने का काम शुरू कर दिया था। वह ऐसा करके जोखिम नहीं उठा रहे थे, क्योंकि अंग्रेजों के खिलाफ कलम की लड़ाई लड़ना उनका काम नहीं था। बहुत हुआ, तो दबी जबान से राष्ट्रीय आन्दोलन का समय समय पर कुछ समर्थन कर दिया। जब अंग्रेज अपने पत्रों को बेचने लगे, तो भारतीय पूंजीपति उन्हें सम्भालने के लिए सामने आए। बिड़ला, डालमिया, गोयनका अब पत्रों के राजा बन गए थे। खैरियत यही है कि अभी पुस्तक प्रकाशन के मैदान में वह खुलकर नहीं आए, नहीं तो लेखकों को भी आसानी से खरीद सकते थे। यह सब प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए हो रहा था, इसे निरा भोला आदमी मान सकता है। मुद्रण पर आधिपत्य दूसरे पूंजीवादी देशों में भी है, जिसे स्वतन्त्रता कहकर ढोल पीटा जाता है।

२६ अगस्त को शाम के वनमाली हाल में 'बुद्ध और मार्क्स' पर मुझे बोलने के लिए कहा गया। मेरी रुचि का विषय था। आर्य समाज के स्वतन्त्र विचारों के बाद मैं बुद्ध के पास पहुंचा और उनके अनीश्वरवाद, विचार-

स्वातन्त्र्यवाद आर्थिक समतावाद में बहुत प्रभावित हुआ। उसके बाद मार्क्स के विचारों को अपनाना मुझे बिल्कुल स्वाभाविक सा मालूम हुआ। बुद्ध का दर्शन इसमें और भी सहायक सिद्ध हुआ। बुद्ध विश्व की हरेक वस्तु को अनित्य मानते हैं। हरेक चीज क्षण क्षण बदल रही है बल्कि यह कहना चाहिए कि जो चीज क्षण क्षण बदल नहीं रही है वह दुनिया में है ही नहीं वह केवल कल्पना मात्र मिथ्याभ्रम है। अनात्मवाद अनीश्वरवाद अप्रामाण्यवाद ये सभी आदमी के मानसिक बन्धन को काट देते हैं। यह सब होते हुए भी बौद्ध धर्म या दर्शन वह काम नहीं कर सकता था, जिस मार्क्स की शिक्षा कर सकती है। मार्क्स का दुनिया और उसकी वस्तुओं की व्याख्या ही नहीं करना थी, बल्कि उन्हें बदलना था। बदलना या क्षणिक-वाद को बौद्ध भी मानते हैं, पर मनुष्य अपनी इच्छा में वस्तुस्थिति को अपने अनुकूल बदलने में समर्थ मार्क्स के बतलाए रास्ते से ही हो सका। कितने ही पैगम्बरों ने अपने को अन्तिम पैगम्बर होने का दावा किया। मार्क्स ने अपने को न पैगम्बर कहा न अन्तिम पैगम्बर होने का दावा किया। पैगम्बर का सामान्य अर्थ है, संदेशवाहक। संदेश से मतलब भगवान् के संदेश से है। बुद्ध और मार्क्स ईश्वर को नहीं मानते थे इसलिए वह भगवान् के सन्देशवाहक नहीं हो सकते थे। पर उन्होंने दुनिया को महान् सन्देश दिया, इसमें कौन इन्कार कर सकता है। बुद्ध ने अपने ज्ञानमय उपदेशों से मानवता के एक बहुत बड़े भाग को महत्व दिया तथा लाभान्वित किया, और मार्क्स तो अभी अधूरी यात्रा में ही मानवता के इतने बड़े भाग को अपने विचारों के सुफल से लाभान्वित कर चुके हैं जितना कभी किसी एक महापुरुष ने नहीं किया।

बम्बई या कोई भी महानगर संघर्ष, अशान्ति, दौड़ धूप और भगदड़ का स्थान है। अधिक परिचितों के होने पर वहाँ अधिक समय बातचीत और शिष्टाचार दिखलाने में लग जाता है। ऐसी जगह रहकर लिखने-पढ़ने जैसा कोई काम करना संभव नहीं, पर अभी तो मैं वैसा करने भी नहीं जा रहा था। सबसे पहले देश के काफी भाग को देखना और नई परिस्थिति का

समझना आवश्यक है। यह काम १ सितम्बर को बम्बई से प्रस्थान कर हमने किया। उस समय रेलों की अवस्था बहुत अनिश्चित थी टिकट मिलना आसान नहीं था। फिर मेरे साथ साढ़े तीन मन पुस्तकें भी चल रही थीं, जिन्हें मैं रूस से खास तौर से अपनी पुस्तकों के लिखने के लिए लाया था। उस दिन साढ़े ८ बजे रात को मैं प्रयाग के लिए रवाना हुआ। रात बीती। सबेरे के वक्त देखा चारों तरफ धरती हरियाली से ढँकी हुई है। बम्बई नगर में मुक्त प्रकृति का देखना संभव नहीं था। यहाँ वह बड़ी मनोहर मालूम होती थी। खाने की चीजें दुर्लभ, और चौगुने दाम पर बिक रही थी। दोपहर का खाना डेढ़ रुपये फी आदमी मिला। नाश्ते का रेस्तरां कार में यूरोपीय भोजन करने गये। चाय तीन रुपये दो आने, लेकिन सभी चीजें नीरस और अस्त-व्यस्त मालूम होती थीं। बैरा को परोसने का न कोई पर्वाह थी और न सफाई की। वह अंग्रेजों को ही बड़ा आदमी समझते थे जो अब भारत से चले गए थे। काले आदमियों के लिए उनके दिल में जो पहिले भाव था वही अब भी काम कर रहा था।

प्रयाग—२ सितम्बर को १० बजे हम प्रयाग पहुँचे। बहुत से मित्र स्टेशन पर आये थे। डा० बदरीनाथप्रसाद के साथ हम उनके बँगले पर गये। डा० बदरीनाथ प्रसाद प्रयाग में मेरे लिए वैसे ही थे जैसे पटना में मित्रा समय डा० काशीप्रसाद जायसवाल। उनके यहाँ मैं बिलकुल अकृत्रिम आत्मीयता अनुभव करता था। कितने ही समय तक घर और बाहर वालों से रूस की यात्रा पर बातें होती रहीं। शायद सन् मुल्क में आना कारण हो पसीने की चिपचिपाहट से तबीयत बड़ी परेशान रहती, जिसका निवारण पंखा ही कर सकता था लेकिन उसे साथ लेकर तो घूमा नहीं जा सकता था।

प्रयाग में प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन होने जा रहा था जिसका सभापति मुझे बनाया गया था। सम्मेलन ६ से ८ सितम्बर तक होता रहा। उद्घाटन डा० अमरनाथ झा ने किया था। भाषा और साहित्य के बारे में डा० झा के विचार बड़े सुधरे हुए थे। वह मातृ भाषाओं के महत्व को सम

थे। उनकी अपनी मातृभाषा मैथिली उपेक्षित-सी थी, जिसका उन्हें दर्द था, इसीलिए वह अवधी, ब्रज आदि मातृभाषाओं की स्थिति के बारे में भी ठीक तरह विचार कर सकते थे। हिन्दी-उर्दू का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। प्रश्न वस्तुतः युक्तप्रान्त और पूर्वी पंजाब का ही था। मेरा विचार था, उर्दू को हिन्दी लिपि में लिखे जाने पर इस समस्या का बहुत कुछ हल हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उर्दू को अरबी लिपि में प्रकाशित न किया जाय। हाँ अरबी लिपि तक सीमित रख कर बहुसंख्यक पाठकों को वंचित नहीं करना चाहिए।

इधर सम्मेलन हो रहा था, उधर पंजाब की मार-काट के छींटे प्रयाग पर भी पड़ने लगे। ६ सितम्बर को छुरे से किसी आदमी के मारे जाने की खबर मिली। अगले दिन रात को कर्फ्यू लगा दिया गया—बिना पास के रात को आदमियों का आना-जाना निषिद्ध हो गया। पहली रात घर पहुँचने के लिए श्री श्रीनिवासजी अपनी मोटर में सुख से जा रहे थे। रास्ते में कार में खराबी हो गई। कर्फ्यू का समय था। खैरियत हुई, जगह रहने के स्थान से दूर नहीं थी। अगले दिन पंजाब में कत्लेआम की खबरें बड़े जोर से आने लगीं। रेल में चलना निरापद नहीं था। शान्ति कायम करने के लिये सेनाएँ बराबर इधर से उधर भेजी जा रही थीं, जिसके कारण ट्रेन में जगह भी आसानी से नहीं मिलती थी।

८ सितम्बर को कवि-सम्मेलन हुआ। सुमन और सरदार जाफरी की कविताओं को लोगों ने बहुत पसन्द किया। अगले दिन जनकवि-सम्मेलन हुआ। शमशेर और बंशीधर शुक्ल की सरल और चुभती हुई कविताएँ बहुत पसन्द की गईं। जन-साहित्य-कविता को जनप्रिय देखकर कितने ही लोग उसकी नकल कर रहे थे, पर यह नकल अधिकतर बहुत भद्दी थी, और आधा तीतर आधा बटेर देखकर सहृदयों को विरक्ति होती थी। शिक्षित कवि के लिए लोक-कवि बनना और भी मुश्किल था, क्योंकि अहम्मन्यता के कारण वह निरक्षर जनकवि के चरणों में बैठने के लिए तैयार नहीं हो सकता था।

बनारस—प्रयाग से बनारस जाने के लिए बड़ी लाइन और छोटी लाइन दोनों मौजूद हैं। दिल्ली में इसी समय भारी साम्प्रदायिक दंगा हो गया, जिसके कारण बड़ी लाइन से जाना संदिग्ध हो गया था। हमने छोटी लाइन से ११ सितम्बर को प्रस्थान किया। महादेव भाई और नागार्जुनजी साथ थे। बनारस में अमृतरायजी के निवास पर गये। पहले पितरकुंडा पर रहते उन्हें देखा था अब वह गादौलिया के एक मकान में आ गये थे। प्रेस भी था अब वह यहीं रहेगा। किन्तु व्यवसाय स्वयं अपना स्थान निश्चित करता है। पीछे अमृतराय को प्रयाग जाने के लिए मजबूर होना पड़ा। उनकी माता शिवरानीदेवी गादौलिया में काशीवास करने के लिए रह गई है।

बनारस में चार दिन रहना था। इसी में १२ सितम्बर को सारनाथ हो आये। बाढ़ आई हुई थी वरना का पानी एक जगह सड़क पर चढ़ आया था। बनारस से सारनाथ जाने वाली सड़क उतनी खराब थी जितनी कभी नहीं देखी। सड़कों की ठेकेदारों पर बनवाने से काम कैसा होता है इसका तजर्बा मुझे पहले भी हो चुका था। बिहार में जब जिला बोर्ड गैर-सरकारी हो गया, तो ठेका अपने-अपने आदमियों को दिया जाने लगा जो पैसे में से अधिक से अधिक को अपने पाकेट में रखना चाहते थे। कच्ची ईंट जैसी बेकार की सामग्री से सड़कों का पक्की बनाते जो छः महीने भी ठीक से काम नहीं देती थी। ठेकेदारों की लूट और भी बढ़ी हुई है। रिश्वत का बाजार गर्म लूट में से कुछ दे देने पर इंजीनियर और ओवरसियर काम पास कर देते हैं। किसको पड़ी है काम को मजबूत बनाने की।

सारनाथ में सात-आठ भिक्षु मिले। बर्मी धर्मशाला में रितिमा बाबा की रोगी देखकर दुःख हुआ। अब वह तरुण से वृद्ध हो चुके थे। बर्मा की स्थिति अभी अनिश्चित थी जिसके कारण आर्थिक कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। महाबोधि हाई स्कूल में साढ़े तीन सौ विद्यार्थी पढ़ रहे थे। विद्यार्थियों के सामने भाषण देकर ४ बजे शाम को बनारस लौट आये।

१३ सितम्बर को यह सुनकर दिल को भारी धक्का लगा, कि बिसराम अब इस दुनिया म नहीं रहे—बिसराम आजमगढ के तरुण वियोगी लोक-कवि। कभी ही कभी ऐसे कवि पैदा होते हैं। वह अपनी मातृभाषा भोजपुरी म कवि बनने के लिए कविता नहीं करते थे। स्वांत सुखाय भी नहीं करते थे क्योंकि उनकी कविता सुख के लिए नहीं दुख के लिए होती थी। तरुणाई म ही उनकी प्राणप्रिया पत्नी मर गई वियोग ने उन्हें पागल बना दिया। यह दुनिया की किसी चीज को देखते ही अपनी प्रियतमा को याद करते थे। अपने सीधे सादे बिरहा को जोड़कर स्वयं गुनगुनाया करते थे। उन्होंने कागज पर उतारने के लिए उन बिरहा को नहीं रचा अपनी इष्ट देवी की पूजा के लिए शब्दों की माला बनाई। कानोकान उनके बिरहे दूसरों के पास पहुँचे, लोगों ने इन अनमोल मोतियों को परख भी लिया। बिसराम अपने सभी बिरहा को याद नहीं रख सकते थे, जो याद थे, उन्हें लिपिबद्ध करने की पूरी कोशिश नहीं की गई। समय-समय पर लिखकर बीस के करीब बिरहे एकत्रित किये जा सके यही बिसराम की कृति के रूप म बच रहे हैं, जिसका श्रेय श्री परमहंसलाल गुप्त को देना चाहिए। हम सभी इसके लिए अपराधी हैं जो बिसराम के और बिरहे नहीं जमा कर सके। लेकिन किसको पता था, यह वियोगी कवि २५ २६ वर्ष की उमर म ही चल बसेगा ? उनके बिरहे बतला रहे थे, कि जो बड़वा उनके हृदय मे धांय धांय जल रही है उसके कारण वह देर तक नहीं रह सकते।

डा० मंगलदेव शास्त्री से बिना मिले बनारस का आना पूरा नहीं हो सकता था। वह मेरे बहुत पुराने कृपालु मित्र हैं। साल भर ही बाद उन्हें पेंशन होने वाली थी। राजकीय संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य होकर उन्होंने उसके लिए बहुत से काम किये। रूढिवादियों के गढ को उन्होंने मुक्त होकर सांस लेने लायक बनाया। निश्चित ही है गंगा को उल्टी नहीं बहाया जा सकता। किसी संस्था को भी समय के प्रवाह के साथ ही आगे चलना होता है। कुछ साधु मित्रों ने मुझसे पूछा—हमारा क्या भविष्य है ? मैंने बतलाया था—"आपका और संस्कृत के गम्भीर पांडित्य का भाग्य एक साथ बँधा

बनारस—प्रयाग से बनारस जाने के लिए बड़ी लाइन और छोटी लाइन दोनों मौजूद हैं। दिल्ली में इसी समय भारी साम्प्रदायिक दंगा हो गया, जिसके कारण बड़ी लाइन से जाना सदिग्ध हो गया था। हमने छोटी लाइन से ११ सितम्बर को प्रस्थान किया। महादेव भाई और नागार्जुनजी साथ थे। बनारस में अमृतरायजी के निवास पर गये। पहले पितरकुंडा पर रहते उन्हें देखा था, अब वह गोदौलिया के एक मकान में आ गये थे। यहीं प्रेस भी था जब वह यहीं रहेंगे। किन्तु व्यवसाय स्वयं अपना स्थान निश्चित करता है। पीछे अमृतराय को प्रयाग आने के लिए मजबूर होना पड़ा। उनकी माता शिवरानीदेवी गार्गेलिया में काशीवास करने के लिए रह गई हैं।

बनारस में चार दिन रहना था। इसी में १२ सितम्बर को सारनाथ हो आये। बाढ़ आई हुई थी बरना का पानी एक जगह सड़क पर चढ़ आया था। बनारस से सारनाथ जाने वाली सड़क इतनी खराब थी, जितनी कभी नहीं देखी। सड़कों को ठेकेदारों पर बनवाने से काम कैसा होता है, इसका तजर्बा मुझे पहले भी हो चुका था। बिहार में जब जिला बोर्ड गैर-सरकारी हो गया तो ठेका अपने-अपने आदमियों को दिया जाने लगा, जो पैसे में से अधिक से अधिक को अपने पाकेट में रखना चाहते थे। कच्ची ईंट जैसी बेकार की सामग्री से सड़कों को पक्की बनाते जो छः महीने भी ठीक से काम नहीं देती थी। ठेकेदारों की लूट और भी बढ़ी हुई है। रिश्वत का बाजार गर्म, लूट में से कुछ दे देने पर इंजीनियर और ओवरसियर काम पास कर देते हैं। किसको पड़ी है काम को मजबूत बनाने की।

सारनाथ में सात-आठ भिक्षु मिले। बर्मी धर्मशाला में कित्तिमा बाबा को रोगी देखकर दुःख हुआ। अब वह तरुण से वृद्ध हो चुके थे। बर्मा की स्थिति अभी अनिश्चित थी जिसके कारण आर्थिक कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। महाबोधि हाई स्कूल में साढ़े तीन सौ विद्यार्थी पढ़ रहे थे। विद्यार्थियों के सामने भाषण देकर ४ बजे शाम को बनारस लौट आये।

१३ सितम्बर को यह सुनकर दिल को भारी धक्का लगा, कि बिसराम अब इस दुनिया में नहीं रहे—बिसराम आजमगढ़ के तरुण बिरहा गायक कवि। कभी ही कभी ऐसे कवि पैदा होते हैं। वह अपनी मातृभाषा भोज-पुरी में कवि बनने के लिए कविता नहीं करते थे। ख्याति सुनाम का नहीं करते थे, बल्कि उनकी कविता सुख के लिए नहीं दुःख के लिए होती थी। तरुणाई में ही उनकी प्राणप्रिया पत्नी मर गई, जिसने उन्हें पागल बना दिया। वह दुनिया की जिस चीज को देखते वही उनको प्रियतमा की याद कराते थे। अपने भोले सादे बिरहा को जोड़कर स्वयं गुनगुनाया करते थे। उन्होंने कागज पर उतारने के लिए उन बिरहा को नहीं रचा, अपना हृदय देवी की पूजा के लिए शब्दों की माला बनाई। कानोंकान उनके बिरहे दूसरों के पास पहुँचे, लोगों ने इन अनमोल मोतियों को परख भी लिया। बिसराम अपने सभी बिरहों को याद नहीं रख सकते थे, जो याद थे, उन्हें लिपिबद्ध करने की पूरी कोशिश नहीं की गई। समय-समय पर लिखकर रखे गये करीब [illegible] बिरहे एकत्रित किये जा सके, वही बिसराम की कृति के रूप में बच रहे हैं, जिसका श्रेय श्री परमेश्वरी लाल गुप्त को देना चाहिए। हम सभी इसके लिए अपराधी हैं जो बिसराम के और बिरहे नहीं लिखा के रख सके। लेकिन किसको पता था, यह बिरागी कवि २५-२६ वर्ष की उमर में ही चल बसेगा? उनके बिरहे बतला रहे थे, कि जो कन्या उनके हृदय में धाँय-धाँय जल रही है उसके कारण वह देर तक नहीं रह सकेंगे।

डा० भगवद्दत्त शास्त्री से बिना मिले बनारस का जाना पूरा नहीं हो सकता था। वह मेरे बहुत पुराने हृदय-मित्र हैं। साल भर ही बाद उन्हें पेंशन होने वाली थी। राजकीय संस्कृत कालेज के प्रकाशनाध्यक्ष होकर उन्होंने उसके लिए बहुत से काम किये। [illegible] उन्होंने [illegible] सीम एन लायक बनाया। निश्चित ही है [illegible] नहीं [illegible] सकता। जिस संस्था को [illegible] है। कुछ साधु मित्रों ने प्रश्न पूछा—[illegible] है? [illegible] था—'आपका और संस्कृत के [illegible]

हुआ है। स्वतन्त्र भारत में आज की आर्थिक स्थिति तथा भाषा की मुग्धता के कारण वे विद्यार्थी संस्कृत पढ़ना छोड़ देंगे, जो और शिक्षा पाने से वंचित हो क्षेत्रों की रोटियाँ खाकर संस्कृत पढ़ा करते थे। पढ़ने वाले भी तीस-तीस वर्ष संस्कृत की साधना नहीं करेंगे। दूसरों की तरह वह भी बीस पच्चीस वर्ष की उमर में पहुँच पढ़ाई समाप्त कर कोई काम सँभाल लेंगे। ऐसे समय संस्कृत का गम्भीर पाण्डित्य कैसे कायम रह सकेगा? पर निराश होने की आवश्यकता नहीं। साधु पच्चीस-तीस साल नहीं, अपने सारे जीवन को विद्याध्ययन में लगा सकते हैं। वही गम्भीर पाण्डित्य को अक्षुण्ण रख सकते हैं। संस्कृत विद्या वैसे साधु आजन्म गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि' कहती अब आप लोगों के पास आयेगी। और इस निधि की रक्षा करने के कारण आपकी उपयोगिता को लोग मानेंगे।

छपरा— बनारस से हम तीन दिन के लिए छपरा गए। १४ की रात की ट्रेन में हम चले थे और १५ तारीख को सवेरे बलिया पहुँचे। बलिया को देखकर हैलेटशाही जुल्म याद आने लगा। १९४२ में अंग्रेजों ने बलिया जिले पर वैसे ही जुल्म ढाए थे जैसे मार्शल ला के दिनों में उन्होंने पंजाब में किया था। बलिया वालों ने जुल्मों का बड़े साहस के साथ सामना किया था और अपनी स्वतन्त्रता की भावना का दमन नहीं किया। बलिया के वीर सबसे चित्तू पांडे याद आ रहे थे। भोजपुरी ने ऐसा बकना शायद ही कभी पैदा किया हो। सन् ४२ के आन्दोलन के तो वह बड़े सेनानी थे। जब आन्दोलन दब गया और धर-पकड़ होने लगा, तो चित्तू पांडे बम के सौदागर बनकर दूसरे जिले में घूम रहे थे, जहाँ से पुलिस उन्हें पकड़ लाई।

आगे सुरेमनपुर के पहले एक जगह वर्षा के कारण रेल की सड़क दब गई थी। ट्रेन इधर ही रुक गई। तब पलीज पसरल चलना पड़ा। यद्यपि मरम्मत का काम एक दो घंटे में हो सकता था, लेकिन रेलवाले ऐसा करके अपनी योग्यता का परिचय कैसे देते? कई घंटों बाद दूसरी ट्रेन पर सवार हम दो बजे छपरा पहुँचे। बलिया को बाढ़ से और छपरा में वर्षा की कमी

से फसल का नुकसान हुआ। छपरा में सन् से मेरा निवास स्थान प०
गोरखनाथ त्रिवेदी का मकान रहा। असहयोग में आन्दोलन में हम साथ
साथ काम करते थे फिर वकील बनकर उन्होंने वकालत शुरू की। तब से
मैं बराबर उन्हीं के यहां ठहरा करता। त्रिवेदीजी वैसे बहुत तेज दिमाग
के हैं, पर किसी काम के बारे में निर्णय करने में जरूरत से अधिक समय
लेते हैं। जब शहर के भीतर लम्बी जगह मिल रही थी तब उन्होंने आज-
कल कर दिया। जमीन ली तो शहर से बाहर एक बगीचे में जहाँ चोरों के
लिए उनका घर हमेशा तैयार मिलता था। एक से अधिक बार चोरियाँ हो
चुकी हैं। बागवाले मकान में हम ठहरे। पंजाब के दंगों की खबरें अखबारों
द्वारा यहाँ भी पहुँच रही थी, जिसके कारण सभी जगह उत्तेजना फैली हुई
थी। उस वक्त तो मालूम होता था कि भारत में कोई मुसलमान नहीं रह
पाएगा, सभी पाकिस्तान चले जाएँगे।

१९१३ में पहले पहल छपरा से मेरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। ३४ वर्ष
हो चुके। राजनीतिक जीवन का मैंने यहीं आकर आरम्भ किया। असहयोग
के दिनों की स्मृतियाँ आज भी मुझे बहुत मधुर मालूम होती हैं। उस समय के
सहकर्मियों के प्रति तो एक अद्भुत स्नेह, श्रद्धा और सद्भावना मन में पैदा
होती है। मेरी हर यात्रा कुछ वर्षों के बाद हुआ करती है। इतने वर्षों में
नये लोग भी आ जाते हैं, लेकिन शिशुओं से तो हमारा परिचय नहीं और
जो परिचित थे, उनमें से कितने ही अनन्त पथ के पथिक हो गए। बाबू
बच्चू बिहारी अब नहीं रहे। उनकी बातें बहुत याद आती थीं। घटनाओं
को बड़े रोचक ढंग से कहते थे। ऐसे एक कंजूस कायस्थ तरुण ने अपने
ब्याह पर कुछ मिलाकर आठ आना ही खर्च करने की प्रतिज्ञा को पूरा
किया। किस तरह चैनपुर के बाबू की बारात में नौकरों चाकरों की बेवकूफी
से सारी बारात को आफत में पड़ जाना पड़ा। बच्चू बाबू वकील थे। इतना
ही कमा पाते थे, जिसमें रोज की नून तेल लकड़ी का प्रबन्ध हो जाए।
बच्चे अब निराश्रय थे। बड़ी लड़की ने किसी तरह डाक्टरी पास कर लिया,
वह घर का अवलम्ब साबित हुई। प० भरत मिश्र अब सोऽहम् स्वामी थे।—

छोटे छोटे बच्चे-बच्चियों के लिए उन्होंने सांद्र विद्यामन्दिर स्थापित कर दिया था जिसमें पढ़ाई का माध्यम संस्कृत थी। बच्चे संस्कृत में ही बातचीत करते थे। पांच कक्षाएं थीं। हर साल दस विद्यार्थी लेते थे। जानकर प्रसन्नता हुई कि विद्यालय स्वावलम्बी है। जो लड़के यहां से पांच साल पढ़कर निकलेंगे, वह अपनी सारी पढ़ाई में संस्कृत और हिन्दी में आगे रहते हैं फिर माता पिता एवं विद्यालय की उपयोगिता को क्यों न मानें।

राजेन्द्र कालेज काफी उन्नति कर चुका था। विद्यार्थियों के सामने बोलना पड़ा। सबसे दुखद समाचार यह मिला कि गुह्य बाबू का एकमात्र पुत्र गंगा में डूबकर मर गया। गुह्य बाबू की दवाइयों की दूकान छपरा की सबसे बड़ी और पुरानी दूकान है। पर, वह उसके लिए विशेष ध्यान नहीं रखते। राजनीतिक आन्दोलन में उन्होंने बराबर हर तरह से भाग लिया। छपरा के वह बड़े उदार नागरिक थे। कांग्रेस उस समय तपस्वियों की कांग्रेस थी। कर्मी अभावग्रस्त रहते थे गुह्य बाबू हमेशा उनकी सहायता करने के लिए तैयार रहते थे। उनके अनुज डा० शिवदास सूर का एक मात्र पुत्र सुनील अब दोनों भाइयों के अवलम्ब रह गए हैं। सुनील कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर हैं।

१७ सितम्बर को तीज हरितालिका के नाम से नहीं बल्कि तीज के नाम से स्त्रियों का सबसे प्रिय त्यौहार था, तीज त्यौहार कहा जाता है। नबीगंज मुहल्ले की महिलाओं ने भाषण करने के लिए बुलाया। मैं गया भी। शताब्दी के आरम्भ से अब तक स्त्रियों में बहुत अन्तर आया है इसमें शक नहीं। किन्तु उनके सामने मंजिल कितनी दूर है उसे देखकर देखते सन्तोष नहीं हो सकता था। बिहार में स्त्रियों की प्रगति चींटी की चाल से हो रही है, शिक्षा में भी अपने पड़ोसी प्रदेशों की महिलाओं से वह बहुत पीछे हैं।

छपरा में सभी तरह के लोगों से मेरा घनिष्ठ परिचय था, यह देखकर आश्चर्य और खेद भी हुआ कि सोशलिस्ट मित्रों ने मेरा पूर्णतया बायकाट किया। सन् ४२ के आन्दोलन के वह सेनानी थे, जिसके कारण उनको

काफी इज्जत थी। समझते थे, हम सब कुछ कर सकते हैं। उनके नेता कांग्रेस को भी अपने सामने कुछ लगाते नहीं, पर साथ ही इतना आत्मविश्वास भी नहीं, कि कांग्रेस से अलग हो जाएँ। काफी पीछे समय आया, फिर पता लग गया कि पुरानी कमाई पर सफलता की आशा रखना बेकार है।

पटना—उस समय रेल की यात्रा करना आफत मोल लेना था। लेकिन उसके बिना यात्रा कैसे की जा सकती थी? १८ सितम्बर को हम तीन दिन के लिए पटना को रवाना हुए। ससराम में माल और पॅसिंजर ट्रेनें लड़ गई थी। ड्राइवर ने सिगनल की पर्वाह किए बिना गाड़ी स्टेशन की ओर हांक दी। स्टेशन मास्टर ट्रेन के आने के समय कायदे के विरुद्ध शंटिंग करा रहा था। वस्तुतः देश का विभाजन भी रेलों की अव्यवस्था का कारण हुआ था। बहुत अधिक संख्या में मुसलमान ड्राइवर भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गए थे। नये ड्राइवरों को तजर्बे की आवश्यकता थी। उस दिन हमने रास्ते में दो डब्बों को उलटे देखा। ट्रेनों का बेकार जगह-जगह रोक देना आम बात थी। मानपुर में दूसरी ट्रेन पकड़कर पलेजा घाट पहुँचे। एक ही ऐसा जहाज था जो घाट से ऊपरी ओर जा सकता था, इसलिए गमनागमन में दिक्कत हो रही थी। जानकर संताप हुआ कि गंगा का पानी उतर रहा है। हम १ बजे के करीब पटना के महेन्द्र घाट पर पहुँचे। जहाज समय से पहले आ गया था इसलिए स्वागत करने वाले कितने ही पीछे से पहुँचे। सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा पटना कालेज में अध्यापक थे। पं० गोरखनाथ त्रिवेदी के दामाद होने से उनके साथ मेरी विशेष आत्मीयता थी। उन्हीं के यहां ठहरे। पटना का तीन दिन का व्यस्त कार्यक्रम शुरू हुआ। जब व्याख्यान देने या टहलने न जाता तो घर पर ही गोष्ठी चलती रहती। आखिर साम्यवादी देश में वर्षों रहकर आया था इस लिए लोगों की जिज्ञासाएँ बहुत थीं। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी ने इस बीच काफी उन्नति की है, उसके ३६०० सदस्य हैं। अपना बड़ा प्रेस लगा दिया है जिससे पत्र निकलता है। १९ सितम्बर को

म्यूजियम देखने गए। म्यूजियम के साथ मेरा वर्षों से सम्बन्ध रहा है। तिब्बत से लाई अपनी चीजें मैंने इसी को प्रदान की हैं। तिब्बत की चौथी और अंतिम यात्रा में मैं बहुत सी संस्कृत की ताल पोथियों का फोटो उतरवाकर लाया था, जिनके प्रकाशित करने का कोई प्रबन्ध नहीं हुआ था। यह जानकर संतोष हुआ कि फोटो खराब नहीं हुए हैं। ज्ञानश्री के ग्रन्थ बड़ा महत्व रखते हैं, उनका किसी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ है।

गांधीजी के साथ काम करने वाले दो तरुण आए। गांधीवाद और साम्यवाद के समन्वय की बात कर रहे थे। कह रहे थे कि भेद तो केवल साधन या हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में है। शोषणहीन समाज गांधीजी भी कायम करना चाहते हैं। मैंने कहा—गांधीजी ने देश की जो सेवा की है, वह अद्वितीय है। हमें स्वतन्त्रता जनजागरण और कुर्बानियों के कारण मिली। जन जागरण में सबसे बड़ा हाथ गांधीजी का है। यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि गांधीजी जैसे प्रभावशाली महापुरुष यदि आर्थिक स्वतन्त्रता के ध्येय में लग जाएँ, तो बहुत काम हो सकता है। पर उसमें कई बाधाएँ हैं। उद्योग धंधा और हस्त शिल्प दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। सोवियत भूमि में भी दस्तकारी की उपेक्षा नहीं की जाती, उसको कई गुना बढ़ा दिया गया है। हाँ, वह कल-कारखानों से होड़ नहीं लगाती, कलापूर्ण चीजों का उत्पादन करती है। इसके अतिरिक्त देश की आर्थिक स्वतन्त्रता में कितने ही स्वार्थ भारी बाधक हैं, जिनको दबाए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। गांधीजी उतने भारी परिवर्तन को और सो भी शीघ्रता के साथ करने के लिए तैयार हो जाएँगे, इसमें सन्देह है।

तीन चार सार्वजनिक भाषण रोज ही होने पड़ते हैं। बीच बीच में समय निकालकर मैं मित्रों से मिलने चला जाता था। सोशलिस्ट पार्टी वालों ने यहाँ भी बायकाट कर रखा था, लेकिन मैं अपने पुराने मित्रों से मिले बिना कैसे पटना जा सकता था? सोशलिस्ट पार्टी के आफिस में गया, तो वहाँ सभी चेहरे नये मिले। फिर पता लगाकर भाई गंगाशरण के घर पर गया। उनसे देर तक साम्प्रदायिक दंगों के बारे में बातचीत की। बतला

रह ये हिंदुओं न अबलाओं तक पर भीषण अत्याचार किए हैं। मेरी इच्छा थी राजनीतिक विषयों पर, विशेषकर कम्युनिस्टों और मार्क्सिस्टों के नजदीक लाने के बारे में, कुछ कहूँ, पर उसका वह अवसर नहीं था। नेताओं को उसकी जरूरत नहीं महसूस हो रही थी। २० तारीख को युनिवर्सिटी और मेडिकल कालेज के छात्रों की दो सभाओं में व्याख्यान देना पड़ा, उसी रात पौने २ बजे मैं और महादेव जी कलकत्ता के लिए रवाना हुए।

२

देश का चक्कर

२१ सितम्बर को सवा १२ बजे हमारी ट्रेन हावड़ा पहुँची। उसी ट्रेन में बरेली के एक इमाम साहब अपने परिवार के साथ चल रहे थे। भारत के भीतर और बाहर भी जो मार-काट हो रही थी, उसमें भयभीत होना स्वाभाविक था। आखिर इन दंगों के समय हमारे समाज की वैसी स्थिति हो जाती है, जैसे भूकम्प के समय गुरुत्वाकर्षण की। आदमी की जान का कोई मूल्य नहीं रह जाता। धर्म के नाम पर हत्यायें होती हैं, गवाह-साखी मिल नहीं सकता, इसलिए अदालत चाहने पर भी न्याय नहीं कर सकती। पुलिस भी एकतरफा सहानुभूति रखती, या कुछ करने में असमर्थ होती है। कलकत्ता में हम अलीपुर में बैरिस्टर स्नेहांशु कुमार आचार्य के यहाँ अतिथि हुए। मुख्य शहर से दूर होने पर भी मिलने-जुलनेवाले आते रहे। २२ तारीख को डा० सुनीतिकुमार चटर्जी से मिले। उसी दिन जननाट्य समिति ने अपने कुछ गीत और अभिनय, कई तरह के लोक-गीत और लोक-नृत्य उपस्थित किए। लावनी अभी तक महाराष्ट्र और हिन्दी भाषी लोगों की चीज समझी जाती थी, लेकिन यहाँ बंगाल में जिस सुन्दर रीति से उसे स्वीकार किया गया था, उससे मालूम हो रहा था कि हमारी जनकला किस खूबी के साथ एक जगह से दूसरी जगह अपनाई जा सकती है।

मिर्जा महमूद ईरान में मेरे अकारण मित्र थे। तेहरान के सात महीने

के निवास में उन्होंने जो सहायता की थी, उसका मैं सदा ऋणी रहूँगा। बेगम नौडो के यहाँ पहुँचते ही मुझे चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई पड़ा था, उनके कारण तेहरान मेरा घर सा बन गया था। मिर्जा महमूद कलकत्ता ही के रहने वाले थे। पाकिस्तान बन जाने पर सन्देह तो था कि वह अपने इस्फहानी बन्धुओं की तरह वहाँ चले गए हों, तो भी जो पते मुझे मालूम थे, उन पर मैंने उन्हें ढूँढने की कोशिश की। घुमक्कड़ अपनी यात्राओं में पग पग पर दूसरे सहृदय जनों की सहायता प्राप्त करता है। उसकी इच्छा रहती है कि इन उपकारों के लिए किसी प्रकार से कृतज्ञता प्रकट करे। मुश्किल है कि एक बार के बिछुड़े फिर नहीं मिलते। अपने इस मित्र से मिलने की मेरे मन में बड़ी चाह थी। बहुत दौड़ धूप करने पर यही पता लगा, कि वह फिर ईरान लौट गए। उसके बाद भी मैं बराबर कोशिश करता रहा, पत्र द्वारा उनके साथ सम्बन्ध स्थापित हो, पर वह नहीं हो सका।

२३ सितम्बर को मैं पं० विधुशेखर भट्टाचार्य से मिलने गया। पुराने स्नेह मूर्ति सरल संस्कृत-पंडितों के वह जीवित जागते प्रतिनिधि थे, जिनके लिए विद्या का सम्बन्ध सबसे घना सम्बन्ध है। अपने आचार में वह पुराने दीख पड़ते हैं, किन्तु विचारों में बिल्कुल आधुनिक। शौर्य और सत्य उनके लिए सर्वोपरि मान्य वस्तु है। महामहोपाध्याय उसी अकृत्रिम वात्सल्य से मिले, जैसे वह सदा मिलते रहे। असंग का महान ग्रन्थ 'योगचर्याभूमि' मुझे तिब्बत में प्राप्त हुआ था। उसे महामहोपाध्याय सम्पादित कर रहे थे। प्रेस बड़ी धीमी गति से काम कर रहा था, और उनका शरीर बहुत जीर्ण हो चुका था। निराश से होकर कह रहे थे मैं तो इस काम को पूरा नहीं कर सकूँगा, इसे आपके लिए छोड़ जाऊँगा। मुझे इस बात का हर्ष है कि सन् ४७ में उनके शरीर की अवस्था देखकर जो शंका हुई थी, वह ठीक नहीं घटी, १९५६ में भी वह हमारे बीच में हैं। 'योगचर्याभूमि' में अब भी वह लगे हुए हैं, यद्यपि उनका शरीर केवल हाड और चमड़ा भर रह गया है। वह सौहार्द्र प्रदर्शन करने के लिए खड़े होने की कोशिश करते

२

देश का चक्कर

२१ सितम्बर को सवा १२ बजे हमारी ट्रेन हावड़ा पहुँची। उसी ट्रेन बरेली के एक इमाम साहब अपने परिवार के साथ चल रहे थे। भारत के भीतर और बाहर भी जो मार-काट हो रही थी, उससे भयभीत होना स्वाभाविक था। आखिर इन दंगों के समय हमारे समाज की वैसी स्थिति हो जाती है, जैसे भूकम्प के समय गुरुत्वाकर्षण की। आदमी की जान का कोई मूल्य नहीं रह जाता। धर्म के नाम पर हत्यायें होती हैं, गवाही साक्षी मिल नहीं सकता, इसलिए अदालत चाहने पर भी न्याय नहीं कर सकती। पुलिस भी एकतरफा सहानुभूति रखती, या कुछ करने में असमर्थ होती है।

कलकत्ता में हम अलीपुर में बैरिस्टर स्नेहांशु कुमार आचार्य के हम अतिथि हुए। मुख्य शहर से दूर होने पर भी मिलने-जुलनेवाले आते रहे। २२ तारीख को डा० सुनीतिकुमार चटर्जी से मिले। उसी दिन जननाट्य समिति ने अपने कुछ गीत और अभिनय, कई तरह के लोक-गीत और नाच-नृत्य उपस्थित किए। लावनी अभी तक महाराष्ट्र और हिन्दी भाषी लोगों की चीज समझी जाती थी, लेकिन यहाँ बंगाल में जिस सुन्दर रीति से उसे स्वीकार किया गया था, उससे मालूम हो रहा था कि हमारी जनकला किस खूबी के साथ एक जगह से दूसरी जगह अपनाई जा सकती है।

मिर्जा महमूद ईरान में मेरे अकारण मित्र थे। तेहरान के सात महीने

मौका यह पहली बार मिला था। वहाँ के वकील श्री हरिहर महापात्र का आतिथ्य प्राप्त हुआ। कटक वस्तुत नगर सा नहीं मालूम होता। वह एक बडा गाँव है। मकानो की अधिकांश छतें फूस की हैं। टेढी मेढी सडक गाँव की सडक-सी मालूम होती है। इस ग्रामीण वातावरण के साथ लोगो के स्वभाव मे भी ग्रामीण स्नेह और सरलता दिखलाई पडती है। एक प्रदेश की राजधानी है, जहाँ प्रादेशिक सरकार के बडे बडे अधिकारी रहते है, किन्तु इस ग्रामीण वातावरण के साथ जनसाधारण से उनका उतना भेद नहीं मालूम होता, जितना दूसरी प्रादेशिक राजधानियो मे। मैं यह ऊपर ऊपर ही से देखकर कह रहा हूँ। भुवनेश्वर मे उडीसा की नई राजधानी बनने लगी है। कटक सींग और चांदी की अपनी कलापूर्ण चीजो के लिए बहुत प्रसिद्धि रखता है। इनकी बडी माग हो सकती थी पर हमारी जनता आज जिस आर्थिक स्तर पर है, उसके कारण कलाकार यदि किसी तरह अपना जीवन निर्वाह कर सके, तो भी बहुत है। चाँदी के कलाकारो ने मुझे सिगरेट रखने का एक डब्बा और एक लाल झडा प्रदान किया। उस समय अभी सिगरेट छोडने मे कुछ महीनो की देर थी नहीं तो सिगरेट की जगह कोई दूसरी चीज प्राप्त हुई होती। उसकी जाली का बारीक काम देखकर मन मुग्ध हो गया।

उडीसा के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर श्री त्रिपाठीजी से बातचीत होती रही। रूस की शिक्षा प्रणाली श्रेष्ठ है लेकिन हमारी स्थिति मे उसे अपनाया कैसे जा सकता है? भिखारी बाबू दस्तकारी की उन्नति के लिए बडा प्रयत्न कर रहे थे, पर उसकी पूरी उन्नति जिन कारणो पर निर्भर है, वह हमारे यहा मौजूद नहीं है। रवेनशा कालेज उडीसा का सबसे बडा और पुराना कालेज था, उसमे १४ सौ छात्र छात्राएँ पढते थे। वहा भी बोलना पडा। साहित्य समाज मे उत्कल के विद्वानो के सामने सोवियत के बारे मे भाषण दिया। मैं हिन्दी मे भाषण दे रहा था, लेकिन उससे श्रोताओ को समझने मे कठिनाई हुई हो, ऐसा नहीं मालूम होता था। वस्तुत सुदूर दक्षिण की चार भाषाओ को छोडकर बाकी हमारी सारी भाषाएँ हिन्दी के

थे मुझे दु ख होता था। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य विद्वानों और शोध प्रेमियों के लिए आदर्श पुरुष हैं। खेद यही है कि उनके ज्ञान और शक्ति का पूरा उपयोग हमारा देश नहीं ले सका।

२४ सितम्बर को हम पार्टी द्वारा स्थापित अस्पताल देखने गए। कलकत्ता के शिक्षित वर्ग की सहानुभूति वामपक्षी विचारधारा की ओर है। वहाँ के तरुण डाक्टरों ने पार्टी के प्रभाव में आकर अस्पताल खोल दिया। अस्पताल तीन ही चार साल पहले खुला था, इतने ही में उसने काफी उन्नति कर ली थी। चिकित्सा और शुश्रूषा का यहाँ अच्छा प्रबन्ध है। पार्टी के मेम्बरों की तो सेवा होती ही है बाहर के रोगियों की देख भाल की भी अच्छी व्यवस्था है। आजकल जबकि रुपये पैदा करने में लाभ में अस्पतालों और डाक्टरों का वर्ताव अमानुष्यपूर्ण देखा जाता है, यह अस्पताल एक आदर्श संस्था के रूप में मौजूद है। उसी दिन दोपहर को हम बंगाल के महाकवि नजरुल इस्लाम को देखने गए। कवि की आयु उस समय ४६ वर्ष की थी। छ वर्ष पहले उनका मस्तिष्क शून्य हो गया। तब से वह जीवन-मृत हैं। उस मस्तिष्क ने जिसने कभी अग्निवीणा बजाई थी, अब इस तरह अकर्मण्य हो गया है। शून्य हो जाने से उनको दु ख सुख का क्या अनुभव हो सकता है? आज के समाज के लिए क्या यह शोभा की बात है कि उनकी पुस्तकें प्रकाशित कर लोग लाभ उठा रहे हैं और कवि आर्थिक कठिनाइयों में जीवन बिता रहे हैं। उनकी पत्नी प्रमीलादेवी भी एक दो वर्ष पहले पक्षाघात से पीड़ित होकर चारपाई पकड़ चुकी हैं। दो पुत्र सनिन और मुनि यानी सन पिता माता के साथ दुस्सह जीवन में सहभागी हैं। उस घर को गुणी सज्जन होना चाहिए था, लेकिन वहाँ चारों तरफ उदासी और निरीहता दिखाई पड़ती थी।

कटक—कलकत्ता के व्यस्त प्रोग्राम को समाप्त कर २५ सितम्बर को हम मद्रास मेल से कटक के लिए रवाना हुए। ३ बजे के करीब कटक पहुँचे। श्री शरद पटनायक और दूसरे साथी स्टेशन पर मौजूद मिले। मैं कटक स्टेशन से तो कई बार गुजर चुका था लेकिन कटक में रहने का

मौका यह पहला बार मिला था। वहाँ के वकील श्री हरिहर महापात्र का आतिथ्य प्राप्त हुआ। कटक वस्तुत नगर सा नहीं मालूम होता। वह एक बड़ा गाँव है। मकानों की अधिकांश छतें फूस की हैं। टेनी मशी मन्व गाँव की सड़क-सी मालूम होती है। इस ग्रामीण वातावरण के साथ लोगों के स्वभाव में भी ग्रामीण स्नेह और सरलता दिखलाई पड़ती है। एक प्रदेश की राजधानी है, जहाँ प्रादेशिक सरकार के बड़े-बड़े अधिकारी रहते हैं, किन्तु इस ग्रामीण वातावरण के साथ जनसाधारण में उनका उतना भेद नहीं मालूम होता, जितना दूसरी प्रादेशिक राजधानियों में। मैं यह ऊपर ऊपर ही से देखकर कह रहा हूँ। भुवनेश्वर में उड़ीसा की नई राजधानी बनने लगी है। कटक सोने और चाँदी की अपनी कलापूर्ण चीजों के लिए बहुत प्रसिद्धि रखता है। इनकी बड़ी माँग हो सकती थी पर हमारी जनता आज जिस आर्थिक स्तर पर है उसके कारण कलाकार यदि किसी तरह अपना जीवन निर्वाह कर सकें, तो भी बहुत है। चाँदी के कलाकारों ने मुझे सिगरेट रखने का एक डब्बा और एक लाल झंडा प्रदान किया। उस समय अभी सिगरेट छोड़ने में कुछ महीनों की देर थी, नहीं तो सिगरेट की जगह कोई दूसरी चीज प्राप्त हुई होती। उसकी जाली का बारीक काम देखकर मन मुग्ध हो गया।

उड़ीसा के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर श्री त्रिपाठीजी से बातचीत होती रही। रूस की शिक्षा प्रणाली श्रेष्ठ है लेकिन हमारी स्थिति में उसे अपनाया कैसे जा सकता है? भिखारी बाबू दस्तकारी की उन्नति के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे थे, पर उसकी पूरी उन्नति जिन कारणों पर निर्भर है, वह हमारे यहाँ मौजूद नहीं है। रेवेन्शा कालेज उड़ीसा का सबसे बड़ा और पुराना कालेज था, उसमें १४ सौ छात्र छात्राएँ पढ़ते थे। वहाँ भी बोलना पड़ा। साहित्य समाज में उत्कल के विद्वानों के सामने सोवियत के बारे में भाषण दिया। मैं हिन्दी में भाषण दे रहा था, लेकिन उससे श्रोताओं को समझने में कठिनाई हुई हो, ऐसा नहीं मालूम होता था। वस्तुतः सुदूर दक्षिण की चार भाषाओं को छोड़कर बाकी हमारी सारी भाषाएँ हिन्दी के

इतना नजदीक है, कि संस्कृतबहुल हिन्दी समझने में लोगों को दिक्कत नहीं होती। ८ बजे रात को मैं श्री कालीचरण पटनायक के नाटय मंदिर में 'रक्त मिट्टी' नाटक देखने गया। वहाँ भाषा समझने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। यद्यपि वहीं लिपि मिलती तो संभवतः उतनी आसान न होती। उड़िया अक्षर नागरी से मिलते जुलते हैं किन्तु आधी जगह घेरनेवाली ऊपर की अधवृत्त गिरोरेखा कभी भ्रम पैदा कर देती है। इस नाटक को देखते वक्त मेरे मन में ख्याल होता था कटक आखिर एक बड़ा सा गाँव ही है और यहाँ पर यह नाटय मंच स्वावलम्बी होकर वर्षों से चल रहा है। इसका श्रेय कालीचरण बाबू को भी होना चाहिए। जिन्होंने रंग मंच के लिए अपने सारे परिवार को अर्पित कर दिया था। नाटयशाला की कोई भारी इमारत नहीं थी। दर्शकों के बैठने के लिए फूस का छाया मंडप था और रंगमंच भी उसी तरह फूस से छाया था। साज सज्जा दूसरे साधन भी अल्पव्यय साध्य थे। इस नाटयशाला को देखकर विश्वास होने लगा कि हिन्दी नाटय के लिए भी मन लगाने की बात बेकार है। पटना बनारस लखनऊ कानपुर या दिल्ली में हिन्दी रंगमंच बनाने के लिए पहले लाखों रुपय की इमारत बनाने की योजना बनती है। यदि उसमें हम सफल भी हो जायें तो भी क्या सिर्फ उसमें रंगमंच चिरजीवी हो सकता है? वस्तुतः सच्चे कला-कार अपने सब कुछ को न्यौछावर करने के लिए यदि तयार हो तो बिना शाला की इमारत और साज सज्जा के भी रंगमंच स्थापित हो सकता है यह इस उड़िया रंगमंच के देखने से मुझे विश्वास हो गया। पुरुष का रंगमंच पर उतरना उतना कठिन नहीं किन्तु नाटयकला के दीवाने ने अपने घर की स्त्रियों को भी अभिनय के लिए तयार किया था यह बड़े साहस का काम है। मैं कभी अभिनय नानारूप और संगीत के कौशल सौन्दर्य तथा माधुरी को न्यारा मुग्ध होता और कभी उड़िया भाषा के किनने ही प्राचीन क्रियारूपों को। जैसे स्थितिका प्रयोग। उड़िया संगीत अपना खास महत्व रखता है। मुस्लिम काल से पहले उत्तर और दक्षिण संगीत में अवश्य भेद रहा होगा। दक्षिणी संगीत कुछ अपने शुद्ध रूप में आज भी मौजूद

है जबकि उत्तरी संगीत ने मुस्लिम-काल में विदेशी प्रभाव में अपना सुन्दर
विकास किया। उड़ीसा सदियों बाद मुस्लिम शासन में आया जिसके कारण
वहाँ की कला और संगीत मुस्लिम प्रभाव से बहुत कम प्रभावित हुए। यहाँ
का संगीत उत्तरी संगीत था।

कटक में एक ही नहीं दो-दो नाट्यशालाएँ चलती थीं और दोनों स्थायी
रूप्यों थीं। दूसरी नाट्यशाला को कालीचरण बाबू के सहकारियों ने स्थापित
किया है।

उस समय उड़ीसा के मुख्य मन्त्री श्री हरकृष्ण महताब और दूसरे
प्रभावशाली मन्त्री श्री नित्यानन्द कानूनगो थे। उनसे भी बातें हुई। देश
की आर्थिक समस्याएँ और उड़ीसा में आदिवासियों का प्रश्न खास
तौर से विचार विमर्श हुआ। आदिवासियों की शिक्षा के लिए सौ पाठ
शालाएँ खोलने की योजना थी, लेकिन उस समय तक दस खोली जा चुकी
थीं। मैंने सोवियत का उदाहरण देते हुए कहा, लिपि देकर उनकी अपनी
भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाए तभी उसका स्थायी प्रभाव
पड़ेगा। वैसे तो हमारा सारा देश ही दरिद्रता और अभाव का शिकार है
पर उड़ीसा की स्थिति सबसे अधिक दयनीय है। यहाँ के नेताओं का ध्यान
उधर गया है पर सफलता का मुंह देखने का नहीं मिल रहा था। मुख्य
मन्त्री ने बतलाया, उपज को बढ़ाने के लिए हमने पंचायती खेती भी आरम्भ
कराई, किन्तु उसके संचालन के लिए जिन अफसरों और दूसरों को रखा
गया वे पैसे का उलट-उठाकर बैठ गए। अब सोचते हैं, सरकारी नौकरों को
यह काम देना अच्छा है। अगर
अपना चुने निर्वाचित लोगों के ही हाथ में यह काम देना अच्छा है। अगर
खाएँगे भी, तो जनता ही के लोग तो। महताब साहब की सीधी तरह सोचना
नहीं जानते यह इसी से मालूम है कि उन्होंने प्रवाह के विरुद्ध जाकर
विनोबा के भूदान की व्यर्थता को खुले तौर से घोषित किया। २७ सितम्बर
को टाउन हाल में अध्यापकों की सभा हुई जहाँ मैं सोवियत शिक्षा प्रणाली
पर बोला।

श्री ज्ञानवल्लभ महन्ती उड़ीसा के एक वृद्ध महापंडित हैं। संस्कृत

और उत्कल दोनों साहित्य के विद्वान् और प्रेमी हैं। उन्होंने बहुत सा ताल पोथियों का संग्रह किया था। मुसलमानों के साथ कागज आने से पहले हमारे देश में स्थायी अभिलेखों पुस्तकों को तालपत्र पर लिखा जाता था और पुर्जों आदि को भोज पत्र पर। उत्तर वाले ताल पर पत्र स्याही से लिखते थे और दक्षिण वाले सूए से ताल पर पत्र अक्षर कुरेदकर उस पर कजली डाल देते थे। उत्तर दक्षिण की सीमा रेखा रेखा वहीं नहीं जा कि उत्तर दक्षिण की भाषाओं की। उड़ीसा भाषा के तौर पर यद्यपि उत्तर का अंग है किन्तु यहां तालपत्र पर सूए से लिखा जाता था। सूए से तालपत्र लिखने की प्रथा आज भी दक्षिण और उड़ीसा में प्रचलित है, यद्यपि छापे के कारण उसमें कमी पड़ी है। उड़िया भाषा यद्यपि उत्तरी भाषा है, किन्तु उसके कुछ उच्चारण दक्षिणी भाषाओं से मिलते हैं। इसका कारण भी है। मराठी और उड़िया भाषी लोग सबसे पीछे द्रविड भाषी से उत्तरी भाषा-भाषी बने।

कटक छोटा सा नगर होने पर भी सभाओं की भरमार रही। उसी दिन ब्राह्म समाज में प्रातःस्मरणीय राममोहन राय की बरसी के उपलक्ष में बोलना पड़ा और टाउन हाल में श्री मेहताब की अध्यक्षता में हुई बड़ी सभा में सोवियत रूस के ऊपर।

बालासोर—उसी दिन रात को मैं महादेव भाई के साथ बालासोर के लिए रवाना हुआ जहाँ गाड़ी अगले दिन छः बजे सवेरे पहुँची। यहाँ भी मिशनरी कालेज है जिसमें छात्र छात्राओं के सामने १० बजे ही भाषण हो गया। बालासोर के साथ क्रान्तिकारी काल की कई भव्य स्मृतियाँ बँधी हुई हैं। यहीं कुछ वीर क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों की शक्ति से मुकाबिला किया था और मरणासन्न आहत क्रान्तिकारी ने पुलिस के सवाल करने पर उत्तर दिया था—मुझे शान्ति से मरने दो। वह शान्ति से मर गया। कितने ही वीरों ने अपने तरुण जीवन का उत्सर्ग किया किन्तु क्या वे कुर्बानियाँ निष्फल गईं? आज हमें जो स्वतन्त्रता मिली है उसके सबसे बड़े कारण यही ...दानात्माएं थीं। बालासोर समुद्र तट से सात मील हटकर एक बहुत स्वास्थ्य-

कर जगह म वना है। सितम्बर के अन्त म चारो तरफ हरियाली दिखाई
देनी थी। छ घटे म हमने कुछ जगह देखी और १२ बजे की ट्रेन पकड़कर
खड़गपुर पहुँचे।

•

वर्धा—खड़गपुर म अब महात्मा जी कलकत्ता के लिए रवाना हुए,
और मैंने वर्धा के लिए बम्बई मेल पकड़ा। भीड़ इतनी थी कि सेकंड
क्लास—आजकल के फर्स्ट क्लास—म जगह नही मिली। रात की यात्रा
थी, माला भी था इसलिए सवा पच्चीस रुपये और खर्च करके रात भर के
लिए फर्स्ट क्लास का आश्रय लिया। दिन म बिलासपुर पहुँचते-पहुँचते
सेकंड क्लास म फिर जगह मिल गई। २९ तारीख का अन्त मैं छत्तीसगढ़ के
भीतर म चल रहा था। वर्षा का अन्त था इसलिए उस समय की नयना
भिराम हरियाली को देखकर प्रकृति का क्या अदाजा लगाया जा सकता
था। पर हरे भरे जगलो मे ढकी पहाड़ियाँ बतला रही थी कि भूमि उर्वरा
है। जहाँ-तहाँ हरे हरे धान के खेत लहरा रहे थे। हमारी ट्रेन नागपुर
पहुँची। स्टेशन पर हजारों मुसलमान नर-नारी जमा थे। वह अपने को
मुसलमान समझकर हैदराबाद जाने के लिए यहाँ आए थे। अभी हैदराबाद
अपने को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानता था। अंग्रेजो ने जाते वक्त उसे वैसा ही
कर दिया था। लेकिन भारत के उदर म यह स्थिति कब तक रह सकती
थी। गुजराती सौराष्ट्र मे जूनागढ के नवाब ने पाकिस्तान म मिलने की
इच्छा प्रकट की थी और पाकिस्तान ने उसे स्वीकार कर भारत को युद्ध
का निमत्रण दिया था। देश की यह स्थिति बडी खतरनाक थी। अंग्रेजो को
गए अभी डेढ ही महीने तो हुए थे हमारे लोग शासन और सेना के यत्र को
अच्छी तरह सँभाल भी नही सके थे। इसी समय चारो तरफ आग लग गई
थी। अंग्रेज सैनिक अफसर अभी बडे बडे पदो पर मौजूद थे। हिन्दू राष्ट्र-
वादियो ने उनके शासन को हिन्दुस्तान से भगाया, इसलिए उनकी सहानु
भूति पाकिस्तान के साथ हो तो क्या आश्चर्य ? तब से अब (फरवरी
१९५६) म जमीन आसमान का अन्तर है। भारत उस समय के भीषण

तूफान को सकुशल पार कर काफी आगे बढ़ा है। लेकिन हमारे राष्ट्र कर्णधार अब भी अंग्रेज साम्राज्यवादियों पर अविश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं, यद्यपि वह भारत सम्बन्धी हर महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न के सम्बन्ध में अंग्रेजों को अपने विरुद्ध पाते हैं। हमारे उत्तरी सीमान्त के नक्शों को मैं या कोई भारतीय लेखक लेना चाहे तो उसे सैनिक और राजनीतिक कारण बनाकर सर्वे डिपार्टमेण्ट देने से इन्कार करता है किन्तु अंग्रेज अफसर उन्हें बिना रुकावट के पा जाते हैं।

शाम के ६ बजे मैं वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में पहुंचा। समिति ने आनन्दजी की देख रेख में अपने काम का बहुत विस्तार कर लिया था। वर्धा से बाहर पाँच एकड़ जमीन लेकर उस पर एक लाख के करीब का इमारत बन गई थी। हिन्दी को हमारे स्वतन्त्र देश को बड़ी आवश्यकता है, और आवश्यक काम के लिए किया गया प्रयत्न दुगुना फलदायक होता है। तभी तो कुछ ही वर्षों पहले मामूली सी किराए की कोठरी में आरम्भ होकर समिति का काम इतना आगे बढ़ा। वर्धा में दो ही दिन मुझे रहना था। पहला दिन तो समिति में ही मित्रों से बातचीत करने में गया। अगले दिन—३० सितम्बर—को यहाँ के दर्शनीय स्थानों को देखा। मगनवाड़ी गांधीवादी उद्योग धंधे का केन्द्र है। दस्तकारी की चीजों का कला के तौर पर अपना बड़ा महत्व है और शिक्षा तथा समृद्धि के अनुसार उसका बहुत बढ़ने का भी गुंजाइश है। पर गांधीवाद चाहता है, वह आधुनिक उद्योग धंधों का स्थान ले। क्या यह पाषाण युग का विद्युत् युग से मुकाबिला नहीं है? यहाँ के संग्रहालय में बहुत तरह के पुराने चरखे रखे हुए थे। मद्रास के प्रधान मिनिस्टर ने एक [illegible] जवाहर भेजा था, जो उस युग की चीजों में गजब नहीं [illegible] कागज विचित्र-सा मालूम [illegible] चक्कियाँ भी थीं। जिस उठाने [illegible] दस्तकारी [illegible] बनें,

कपड़े के मिलों के मालिकों का यह प्रेम कुछ विचित्र-सा ही मालूम होता था।

दोपहर बाद सेगाँव गए। वर्धा में एक्के नहीं तांगे हैं किंतु घोड़े मार मरियल थे। हम जो तांगा उस दिन मिला था उसका घोड़ा इनाम पाने लायक था। बहुत साल पहले छपरा में राजापुर के महन्त की बैलगाड़ी और हाथी से पाला पड़ा था। मैंने सोचा था, वह समय भारत की मशीनें हैं। यह तांगा भी वैसा ही था। तीन चार मील पर अवस्थित गांधीजी के आश्रम में पहुंचने में न जाने कितना समय लगा। गांधीजी कितने ही समय से इसे छोड़ गए थे। आश्रम में सब जगह बड़ी उदासी दीख पड़ती थी। तालीमी संघ, चरखा संघ अगर न होते तो और भी बुरी हालत होती। वहां की गोशाला ही अच्छी हालत में दीख पड़ी। आश्रम में अभी कुछ लोग रहते थे, लेकिन दरोदीवार में हसरत बरस रही थी। लौटते वक्त सामने हनुमान टेकरी पर साधु के स्थान को देखा। मेरे मुंह से अनायास निकल गया—यह है रजिस्ट्री किए और बेरजिस्ट्री किए पंथ का भेद। इधर रामानन्द के पंथ की हजारों कुटियों में से एक यह मजे में सैकड़ों वर्षों में अपना झंडा फहरा रही है और इधर संस्थापक के जीवन में ही सेवाग्राम का आश्रम ढह-मड़ हो रहा है।

बेसिक शिक्षा का भी यहीं केन्द्र था, जिसमें १४-१५ विद्यार्थी पढ़ते थे। प्रान्तीय सरकार की छात्रवृत्ति मिल रही थी जिसके कारण भिन्न-भिन्न प्रदेशों से ये तरुण आए हुए थे। अगले दिन राज्यपाल साहब इसका उद्घाटन करनेवाले थे। पूर्व-बंगाल के एक तरुण ने बतलाया—मुझे दो मास आए हुए, अब भोजनालय का सुपरिंटेंडेंट बना दिया गया है। बेसिक ट्रेनिंग के प्रयोग के लिए आस पास के गांवों में लड़के-लड़कियों के बेसिक विद्यालय हैं। बेसिक विद्यालय एक भारी पाखंड भर होता तो भी कोई बात नहीं, किंतु वह तो स्वावलम्बी शिक्षा के नाम पर अधिक खर्चालू शिक्षा प्रणाली है। काम के साथ विद्या पढ़ाना कितना महँगा है? आये दिन लड़के-लड़कियों को अपने घर से कपड़ा, भोजन सामग्री लाकर देना पड़ता

है। माँ बाप मनाते हैं यदि फीस देकर अवश्विक विद्यालय में पढ़ाना होता, तो शिक्षा कहीं सस्ती रहती। हर महीने डेढ़-डेढ़ रुपये का खर्च हरेक माँ-बाप बर्दाश्त नहीं कर सकते। गाधीजी के मुँह से जो निकल जाये उस पर आँख मूँदकर चलना इसी का यह परिणाम है। गाधीजी के चेलों में कुमारप्पा जैसे अर्थशास्त्री, विनोबा जैसे भगत मश्रूवाला जैसे दार्शनिक थे जो सभी अपनी अपनी दिशा में नये प्रयोग कर रहे थे, और सभी अब आश्रम से बाहर थे। आश्रमवासियों को देखकर तो पिंजड़ापोल की लँगड़ी लूली गाएँ याद आती थी। प्यास लगी हुई थी मैंने कुएँ से पानी पीना चाहा पर आश्रमवासी ने उसे न देकर क्लोरिन मिला जल दिया। स्वास्थ्य में कम से कम आश्रम अवश्य आधुनिक युग के नियमों का पालन करता था।

उस दिन दो भाषण देने पड़े जिनमें से एक सोशलिस्ट पार्टी की ओर से नेहरू मैदान में हुआ। सोशलिस्ट पार्टी की यह सभा प्रा० रंजन के प्रभाव से हुई। तरुण रंजन की कर्मठता को देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ था। कुछ ही समय में वह अपनी प्रतिभा का जौहर दिखलाने के लिए बड़े क्षेत्र में आ गए थे। उनकी लेखनी बड़े अधिकारपूर्वक चल रही थी उनका शिक्षा कौशल अब राष्ट्र के काम आने लगा था। उस समय क्या मालूम था रंजन बहुत दिनों तक अपनी प्रतिभा से देश की सेवा नहीं कर पाएँगे, और उन्हें अकाल ही छोड़कर चला जाना पड़ेगा।



१ अक्तूबर को सवेरे हिन्दी नगर में ही वर्धा के सौ से अधिक शिक्षित पुरुष आए दो घंटे तक उनके प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा। ११ बजे मेकमरिया व्यापारिक कार्यालय में भाषण देना पड़ा और उसी दिन ३ बजकर ४० मिनट पर ट्रेन पकड़ी। जबलपुर इटारसी से भी होकर जाया जा सकता था लेकिन हमने गोंदियावाली लाइन पकड़ी। गोंदिया से छोटी लाइन मिली। सारा रास्ता जंगलों और पहाड़ों का था। गाड़ी में बन्दे हुचकाले लग रहे थे। आनन्दजी भी साथ थे।

बुन्देलखण्ड—जबलपुर में हमारी ट्रेन समय से पहले ही पहुँच गई थी,

इसलिए स्टेशन पर कोई नहीं मिला। नया परिचय प्राप्त हुआ और हम ठेकेदार मलहावाजी के साथ उनके घर पर नपियर टौन म ठहर गये। २ तारीख का बाकी समय वहीं बीता। ३ तारीख का महाकौशल विद्यालय के छात्रो के सामने बोलना पडा। ११० वर्ष पहले यह विद्यालय अंग्रेजो ने स्थापित किया था। सावजनिक सभा म भाषण देना था, पर वर्षा के कारण वह नहीं हो सकी। ४ तारीख को नमदा को देखने के लिए चले। साथ म अपनी पत्नी सहित माधो नकवी श्रीकृष्णदास और आनन्दजी भी थे। नमदा के किनारे भेडा घाट पर पहुँचकर सगमरमर शिला देखना चाहते थे, किन्तु वर्षान्त म वहाँ नाव नहीं जाती थी इसलिए वह ख्याल छोडना पडा। मोटर भी घाट से पहले ही पुल के पास छोड देनी पडी। नमदा चट्टानो पर से बह रही थी। भारत की सभी नदियाँ विवाहिता हैं केवल नमदा ही कुमारी है। एक जगह दिखलाकर श्रीकृष्णदासजी कहने लगे कि यहाँ ४०० फुट ऊँची चट्टान छिपी हुई है। भेडाघाट म कच्चे सगमरमर के बहुत तरह के खिलौने मिलते थे। अमरूद और शरीफे यहाँ के जगलो म बहुत हैं। पकने के समय मीठे शरीफे मुफ्त खाने को मिल सकते थे। हम पास के चौंसठयोगिनी मन्दिर देखने गये। चारो तरफ गोल चहारदीवारी है, जिसके साथ कल्चुरी काल की बहुत-सी टूटी फूटी मूर्तियाँ रखी हुई हैं। आजकालीन तथा उसमे पीछे की मूर्तियो स कल्चुरी मूर्तियाँ अधिक सुन्दर थी। मन्दिर मे नन्दी पर बठे हरगौरी की मूर्ति थी। कल्चुरी पाशुपत धम के माननेवाले थे। उस समय उत्तर म भी शैव धम अपने असली रूप मे जीवित था और आजकल की तरह भस्म और रुद्राक्ष धारण तक ही वह समाप्त नहीं हो जाना था। एक निर्वाणलिंग को देखकर श्रीमती नकवी न उसके बारे म पूछा। हम इसी देश मे पैदा होते हुये भी एक दूसरे की संस्कृति मे कितने अपरिचित हैं इसका यह उदाहरण था। शायद उन्होंने शिव का नाम नहीं सुना था। हरगौरीवाले मन्दिर की दाहिनी बगल म घुटने तक बूट धारण किये द्विभुज सूय की मूर्ति थी। कल ही मैं अपने भाषण म बतला चुका था, कि शकों के साथ मूर्ति का प्रचार भारत म हुआ। इस तरह का बूट आज भी जाडो मे रूस के लोग

पहनते है। रूसी वस्तुत उन्ही शको की सन्तान हैं जिनकी पूर्वी शाखा शत्रुओ स मजबूर होकर मध्य एसिया छोडकर भारत की ओर आई। लौटते वक्त रास्ते मे तेवर गाँव मिला। यही प्रतापी कर्ण कल्चुरी की राजधानी त्रिपुरी थी।

शामको जबलपुर म एक सार्वजनिक और एक काग्रेसी सभा म भाषण देना पडा। आनन्दजी यहा से चल गए और मैं मलहोत्राजी के घर १० बजे रात को लौटा।

जबलपुर म तडके गाडी पकडनी थी। ट्रेन से घटे भर पहले तयार हो जाना मेरा सिद्धात है। ४ बजे ही उठकर सामान सँभाला सवा ५ बजे झुटपुटा ही था, कि मलहोत्राजी के साथ स्टेशन पर पहुँचा। गाडी देर से आई और देर से खुली। अब गन्तव्य स्थान कोंच (जिला जालौन) था। सेकड क्लास के टिकट का २५ रुपया से कुछ अधिक लगा। हम कटनी और बीना म दो जगह गाडी बदलनी पडी। कटनी से जो गाडी मिली वह हरेक स्टेशन म खडी होनेवाली थी। पजाब की मारकाट की खबरें सुनकर मुसलमानो मे आतक छाया हुआ था। सघी और हिन्दूसभाई केवल इसका प्रचार भर ही नही कर रहे थे बल्कि वह नृहत्या पर अपनी वीरता दिखाने स भी बाज नही आए। कम्युनिस्टो ने जबलपुर म इसका विरोध किया था जिस पर सघियो ने कइयो को आहत किया। पजाब की खबरो को सुनकर हिन्दू मुसल्मानो के विरुद्ध सभी तरह की बातें सुनने के लिए तैयार थे। काग्रेस वाले इस समय मौन थे। इसी कारण नागपुर मे उस दिन चार हजार शरणार्थी मुसलमानो को स्टेशन पर हैदराबाद जाने की ट्रेन की प्रतीक्षा करते देखा। जबलपुर स भी अपनी चीजो को मिट्टी के मोल बेचकर बहुत से मुसल्मान भाग खडे हुए। दहा दमोह और सागर के स्टेशनो म हमारी ट्रेन पर कई सौ मुसल्मान नर नारी अपने बच्चो सहित चढे। मालूम हुआ, इन शहरो के दो तिहाई मुसल्मान भाग चुके हैं। सघी खबर उडा रहे थे भूपाल के अमुक गाँव म मुसलमानो ने दो सौ हिन्दुओ को मार डाला। लोग विश्वास करने के लिए तयार थे। उस दिन—५ अक्तूबर—को सागर म ८९

मुसल्मान मारे गये थे। मालगुजार—जमीदार—अपने गाँवों से मुस्लिम विमानों को निकाल बाहर करके घमवीरता का परिचय दे रहे थे। मध्य प्रदेश की सरकार का कलेजा-सा मार गया था। अब उसकी नीद जरा-जरा खुली थी, और शान्ति-स्थापना के प्रयत्न कर रही थी।

बीना में हमारी साढ़े तीन घंटे लेट ट्रेन शाम को साढ़े ५ बजे पहुँची। दूसरी गाड़ी १० बजे रात को मिली। झाँसी से आगे की ट्रेन तैयार थी। सेकंड क्लास का डिब्बा भीतर से खूब बन्द था, बहुत बहुत मुश्किल से खुल पाया। बतलाया गया आजकल ट्रेनों में छुरेबाजी हो रही है, घमवीर लोग आदमियों को मारकर यों ऐसे ही चलती ट्रेन से फेंक देते हैं।

बुंदेलखण्ड के एक बड़े भाग का पुराना नाम दशार्ण कालिदास के समय भी मशहूर था, जो जबलपुर से काल्पी तक फैला हुआ था। जमुना और नर्मदा यहीं बहती थी। दशार्ण का नाम अब भी वहाँ की धसान नदी में मौजूद है। कृषि और खनिज दोनों में प्राचीन दशार्ण (बुंदेलखण्ड) की भूमि समृद्ध है। नये मध्य प्रदेश में बुंदेलखण्ड के कितने ही टुकड़ों को मिला दिया गया, पर अब भी बाँदा, हमीरपुर, जालौन झाँसी के जिले को उत्तर प्रदेश में ही रखा गया है। आज भी इन चारों जिलों को मध्य प्रदेश के साथ मिलाकर दशार्ण को एकताबद्ध किया जा सकता था, पर स्थानीय संस्कृतियों और भाषाओं की अभी पूछ कौन करता है? यमल मालव-दशार्ण में मालव अपनी काली मिट्टी और अन्न के लिए प्रसिद्ध है। युगों से कहा जाता रहा, मालव में कभी अकाल नहीं पड़ता। मेवाड़ और बुंदेलखण्ड के लोग अकाल पड़ने पर मालवा का रास्ता लेते थे, लेकिन कलयुग में किसी भी बात का ठिकाना नहीं, मालव में भी अकाल पड़े, तो क्या अचरज?

झाँसी से एक घंटे हमारी ट्रेन ऍट पहुँची। एरच एरकच्छ के नाम से बुद्धकाल में भी एक प्रसिद्ध नगर था। आज भी उसकी धरती के भीतर प्राचीन संस्कृति की बहुत सी सामग्री छिपी पड़ी है। अपने बुंदेलखण्ड के निवास के समय मैं यहाँ आया था। ऍट में ६ बजे पहुँचकर दो घंटे प्रतीक्षा करनी पड़ी, तब काच की गाड़ी आगे रवाना हुई। इस ट्रेन में कास या

वग का भेद नही है। पुराने जीवन की स्मृतिया जागत हो रही थी। इसी ट्रेन म प्रथम विश्व युद्ध के समय यात्रा करते समय मेरा तरुण गम खून उबल पडा था जबकि किसी अग्रेज अफसर के चपरासी ने जगह छोडने के लिए कहा था। आज वे अंग्रेज नही थे। कांच म उतरकर अपने पुराने मित्र श्री पन्नालाल और श्यामलाल के घर पहुचा। घुमक्कडी जीवन म अपना घर छोडने पर भी जगह जगह बहुत से अपने घर और परिवार मिले थे, जिनम पन्नालाल परिवार भी था। वस्तुत उन्हीं पुरानी स्मृतियो को जागृत करने के लिए मैं यहा आया था। पन्नालालजी के पिता स्वामी ब्रह्मानन्द स मिलना था अब वह ८५ वप के हो चुके थे।

कोंच—अगले दिन—७ अक्तूबर—स्कूल म व्याख्यान दिया फिर साढे ५ बजे यहा के गण्यमान्य सज्जनो के साथ जलपान की दावत म शामिल हो ८ बजे रात तक गोष्ठी चलती रही। स्वामी ब्रह्मानन्द का गाव महेशपुरा यहाँ से दस मील पर है। गाँव म अनुकूलता न देख करके उनके दोनो पुत्र महेशपुरा छोडकर कांच के कस्बे म आ गए। लेकिन स्वामी ब्रह्मानन्द को महेशपुरा ने छोडा नही। वह वही रहत थे। शरीर अब अस्थि पजर मात्र रह गया है चलना डोलना मुश्किल है। महेशपुरा म अपनी छोटी सी कुटिया थी उसी में रहते अपना भोजन आप पका लेते थ। उन्होने अपने दादा को देखा, और अब परपोता को देख रह थे, अर्थात् ६ पीढी उनके सामने स गुजरी। उनके दोनो पुत्रो के परिवार म आज १० व्यक्ति थे। यहाँ के अन्य अग्रवालो की तरह पीढियो स निरामिष भोजी थ किन्तु समय ने खान पान का उत्तर दिया। उनके पौत्र मधातिथि अब आमिषाहारी थे। स्वामी ब्रह्मानन्द तत्र श्री रामदीन पहारिया थोडी सी हिन्दी जानत थे और महेशपुरा म शान्तिपूवक कपडे और लेन देन का व्यापार करत थे। इतनी कम शिक्षा और शहर स इतन दूर पर भी विचार पहुँच गये। रामदीन पहारिया आयसमाजी हो, आय समाज की शिक्षा को अपने जीवन म ढालने की कोशिश करन लगे। उन्होने दूकान म दाम के बार म एक बोली का नियम दृढता से पालन किया। पहले कुछ कठिनाई हुई लेकिन

उसे पीछे लोगों ने जान लिया। जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा। अपनी पत्नी और बहू को भी जनेउ पहनाया, और घर में स्त्रियाँ भी नियमपूर्वक हवन सध्या करने लगीं। रामदीन पहाड़िया अपने समय के क्रान्तिकारी थे। पर जात-पांत की सीमा से बाहर नहीं गये। छूतछात नहीं मानते थे। उन्होंने और उनके पुत्रों ने आर्यसमाज के लिए हजारों रुपये दान किये।

१९१६ में जब मैं महेन्द्रपुरा पहुँचा तब वह सन्यासी बन चुके थे। सन्यासी बनने पर भी घुमक्कड़ी की प्रवृत्ति न होने के कारण वह महेन्द्रपुरा को नहीं छोड़ते थे। आज अपनी चौथी पीढ़ी में वह कितना परिवर्तन देख रहे थे? पुत्र-पौत्रों को अण्डा खाते देखकर क्षुब्ध हो जाते थे, लेकिन कौन दादा अपने पोते को अपने काबू में रख सकता है? स्वामी ब्रह्मानन्द चाय को हानिकारक समझते थे, स्वास्थ्य के ख्याल से भी और पैसे के ख्याल से भी। पोतों के पास चाय का सेट था और दिन में दो बार चाय पिये बिना उनका काम नहीं चलता था। खर्च के बारे में शिकायत करने पर एक पोते ने कहा—'यदि हम अधिक खर्च करते हैं, तो अधिक कमाते भी हैं। आपके युग में स्त्री के पास दो मोटी मोटी साड़ी काफी समझी जाती थी। हमारी स्त्रियों को देखें, हरेक के ट्रंक में एक दर्जन अच्छी-अच्छी साड़ियाँ हैं।" पुरानी पीढ़ी के पास इसका क्या जवाब था? मैंने स्वामीजी से कहा—"कुढ़ने की जरूरत नहीं, हरेक पीढ़ी को अपना जिम्मा लेना चाहिए। नई पीढ़ियाँ हमेशा इसी तरह परिवर्तन करती आई हैं।' चार पीढ़ी को अपनी आँखों के सामने देखना जरूर कुढ़न पैदा करता है लेकिन यह बुद्धिमानी नहीं है।

८ अक्तूबर को कोच के प्राचीन इतिहास की ओर मेरा ध्यान गया। कोच, जैसे हमारे देश में मैनडा नगर हैं, जो अपने समय में काफी महत्व रखते थे, लेकिन इनके इतिहास का कोई उल्लेख नहीं मिलता। कोच का नाम ही बतला रहा था, कि यह मुस्लिम काल का नहीं है। संस्कृत में शायद यह क्रौंच नगर रहा हो, पर क्रौंच पक्षी के नाम पर किसी नगर के होने का पता नहीं लगता। पूछने पर बारहखम्बा स्थान का पता लगा।

= अक्तूबर का एक काफी जमात मेरे साथ वहां पहुंची। बारहखम्बा के पास बड़ी माता का मंदिर है जिसमें गुप्तकालीन या तुरंत बाद की छठी या सातवीं सदी की पाषाण मूर्तियां हैं। सुंदर ठाती और भुजमूल गुप्त और पश्चात् गुप्तकाल की मूर्तिकला की विशेषता है। वह यहां के प्रतिहारी की मूर्ति में दिखलाई पड़ी। एक छोटी वराह की मूर्ति भी इसी काल का बतलाती है। खण्डित हरगौरी बतला रहे थे कि यहां पाशुपतों का मंदिर था। बारहखम्बा के किसी प्राचीन मंदिर के खम्बों को लेकर बनाया गया जो शायद ११ वीं सदी में पास का तालाब पुराने मंदिर का ही है। गाँव की माता के पास की मूर्तियों में एक जैन मूर्ति थी। कोई बौद्ध मूर्ति देखने में नहीं आई, पर पिछले सौ वर्षों में मूर्तियों की लूट मची हुई है। न जाने कितनी मूर्तियां यहां से उठ गई। कोच नगर गुप्तकाल में बड़ा समृद्ध रहा होगा। यहां भुक्तिपति राज्यपाल नहीं तो विषयपति (जिलाधीश कुमारामात्य) जरूर रहता रहा होगा। दक्षिणापथ की ओर जानेवाला वणिक् मार्ग शायद यहीं से जाता रहा, इसके कारण यह धनधान्य-सम्पन्न बस्ती रही होगी।

आज कोच की आबादी २० हजार थी। नगरपालिका थी जिसकी आमदनी एक लाख सालाना थी। पिछले तीन सालों में प्राइमरी शिक्षा निःशुल्क रही और अब वह अनिवार्य भी कर दी गई थी। नगरपालिका के सचिव कह रहे थे आर्थिक कठिनाइयों के कारण हम नगर के सुधार की कोई महत्वपूर्ण योजना अपने हाथ में नहीं ले सकते। उनके पूछने पर मैंने सोवियत की नगरपालिकाओं का वर्णन किया तो उन्हें स्वप्न की बात मालूम हुई। हाँ २० हजार आबादीवाले सोवियत के किसी नगर की यह दशा थोड़े ही हो सकती थी। कर के बारे में पूछने पर हमने बतलाया वहाँ की नगरपालिका को नगर के सारे घरों की स्वामिनी है। यहां भी यदि सारे घर आपकी नगरपालिका को मिल जाएं तो वह कितना धनी हो जाएगी?

कोच में और उसके चौक में कितनी ही बार में व्याख्यान दे चुका था, पर जिनके सामने व्याख्यान दिये उनमें अब बहुत कम रह गये थे। नई

पीनी म पुस्तक। म नीत गानवाले ही राहुलजी का जानते थ। हर पीनी म नये परिचय प्राप्त करन की जरूरत हाती है।

६ अक्तूबर का याद मे बिदाई ली। बिदा करन स्वामी ब्रह्मानन्द रा पडे। अब फिर मिलन की आशा कम ही मानती थी जा बिछड गय सो बिछड गय।' हम दोना का कितना घनिष्ट सम्बन्ध था। एक धुन म महीना हम साथ घूमा करते थे साथ स्वप्न देखा करते थे—आर्यसमाज का घर घर म प्रचार करना है इस विद्या म सबसे मदद का पहुचाना है। स्वामी ब्रह्मानन्द अब भी आर्यसमाजी थे अब भी वेद ईश्वर और ऋषि दयानन्द की शिक्षा पर उनकी निष्ठा थी। इन २१ वर्षों म वहा मे वहाँ पहुच गया। हमारे विचारो म भारी भेद था, लेकिन स्नेह अब भी वैसा ही था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से बिदा होते मेरा दिल भी भारी हो गया। जालौन जिला वर्षों मेरी कर्मभूमि रहा— 'यहाँ साथ सब पगपग जोहा।' पग-पग जोही जगहो को देखने की तीव्र इच्छा लगी है पर समय वहाँ म लाएँ। अब समय की मावची काम म नहीं लाई जा सकती। श्री बनीमाधव तिवारी उसी समय वे मेरे परिचित हुए थे। उस समय उन्होंने स्वराजी आल्हा बनाया था। वह छोटी पुस्तिका के रूप म छपा भी था। फिर उन्होंने काग्रेस मे काम किया, जेल गये लेकिन यह सब उस समय हुआ, जब मेरा सम्बन्ध जालौन जिले मे टूट चुका था। उन्हीं के साथ मोटर पर मैं उरई गया। घट भर मे १९ मील पहुच गये। मेरे रहने के समय अभी मोटरो का प्रचार नहीं हुआ था। खेतो म हरी भरी फसल खडी देख हृदय उल्लसित हो जाता और खाली खेत देखकर अवसन्न। जाजराल के जमाने म दुर्लभ है, इसलिए ऐसा होना ही चाहिए। उरई अब १० हजार से बढ़कर १८ हजार का नगर हो गया था, पानीकल भी लग गए थी किन्तु सभी घरो म उसका लगना तभी हो सकता था जब वहाँ नागरिक दरिद्र न हो, वहाँ के दो हाई स्कूल म एक इंटर तक था। जालौनवालो को जब मालूम हुआ, तो वह भी मुझे लेने के लिए पहुचे। उनको निराश करके मैं बहुत दुखी हुआ। सचमुच उनसे भी अधिक जालौन जाने की मेरी इच्छा थी। शाम को सार्वजनिक सभा

हुई। पण्डित अल्गूराय शास्त्री सयोग से उरई पहुचे हुए थे। वह प्रान्तीय काग्रेस के उप प्रधान और प्रान्त के एक बड़े काग्रेसी नेता थे। आजमगढ जिले के होने से उनके साथ एक विशेष आत्मीयता होनी स्वाभाविक थी। पहले उन्हें मैंने दुबला पतला देखा था अब मोटे हो गये थे। मैं कम्युनिस्ट था और वह काग्रेसी दोनो के विचारो मे छत्तीस का सम्बन्ध था, लेकिन वैयक्तिक सम्बन्ध पर उसका क्या असर हो सकता था। ऐसे मधुर सम्बन्ध को आदमी को भूलाना नही चाहिए।

३

कलम घिसाई

१० अक्तूबर को पौने ६ बजे सवेरे की गाड़ी घण्टे भर देर से आई। जिस कम्पार्टमेंट में मैं था, उसी में गोरखपुर निवासी एक मुसलमान मनिर अफसर भी थे। वह जिन्ना के दर्शन से बड़े प्रभावित थे। आज की स्थिति में दूसरे मुसलमानों की तरह वह भी बहुत खिन्न और निराश थे। कहते थे— "मनुष्यता कहाँ है?" लेकिन कहाँ रही अब? वह कह रहे थे— 'भारत फिर परतन्त्र होगा, पाकिस्तान से लड़ाई होगी, दोनों में से एक पराजित और अधीन होकर रहेगा।' उस समय की स्थिति देखकर वह इसी तरह सोच सकते थे। कह रहे थे—'युक्त प्रान्त की सरकार मुसलमानों को नौकरियों से निकाल रही है, बायकाट के कारण मुसलमान व्यापार भी नहीं कर सकते।" उनका यह भी कहना था कि हम हिन्दू मुसलमान की वेष भूषा हटाकर यूरोपियन पोशाक अपनानी चाहिए। वेष भूषा के हटने से हिन्दू मुसलमान का बाहरी भेद मिट जाएगा, यह ठीक है मैंने कहा—वह खर्चीली होगा। क्यों न हिन्दुस्तानी पोशाक एक-सी दोनों अपना लें। उस वातावरण में कोई किसी पर विश्वास कैसे कर सकता था? चलती ट्रेनों में छुरा मारकर निरीह मुसाफिर को ट्रेन से बाहर गिरा दिया जाता था। महीने भर की यात्रा में मैंने इस भीषण साम्प्रदायिक स्थिति को देखा। बनारस, छपरा और पटना में हिन्दू मुसलमानों में हल्का सा तनाव था,

यद्यपि संघी और हिंदू सभाई अपनी कोशिश में बाज नहीं आ रहे थे। कलकत्ता में और भी हलका तनाव था। कटक, बालासोर बिल्कुल शांत थे वर्धा में जरा जरा और जबलपुर में ज्यादा तनाव देखा। दमोह और सागर में तूफान मचा हुआ था और काव तथा उरई में हलका सा तनाव।

फीस बढ़ाने से विद्यार्थियों में क्षोभ मचा हुआ था। हमारे अधिकांश विद्यार्थियों की आर्थिक स्थिति वस्तुतः इतनी बुरी है, कि वह पेट काटकर बड़ी मुश्किल से पढ़ते हैं। उस पर से जब फीस बढ़ा दी जाती है तो वह क्या न उत्तेजित हो जाएँ। इस समय उन्होंने जगह जगह हड़तालें और प्रदर्शन किए थे शिक्षा मंत्री श्री सम्पूर्णानन्द के मकान के शीशे को तोड़ दिया था। गिरफ्तारी शुरू हुई। इतना ही तक नहीं, लाठी बरसने लगी, विद्यार्थियों पर घोड़े दौड़ाये गए। यह सब अँग्रेजों के वक्त की सरकार का ही अनुकरण था। एक लड़का मारा गया बहुत से घायल हुए। जेल में बंद विद्यार्थियों के साथ वही निष्ठुर बर्ताव हुआ जैसा कि अंग्रेजों के सामने होता था। विद्यार्थी आंदोलन उस समय सारे प्रदेश में जोर शोर से फैला हुआ था।

प्रयाग—कानपुर में ट्रेन बदलकर ८ बजे रात को मैं प्रयाग पहुँचा। कर्फ्यू नहीं था नहीं तो डा० बदरीनाथप्रसाद के बँगले में पहुँचने में दिक्कत होती।

अब प्रयाग में ४६ दिन रहकर कलम का काम करना था। रूस में रहते मैंने मध्यएसिया के उपन्यासकार सदरुद्दीन एनी के बड़े ग्रंथ पढ़े थे। वह मुझे बहुत पसन्द आए थे। उनमें वैसे ही समाज के महान् परिवर्तन की बात बतलाई गई थी जैसा हमारे यहाँ अब भी था। इसलिए उपन्यासों का हमारे देश के लिए विशेष उपयोग भी था। लेनिनग्राद में रहते ही मैंने एनी के दो बड़े बड़े उपन्यासों—"दाखुन्दा" और "गुलामान" (जो दास थे)—का अनुवाद कर डाला था। ताजिक फारसी से उर्दू में करने में बहुत से मूल शब्दों को रखा जा सकता था, इसलिए मैंने अनुवाद उर्दू में किए। यहाँ आने पर मालूम हुआ उर्दू का प्रकाशक नहीं मिल सकेगा। उर्दू-पुस्तकें अब

जल्द कम प्रकाशित होने लगी हैं। मेरे हिन्दी के प्रकाशक जोर देने लगे, कि हिन्दी में करूं दूं तो वह तुरन्त छप जाएँगे। मैं सबसे पहले 'दाखुंदा' लग गया १२ अक्तूबर में, और २५ अक्तूबर को उसे समाप्त कर दिया। जब ३१ को 'दाखुन्दा' का पहला प्रूफ आया तो और भी प्रसन्नता हुई।

डा० बदरीनाथप्रसाद के यहां मैं बहुत आराम से था, लेकिन बहुत से लोग मिलने जुलने आया करते थे, और काम को बहुत-सा समय बातचीत में चला जाता था। मुझे ऐसी जगह चाहिए थी जहाँ मैं निर्विघ्न लिखने का काम कर सकूं। यही सोचकर १५ अक्तूबर को मैं दारागंज में राय रामचरण के निवास में चला गया। दारागंज में परिचितों की कमी नहीं थी पर रायसाहब केवल मेरे रहन-खान-पीन का ही बहुत ध्यान नहीं रखते थे बल्कि इसके लिए भी सजग थे, कि निश्चित समय के अतिरिक्त और समय कोई मिलने न आए। अपने हाथ से लिखने का अभ्यास छूट सा नहीं था, पर दिन पर दिन मेरा हस्ताक्षर बिगड़ता गया था, स्वयं लिखने में कथन माल्म होता था। लिखने के लिए नागार्जुनजी ने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं पर मुझे यह उचित नहीं माल्म होता था। नागार्जुन अब स्वयं साहित्य सृजन कर रहे थे, उनकी लेखनी को लोग लोहा मानने लगे थे। उनसे लिपिक का काम लेना मुझे ठीक नहीं माल्म होता था पर अभी तो मजबूरी थी। अक्तूबर का मध्य था, लेकिन पैसे के बिना काम नहीं चलता था। सन्तोष था, जाड़ा जल्दी ही आ जाएगा।

दारागंज में राय रामचरण ने मेरे लिए जो निवास निश्चित किया था, वह सचमुच तल्लीनता का स्थान था। कोई शिकायत नहीं हो सकती थी और पाखाना कुछ ठीक नहीं था, लेकिन उसका कारण मेरा बहुत ख्याल तक सावधान मैं रहता था। दिन भर बिजली का पंखा चला करता, साथ और प्रात का तापमान अनुकूल हो जाता।

१८ अक्तूबर को रामलीला की धूमधाम थी। इधर कितने ही मास तक हिन्दू मुसलमान वैमनस्य के कारण अंग्रेजी सरकार ने प्रतिबन्ध लगा

दिए थे जिसके कारण रामलीला बन्द रही। अंग्रेजों के जाने का यह शुभ फल ता मिला।

यहाँ आते शास्त्री व आचार्य (द्वितीय खण्ड) के बौद्ध दर्शन का प्रश्न पत्र बनाना पडा। व्यस्त रहने के कारण यद्यपि समय निकालना मुश्किल था, लेकिन शास्त्री की परीक्षाओं में बौद्ध दर्शन को सम्मिलित कराने में मेरा भी हाथ था इसलिए इस कार्य को मैं कर सकता था। २० अक्तूबर को डा० उदयनारायण तिवारी और राय रामचरण अग्रवाल कार से बनारस जा रहे थे, रास्ते में कार उलट गई। सौभाग्य से चोट कम आई। आदमी का जीवन दरअसल हर समय अपना अन्त लिए चलता है। न जाने किस समय भीषण दुर्घटना हो जाए। २१ तारीख को रामलीला की चौकियाँ निकली। गोस्वामी तुलसीदास के समय से पहले से रामलीला होती आई है, पर कालवश के कारण किसी चीज का रूप एक सा नहीं रहने पाता। प्रयाग में रामलीला ने जुलूस के साथ चौकियों की परम्परा चल पड़ी है। हरेक मुहल्ला अपनी अपनी चौकियों को सजाने में होड़ लगाता है। चौकियों में केवल रामायण के दृश्य नहीं होते बल्कि आधुनिक भावों को व्यक्त करने वाली मूर्तियाँ सज्जित की जाती हैं। जुलूस कभी कोठी के सामने से निकला जिसके सामने ही उस कोठी का फाटक था जिसमें मैं रहता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके दर्शन का लाभ मैं संवरण नहीं कर सका।

मेरे अनुज श्यामलाल के पुत्र उदयनारायण मैट्रिक पास करके दिल्ली में नौकरी करने लगे थे। २४ अक्तूबर को वह आए बोले मैंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया, अब पढना चाहता हूँ प्रोफेसर बनना चाहता हूँ लेखक होना चाहता हूँ। मैंने कहा खर्च की चिन्ता मत करो पढो और साइन्स पढो। अक्तूबर के अन्त में आशा तो नहीं थी कि इस साल वह एफ० ए० की परीक्षा में बैठ सकेंगे लेकिन उसके लिए कोशिश करने के लिए कह दिया। प्रसन्नता हुई, जब १ नवम्बर को उनकी फीस जमा होकर फार्म स्वीकृत हो गया। यदि पढाई न छोड़ देते तो इस साल वह बी० ए० में बैठते, अर्थात् दो साल का नुकसान हुआ था।

२५ अक्तूबर को "दागुदा" समाप्त करने के बाद "सोवियत भूमि" के दूसरे सस्करण मे हाथ लगाना था। एक तरह सारी पुस्तक को फिर से लिखकर पहले से ड्योढा करना था। रोज थोडा-सा समय मित्रो से मिलने जुलने के लिए रखा था और कुछ समय बाद रविवार को छुट्टी रखने का नियम भी मान लिया। उस दिन मित्रो से मिलने मैं भी बाहर निकलता था। प० श्रीनारायण चतुर्वेदी दारागज मुहल्ले ही मे रहते थे। २६ के रविवार को सबसे उनके यहाँ पहुँचा। चतुर्वेदीजी साहित्यकार और साहित्य प्रेमी ही नहीं हैं। बल्कि उनके यहा साहित्यकारो का दरबार लगा दिखाई पडता। साहित्य और साहित्यकारो की चर्चा ही वहा ज्यादा सुनाई देती। कितने ही तरुण और प्रौढ साहित्यकारो का चतुर्वेदीजी ने प्रोत्साहन और सहाय्य देकर आगे बढाया। आठवी नवी शताब्दी के एक चतुर्वेदी ने पूर्वी कम्बोज मे जाकर बहुत सम्मान प्राप्त किया, राजा का दामाद बने। उन्होने अपनी मथुरा को हजारो वेदपाठियो के स्वरो से गुजित बतलाया है। अब माथुर चतुर्वेदियो म वेदपाठी शायद ही कोई मिले। वल्लभ सम्प्रदाय से आगे बढने वाले चतुर्वेदियो म शायद प० श्रीनारायण के पिता श्री द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी ही है, जो रामानुज सम्प्रदाय म दीक्षित हो उत्तर के रामा नुजियो के नेताओ म से थे। पिता ने सरस्वती की सेवा की योग्य पुत्र उनसे पीछे कैसे रहता ? चतुर्वेदीजी को साधना के लिए पूरा समय देना मुश्किल था। पर अपने सरकारी कर्तव्य को भी वह चुस्ती के साथ निर्वाह करते थे, और मित्रो के लिए भी समय देने मे बडी सागर्वी रहते थे।

उसी दिन दोपहर बाद श्री महादेवीजी के पास भी गया। महादेवीजी नारी होने के नाते हिन्दी काव्य म आगे नहीं गिनी जाती, बल्कि उन्होने अपना स्थान अपनी योग्यता से बनाया है। मैं निस्सकोच कह सकता हूँ कि पत प्रसाद निराला के बाद उस पीढी के सर्वोच्च कवियो म महादेवीजी प्रथम हैं। सावधानी के साथ रचना करने म तो प्रसाद के बाद ही उनका नम्बर आता है। बातचीत म निरालाजी का जिक्र छिड गया। निरालाजी को कितने लोग पागल समझते थे, और उनके विचार से उन्हे राँची ले

ाना चाहिए। मैं ऐसा नही समझता। मैं उन्हें चौरासी सिद्धो की कोटि म समझता हूँ जिनका जागत और स्वप्न का भेद मिट गया है। निराला कवि के तौर पर ही नही मानव के तौर पर भी बेजोड़ हैं। इस समय वह उन्माद म थे इसलिए मुलाकात नही हो सकी।

उसी दिन सरस्वती" के भूतपूर्व सम्पादक प० देवीदत्त शुक्ल के दर्शनार्थ गया। दिसम्बर १९४४ से ही उनकी आखें जाती रही तीन साल से वह इसी स्थिति म थे। जीवन भर साहित्य की सेवा करते आज जिस तरह का जीवन उन्हें बिताना पड रहा था उससे दुख हो रहा था। मेरे दर्शन के लिए जाने से उन्हें आत्म सतोष हो सकता था, लेकिन इससे उनकी क्या सहायता हो सकती थी? हमारे यहा मतक श्राद्ध की प्रथा है शायद इसी लिए हम जीवित श्राद्ध करना नहा जानते। जहा तक शुक्लजी का सम्बन्ध था वह अपनी स्थिति से असन्तुष्ट नही मालूम होते थे। आखिर तीन साल से वह इसी का अभ्यास कर रहे थे। द्विवेदीजी के बाद सबसे अधिक समय तक सरस्वती' के कणधार प० दवीदत्त शुक्ल रहे। मुझे तो उनका और भी अधिक कृतज्ञ होना था, क्योकि देर स जब मैं हिन्दी पत्रिकाओ म लेख लिखने लगा तो सबसे पहले सम्बन्ध 'सरस्वती' से हुआ। शुरू से ही शुक्लजी ने मेरे लेखो का स्वागत ही नही किया बल्कि औरो के लिए माग करते रहे। यह उस समय की बात है, जबकि मैं पहली बार लका गया था।

हम से लन्दन होकर मैं भारत लौटा था। लन्दन म ही एक छोटा सा किन्तु शक्तिशाली रेडियो खरीद लिया था। शाम के वक्त नियमपूर्वक मैं भारत और पाकिस्तान से प्रसारित होने वाले समाचारो को सुनता। उस वक्त कश्मीर की खबर पाकिस्तान रेडियो जहाद बोल रहा था। जूनागढ के नवाब ने मजूर कर लिया इसलिए भारत के भीतर जूनागढ पाकिस्तान का है कश्मीर के राजा के हस्ताक्षर करने स क्या होता है वहाँ के अधिकांश लोग मुसलमान हैं, इसलिए वह पाकिस्तान का है। रेडियो प्रसार स सतोष न करके पाकिस्तान ने अपनी सेना और प्रजा को भी कश्मीर पर चढ दौड़ने के लिए छोड दिया जब २७ अक्तूबर को कश्मीर के राजा ने

भारत संघ में शामिल होने का निश्चय कर लिया।

पत्र के २६ अक्तूबर को शरदपूनो पड़ी। शारदी पूर्णिमा का हमारे यहाँ हमेशा नयनाभिराम माना जाता था। राजा लोग इस समय कौमुदी महोत्सव मनाते थे। शरद पूनो को उस समय कौमुदी कहा जाता था। कौमुदी महोत्सव का निषेध कर देने पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त का जो क्षणिक वैमनस्य हुआ था, उसका वर्णन विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' नाटक में किया है। अयोध्या में शरद पूनो को लोग अब भी धूम धाम से मनाते हैं, लेकिन यह अधिकतर पत्थर या हाड़ मांस के राम लक्ष्मण-सीता की झाँकी दिखलाने तक ही सीमित रहती है। सारे देश में शरद पूनो का निरभ्र आकाश हो यह आवश्यक नहीं है, लेकिन मुझे तो उत्तरी भारत की इस पूर्णिमा के जितने भी स्मरण हैं, उनमें आकाश निरभ्र ही मिला था। कौमुदी महोत्सव राजाओं का ही नहीं, जनता का भी और उससे भी अधिक कलाकारों का उत्सव है। हिन्दी-क्षेत्र में इस दिन की फूल सी छिटकी चाँदनी को ऐसे ही जाने देना अपराध है। कवियों का यह स्वाभाविक महोत्सव है पर अभी उनका इस तरफ ध्यान नहीं गया है।

१ नवम्बर को देहरादून के एक मित्र के पत्र से मालूम हुआ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के लिए मेरा भी नाम लिया गया है। यह भी पता लगा, कि मेरे मित्रों ने उसके लिए निवेदन पत्र भी छापकर मतदाताओं के पास भेजा है। कई साल पहले भी मेरा नाम सभापति के लिए लिया गया था। जब मुझे मालूम हुआ, तो बिहार के साहित्यकारों से मैंने कहला दिया—मैं नहीं चाहता। लेकिन, तब काफी देर हो चुकी थी, और मेरा अभिप्राय सिर्फ बिहार तक ही कारगर हो सका। मतदान हुए और कुछ ही वोटों की अधिकता से श्री जमनालाल बजाज सभापति चुने गए। उनकी पीठ पर गांधीजी का वरदहस्त था, तब भी यदि मैंने बिहार के मित्रों को मना रोका होता तो परिणाम दूसरा ही निकलता। इस समय मेरे मित्रों ने इसी-लिए चुपचाप निवेदन पत्र निकाला था, कि मालूम होने पर मैं विरोध करता हूँ। उसका समय बीत चुका था। ३ नवम्बर को मैं सभापति चुन लिया गया।

इस साल सेठ गोविन्ददास को १४७ और मुझे १८० वोट मिले थे। उस बार भी एक सेठ से मुकाबिला हुआ था और इस बार भी। अब अपने सम्मेलन को भी समय देना पड़ेगा इस कठिनाई का सामना करना था और मैंने लिखने के लिए काफी कड़ी योजना बना ली थी। इसी बीच सभापति के भाषण लिखने का भी भार आ पड़ा। मैं चाहता था कि "सोवियत भूमि" के बाद "मधुर स्वप्न" उपन्यास में हाथ लगाऊँ किन्तु उसका समय दो वर्ष बाद आने वाला था।

फिल्मों से मेरा द्वेष नहीं है किन्तु भारतीय फिल्मों में बहुत से ऐसे ही देखने को मिले, जिन्हें मैं कुछ ही मिनट देखने के बाद ऊब जाता, इसीलिए किसी फिल्म की जब तक जबर्दस्त सिफारिश न हो तब तक मैं खामखाह सरदर्द लेने के लिए तैयार नहीं होता। ६ नवम्बर को मैं मित्रों के साथ "मेघदूत" देखने गया। कालिदास की महान् कृति पर यह फिल्म बनाया गया था। सारी गुप्तकला इसकी पृष्ठभूमि में थी। इतिहास का वह अन्धकारावृत युग भी नहीं है। इस पर कितना सुन्दर फिल्म बन सकता था लेकिन देख कर मुझे कुछ नहीं लिखना पड़ा। इलाहाबाद में हर साल इन्हीं महीनों में स्वदेशी प्रदर्शनी हुआ करती थी जो अब स्वदेशी मेला के रूप में परिणत हो गई थी। पहले सालों से उसकी अधिक उन्नति हुई थी।

'सोवियत भूमि' में अनिश्चित सोवियत मध्य एसिया पर एक छोटा सा ग्रन्थ लिखना चाहा। इन्हीं के उपन्यासों द्वारा सोवियत मध्य एसिया के लोग जीवन में जो महान् परिवर्तन आए उनको जाना जा सकता था पर उसको पूरी तरह से समझने के लिए सोवियत मध्य एसिया के परिचय की आवश्यकता थी। इसी कमी को दूर करने के लिए १० अक्तूबर को मैंने इस पुस्तक में हाथ लगाया। २८ अक्तूबर को मैंने पुस्तक को लिखकर समाप्त कर दिया। प्रकाशक ने बहुत आशा दिलाई थी कि मैं इसे तुरन्त छाप दूँगा पर तुरन्त का समय इतना संयम लम्बा निकला।

मेरी तन्दुरुस्ती आमतौर से अच्छी रहती रही इससे काम करने में कैसा सुभीता था इसे कहने की आवश्यकता नहीं। लेकिन, किसी शरीर

घारी या सदा निराग रहना सम्भव नहीं ? डिमेंट्री (पश्चिम) १९७४-७५
ई० म मेरी जन्मगाँठी हान वाली थी जिसमे बाल बाल बचा। उसके बाद
जब कभी उसके आने का पता लगता मैं सजग हो जाता। पट म कुछ गड
बड़ी जान पड़ी। कारण ढूँढने क लिए बहुत माथा पच्ची की जरूरत नहीं
थी। मैंन सबेरे से आधी रात तक बठकी करत लिखन पढने का काम ले
मे ले लिया था, और इसका खयाल भी नहीं किया कि भोजन पचने के लिए
कुछ शरीर के हिलान डुलान की भी जरूरत है। १० अक्तूबर को डिमेंट्री
शुरू हो गई। काम छोटकर दो दिन क लिए लेट जाना पडा। वह रल्न का
मतलब था, बार-बार शौच के लिए जाना। दवा न डिमेंट्री को १५ अक्तू
बर तक दवा दिया। अब सभापति क भाषण के लिखन की चिन्ता सिर पर
आ गई। १५ अक्तूबर को पथ्य की खिचडी खाकर उसम हाथ लगाया।
अपन विषय म मैं जितना ही बेपरवाह था मेरे मेजबान उतना ही उस पर
विशेष ध्यान देते थे। खाने मे स्वादिष्ट और सुपुष्ट भोजन मिल रहा था।
उसके लिए मुझे टहलने की जरूरत थी, लेकिन म उन घटों का बबाद होना
समझता था। राय रामचरणजी काग्रेसी थे यद्यपि ख्सट विचारों वाले
नहीं। उनका परिवार बहुत काल स सम्भ्रान्त धनी परिवार था। काफी
बड़ी जमीदारी थी। बड़ी कोठी को सारे प्रयाग मे बहुत सम्मान था। पर
रायसाहब अवितपता के लिए तयार थे। वह जानते थे समय शीघ्र बदलने
वाला है, इसलिए पीछे की ओर न देखकर आगे की ओर देखना चाहिए।
उनका साहित्य प्रेम ही नहीं, बल्कि उदार विचार भी मुझ यहा खीच
लाया था।

कृष्णचन्दर की कहानी और उस पर बन 'सराय के बाहर' फिल्म
की बहुत तारीफ सुनकर मैं भी १६ अक्तूबर को देखने गया। फिल्म बुरा
नहीं था लेकिन मुझे यह ठीक नहीं लगा कि सराय के बाहर वाली जिला
रिन को उसकी सारी कुर्बानियों को करने के बाद भी न्याय को न पा सकी।
खैर न्याय दिलाना लेखक को अपनी कहानी म अभीष्ट भी नहीं था। वह
चाहता था, लोग उसका प्रतिशोध लें।

डिमट्री से मुक्त होने के बाद शारीरिक सावधानी की ओर थोड़ा सा ख्याल गया था और १७ तारीख को गंगा पार तक शाम के वक्त एक घंटा टहलने गया। अब के पहली बार मैंने गंगा को दारागंज के पास बहते देखा। लोग कह रहे थे कुछ सालों में गंगा मैया इसी तरह दया दिखा रही है। टहलने में मैं बिल्कुल स्वतंत्र भी नहीं था। शाम के टहलने के समय जब कोई मिलने आ जाता तो बैठ जाना पड़ता। इस सप्ताह कई मित्र मिलने आए जिनमें श्री बेनीपुरी, नाटककार पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० बदरीनाथप्रसाद और बहुत सालों बाद मिले बाबू महेश्वर प्रसाद नारायण सिंह। महेश्वर बाबू परसा (छपरा) में पैदा हुए, किन्तु उनका जीवन मुजफ्फरपुर का हुआ। उनके छोटे भाई चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह अंग्रेजों के वक्त में उनकी नाक के बाल थे और अब कांग्रेसी नेताओं के। इसमें आश्चर्य करने की जरूरत नहीं, जो हर उगते सूर्य के सामने दंडवत करने के लिए तैयार होता है उससे दुनिया तोताचश्मी नहीं करती। या यह कह सकते हैं अंग्रेजों के वक्त में कांग्रेसी नेता उच्च वर्ग से वंचित थे और अब सम्पत्ति और सम्मान द्वारा वह उसी वर्ग में सम्मिलित हो गए, इसलिए चन्द्रेश्वर बाबू अब उनके अपने वर्ग के थे। मैं उनके प्रति जितना ही अच्छा भाव रखने में असमर्थ था, उतना ही महेश्वर बाबू के प्रति मेरा सद्भाव था। उनके पिता बाबू बैजनाथ प्रसाद नारायण सिंह को मैंने परसा में देखा था। परसा पुराने कुलीन भूमिहार ब्राह्मण जमींदारों का गढ़ है। अपनी शानखर्ची या फजूलखर्ची के कारण उन्हें राजा से रंक होने में देर नहीं लगती, लेकिन खानदान और शादी सम्बन्ध पुराने धनी कुलों में ही होने के कारण रंक को फिर राजा बनने में देरी नहीं लगती। बैजनाथ बाबू की स्थिति खराब हो गई थी। उनकी बहिन का ब्याह सुरसर के बड़े जमींदार परिवार में हुआ था, जिसमें चन्द्रेश्वरप्रसाद गोद ले लिए गए। इस प्रकार उनका सितारा जग गया। उन्हें शिक्षा का भी अच्छा मौका मिला, बुद्धि भी अच्छी मिली। उनके भाइयों को भी अच्छी ससुरालें मिलीं। इस तरह सब अच्छी स्थिति में थे। पर महेश्वर बाबू जैसे उदार उनमें दूसरे नहीं थे। रविवार को

महेश्वर बाबू ने अपने यहाँ चाय पीने का दावत दी। छुट्टी के दिन हाल में मैंने स्वीकार किया। पहले के बाबुओं के यहाँ मुगल जमाने से कम बड़ा पर्दा नहीं होता था, पर आज देख रहा था बाबू रजनाथ प्रसाद की पोती यह भी जानते ... नहीं रह गई थी कि उनके यहाँ कभी ... पर्दा होता था। बाबू महेश्वरप्रसाद की धर्मपत्नी भी आधुनिक महिला मालूम होती थी। परिवर्तन क्या न होता जब मारे देश और दुनिया में उसकी बाढ़ आई हुई है। महेश्वर बाबू पहले ही से जान चुके थे कि जमींदारी के लिए बहुत दिनों तक खैर नहीं मनाई जा सकती, इसलिए जीविका के दूसरे साधन ढूँढ़ने चाहिए। प्रयाग में सिविल लाइन्स में किसी अंग्रेज का एक बहुत बड़ा बंगला था जिसमें कई एकड़ की फुलवारी और बगीचा थे। सुन्दर फर्नीचर इतना अधिक था जिसे सजाने के लिए जगह नहीं थी। बंगले में हजारों अंग्रेजी पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह था। भारत छोड़ते समय अंग्रेज अपनी चीजों को मिट्टी के मोल बेच रहे थे लेकिन उनके खरीदने के लिए लड़ाई के समय में चोरबाजारी से करोड़ों रुपया पैदा करने वाले सेठ ही समर्थ थे। जमींदार के पास उतना रुपया कहाँ? इस बंगले को महेश्वर बाबू ने खरीद लिया। वह कितने ही साल तक इसमें आकर रहते भी थे। इस साल (१९५६) पूछने पर मालूम हुआ कि उन्होंने बंगले को बेच दिया। आज की परिस्थिति में मुजफ्फरपुर, पटना, प्रयाग तीन-तीन जगहों में निवास स्थान रखना बुद्धिमानी की बात नहीं थी। देर तक हमारी बातचीत होती रही। किशोरी भाई भी साथ थे। साथी किशोरी प्रसन्नसिंह बिहार के उन देशभक्तों में हैं जिन्होंने अपने सर्वस्व को देश की लड़ाई के लिए अर्पण किया और काम और विचार दोनों में हमेशा सबसे अगली पंक्ति में रहे। कांग्रेसी से वह समाजवादी हुए और फिर कम्युनिस्ट। उनकी हिम्मत की दुश्मन भी दाद देते हैं। सरकार से लोहा लेना उतना मुश्किल नहीं था जितना समाज से, और उन्होंने अपनी स्वर्गीया पत्नी को एक कर्मठ राष्ट्रसेविका बनाकर इस काम को पूरा किया।

उसी दिन युनिवर्सिटी में विद्यार्थियों के सामने मुझे बोलना पड़ा।

नाधे हुए काम जब पूरे हो चुके थे इसलिए बनारस तक थोडा घूम आने का विचार आया। २७ अक्तूबर को छोटी लाइन मे चलकर सारनाथ पहुचे। उस समय वार्षिकोत्सव हो रहा था। जाडा का समय विदेशी बौद्ध यात्रियो के लिए बहुत अनुकूल होता है। बौद्धो का सबसे बडा पर्व बैशाखी पूर्णिमा उस समय पडता है जबकि उत्तरी भारत मे असह्य गर्मी पडती है, लू लगने से कभी कभी लोग मर जाते है। यहा महास्थविर बोधानन्द से मिलकर बडी प्रसन्नता हुई। बौद्ध धर्म की जिज्ञासा मेरे मन मे जिस वक्त पैदा हुई, उस समय सबसे पहले इन्ही ने ही मुझे दिशा दिखलाई थी। उनके शिष्य प्रज्ञानन्द को इसी समय भिक्षु बनाया गया। प्रज्ञानन्द सिंहल मे पैदा हुए। बचपन से ही महास्थविर के साथ रहते रहे। हरेक तरुण को शिक्षा मे आगे बढना चाहिए, और दूसरो को भी उसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। शिक्षा और परीक्षा का अटूट सम्बन्ध नही है न परीक्षा शिक्षा की कसौटी है। हो उसके लिए आदमी को महनत करने के लिए मजबूर होना पडता है। इसलिए भी मै उसे पसन्द करता हूँ। महास्थविर का इस बात मे मुझसे मतभेद था। उनका कहना था तरुण का उच्च शिक्षा दिलाने पर उसे खूटे से बाधा नही जा सकता।

सारनाथ मे ही किसी समय भिक्षु सघ की स्थापना हुई थी, लेकिन इधर शताब्दियो तक वहाँ कोई भिक्षु नही बना। श्रामणेर बनाना आसान है, क्योकि एक भिक्षु भी यह कर सकता है लेकिन भिक्षु बनने के लिए सघ की आवश्यकता है जिसका कोरम मध्यमण्डल मे दस का है। जिस स्थान या घर मे भिक्षु—दीक्षा—उपसम्पदा—दी जाती है उसकी सीमा बन्धन पहले ही से बाकायदा भिक्षु सघ द्वारा होना चाहिए। भारत मे बौद्ध धर्म का पुनर्जागरण हुआ, फिर ऐसी स्थिति पैदा हो गई जबकि सारनाथ मे उपसम्पदा दी जा सके।

उसी दिन दोपहर को हम अमृत के साथ बनारस चले आए। रात को प्रगतिशील लेखक सघ की बैठक हुई। सुमन ने अपनी कविता सुनाई, साथी गोपाल हालदार भी बोले। रात दो को ३ बजे की गाडी पकडी और २८ के

७ बजे सवेरे हम प्रयाग पहुँच गए। सम्मेलन के सभापति का भाषण करीब-करीब समाप्त हो गया था, लेकिन गोपालगंज (छपरा) में होने वाले भोजपुरी सम्मेलन का सभापति होना भी स्वीकार कर लिया था। भोजपुरी मेरी मातृभाषा है, और हिंदी मेरी अपनी भाषा, इसलिए मेरा स्नेह दोनों के प्रति एक-सा है।

१ दिसम्बर को रेडियो में सुना कि कश्मीर में जो युद्ध छिड़ा है उसमें भारतीय सेना को कोटली से पीछे हटना पड़ा। जम्मू का कोटली कस्बा पहाड़ों के भीतर बसा हुआ है। उसे मैंने १९२६ में देखा था—१९२६ में उस समय भी हिन्दू केवल कस्बे के भीतर थे आसपास के सारे गाँव मुसलमानों के थे। आज की स्थिति में यही गनीमत थी कि कोटली के हिन्दू सही-सलामत निकाले जा सकें। ४ दिसम्बर को पता लगा कि शत्रु जम्मू से १० मील पर पहुँच गए हैं। घटनाएं प्रयाग से बहुत दूर घट रही थीं, लेकिन चिंता हम सबको हो रही थी। चित्त वैसे भी सदा चंचल समुद्र है वह एक-सा नहीं रह सकता बिना पर्याप्त कारण के भी उसमें कभी कभी अवसाद आ जाता है। इससे बचने का एक ही उपाय है मन को सदा काम में लगाए रखा जाए।

६ दिसम्बर की चिट्ठी से मालूम हुआ कि हिन्दी-अंग्रेजी का जो कोश श्रीमती दीना गाल्दमान को मैंने लन्दन से भेजा था, वह उनको मिल गया। मुझे इसकी बड़ी चिन्ता थी। मेरे पास लन्दन तक का जहाज का टिकट और वहीं से लेनिनग्राद तक का रेल का चेक था। बिना विदेशी सिक्के के मैं लेनिनग्राद से रवाना हो रहा था। उस समय दोनों ने अपने पास पड़े कुछ डालर मुझे दिए थे जिन्होंने स्टाकहोम और हेल्सिंकी में मेरी बड़ी सहायता की थी। उसी के बदले मैंने पुस्तक भेजी थी। सिर से एक भार उतर गया मालूम हुआ। दोनों मेरी द्वितीय रूस यात्रा में हिन्दी पढ़ रही थीं, और अब लेनिनग्राद युनिवर्सिटी में अध्यापिका थीं।

इस समय लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गई थी। चीजों का दाम कई गुना बढ़ गया था, और वह दुर्लभ भी थीं। कंट्रोल से मूल्य पर

अकुश था, उधर गाधीजी और दूसरे हल्ला मचा रहे थे कंट्रोल को हटाना चाहिए। कंट्रोल से २१ रुपये मन चीनी मिल रही थी। हटाने के साथ ही उसका दाम ३५ रुपया मन हो गया। १४ रुपया मन सीरा सठा के पाकेट में गया। चोरबाजारी बड़े जोर से चल रही थी जिसके लिए अफसरों को रिश्वत देना आवश्यक था। पुरानी परम्परा के कारण रिश्वत लेने देने में बड़ा सकोच था लेकिन, अब उसका बांध तेजी से टूटने लगा था।

८ अक्तूबर को भोजपुरी भाषाओं को समाप्त कर अगले दिन मैंने 'रोमनी' भाषा पर भी एक लेख लिखा। रोमनी लोगों को अंग्रेजी में जिप्सी कहते हैं। काबुल से लेकर सारे यूरोप और पीछे अमेरिका में भी काफी सख्या में यह घुमन्तू लोग फैले हुए हैं। यह भारत से ही यहां एक समय गये थे, लेकिन यह बात वह अब भूल गए हैं। भाषा सम्बन्धी अनुसन्धानों से ही इस तथ्य का पता लगा। इंग्लैण्ड के रोमनी घुमन्तू जीवन छोड़ चुके हैं, रूस में भी अब वह स्थायी निवास ग्रहण कर रहे हैं। उनकी भाषा का हमारी भाषा से कितना नजदीक का सम्बन्ध है इसी को दिखलाने के लिए मैंने यह लेख लिखा।

१० को परिमल की गोष्ठी में गया। दूसरे कवियों के अतिरिक्त पन्तजी और बच्चनजी ने भी अपनी कविताएँ सुनाई। इन गोष्ठियों के रूप में हमारा सास्कृतिक जीवन एक नई दिशा की ओर पग बढ़ा रहा है। इसकी बड़ी आवश्यकता है। उसी दिन ५००० से कुछ ही अधिक आमदनी पर मैंने इनकम टैक्स का हिसाब भेजा। अभी तक इसकी जरूरत नहीं पड़ी थी। आमदनी केवल पुस्तकों की रायल्टी की थी और वह इनकम टैक्स की सीमा के भीतर नहीं पहुँचती थी। हिसाब देते वक्त, यह भी दिखाई देने लगा कि आमदनी का हिसाब रखना होगा और उसको ठीक रखने के लिए पैसे को किसी बैंक में डालना होगा। मालूम हुआ, कि रूस में रहते जो आमदनी हुई है, उस पर भी टैक्स देना होगा। नागरिक होने का यह आवश्यक भार है।

१८ दिसम्बर तक प्रयाग में रहते कलम चलाना रहा। १२ को पटने में

फिर गडबडी शुरू हुई। मास आठ दिन बाद जब स्थान छोडना था इसलिए इस गडबडी को दूर करना आवश्यक था। १५ दिसम्बर को पेट में मीठा-मीठा दर्द होने लगा, वैसा ही जैसा १९४३-४४ में बम्बई में हुआ था। वहाँ सोडा को पानी में डालकर पीने से दर्द कम हो जाता था उसी दवा का मैंने यहाँ भी इस्तेमाल करना शुरू किया। दर्द का न उस समय मैं ठीक से समझ सका था, और न अब। मैं इसे मामूली पेट दर्द जानता था जबकि वस्तुतः यह डायबटीज की पूर्व सूचना थी। पक्रिया ग्रंथि पेट के भीतर सक्रिय रहने भोजन की शक्कर को उपयुक्त बनाने में अपना रस (इन्सुलिन) दान करती है। जब ग्रंथि काम करना छोड़ देती है, तो इन्सुलिन मिलना बन्द हो जाता है और भोजन शक्कर रूप में परिणत होकर बाहर जाने के लिए मजबूर होता है। पक्रिया ग्रंथि क्यों काम छोडती है, क्या निष्प्राण हो जाती है? शारीरिक श्रम न करने और अधिक पुष्टिकारक भोजन करने से ही। यह तत्त्व उस समय मुझे समझ में नहीं आया। समय में आने पर भी इसमें सन्देह था कि मैं उस रोग से बच सकता। शायद स्थिति अब हाथ में बाहर हो गई थी। मैंने विनत भाव अपने नोट में १६ दिसम्बर को लिखा था—' पेट में जब-तब मीठा मीठा दर्द रहता है, जो सोडा से दूर होता है।'

"रामनी भाषा" के बाद इसी भाषा के बारे में एक विस्तृत लेख लिखने का निश्चय किया जिसकी पहले भूमिका मात्र लिखी। १७ दिसम्बर को प्रगतिशील लेखक संघ में अभिनन्दन लेने के लिए गया। पंत, बच्चन, श्रीनाथ ठाकुर, निराला आदि सभी प्रयाग के साहित्यकारों के दर्शन हुए।

गोपालगंज—१९ दिसम्बर को सवेरे साढ़े ७ बजे छोटी लाइन की गाड़ी पकड़ी। दोपहर को बनारस पहुँचे। गाड़ी में बडी भीड़ हो गई। लोग स्वराज का मतलब समझ रहे थे रेल में वर्गभेद न रहने देना, लेकिन टिकट का पैसा वर्ग के अनुसार लिया जाता था। इसके लिए साधारण लोगों को दोष नहीं दिया जा सकता था। ऐसी हिम्मत करने वाले शिक्षित और अर्ध शिक्षित सभी थे। साढे ७ बजे शाम को हम छपरा कचहरी स्टेशन पर पहुँची। कुछ देर बाद गोपालगंज जानेवाली गाडी मिली जो डेढ बजे रात

को हरखुवा स्टेशन पर पहुँची। छपरा में भी स्टेशन पर कोई नहीं मिला लेकिन उससे कोई हर्ज नहीं था क्योंकि हम आगे की गाड़ी पकड़नी थी। डेढ़ बजे रात को हरखुवा में उतरकर अब क्या करें? मुसाफिरखाने में बिस्तरा बिछाकर सोये रहने के सिवा और कोई चारा नहीं था। सबसे दिक्कत यह हुई कि प्यास बुझाने के लिए पानी नहीं मिला। २० तारीख का सवेरा आया। खबर भेजकर नगीना बाबू और महेन्द्र शास्त्री को बुलवाया। वस्तुतः दोष यहाँ के लोगों का नहीं था। वह समझते थे, कि रात को हम छपरा में रह जाएंगे, और सवेरे वहाँ से चलेंगे। रात को प्यास ही नहीं रह बल्कि पेट में होते मीठे मीठे दर्द को त्यागने के लिए सोडा भी नहीं पी सके।

गोपालगंज मेरे लिए किसी समय घर-सा था। असहयोग के जमाने में न जाने कितनी बार यहाँ व्याख्यान देता सारे सब डिवीजन में घूमता था। अब उस जमाने को बीते चौथाई शताब्दी हो गई। इसी बीच उस समय की पीढ़ी बूढ़ी हो गई या चल बसी। उसकी जगह नई पीढ़ी आ गई। यहाँ अपने पुराने बहुत से सहकर्मियों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एकमा के मेरे घनिष्ट सहयोगी बाबू लक्ष्मीनारायणसिंह, बाबू प्रभुनाथसिंह, मढ़िया के बाबू महादेव राय, छपरा के बाबू जलेश्वरप्रसाद, खुद गोपालगंज के बाबू मूलनसिंह और बाबा माइदास—जिन्हें हम महेन्द्रसिंह कहा करते थे—मिले। छपरा के सबसे प्रथम एसेम्बली के मेम्बर बननेवाले हरिजन नेता बसावन राम भी थे और छपरा के प्रथम हरिजन ग्रेजुएट और एम० ए० चन्द्रिका प्रसाद राम भी। ३ बजे से सम्मेलन शुरू हुआ। सभापति का और कुछ और भाषण हुए। इसके बाद भोजपुरी कविता पाठ शुरू हुआ। बाबू मुनराम सिंह ने बिसराम के विरह सुनाए। लोग अपने आँसुओं को रोक नहीं सकते थे। सम्मेलन में बड़ा उत्साह था। अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम कृत्रिम नहीं होता। अभी भोजपुरी का अपना स्थान पाने में काफी देर है यह जरूर पता लग रहा था। अगले दिन भी सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसी दिन परसा के मेरे गुरुभाई वीर राघवदासजी मिलने आए। उनके

साथ जानकी नगर के बाबू सूरतसिंह भी थे। पता लगा कि महन्त लक्ष्मण रामजी ने अयोध्या में भी एक स्थान छान लिया है, और अब वह अधिकतर वहीं रहते हैं। मठ के कर्जे को कम करने की चिन्ता उनको कभी नहीं थी। सूरतसिंह ने जानकी नगर चलने के लिए कहा और सिवान में भी मित्रों का भी आने के लिए आग्रह था। कमनपुर में भी आगे भोजपुर जिला सम्मेलन होनेवाला था जिसमें जाने के लिए महेन्द्र शास्त्री का बहुत जोर था। पर अब समय की कमी की शिकायत हमेशा के लिए थी। इस यात्रा में नागार्जुन साथ रहे।

२१ तारीख को चन्द्रिकारामजी के यहाँ भोज था। चन्द्रिकाराम अब शिक्षा और संस्कृति में दूसरे वर्ग के हो गए थे—एम० ए० बी० एल० और एसम्बली के मेम्बर थे। फिर उनके भोज में बड़ी जाति के लोग भी दिल खोलकर शामिल हों तो आश्चर्य क्या? चन्द्रिका बाबू ने शायद मेरी रुचि का ध्यान रखकर बहुत अच्छी मछली तैयार कराई। भोजन के बाद हम स्टेशन पहुँचे वहाँ से रात को छपरा पहुँचकर सवेरे के लिए स्टेशन के प्रतीक्षालय में ठहर गए। यहीं मेरे मित्र हुसन मजहर मिले—हुसन मजहर हमारे महान नेता मजहरुल हक के एकमात्र जीवित पुत्र। असवारी के किसान सत्याग्रह में भाग लेकर वह मेरे साथ जेल गए। अपने पिता की तरह ही वह बड़े उदार विचारों के थे। मजहरुल हक को तो मनुष्य नहीं, मैं देवता मानता था, उनकी मधुर स्मृति सदा बनी रहती है। मैंने बड़ी उत्सुकता के साथ हिन्दू मुस्लिम दंगा के बारे में पूछा यद्यपि उनको या उनके परिचितों को कोई हानि नहीं उठानी पड़ी, लेकिन वह अपनी स्थिति से निराश थे। तो भी यह सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई कि उस निराशा में पड़कर वह अपना घर छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। वह कालरात्रि थी, लेकिन उसको भी एक दिन समाप्त होना ही था।

२२ को सवेरे ६ बजे प्रयाग की ट्रेन मिली। वैसे रेल्यात्रा हमारे देश में बहुत कम सुखद होती है और इस समय तो वह पूरी आफत थी। धीरे धीरे ट्रेन पश्चिम की ओर बढ़ी। रास्ते भर धूल फाँकनी पड़ी, ७ बजे रात

को हरखुआ स्टेशन पर पहुँची। छपरा में भी स्टेशन पर कोई नहीं मिला, लेकिन उससे कोई हर्ज नहीं था क्योंकि हम आज की गाड़ी पर पटना थी। ट्रेन पंज रात को हरखुआ में उतरकर अब क्या करें? मुसाफिरखाने में बिस्तरा बिछाकर सोये रहने के सिवा और कोई चारा नहीं था। सबसे दिक्कत यह हुई कि, प्यास बुझाने के लिए पानी नहीं मिला। २० तारीख का सवेरा आया। खबर भेजकर नगीना बाबू और महेन्द्र शास्त्री को बुलवाया। वस्तुतः दोष यहाँ के लोगों का नहीं था। वह समझते थे, कि रात को हम छपरा में रह जाएंगे, और सबेरे वहाँ से चलेंगे। रात को प्यासे ही नहीं रहे बल्कि पेट में होने मीठे मीठे दर्द को दबाने के लिए सोडा भी नहीं पी सके।

गोपालगंज मेरा लिए किसी समय घर सा था। असहयोग के जमाने में न जाने कितनी बार यहाँ व्याख्यान देता सारे सब डिवीजन में घूमता था। अब उस जमाने को बीते चौथाई शताब्दी हो गई। इसी बीच उस समय की पीढ़ी बूढ़ी हो गई या चल बसी। उसकी जगह नई पीढ़ी आ गई। यहाँ अपने पुराने बहुत से सहकर्मियों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एकमा के मेरे घनिष्ठ सहयोगी बाबू लक्ष्मीनारायणसिंह बाबू प्रभुनाथसिंह बढ़िया, के बाबू महादेव राय छपरा के बाबू जलेश्वरप्रसाद, खुद गोपालगंज के बाबू मूलनसिंह और बाबा माडुदास—जिन्हें हम महन्थसिंह कहा करते थे—मिले। छपरा के सबसे प्रथम एसम्बली के मेम्बर बननेवाले हरिजन नेता बसावन राम भी थे और छपरा के प्रथम हरिजन ग्रेजुएट और एम० ए० चन्द्रिका प्रसाद राम भी। ३ बजे से सम्मेलन शुरू हुआ। सभापति का और कुछ और भाषण हुए। इसके बाद भोजपुरी कविता पाठ शुरू हुआ। बाबू सुख राम सिंह ने बिसराम के विरह सुनाए। लोग अपने आँसुओं को रोक नहीं सकते थे। सम्मेलन में बड़ा उत्साह था अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम कृत्रिम नहीं होता। अभी भोजपुरी का अपना स्थान पाने में काफी देर है यह जरूर पता लग रहा था। अगले दिन भी सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसी दिन परसा के मेरे गुरुभाई और रामउदासजी मिलने आए। उनके

साथ जानकी नगर के बाबू मूरतसिंह भी थे। पता लगा कि महन्त लक्ष्मण
दासजी न अयोध्या म भी एक स्थान छान दिया है और अब वह
अधिकतर वही रहते है। मठ के कर्ज का कम करने की चिन्ता उनकी कभी
नही थी। मूरतसिंह न जानकी नगर चलने क लिए वहा और मिवान स
भी मित्रा का भी आन के लिए आग्रह था। बसनपुर म भी आगे भाजपुरी
जिला सम्मेलन होनेवाला था जिसम आन के लिए महेन्द्र शास्त्री का बहुत
जार था। पर अब समय की कमी को निरायन हमेशा क लिए थी। इस
यात्रा म नागार्जुन साथ रह।

२१ तारीख को चद्रिकारामजी क यहाँ भाज था। चद्रिकाराम अब
क्षा और सस्कृति म दूसर वग के हा गए थे—एम० ए० बी० एल०
ौर एसेम्बली के मेम्बर थे। फिर उनक भाज म बटी जाति के लोग भी
दल खोलकर शामिल हा, तो आश्चय क्या? चद्रिका बाबू न शायद मेरी
रुचि का ध्यान करके बहुत अच्छी मछली तैयार करवाई। भोजन के बाद
हम स्टेशन पहुँचे वहाँ स रात का छपरा पहुचकर सबेरे के लिए स्टेशन क
प्रतीक्षालय म ठहर गए। यही मेरे मित्र हुसेन मजहर मिले—हुसेन मजहर
हमारे महान नेता मजहरल हक के एकमात्र जीवित पुत्र। असवारी के
किसान-सत्याग्रह म भाग लेकर वह मेरे साथ जेल गए। अपन पिता की
तरह ही वह बडे उदार विचारा के थे। मजहरल हक का तो मनुष्य नही,
मैं देवता मानता था उनकी मधुर स्मृति सदा बनी रहती है। मैंने बडी
उत्सुकता के साथ हिंदू मुस्लिम दगो क बारे मे पूछा यद्यपि उनका या
उनके परिचितो को कोई हानि नही उठानी पडी, लेकिन वह अपनी स्थिति
से निराश थे। तो भी यह सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई कि उस निराशा म
पडकर वह अपना घर छाडने के लिए तैयार नही हुए। वह कालरात्रि थी
लेकिन उसको भी एक दिन समाप्त होना ही था।

२२ का सवेरे ६ बजे प्रयाग को ट्रेन मिली। वसे रेलयात्रा हमार देश
हुत कम सुखद होती है, और इस समय तो वह पूरी आफत थी। धीर
: ट्रेन पश्चिम की ओर चली। रास्त भर धूल फाँकनी पडी ७ बजे रात

को हम दारागंज पहुँचे। सिर्फ एक दिन और ठहरकर हम बम्बई के लिए रवाना होना था। अगले दिन बम्बई के लिए लिखा गया भाषण भी छपकर चला आया। उसी दिन रेल का टिकट भी ले लिया। लम्बी यात्रा थी सेकंड क्लास में फिर उसी विपदा में न पड़ना हो, इसलिए फर्स्ट क्लास का टिकट लेना पड़ा जिसके लिए १०० रु० ६ आ० देना पड़ा। २४ तारीख की शाम को हम बम्बई के लिए रवाना हुए।

४

बम्बई मे सम्मेलन

बम्बई—अपने कम्पाटमेट म मैं अकेला था। अभी वह स्थिति नही थी जबकि कम्पाटमेंट म अकेले सफर करना खतरे की बात थी। इसी ट्रेन मे दूसरे डब्बा म प्रयाग के बहुत से साहित्यिक चल रहे थे। रात को चुपचाप सा जाना था। सवेरे ट्रेन जबलपुर पहुँची। दोपहर का भोजन इटारसी म हुआ। नागार्जुन साथ थे ही, दूसरे ही मित्रा स बातचीत करते हम आगे बढ रहे थे। इसी समय मैंने अपने पिछले मास तीन महीने का लेखा जोखा किया तो मालूम हुआ, प्रतिमास हजार रुपया खर्च हुआ है। इतना खर्च करना मेरी शक्ति से बाहर था। रायल्टी से अभी बारह हजार रुपये वार्षिक मिलने के लिए आधी शताब्दी तक रहने की आवश्यकता थी। जब मेरे जैसे ख्यातिप्राप्त लेखक की यह आर्थिक अवस्था थी तो दूसरा के बारे म क्या कहना? लेखको की इस स्थिति का दूर करने म बहुत देर थी।

२६ के ६ बजे शाम को हमारी ट्रेन बम्बई के विक्टोरिया स्टेशन पर पहुँची। मैं सम्मेलन-सभापति था, इसलिए स्वागत के लिए काफी लोग आए थे। शायद अगले दिन जलूस भी निकाला जाता, लेकिन बम्बई म साम्प्रदायिक झगडा चल रहा था, छुरेबाजियाँ हो रही थी। जलूस से बच जाने के लिए मुझे बडा सताप हुआ। ठहरने के लिए मलाबार हिल पर श्री घनश्यामदास पोद्दार का निवास निश्चित किया गया था। यहाँ मेरे

को हम दारागज पहुँचे। सिफ एक दिन और ठहरकर हम वम्बई के लिए रवाना होना था। अगले दिन वम्बई के लिए लिखा गया भाषण भी छपकर चला आया। उसी दिन रेल का टिकट भी ले लिया। लम्बी यात्रा थी, सेकड क्लास म फिर उसी विपदा म न पडना हो, इसलिए फस्ट क्लास का टिकट लेना पडा, जिसके लिए १०० रु० ६ आ० दना पडा। २४ तारीख की शाम को हम बम्बइ के लिए रवाना हुए।

४

बम्बई मे सम्मेलन

बम्बई—अपने कम्पाटमेट म मैं अकेला था। अभी वह स्थिति नही थी जबकि कम्पाटमेट मे अकेले सफर करना खतरे की बात थी। इसी ट्रेन मे दूसरे डब्बा म प्रयाग के बहुत से साहित्यिक चल रहे थे। रात को चुपचाप सो जाना था। सबेरे ट्रेन जबलपुर पहुँची। दोपहर का भोजन इटारसी म हुआ। नागार्जुन साथ थे ही, दूसरे ही मित्रो से बातचीत करते हम आगे बढ रहे थे। इसी समय मैंने अपने पिछले साढे तीन महीने का लेखा-जोखा किया तो मालूम हुआ, प्रतिमास हजार रुपया खर्च हुआ है। इतना खर्च करना मेरी शक्ति से बाहर था। रायल्टी से अभी बारह हजार रुपये वार्षिक मिलने के लिए आधी शताब्दी तक रहने की आवश्यकता थी। जब मेरे जैसे ख्यातिप्राप्त लेखक की यह आर्थिक अवस्था थी तो दूसरो के बारे मे क्या कहना? लेखको की इस स्थिति को दूर करने म बहुत देर थी।

२६ के ६ बजे शाम को हमारी ट्रेन बम्बई के विक्टोरिया स्टेशन पर पहुँची। मैं सम्मेलन-सभापति था, इसलिए स्वागत के लिए काफी लोग आए थे। शायद अगले दिन जलूस भी निकाला जाता, लेकिन बम्बई मे साम्प्रदायिक झगडा चल रहा था, छुरेबाजिया हो रही थी। जलूस से बच जाने के लिए मुझे बडा सतोष हुआ। ठहरने के लिए मलाबार हिल पर श्री घनश्यामदास पोद्दार का निवास निश्चित किया गया था। यहाँ मेरे

अतिरिक्त और भी बहुत से साहित्यिक अतिथि ठहरे हुए थे। एक हा बात सबरा सामान बैठना उठना और खाना था। पोद्दारजी का भवन बाद जाने पर मेरे लिए सदा खुला रहा, और उस में उन घरों में मानता हूँ कि रहते आदमी को बड़ी आत्मीयता मालूम होती है। घनश्यामदासजी में सादे मधुर स्वभाव के आदमी हैं। पर अधिक भोला होने से वह में करोड़ो के व्यवसाय को कैसे चला सकते। उसी दिन आनन्दजी भी गए। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन का यह पहला अधिवेशन था इसलिए प्रतिनिधियों की संख्या पहले से बहुत अधिक थी। सभा का पद मैंने स्वीकार कर लिया था, तो उस हल्के दिल से उठाना चाहता था। मेरा ध्यान लिपि सुधार और पारिभाषिक शब्दों के लि. की ओर विशेष तौर से था। लिपि सुधार की योजना मैं पहले भी एक बार रख चुका था जिस इस भाषण द्वारा भी पेश किया। परिभाषा के काम को कड़ा मानते हुए भी मैं उसे असम्भव नहीं समझता था।

२६ दिसम्बर का मैं पार्टी के केन्द्रीय आफिस में गया। वहाँ के मित्रों ने मेरे भाषण की कापी पढ़ ली था। हिन्दी उर्दू के बारे में जो मत मैंने उसमें प्रकट किया था और मुसल्मानों की शताब्दियों की सांस्कृतिक बाय काट छोड़कर सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने में आगे बढ़ने के लिए कहा था, उस पर मेरे साथियों का विरोध था। वह चाहते थे मैं इस अंश को अपने भाषण में से निकाल दूँ। यदि उनमें से पहले यह सुझाव मेरे सामने होता, तो मैं उसे हटा भी देता। मैं वैयक्तिक विचार से सामूहिक विचार को बड़ा और अनुशासन को एक बड़ा आवश्यक गुण समझता हूँ। कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मेरा सम्बन्ध यद्यपि आठ ही वर्ष पहले हुआ था लेकिन मैं उसे उस समय से ही अपना समझता रहा क्योंकि मेरे हृदय में राजनीतिक चेतना का उदय होने लगा। १९१७ के नवम्बर में रूस में बोल्शेविक क्रांति हुई। उसके महीन-दो महीने बाद ही उसकी खबर भारत के अखबारों में फैल पड़ी। तभी से मेरे लिए वह क्रांति सबसे अधिक श्रद्धा का भाजन बन गई तभी से साम्यवाद

मेरा अपना वाद हो गया। सयोग नही मिला, इसलिए पार्टी के भीतर आने मे मुझे बीस वर्ष लगे। भीतर न होते हुए भी मैं अपने को हमेशा पार्टी का समझता रहा। थोड़े से वयक्तिक विचारों के लिए मैं पार्टी को छोड़ना कैसे पसद करता? उस समय पूरा नही मालूम था, तो भी मेरे हृदय मे बहुत उथल पुथल मची हुई थी। भाषण मे उस अश को निकालना अब सभव नही था और प्रतिवाद करना और भी बुरा था।

बम्बई मे साम्प्रदायिक वातावरण बहुत उग्र था। कितने ही मुसलमान जीवन को अरक्षित समझ शहर छोड़कर चले गए थे। बम्बई के मुसलमान सेठ बहुत कम पाकिस्तान गए थे, हा, गरीब जरूर अधिक सख्या मे गए थे। पर लाखो लोग कैसे जा सकते थे!

२७ तारीख को स्थायी समिति (विषय निर्वाचनी) की बैठक हुई। सम्मेलन के लिए कुछ प्रस्ताव स्वीकार हुए। उसी दिन पडाल मे सस्कृत सम्मेलन भी हुआ जिसमे पण्डितो के भाषण से यही मालूम हो रहा था, कि उनके लिए पुरानी दुनिया वैसी ही बनी हुई है। साढ़े ११ बजे से मुद्रा सम्मेलन हुआ जिसमे महाराजा भरतपुर अपने यहाँ के मिले सिक्को को विशेष तार से दिखलाने के लिए आए थे। मुद्रा-सम्मेलन मे दूसरी जगह आए थे। डा० अल्तेकर बियना मे १९४६ के फरवरी मे मिले इन सिक्को पर बोले। गुप्तकालीन १८०० सिक्के मिले थे, जिनमे से कुछ तो अद्वितीय थे। लेकिन, इन सिक्को को साधारण सिक्का समझा गया अर्थात् उसका मूल्य उतना ही, जितना सोना उनमे मौजूद था। सिक्को के साथ खूब मनमानी हुई। पहले तो गाव वालो ने ही उसमे से कुछ को खतम किया फिर रियासत के अफसरो ने हाथ फेरा जो सिक्के बचकर महाराज के पास आए उनमे से कितनो को महाराज ने अपने कृपापात्रो को बख्श दिया जिन्होने उनके बटन बनवाए। बाहरी दुनिया के विद्वानो को खबर पहुँचने मे देर लगी। तब उनको महत्व मालूम हुआ और उनकी रक्षा के लिए कोशिश की गई। भरतपुर के महाराजा यदि सौ बरस पहले के महाराजा होते, तो यह कोई असाधारण बात नही थी। लेकिन हमारे आजकल के राजा आधुनिक ढँग से

शिक्षा प्राप्त हैं, हर बात म अंग्रेजा क पदचिह्ना पर चलते है। उन्ह डेढ हजार वष पहले क इन सिक्का का महत्व मालूम नही यह यही बतलाता है कि उनक ऊपर सस्कृति का पुचारा बहुत ऊपर-ऊपर लगा है।

उस दिन रात्रि का भोजन श्री क० मा० मुन्शी के यहा हुआ। मुंशीजी सम्मेलन क सभापति रह चुके थे और गुजराती के यशस्वी साहित्यकार थ।

२८ का ३ बजे सम्मेलन का अधिवेशन शुरू हुआ। आठ दस हजार लाग पडाल म रहे हाग। युक्त प्रान्त क महामत्री प० गाविन्दवल्लभ पन्त ने ४५ मिनट भाषण दकर अधिवेशन का उद्घाटन किया, जिसमे उन्हाने हिन्दी का जारदार समथन किया। स्वागताध्यक्ष श्री खेतान ने अपना भाषण पढा। इसक बाद वहा उपस्थित सम्मेलन के भूतपूव सभापतिया—श्री वियागी हरि श्री माखनलाल चतुर्वेदी और श्री कन्हैयालाल मुशी—ने मेरा नाम सभापति लिए औपचारिक तौर पर प्रस्तावित किया। मेरा भाषण लम्बा था लेकिन उसके कुछ अशा का ही पढकर मैंने ३० मिनट म समाप्त कर दिया। भाषण करने स पहले साथी अधिकारी ने पार्टी की ओर स फिर जोर दकर लिखा था कि मैं उर्दू-सम्बन्धी विचारा क बारे म कह दूँ यह पार्टी क विचार नही हैं। मैंने उसी दिन साथी अधिकारी का लिखा कि पार्टी की इस नीति क साथ न होने क कारण मैं अपने को पार्टी म रहने लायक नही समझता पर मैं सदा पार्टी के साथ रहूँगा। एक तरह से इतने बड निणय का मैंने उतावलेपन स किया। लेकिन, अब उस निणय को बदलने म वर्षों की जरूरत थी। उस समय मैं समझता था, पार्टी वाले राष्ट्रीयता क बारे म हल्क ढग स सोचते हैं और मनवाद की सकीणता को प्रश्रय दन दूर भविष्य म हान वाले प्रभावा का नहा समझ पाते। पर ऐसा समझने म यदि त्रुटियाँ थी तो वह एक नही बहुत से मस्तिष्का के साचने का परिणाम थी। यदि गलती हा रही थी, ता पार्टी अपने तौर स उसे आगे सुधार लगी।

उसी दिन सवेरे विषय निर्वाचिनी समिति क सामन मैंने परिभाषाओं क निर्माण क बारे म प्रस्ताव रखा। श्री पुरुषात्तमदास टडनजी न कहा यह काम तभी हा सकता है जब इसकी जिम्मेवारी मैं अपने ऊपर ले लू।

मैंने उसे स्वीकार कर लिया, और आगे मैंने उसके लिए तत्परता से काम भी किया। दूसरी बाधाएँ न उपस्थित हो गई होतीं तो इन पंक्तियों के लिखने से पहले ही चार-पाँच लाख परिभाषाएँ बनकर हिन्दी और भारत की दूसरी भाषाएँ इस सम्बन्ध में स्वावलम्बी हो जातीं।

२९ दिसम्बर को ढाई बजे से खुला अधिवेशन हुआ जिसमें कई प्रस्ताव पास हुए, कई भाषण हुए। उसी दिन लोक-गीत सम्मेलन हुआ, लेकिन नकली लोक-गीत कभी अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। असली लोक-गीता का योग्य कलाकारों द्वारा पेश होना अभी दूर की बात थी।

३० तारीख को श्री कमलापति त्रिपाठी की अध्यक्षता में समाजशास्त्र परिषद् हुई। त्रिपाठीजी शुद्ध साहित्यिक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में से हैं और समाजशास्त्र तो उनका अपना विषय है। उसी दिन अपराह्न में पदाधिकारियों के चुनाव हुए। डा० उदयनारायण तिवारी सिर्फ दो वोटों के बहुमत से प्रधानमन्त्री चुने गए, यह शुभ लक्षण नहीं था। दूसरे पदाधिकारियों के चुनावों में भी तनातनी दिखाई पड़ी। उस समय प्रयागी और अप्रयागी का भेद माना जाता था। अप्रयागियों की यह शिकायत थी कि अधिकांश पदाधिकारी प्रयाग के होते हैं। लेकिन तजर्बे ने बतला दिया था, कि बाहर रहने वाले पदाधिकारी पर्याप्त समय देकर अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त युनिवर्सिटी और गैर-युनिवर्सिटी का भेद भी खड़ा हो रहा था। युनिवर्सिटी में न रहने वाले साहित्यिक इस पसन्द नहीं करते थे कि सभी बातों में युनिवर्सिटी प्रोफेसर आगे रहें। बीज रूप से हो यहाँ कुछ कुछ दारागंजी और अदारागंजी का भेद भाव भी था, पर अभी प्रकाशकों और अप्रकाशकों का भेद प्रकट नहीं हुआ था, जिसने ही अन्त में सम्मेलन की नैया को भँवर में फँसा दिया।

३१ दिसम्बर को सन् ४७ समाप्त हो रहा था। उस दिन सवेरे के वक्त दर्शन-परिषद् हुई, और ४ बजे दोपहर से खुला अधिवेशन होकर ८ बजे के बाद सम्मेलन समाप्त हो गया।

सेठ घनश्यामदास पोद्दार का सुन्दर आतिथ्य हमें मिला था, और साथ

हो उनके परिवार को नजदीक से देखने का मौका भी। पीढ़ी के बाद क्रम गुणात्मक परिवर्तन होता है, इसका उदाहरण यह परिवार था। घनश्यामदासजी मारवाड़ी से अधिक गुजराती सेठ से मालूम होते थे। विशेष समय ही पर वह मारवाड़ी पगड़ी पहनने की जरूरत समझते थे। सेठानी हिंदी पढ़ी हुई थीं, अब घाघरा छोड़ साड़ीधारिणी हो गई थीं। लड़के लड़कियों की शिक्षा पर काफी ध्यान दिया जा रहा था, जिससे अगली पीढ़ी का कदम और आगे जाएगी, इसमें संदेह नहीं। यद्यपि अब भी वह निरामिषाहारी हैं, जिसकी आशा लड़कों पर नहीं की जा सकती, पर छूआछूत का उनके यहां कोई पता नहीं था। साहित्यिक अतिथियों की सेवा में इतनी अधिक तत्परता बतलाती थी कि सांस्कृतिक कर्तव्य के प्रति वह कितना बढ़े हुए हैं।

प्रयाग से ही पेट में मीठा मीठा दर्द होने लगा था, वह यहां भी चल रहा था। लन्दन में रहते समय मैंने एण्ड्रूज साल्ट सेवन किया था, जिससे कुछ देर के लिए दर्द दब जाता था। अब भी मैं एण्ड्रूज साल्ट ले रहा था, और यह जानकर संतुष्ट था कि यह एक विशेष प्रकार का पेट दर्द है। एक दिन किसी ने पेशाब के स्थान में चींटियों को देखकर पूछा—किसके पेशाब में चीनी जा रही है। मुझको इसका कुछ सन्देह ही नहीं था। पर कुछ समय बाद समझ पाया कि मैं ही उस मर्ज का मरीज हूँ।

१९४७ के अन्त के साथ डायबेटीज मेरी जीवनसंगिनी हो गई। वर्ष का लेखा जोखा करने पर मालूम हुआ 'सोवियत भूमि' (दूसरा संस्करण) 'सोवियत मध्य एसिया' और 'दाखुन्दा' इन तीन पुस्तकों को लिख चुका हूँ। इनके साथ कुछ रूस और लेनिन भाषण भी तैयार हुए। आखिर यह तीन महीने की ही कमाई बुरी नहीं कही जा सकती। अगले साल पुस्तकें लिखने की भी योजना थी, पर उसके साथ ही अब परिभाषाओं के काम में भी हाथ लगाना था, इसलिए कितनी पुस्तकें लिख सकूँगा, इसको कैसे निश्चय कर सकता था? पर रूस से भारत लौटने का एक बड़ा कारण पुस्तकों के लिखने की आकांक्षा ही थी। उनमें भी 'मध्य एसिया का इतिहास' लगा था, जिसमें हाथ लगाने की अभी बात भी मैंने नहीं सोची थी।

५

साहित्य-यात्रा

१६४८ का प्रथम दिन बम्बई म ही आया। सम्मेलन का काम समाप्त हो गया था। नव वर्ष का दिन बडे अमगल रूप मे आरम्भ हुआ ३१ को छात्र सघ ने अपना सम्मेलन करना चाहा। सरकार न निषधाज्ञा लगा दी। न मानन पर आसू लानवाली गस और गालिया चलाई गइ। अहिसा क सबस ज्यादा ढोल पीटनवाली सरकार क लिए गोली वर्षा सबसे मामूली बात बन गई। हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य को भडकानवाले लोगो की कमी नही थी। छात्र सघ उसका विरोधी था। चाहिए ता यह था कि उन्ह अपन प्रचार क लिए प्रोत्साहित किया जाता। काग्रेस यदि साम्प्रदायिक वैमनस्य को रोकना चाहती थी, तो अपन सहायको की शक्ति को निबल नही करना चाहिए था। गोली फिर अपन ही लडके लडकियो पर बरसाई जा रही थी, कई छात्र छात्राए घायल हुए। यह उस समय जब कि कश्मीर म युद्ध छिडा हुआ था हैदराबाद कलेजे का काटा बना हुआ था, देश मे रियासतो मे प्रतिक्रियावादी राजा और उनके पिटठू अपनी सवतन्त्र स्वतन्त्रता को छोडन क लिए तैयार नही थे, देश आर्थिक तौर स अत्यन्त निबल था और उसकी सामरिक शक्ति की परीक्षा का यह समय था। किसान और मजूर अर्थात् जनता का सबस अधिक भाग इस समय प्रिय होना चाहिए था। उनक नेताओ म किसी काग्रेसी नेता से कम देशभक्ति नही थी। अग्रेजो के हथकण्डे

जेल और गोली द्वारा स्वतन्त्र भारत का सबल नहीं बनाया जा सका। सरकार एक ओर सबको एक होने के लिए कहती और दूसरी तरफ आचरण इस तरह करती थी।

अब तक पश्चिमी पाकिस्तान विशेषकर पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्त हिन्दुओं से खाली हो चुका था। घरबार छोड़े लाखों लोग सूखे पत्तों की तरह जहाँ-तहाँ डोल रहे थे। लड़ाई के वक्त में अंग्रेजों ने बहुत से सैनिक कैम्प बनवा दिये थे जिन्होंने इस समय बड़ा काम दिया। बम्बई में एेसे तीन बड़े बड़े कैम्पों में दो में सिन्धी और एक में पंजाबी रहते थे। सिन्धी सभी नगरवाले आदमी थे—क्लर्क, छोटे मोटे दूकानदार और मिस्त्री का ही काम कर सकते थे। तीनों में मिलाकर १५ हजार नरनारी रहे होंगे। अभी सहायता के बारे में सरकारी नीति साफ नहीं हुई थी, आशा रखी जाती थी, कि मारवाड़ी व्यापार मण्डल और दूसरे व्यापारी इस बोझ को अपने ऊपर उठाएँगे। वे सहायता कर भी रहे थे लेकिन कितने दिनों तक? खाने का प्रबन्ध बुरा नहीं था, लेकिन बहुत से लोग पक्की या टिन की छतों के नीचे नहीं थे। यदि वर्षा हुई तो कहाँ जायेंगे? शिक्षा और चिकित्सा का प्रबन्ध बहुत असन्तोषजनक था। नाना जगहों के एक सी विपद् के मारे लोग जब चौबीस घण्टा एक जगह रहने के लिए मजबूर हुए, तो आपस में झगड़ा भी होता था। शिक्षा के लिए अवैतनिक शिक्षिकाओं को नियुक्त किया गया था, लेकिन इस तरह की बेगार वह कितने समय तक मन लगाकर कर सकती थी।

कश्मीर में पाकिस्तान सीधे लड़ रहा है यह किसी से छिपा नहीं था लेकिन पहले उसने इस मानने से इन्कार किया। भारत सरकार ने संयुक्तराष्ट्र संघ से इसकी शिकायत की लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ तो अमेरिका और उसके पिट्ठू इंगलैंड की दुम भर रहा था। ये दोनों स्वयं चाहते थे कि कश्मीर पाकिस्तान के हाथ में चला जाए इस प्रकार उनको सोवियत रूस की सीमा पर ताल ठोकने का मौका मिले।

रायपुर—२ तारीख को कलकत्ता मेल से हम रायपुर के लिए रवाना

हुए। सबेरे ८ बजे वर्धा में आनन्दजी उतर गये। उनका टिकट भी रायपुर तक का था, लेकिन इसमें सन्देह था कि वह वहां पहुँच सकेंगे। नागार्जुनजी के साथ मैं आगे चला। आगे गोंदिया तक गाड़ी में बहुत भीड़ नहीं थी। फिर लोग अधिकाधिक चढ़ने लगे। छत्तीसगढ़ पहाड़ी देश है पर वहां साल में ५० इंच वर्षा होती है, इसलिए पहाड़ों का हर जगह में टँका रहना स्वाभाविक है। पहाड़ी जगहों में बांध डालकर समुद्र सी जलनिधियां का बनाना आसान है। फिर सिंचाई ही नहीं, बिजली पैदा करना भी सहज हो सकता है। छत्तीसगढ़ में ये सुभीते हैं और इनसे भी अधिक यहां खनिज पदार्थों का अखूट भण्डार है जिसके ही लिए भिलाई का लौह कारखाना बनने जा रहा था। छत्तीसगढ़ में जिलों के अतिरिक्त १४ परमभट्टारक राजा भी थे अंत जिनके अधिकारों को भारत सरकार ने ले लिया था—उन्हें वार्षिक पेंशन मिलेगी, और पदवी तथा सम्मान भी पूर्ववत् बना रहेगा। १ जनवरी से इन रियासतों को मध्य प्रदेश के शासन में दे दिया गया। उसी तरह उड़ीसावाली रियासतें उड़ीसा में विलीन कर दी गई। सरायकेला और खरसवां को उड़ीसा में मिलाने का बिहार की ओर से विरोध हो रहा था पीछे उन्हें बिहार को दे दिया गया जिस पर इसी मास उड़ीसा में विरोध की आग भड़क उठी। यदि इन दोनों रियासतों के लोगों की भाषा उड़िया है तो उन्हें उड़ीसा को ही देना चाहिए था। लेकिन भाषा किसी प्रदेश के लोगों की पारस्परिक भावना जबर्दस्ती करने को हमारे राष्ट्र कर्णधार बिल्कुल तुच्छ समझते हैं। वह गोलियों से भूनकर, लोगों के खून में हाथ रंगने के लिए तैयार हैं पर भाषा पर आधारित प्रदेशों को बनाने के लिए नहीं। छत्तीसगढ़ की जनसंख्या ४५ लाख से ऊपर है। मध्य प्रदेश का यह पिछड़ा हुआ भाग है यद्यपि वहां के मुख्य-मंत्री यहीं के हैं। पिछड़े और उपेक्षित होने से लोगों में छत्तीसगढ़ के अलग प्रदेश होने की भावना स्वाभाविक है। भाषा के अनुसार यहां हिन्दी बल्कि अवधि का एक रूप छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। यहां की भाषा पर पड़ोस की भोजपुरी, बुन्देली उड़िया और मराठी का कुछ प्रभाव होना स्वाभाविक है।

रायपुर म हम छत्तीसगढ क विद्यार्थी फेडरशन न बुलाया था। अगले न्नि ४ ननवरी का ननिवार था। सवर ही से गोष्ठी शुरु हो गई जा नाम का सभा म जात समय ही टूनी। सोनलिस्ट भादया से खुलकर बातचीत हुई, विनेपकर सावियत के बारे म। कितन हा निसान कायकर्ता भी गोष्ठी म आए। पता लगा यहा की सरकार जमीदारा और मालगुजारा का हटाने की अभी बात भी नहीं साच रही है। रात का ८ बजे के करीब सभा नुरू हुई। बम्बइ म सरकार न जिस तरह छात्रा के साथ खूनी होली खेली थी, उसक कारण यदि उनक नेता बचन ने काग्रेस सरकार से लाहा लन की बात की ता काइ आश्चय नही। कश्मीर और हैदराबाद का झगडा सामने दखकर गह-युद्ध को रोकने की बडा आवश्यकता थी लेकिन ताली एक तरफ से थाडे ही पिटना है। मैंन भी भाषण न्यिा।

रायपुर म हिन्दी के महान् कवि पद्माकर की सन्ताना से मिलकर बडी प्रसन्नता हुइ। और इसन बतला न्यिा कि हिन्दी के निर्माण म छत्तीसगढ —प्राचीन दक्षिण कोसल—किसी से पीछे नहीं रहा।

५ जनवरी क सवेर ४ बजे हम अब प्रयाग की ओर रवाना हुए। बिलासपुर म गाडी बदलनी पडी। यहा स कटनी तक अखण्ड पहाड और जगल चला गया है। जब तक न दख तब तक आदमी को क्या पता लगता है ? यह सारा भूभाग हरा भरा और खनिज सम्पत्ति म भी अतिसमृद्ध है। यहाँ क सभी लाग पिछड़े हुय हैं जिनम जनजातिया का सख्या काफी है। जगलो क ठेर—जिसका अथ है अधिक आमदनी—दूसरी जगह के ठेकदारो के हाथ म जाते हैं और लोगो का कुलीगिरी करत पट भरन और तन ढँकने की कोशिश करनी पडती है।

रास्त म कटनी म भी वर्षा होती रही। तीन घटे बाद यहा स प्रयाग की ट्रेन मिलनेवाली थी। स्टेशन से बाहर निकलकर देखा सडक क दोनो तरफ पजाबी नरणार्थिया न अपनी छाटी माटी दूकानें खोल रखी हैं। कुछ भोजनालय भी थ। स्थानीय दूकानदार उनस होड लेन म असमथ थे क्योकि वह ज्यादा स ज्यादा नफा उठाना चाहत हैं, जबकि नरणार्थी कम

ग कम नफे पर अपने सौदे को बेचने के लिए तैयार थे। इस साल प्रयाग में अर्धकुम्भी होनेवाली थी। देश में अनाज की बड़ी किल्लत थी। सरकार ने इसकी सूचना देकर, लोगों को न जाने की सलाह दी थी। पर कौन सुनने के लिए तैयार था? पहले यात्रियों का तांता लगा जा रहा था, ट्रेन में जगह मिलना आसान नहीं था। रात के १० बजे एक्सप्रेस ट्रेन मिली, जो सवेरे ४ बजे प्रयाग पहुँची।

प्रयाग—६ तारीख को निवासस्थान पर ही रहे। स्याला और इगर की चिट्ठी मिली, जिसमें पैसों की आवश्यकता भी बतलाई गई थी। लेकिन, यहाँ के पैसे का वहाँ मूल्य ही क्या था? बुलाने की तो बात भी नहीं कर सकता था, क्योंकि इधर के पटने का जितना अच्छा प्रबन्ध यहाँ हो सकता था, जितनी आसानी से यहाँ काम मिल सकता था, उसका अभी वहाँ सपना भी नहीं देखा जा सकता था। इस समय भारत और पाकिस्तान का तना तनी कश्मीर में गुत्थमगुत्था हो रही थी। पाकिस्तान बढ़-बढ़कर धमकी दे रहा था। पटेल ने साफ शब्दों में ललकारा—बन्दरघुड़की मत दो, यदि लड़ना हो तो सामने आ जाओ। लेकिन, पाकिस्तान जिन मुरब्बियों के बलपर कूद रहा था, उन्हें मंजूर हो तभी तो आगे कदम बढ़ा सकता था।

यहाँ आने पर पता लगा नागार्जुन का लड़का शोभा बीमार है। नागार्जुन का स्वास्थ्य भी हमेशा ही से कमजोर है, जो शोभा को दाय भाग में मिला है। बिचारा वर्षों बीमारी में घुलता रहा है। ८ तारीख को नागार्जुन घर के लिए रवाना हुए।

लिखने का अभ्यास धीरे धीरे छूट गया, अब बोलकर लिखाने में बहुत सुभीता मालूम होता था। नागार्जुन लिपिक का काम करते, मुझे यह बहुत बुरा मालूम होता था। मैं और अधिक समय तक उनके श्रम और समय को बर्बाद करने के लिए तैयार नहीं था। साथ ही मुझे किसी लिपिक की जरूरत थी। श्री सत्यनारायण १९४८ में इस काम को बड़ी अच्छी तरह कर चुके थे, लेकिन मालूम नहीं इस समय वह खाली थे या नहीं, ऊपर से उनकी छुआछूत के ख्याल से यात्रा करने में कठिनाई थी। साहित्य सम्मेलन के

सभापति होने से मुझे इस साल के काफी भाग को यात्रा में बिताना था।

सम्मेलन का अब तक सबसे अधिक काम परीक्षा विभाग में रहा। सम्मेलन का मुख्य लक्ष्य जब तक प्रचार था तब तक यह बुरा नहीं था। परीक्षाओं द्वारा हिन्दी के गम्भीर अध्ययन का बहुत व्यापक रूप में काम हुआ। पर अब परीक्षाओं पर निर्भर रहना ठीक नहीं। आखिर हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालय भी अपनी परीक्षाओं द्वारा उस काम को कर रहे हैं। प्रकाशन और साहित्य सृजन को बढ़ाने की आवश्यकता थी, उसी पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत थी। लेकिन परीक्षा पुस्तकों से जिनको लाभ था उनकी इस ओर दिलचस्पी नहीं थी।

६ जनवरी से १४ जनवरी तक के लिए मैं अब प्रयाग में बन्द था। आत्म निरीक्षण करते मुझे मालूम हुआ कि जरा जरा बात में चित्त विकल हो जाता है। 'काजीजी दुबले शहर के अंदेशे' के अनुसार विश्व में कहीं पर भी समान आन्दश और आदर्शवादियों के ऊपर प्रहार या खतरा पड़ा देखने पर मन चिंतित हो उठता। किसी भी अयुक्त कार्य या विचार को देखकर अन्तर उत्तेजित हो जाता—चाहे वह सामाजिक दबाव हो रूढ़ि हो या और कोई बात।

प्रयाग के सामने झूसी में प्रभुदत्त ब्रह्मचारी एक बड़े सन्त हैं। धार्मिक प्रदर्शन उनके यहाँ चरम सीमा पर पहुँचा था। सन्त लोगों का मुझसे भी बहुत सम्पर्क रहा है और मैंने अच्छे सन्तों को हमेशा कोमल स्वभाव का पाया। उस दिन उनकी बनाई—शायद भागवत कथा—पुस्तक मिली, जिसके २१८८वें पृष्ठ पर यह लिखा देखकर चकित हो गया—

धर्महीन जो कुटिल करें निंदा हरिहर की।
गरम सड़ासी पकरि जीभ खिंच वा नर की।'

ब्रह्मचारीजी कैसे सुन्दर ढंग से सन्तों की परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं? बोलो नये पैगम्बर प्रभुदत्तजी की जय! सरस भक्ति से काम नहीं चलने देख ब्रह्मचारी ने गरम सड़ासी लेने की प्रतिज्ञा की। उनके इष्ट इसी तरह पृथ्वी का बोझ उतारते थे और अब वह स्वयं उसी पथ के पथिक

हैं। पर लोग हाथ में गरम मद्रासी देखकर ब्रह्मचारी के पीछे नहीं भागेंगे बल्कि उस अखण्ड कीर्तन तथा पूजा-पाखण्ड से जो कि उनके वेदान्त के अनुसार बिल्कुल मिथ्या चीज है।

जब मेरे पार्टी से अलग होने की सूचना अखबारों में प्रकाशित हो चुकी थी। बहुतों को बहुत दुःख हुआ और मुझे भी क्योंकि पार्टी से अलग रह करके भी मैं पार्टी का छोड़ दूसरे का नहीं हो सकता था। मैं यह भी जानता था कि इस विरोधी पार्टी के विरुद्ध प्रचार का साधन बनाएँगे। कुछ यह भी कह रहे थे, कि अब रूस जाना नहीं हो सकेगा। मैं १९१७ में उसके जन्म के समय से ही सोवियत रूस का मित्र और समर्थक रहा और सदा रहूँगा। साम्यवाद सदा मेरा आदर्श रहा और आगे भी रहेगा। इसीलिए किसी पत्र में यह छपा देखकर मुझे आश्चर्य और क्षोभ नहीं हुआ—क्या जाने राहुल जी का पार्टी से अलग होना सच्चा नहीं बाहरी दिखावा हो। मुझे उसके सच्चे न होने और बाहरी दिखावे में ही प्रसन्नता थी क्योंकि पार्टी से अलग होकर मैं अपनी किसी महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए तैयार नहीं था।

११ तारीख को रविवार था। उस दिन रात्रि भोजन श्रीनिवासजी के एक मित्र मुसल्मान सज्जन के घर हुआ। श्रीनिवासजी को निरामिष भोजन में परहेज नहीं था, मेरे लिए विशेष तौर से सामिष भोजन तैयार किया गया था। मध्यवित्त मुसल्मान उस समय और भी चिंतित थे कितने ही डरकर पाकिस्तान जा चुके थे। हमारे मेजबान का भविष्य के लिए चिंतित होना स्वाभाविक था। पूछ रहे थे—कैसे हम अपनी भारत भक्ति का सबूत दें। हाँ, सचमुच ही यह बतलाना मुश्किल था। हरेक आदमी हनुमानजी की तरह छाती फाड़कर अपने हृदय में विराजती भक्ति को कैसे दिखा सकता है? मैंने कहा—और लोगों से जिसमें भिन्नता न दिखाई पड़े, वही रास्ता अच्छा होगा। आखिर कितने लाखों ईसाई भी हमारे यहाँ हैं उनको तो इसकी चिंता नहीं है, क्योंकि वह भेस और रुचि में अपने दूसरे देशवासियों से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि धर्म और अपना कुछ

आचार विचार भी है। उन्होंने ठीक ही कहा—इसमें तो समय लगेगा। इसमें क्या शक है। लेकिन समय लगने का मतलब एक पीढ़ी की देर है और आरम्भ करने के लिए समय लगने की क्या बात है? इसके सिवाय दूसरा रास्ता भी तो नहीं है। एक शिक्षित भद्र मुसलमान हृदय आशंका से भरा हुआ था। वह सोचने लगे, भारत के जनसाधारण से अपने को अलग रखना हमारी भूल है। उधर गांधीजी रेडियो पर बोल रहे थे—उर्दू और नागरी दोनों अक्षर रहें, दोनों भाषायें भी बरकरार रखी जायें, नहीं तो जनतन्त्रता खतम हो जाएगी। यह भाषा और लिपि का बिलगाव उसी बिलगाव का बाहरी प्रदर्शन था जो कि हिन्दू मुसलमान में पाया जाता है और जिसके कारण आज इस दिन का मुंह देखना पड़ा।

इसी समय लखनऊ से निकलनेवाले दैनिक 'नवजीवन' के सम्पादक बनने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा गया। लेकिन मैं उसके लिए कैसे तैयार हो सकता था। लखनऊ में सारा क्या अधिक समय भी देना मेरे लिए सम्भव नहीं था। पुस्तकें लिखना, इधर उधर घूमने जाना था। साथ ही परिभाषा के काम की जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर ले ली थी। फिर 'नवजीवन' से संघी और हिन्दू सभाई मनोवृत्ति रखनेवाले भी सम्बन्धित थे जिनके साथ मेरी पटरी कैसे जमती?

बम्बई में बहुमूत्रता का मैं दर्द चुका था। लोगों ने डायबेटीज (मधुमेह) की आशंका भी प्रकट की थी। लेकिन मैं परीक्षा कराने में अभी हिचकिचाता रहा। सन्देह की निवृत्ति आखिर परीक्षा ही से हो सकती थी। यह तो मालूम होने लगा कि अब स्वास्थ्य पूर्ववत् नहीं रहेगा लेकिन वह स्थिति आठ वर्ष की सीमा पार करने के बाद ही उपस्थित हुई। शारीरिक स्वास्थ्य कुछ भी रहे लेकिन मानसिक स्वास्थ्य तो जीवन भर काम करने से ही बना रह सकता है। नई बीमारी थी मन में तरह-तरह के भाव पैदा होने थे। मैंने दृढ़कर देखा, मन के किसी कोने में मृत्यु का भय नहीं है। जीवन की परवाह करनी चाहिए मृत्यु—अभाव—के लिए चिन्ता करने की क्या जरूरत?

१३ तारीख को आरा के श्री जयविहारी सुमन आए। वह विधान सभा के कर्मी रहे, जेल भी गए, लेकिन मेरे लिए विशेष बात यह थी, कि उन्होंने भोजपुरी का मौखिक प्रचार न करके उसमें कहानियाँ और उपन्यास लिखे। उनकी पाण्डुलिपियाँ देखीं। भाषा बहुत मजी थी। लोकोक्तियाँ भी अच्छी तरह और काफी संख्या में इस्तेमाल हुई थीं। कहीं-कहीं खड़ी बोली का हल्का-सा प्रभाव भाषा पर जरूर था। दोष था अनुप्रास और कवित्व प्रदर्शन का बाहुल्य तथा चित्रण का पर्याप्त मात्रा में अभाव। मैं उनके प्रयत्न को प्रशंसनीय मानता था।

आज हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए गांधीजी ने अनशन शुरू किया। अनशन से एकता इस समय स्थापित होनेवाली नहीं थी, पर उसका दबाव भारत सरकार पर इतना पड़ा, कि उसने गांधीजी के जीवन के बदले पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपया देना स्वीकार कर लिया। "बूढ़े की हठ भयंकर चीज है," यह मैंने १६ जनवरी को लिखा था और यह भी, कि 'क्या जान की बाजी लगाकर गांधीवादी राजनीति पर चलने के लिए देश को मजबूर किया जाएगा? अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय राजनीति में गांधीवादी रास्ता देश के आत्मघात का रास्ता है।

१४ जनवरी को मकर-संक्रान्ति का दिन था। उस दिन श्री विश्वम्भरनाथ पांडे अपने साथ मुझे भी मेला ले गए। सूचना विभाग का प्रचार हो उठा था। मेले में बहुत भीड़ थी, किन्तु कुम्भ नहीं, और छ साल बाद प्रयाग का कुम्भ कितना भयंकर हुआ, इसे कहने की जरूरत नहीं। मेले में घूमा। बैरागियों का मैदान बहुत बड़ा था, लेकिन वह अधिकतर खाली था, जो कि अर्थहीनता और प्रभाव की कमी का सबूत था। उनमें पंचायती अखाड़ों में बहुत तैयारी थी। अखाड़ों के अलग-अलग कई घेरे थे। एक हाथी और आदमियों के कन्धों पर तीन जगद्गुरु चल रहे थे। आगे-पीछे नागा साधु थे। बाजे भी घोड़ों पर बज रहे थे। बैरागी साधुओं का दिनिक पर पतन देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

यात्रा (१५-२१ जनवरी)—नागार्जुन जी नहीं आए, शायद रुके

की तबीयत और खराब हो गई। पर साहित्याचार्य श्री बलभद्र ठाकुर साथ चलने के लिए तैयार रहे। ठाकुर मोगाय साहित्यिक घुमक्कड़ है, और अध्यवसाय के बारे में यही कहना पर्याप्त होगा कि संस्कृत पंडित होते उन्होंने रूसी भाषा का मन लगाकर अध्ययन किया। पुश्किन की कप्तान की कन्या को भी रूसी से सीधा हिन्दी में अनुवाद किया। एक प्रकाशक कुछ अग्रिम देकर उसे ले गए लेकिन वो खप हो गए और वह अब भी नहीं प्रकाशित हुई। यदि उस समय वह पुस्तक जल्दी निकल गई होती तो ठाकुर मोगायन और भी कितने ही रूसी ग्रन्थरत्नों को हिन्दी में करके हिन्दी को समृद्ध किया होता। इस बारे में हिन्दी को हानि जरूर उठानी पड़ी पर आगे उन्होंने अनेक रूसी उपन्यास हिन्दी को दिए, यह फायदा भी हुआ। उस दिन रात के साढ़े ११ बजे हम बम्बई एक्सप्रेस से रवाना हुए। रात को यात्रा में सोने के लिए जगह मिल जाए इसे बहुत समझना चाहिए। पाकिस्तान से यात्री अब भी बराबर कुछ न कुछ आ रहे थे कुछ की तलाशी भी हो रही थी। रात को ४ बजे के बाद ट्रेन खंडवा पहुँची। गाड़ी साढ़े ७ बजे रात को मिलनेवाली थी इसलिए प्रतीक्षालय में डेरा डाल दिया। हमारे लिए निश्चिन्तता की बात यह भी थी कि इंदौर से श्री बैजनाथसिंह महागणन लेने को आ गए थे। शाम को भोजन के लिए बाहर गए। स्टेशन के पास ही दो सिनमा थे भोजनालय भी ४ पर सभी निरामिषाहारी थे। एक पंजाबी शरणार्थी ने चायखाने के साथ भोजनालय भी खोल रखा था। आमिष हो या निरामिष उस समय शरणार्थी भोजनालय में खाना ही हम अच्छा समझते थे। जितनी बड़ी संख्या में पश्चिमी पंजाब से लोग बेघर होकर आए यदि वास्तविक अर्थ में वह पुरुषार्थी न होते तो देश और उनके ऊपर कितनी मुसीबत आती इसे सोचने का विषय होती है। रात को ही २ बजे हम खंडवा से चलकर इन्दौर पहुँचे।

इन्दौर—१७ तारीख को सबेरे छोटा-सा भाषण करके झंडा फहरान की रस्म अदा करनी पड़ी। दोपहर को कितने ही कम्युनिस्ट साथी आए, पार्टी से अलग होने के बारे में अफसोस करते रहे। ढाई बजे निश्चिन्त

कालेज में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय पर भाषण देना था। छात्र-छात्राओं के अतिरिक्त दूसरे लोग भी थे। हिन्दी के अपने समय के अद्वितीय वक्ता पं० माखनलाल चतुर्वेदी भी साथ थे। वहाँ से श्री बैजनाथ अपने एकाउन्टेंट कार्यालय को दिखलाने ले गए। वहाँ भी कमिया के सामने बोलना पड़ा। अभी हमारे अफसर और स्टाफ के लोग वस्तुतः बहुत कुछ निर्लिप्त हो रहे थे। आगे कमान में अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहते थे, लेकिन जैसे जैसे ऊपर के वीभत्स नमूने को उन्होंने देखा, जैसे ही जैसे वह भी उसी रंग में रंग गए।

मैं वस्तुतः साहित्य परिषद् के अधिवेशन के लिए यहाँ आया था जो शाम को साढ़े ७ बजे से शुरू हुआ। आध घंटा देर से "श्रीमान्" आये, यह कोई बहुत देर नहीं थी। दुबला पतला मरियल-सा शरीर और चेहरे पर किसी तरह की विशेषता की छाप नहीं थी। यही होल्कर के आधुनिक उत्तराधिकारी थे। सेठ हुकुमचन्द स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने स्वागत भाषण पढ़ा, फिर महाराजा ने उद्घाटन भाषण किया। इसके बाद मेरा सभापति का भाषण हुआ। राजा चलते वक्त मुलाकात करने का दान कहकर गए। स्वागत करनेवालों के कहने पर मैंने उनसे कह दिया—मुझे मिलने की कोई इच्छा नहीं है, और आप भी चिन्ता न करें, वह अपने कहे को भूल जाएँगे। जाते वक्त प्रतिहार ने उच्च स्वर से महाराजा के पधारने की जो सूचना दी थी, वह मुझे निरा परिहास मालूम हो रहा था। जब छत्रधारियों का सूर्य डूब रहा था, उस समय क्या यह बेवक्त की शहनाई नहीं थी?

१८ तारीख को दिन भर भाषण ही भाषण हुए। सवेरे ६ बजे साहित्य परिषद् में प्रगतिवाद के सम्बन्ध में भाषण दिया, ११ बजे होल्कर कालेज में भारत की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक एकता पर। वहाँ से भोजन करने के लिए सेठ हुकुमचन्द के घर पर गए। नवीन शिक्षा से वंचित होने पर भी सेठ जिन्दादिल मालूम हुए। उनके पुत्र पौत्र तो आधुनिकता के साँचे में ढले हैं। इन्दौर का नक्शा मिलों के द्वारा बनाने में सेठ हुकुमचन्द का बड़ा हाथ था। वहाँ निरामिष किन्तु बहुत नफीस भोजन था। भोजन करनेवाला

की तबीयत और खराब हो गई। पर साहित्याचार्य श्री बलभद्र ठाकुर साथ चलने के लिए तैयार रहे। ठाकुर मौजी साहित्यिक घुमक्कड़ है, और अध्यवसाय के बारे में यही कहना पर्याप्त होगा कि संस्कृत पंडित होते उन्होंने रूसी भाषा का मन लगाकर अध्ययन किया। पुश्किन की *कप्तान की कन्या'* को भी रूसी से सीधा हिन्दी में अनुवाद किया। एक प्रकाशक कुछ अग्रिम देकर उसे ले गए लेकिन नौ वर्ष हो गए और वह अब भी नहीं प्रकाशित हुई। यदि उस समय वह पुस्तक जल्दी निकल गई होती तो ठाकुर मोपासा और भी कितने ही रूसी ग्रन्थरत्नों का हिन्दी में करके हिन्दी को समृद्ध किया होता। इस बारे में हिंदी को हानि जरूर उठानी पड़ी पर आगे उन्होंने अनेक रूसी उपन्यास हिन्दी को दिए, यह फायदा भी हुआ। उस दिन रात के साढ़े ११ बजे हम बम्बई एक्सप्रेस से रवाना हुए। रात को यात्रा में सोने के लिए जगह मिल जाए इसे बहुत समझना चाहिए। पाकिस्तान के यात्री अब भी बराबर कुछ न कुछ जा रहे थे कुछ की तलाशी भी हो रही थी। रात को ४ बजे के बाद ट्रेन खंडवा पहुँची। गाड़ी साढ़े ७ बजे रात को मिलनेवाली थी इसलिए प्रतीक्षालय में डेरा डाल दिया। हमारे लिए निश्चिन्तता की बात यह भी थी कि इन्दौर से श्री बैजनाथसिंह महाशय लेने को आ गए थे। शाम को भोजन के लिए बाहर गए। स्टेशन के पास ही दो सिनेमा थे भोजनालय भी थे पर सभी निरामिषाहारी थे। एक पंजाबी शरणार्थी ने चायखाने के साथ भोजनालय भी खोल रखा था। आमिष हो या निरामिष इस समय शरणार्थी भोजनालय में खाना ही हम अच्छा समझते थे। जितनी बड़ी संख्या में पश्चिमी पंजाब से शरणार्थी बेघर होकर आए यदि वास्तविक अर्थ में वह पुरुषार्थी न होते, तो देश और उनके ऊपर कितनी मुसीबत आती इस सोचने मात्र से चिन्ता होती है। रात को ही ९ बजे हम खंडवा से चलकर इन्दौर पहुँचे।

इन्दौर—१७ तारीख को सबेरे छोटा सा भाषण करके बड़ा फटरान की रस्म अदा करनी पड़ी। डाक्टर को कितने ही कम्युनिस्ट माथा आए पार्टी से अलग होने के बारे में अफसोस करते रहे। डेढ़ बजे निश्चियत

कालेज में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय पर भाषण देना था। छात्र-छात्राओं के अतिरिक्त दूसरे लोग भी थे। हिन्दी के अपने समय के अद्वितीय वक्ता पं० माखनलाल चतुर्वेदी भी साथ थे। वहाँ से श्री ब्रजनाथ अपने एकाउन्टेंट कार्यालय को दिखलाने ले गए। वहाँ भी कर्मियों के सामने बोलना पड़ा। अभी हमारे अफसर और स्टाफ के लोग वस्तुतः बहुत कुछ निर्लिप्त हो देश को आगे बढ़ाने में अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहते थे लेकिन जैसे-जैसे ऊपर के बीभत्स नमूने को उन्होंने देखा वैसे ही जल्द वह भी उसी रंग में रंग गए।

मैं वस्तुतः साहित्य परिषद् के अधिवेशन के लिए यहाँ आया था जो शाम को साढ़े ७ बजे से शुरू हुआ। आध घंटा देर से "श्रीमान् आये, यह कोई बहुत देर नहीं थी। दुबला पतला मरियल-सा शरीर और चेहरे पर किसी तरह की विशेषता की छाप नहीं थी। यहाँ होल्कर के आधुनिक उत्तराधिकारी थे। सेठ हुकुमचन्द स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने स्वागत भाषण पढ़ा फिर महाराजा ने उद्घाटन भाषण दिया। इसके बाद मेरा सभापति का भाषण हुआ। राजा चलते वक्त मुलाकात करने की बात कहकर गए। स्वागत करनेवाले के कहने पर मैंने उनसे कह दिया—मुझे मिलने की कोई इच्छा नहीं है, और आप भी चिन्ता न करें, वह अपने कहे को भूल जाएँगे। जाते वक्त प्रतिहार ने उच्च स्वर से महाराजा के पधारने की जो सूचना दी थी वह मुझे निरा परिहास मालूम हो रहा था। जब छत्रधारियों का सूर्य डूब रहा था, उस समय क्या यह बचकाना नहीं थी?

१८ तारीख को दिन भर भाषण ही भाषण हुए। सवेरे ९ बजे साहित्य परिषद में प्रगतिवाद के सम्बन्ध में भाषण दिया, ११ बजे होल्कर कालेज में भारत की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक एकता पर। वहाँ से भोजन करने के लिए सेठ हुकुमचन्द के घर पर गए। नवीन शिक्षा से वंचित होने पर भी सेठ शिष्टाचारी मालूम हुए। उनके पुत्र पौत्र तो आधुनिकता के साथ में रंगे हैं। इन्दौर को कपड़े मिलों का केन्द्र बनाने में सेठ हुकुमचन्द का बड़ा हाथ था। वहाँ निरामिष किन्तु बहुत नफीस भोजन था। भोजन करनेवाले

की तबीयत और खराब हो गई। पर, साहित्याचार्य श्री बलभद्र ठाकुर साथ चलने के लिए तैयार रहे। ठाकुर महाशय साहित्यिक घुमक्कड़ हैं, और अध्यवसाय के बारे में यही कहना पर्याप्त होगा, कि संस्कृत पंडित होने उन्होंने रूसी भाषा का मन लगाकर अध्ययन किया। पुश्किन की 'कप्तान की कन्या' को भी रूसी से सीधा हिन्दी में अनुवाद किया। एक प्रकाशक कुछ अग्रिम देकर उसे ले गए, लेकिन नौ वर्ष हो गए और वह अब भी नहीं प्रकाशित हुई। यदि उस समय वह पुस्तक जल्दी निकल गई होती, तो ठाकुर सोनायन और भी कितने ही रूसी ग्रन्थरत्नों को हिन्दी में करके हिंदी को समृद्ध किया होता। इस बार में हिंदी की हानि जरूर उठानी पड़ी, पर आगे उन्होंने अनेक रूसी उपन्यास हिन्दी को दिए, यह फायदा भी हुआ। उस दिन रात के साढ़े ११ बजे हम बम्बई एक्सप्रेस से रवाना हुए। रात को यात्रा में सोने के लिए जगह मिल जाए, इसे बहुत समझना चाहिए। पाकिस्तान के यात्री अब भी बराबर कुछ न कुछ जा रहे थे, कुछ की तलाशी भी हो रही थी। रात का ८ बजे के बाद ट्रेन खंडवा पहुँची। गाड़ी साढ़े ७ बजे रात को मिलनेवाली थी, इसलिए प्रतीक्षालय में डेरा डाल दिया। हमारे लिए निश्चिन्तता की बात यह भी थी, कि इन्दौर से श्री बैजनाथसिंह "महागणक" लेने को आ गए थे। शाम का भोजन के लिए बाहर गए। स्टेशन के पास ही दो सिनेमा थे, भोजनालय भी थे, पर सभी निरामिषाहारी थे। एक पंजाबी शरणार्थी ने चायखाने के साथ भोजनालय भी खोल रखा था। आमिष हो या निरामिष, इस समय शरणार्थी भोजनालय में खाना ही हम अच्छा समझते थे। कितने बड़ी संख्या में पश्चिमी पंजाब से लोग बेघर होकर आए, यदि वास्तविक अर्थ में वह पुरुषार्थी न होते, तो देश और उनके ऊपर कितनी मुसीबत आती, इसे सोचने में भी चिन्ता होती है। रात को ही २ बजे हम खंडवा से चलकर इन्दौर पहुँचे।

इन्दौर—१७ तारीख को सबेरे छोटा सा भाषण करके यहाँ पर्यटन की रस्म अदा करनी पड़ी। दोपहर को कितने ही कम्युनिस्ट साथी आए, पार्टी से अलग होने के बारे में अफसोस करते रहे। ढाई बजे निश्चियन

कालज मे अतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय पर भाषण देना था। छात्र छात्राओ के अतिरिक्त दूसरे लोग भी थ। हिन्दी के अपने समय के अद्वितीय वक्ता प० माखनलाल चतुर्वेदी भी साथ थे। वहा स श्री बजनाथ अपने एकाउन्टेंट कार्यालय को दिखलाने ले गए। वहाँ भी गर्मिया र सामने चलना पडा। अभी हमारे अफसर और स्टाफ के लोग वस्तुत बहुत कुछ निर्लिप्त हो दश को आगे बढाने मे अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहते थ लेकिन जैस जस ऊपर के की अस्स नमूने को उन्होने देखा उस ही उसे रग भी उसी रग म रग गए।

मैं वस्तुत साहित्य परिषद् के अधिवशन क लिए यहा आया था, जो शाम को साढे ७ बजे से शुरू हुआ। आध घटा दर स "श्रीमान्" आय, यह कोई बहुत दर नही थी। दुबला पतला मरियल-सा शरीर और चेहरे पर किसी तरह की विशेषता की छाप नही थी। यही होल्कर क आधुनिक उत्तराधिकारी थ। सेठ हुकुमचन्द स्वागताध्यक्ष थे। उन्होन स्वागत भाषण पढा फिर महाराजा ने उद्घाटन भाषण किया। इसक बाद मरा सभापति का भाषण हुआ राजा चलते वक्त मुलाकात करने की बात कहकर गए। स्वागत करनेवाला र कहने पर मैंने उनसे कह दिया—मुझे मिलने की कोई इच्छा नही है, और आप भी चिन्ता न करें, वह अपने कह को भूल जाएँगे। जाते वक्त प्रतिहार न उच्च स्वर स महाराजा के पधारने की जो सूचना दी थी वह मुझे निरा परिहास मालूम हो रहा था। जब छत्रधारियो का सूर्य डूब रहा था, उस समय क्या यह बेतुका सी शहनाई नही थी?

१८ तारीख का दिन भर भाषण ही भाषण हुए। सवेरे ६ बजे साहित्य परिषद म प्रगतिवाद के सम्बन्ध म भाषण दिया, ११ बजे होल्कर कालेज म भारत की एतिहासिक और सांस्कृतिक एकता पर। वहा स भोजन करने के लिए सेठ हुकुमचन्द के घर पर गए। नवीन शिक्षा से वचित होने पर भी सेठ जिन्दादिल मालूम हुए। उनके पुत्र पौत्र तो आधुनिकता के साचे म ढल है। इन्दौर का कपडे मिलो का कन्द्र बनान म सेठ हुकुमचन्द का बडा हाथ था। वहाँ निरामिष किन्तु बहुत नफीस भोजन था। भोजन करनेवाला

की जमात भी काफी बड़ी थी। भोजन चांदी के बड़े बड़े थालों और कटा-रियों में परोसा गया था। लक्ष्मी का चारों तरफ प्रकाश था।

४ बजे बाद शहर से बाहर महाराजा के निवास पर जाना ही पड़ा। पौन घंटे तक उनसे बातचीत होती रही। इंदौर अभी विलीन नहीं हुआ था, लेकिन दबाव बहुत जोर का पड़ रहा था। आधुनिकता से परिचित और नवीन शिक्षा में दीक्षित महाराजा भवितव्यता को समझ रहे थे लेकिन साथ साथ अधिकार को छोड़ने के लिए मन भी नहीं था। यदि और राजाओं ने अपने सूर्यवंशी चन्द्रवंशी पदों को बरकरार रखने के लिए खड्ग का इस्तेमाल किया होता, तो वह भी हिम्मत करते। अकेले ऐसा साहस करना बेकार था। वह कहते रहे थे कि शासनको प्रजामण्डल के प्रतिनिधियों के हाथ में देकर क्या केवल वैधानिक प्रमुख रहना अच्छा नहीं होगा या और कोई दूसरा रास्ता लेना चाहिए। मैं बमन सा ही बात कर रहा था, क्योंकि दूसरी तरफ कोई वैसी बौद्धिक विशेषता नहीं देख रहा था। मैंने कहा—जो करना है उसे समय से पहले और खुशी से करना चाहिए। जान पड़ता था राजा हर वक्त नशे में रहते थे। पत्नी अमरिकन थी, जिसके साथ उसकी माँ भी मौजूद थी।

मऊ छावनी में भी आज ही प्रोग्राम था। वहाँ से दौड़कर वहाँ की सभा में चले, देर होने से लोग निराश हो गए थे। लौटकर साढ़े ८ बजे शिक्षा परिषद में भाषण देने के बाद सवा नौ बजे निवास पर पहुँचने की छुट्टी मिली।

इंदौर भी नया नगर नहीं है, क्योंकि इन्द्रपुर में पुर का उर प्राग मुस्लिम काल—प्राकृत-अपभ्रंश—के समय में होता था। पर इन्द्रपुर नगर न होकर कोई गाँव भी हो सकता था। जो भी हो इसका ऐतिहासिक महत्व उतना नहीं है जितना अपने देश की पुरानी राजधानियों माहिष्मति और उज्जयिनी का। १६ तारीख को रात के ४ बजे ही मोटर से हम माहिष्मति (महेश्वर) के लिए रवाना हुए। सीधी सड़क से जाने पर बीस मील पड़ता, पर वह कच्ची सड़क थी, इसलिए हम पचास मीलवाली पक्की सड़क से गए जिसमें अधिक दूर तक आगरा बम्बईवाली सड़क मिली।

आसपास पहाड और बाघा चीता के जगल थे, दो घाट भी पार करने पडे। अभी अन्धेरा ही था जबकि हम माहिष्मति के दुग मे पहुँचे। सवेरा होने ही नाव से नमदा म घूमने चले। धारा गहरी और प्राय उतनी ही चौडी थी, जितनी लेनिनग्राद की नवा। नीचे कुछ दूर पर सहस्रधार या जहाँ जमीन की समतल सी चट्टानो पर पडकर नमदा हजारो धारावाली बन गई थी। बहुत ही सुन्दर दृश्य था। किसी समय समद्ध अवन्ती की यह राजधानी अब दूर फैले अपने ध्वसो के रूप म ही दिखाई पडती थी। एक शिवालय देखा। अकबर के समय १६२२ ई० (१८६८ ई० म) पोरवाड वनज के किसी सेठ ने जिसका जीर्णोद्धार किया था। एक जगह खोह म इसा-पूर्व की कितनी ईटें दीख पडी। माहिष्मति के खण्डहर अपने प्राचीन इतिहास को छिपाए हुए पडे हैं, जिनके उद्घाटन अवश्य पदा होगा। दुग के नीचे अहल्याबाई का बनवाया घाट और मन्दिर है। जिस बला का अब अवसान हो चुका है उसके देखने की साध यहाँ पूरी हो सकती थी। महश्वर की आबादी ६ हजार था। अब भी वहा एक छोटा-सा बाजार है। नमदा के पार नीमाड जिला है जा बुद्ध के समय अल्लक देश के नाम से प्रसिद्ध था। यहा पुराने पठानी सिक्के बहुत मिलते हैं किन्तु हिन्दू काल के सिक्के भी मिलेंगे यदि नीचे तक खोदा जाए। बाजार म कुछ व्याख्यान देना पडा, फिर लौटकर १० बजे इन्दौर पहुँच गए। भोजनोपरान्त शिवाजीराव स्कूल मेडिकल स्कूल मिशन कालेज की चर्चा द्रका समिति मे भाषण देकर ८ बजे उज्जन के लिए रवाना हो गए। मालव भूमि म हरी हरी फसल लहरा रही थी। कालिदास की इस प्रिय भूमि को देखते मेघदूत की पक्तियां याद आती थीं। मार्ग म देवास मिला, जहा के चमल राज्य भी अब विलीन होने वाले थे। उज्जैन म साढे ६ बजे पहुँचे। महाकाल का स्नान किया यद्यपि उतनी भाव भक्ति स नही जितना कि बाण वर्णित महाकाल का करता। डा० नागर का भी साक्षात्कार हुआ। उनकी पत्नी १६४३ की गगोत्री यात्रा म कितने ही दिनो तक अपने हाथ का स्वादिष्ट भोजन प्रदान कर कृतज्ञ कर चुकी थी। डा० नागर के कारण प्राकृतिक चिकित्सा का केन्द्र

उज्जयिनी में स्थापित हो गया था। अँधेरा हो गया था, जबकि सार्वजनिक सभा में डेढ़ घंटा भाषण देना पड़ा। उसी दिन रात को साढ़े १० बजे इन्दौर लौटे और तीन घंटे बाद रेलगाड़ी पकड़ी। बड़ी दौड़ धूप रही, और किसी चीज को अच्छी तरह देखने का मौका नहीं मिला।

२० तारीख को अँधेरा रहते ही रतलाम पहुँचे। और कुछ समय मौन के लिए मिल गया। फिर चौक और हाइ स्कूल में भाषण दिए। मंदसौर—प्राचीन दशपुर—देखने की मेरी अत्यन्त उत्कट इच्छा थी। कालिदास ने इस नगर की महिमा गाई थी फिर पूछा या सच्चा मस्कृति के पुन रति देव की राजधानी भी इसे बतलाया गया था जिसे रंतिदेव की कीर्ति चम्बल—(चामवाली चर्मणवती) नदी है। रतिदेव परम अतिथिसेवी थे। अतिथियों के भोजन के लिए उनके यहाँ रोज हजारों गाएँ मारी जाती थीं जिनके ताजे चमड़े से गिरी बूँदों द्वारा इसी नदी का आरम्भ हुआ था। मंदसौर के लोग ले जाने के लिए आए थे। लेकिन वहाँ जाना तभी संभव था जबकि कार से जाकर वहाँ का काम भुगता आनेवाली ट्रेन से आगे जा सकता था। कार नहीं मिल सकी। मालवा देखने की उत्कट इच्छा पूरी नहीं हुई इसलिए संकल्प किया मालवा एक मास के लिए आना होगा और पैदल घूमना होगा। लेकिन यह संकल्प शायद कभी पूरा नहीं होगा।

रतलाम में ही हम उदयपुर वाले डब्बे में बैठ गए। उसी डब्बे में दो महिलाओं के साथ एक जैन डाक्टर बसरियाजी (मेवाड़) के दर्शनार्थ जा रहे थे। आधी रात को हम चित्तौड़ पहुँचे। कितने ही साहित्यप्रेमी फूल माला और गुलदस्ते वाली नारंगी लेकर आए। आग्रह बहुत था उतरने का लेकिन १२ बजे रात को कहीं भ्रमण फिरते। डब्बे ही में सो गए। आगे खर गाउन में पहुँचे। वहाँ नया एक जगह और फूलमालाएँ मिलीं। २१ तारीख को पौने ६ बजे हम उदयपुर पहुँच गए। डा० मोहनसिंह मेहता श्री रामगोपाल मोहता श्री जनार्दनराय नागर आदि ने स्वागत किया। ठहरना था इन्तजाम महाराणा के अतिथि भवन—आनन्द भवन में था। १४ वर्ष पहले भी उदयपुर आया था। उस समय की स्मृति फिर जागृत हो

आई। कहा वह पुराने ढंग की और सफाई म बहुत पिछडी हवेली और कहा यह स्वच्छ युरोपीय ढग का भवन। सवेरे जलपान करके मोटर से हम एकलिंग के लिए रवाना हुए। १३ मील का रास्ता पहाडा पहाड चला गया था जिस पार करन म दो घटे लगे। कई मदिर हैं जिनमे स दा एक अधिक कलापूण है, यद्यपि १२वी शता दी म हमारी मूर्तिकला को जो महा पाप लगा, उससे अच्छे भास्कय की कहीं सम्भावना हो सकती थी। एक लिंग के लिंग मे एक मुख है अर्थात् एक मुखलिंग का ही यह सक्षेप है। यह पाशुपता का किसी समय गढ रहा, लेकिन आज तो पाशुपत—सच्चे शक—उत्तर स लुप्त हो चुके है, उनकी भव्य कीर्ति वास्तु और मूर्तिकला मे ही हम खजुराहा और दूसरी जगहा म हमारे देश का समृद्ध कर रही है। ११ बजे तक मदिर का फाटक नही खुला। हम देर तक ठहर नही सकत थे। लौटते वक्त सडक से कुछ हटकर अवस्थित सास-बहू के मदिर मे गए नागदा (नागह्रद) सरावर के पास है। यहा जन और विष्णु क ध्वस्तप्राय मदिर है। मुसलमाना के अनेक बार इस भूमि पर प्रहार हुए थे, जिनकी साक्ष्य यहा की टूटी फूटी मूर्तिया भी द रही थी। यह मदिर १२वी शता दी क आसपास का है। साढे १२ बजे हम उदयपुर लौट आए।

भाजन के बाद ठाकुर माणाय क साथ सिंधी विद्यालय, हिन्दी विद्या पीठ, महिला मण्डल और बालिका विद्यालय देखन गए। हिन्दी विद्यापीठ बहुत अच्छा काम कर रहा था और अब विश्व विद्यापीठ के रूप म अपना काय कर रहा है।

रात का ७ बजे स्काउटा के हाल म सावजनिक सभा हुई। सभापति डा० मोहनसिह थे। यह जानकर अनकुम लगता था कि एक ही सस्था के कितन ही अगा के अलग अलग अलग अलग अधिवेशन करके सभी जगह मेरे प्राग्राम का रखा गया था। २२ तारीख को सवेरे संस्कृति शिक्षा सम्बन्धी सम्मेलन हुआ जिसम प्राय तीन घटे मुझे ही बोलना पडा। मध्याह्न भाजन श्री माहताजी के यहा हुआ, फिर पत्रकार सम्मेलन हुआ उसके बाद विद्या भवन म गए। डा० माहनसिंह द्वारा १६३१ मे स्थापित

यह सस्था अब बहुत विशाल हो चुकी थी, जिसके साथ शिशु विद्यालय, मट्रिक तक का हाईस्कूल और एक ट्रेनिंग कालेज था। जलपान डा० शमा के यहाँ हुआ जहाँ पचास से अधिक महमान थे। यहाँ से मोटर म जगली सूअरो के निवास-स्थान को देखने गए। इन सूअरो को शाम के वक्त अन्न खिलाया जाता है उस समय बडी सख्या म आकर वह जमा हो जाते है, और देखने म पालतू से मालूम होते ह।

■ बजे रात को स्काउट आश्रम म मनोरजन का प्रोग्राम रहा। गीत गाये गए नाटक भी हुआ। पुरुष का स्त्री पाट बनना बडा भद्दा मालूम होता है लेकिन अभी इसके सिवा और चारा क्या था? १० बजे रात को छुट्टी लेकर विश्राम स्थान पर आए।

२३ तारीख को विद्यापीठ के कर्मियो का सम्मेलन हुआ जिसम भाग लेने के बाद १० बजे हम जावर के लिए रवाना हुए। २४ मील का पहाडी रास्ता था जिसम अन्तिम कितने ही मीलो की सडक बहुत खराब थी। जावर प्राचीन काल म भी भारी महत्व रखता था और अब भी उसके दिन लौटने वाले थ। यहाँ सीस की खान है जिनम मुगलकाल और पीछे तक उनम काम होता रहा। पुरान समय म पहाड के ऊपर से कुए की तरह खोद कर धूनवाली शिलाओ तक पहुँचा जाता था अब नीचे से बारूद द्वारा तोड कर रास्ता बनाया गया था। सीसे के साथ इन पत्थरो म जस्ता भी मिलता है किसी किसी धून म तॉबा और चॉदी की भी मात्रा है। अग्रेज और इटालियन कार्यकर्त्ता काम कर रहे थे। नलिनी रजन सरकार और दूसरे सेठ इसके स्वामी थे। यहाँ से चूना भी लारी म और फिर रेल पर टाटानगर बगाल भेजा जाता था। कारखाना बन रहा था लेकिन वह धातु की सफाई का पूरा काम कर सकेगा इसम सन्देह था। खाना के भीतर भी हम घुसे। फिर वहाँ से उजडे नगर म गए। दो मन्दिरो म लेख मिले जिनम से एक १५वी सदी का था। उस समय इस नगरी म लक्ष्मी की वर्षा होती थी। फिर खानो म काम बन्द हो गया और लक्ष्मी का स्थान शून्य गया। आज यह नगर गुनगान खण्डहर-सा है। यहाँ के आसपास के पहाड सीस-जस्ते से

भर हुए हैं। उनकी उपमा और कितने दिना तक की जा सकती है।

लौटकर वनवासी विद्यालय का देखते महाराणा कालेज में भाषण देना था। फिर प्रगतिशील लेखकों में, और अन्त में सौ के करीब अतिथियों के साथ मोहताजी के यहां भोज में शामिल हुआ। उदयपुर में कार्यशीलता दिखाई पड़ती थी, कार्यकर्ता भी काफी थे, किन्तु सबका विकास किस ओर होगा इसका पता नहीं था। उदयपुर को भी विकसित होना था और महाराणा सबसे पहले कदम उठाकर यश के भागी हुए थे।

जोधपुर—उसी दिन शाम के साढ़े ७ बजे जोधपुर की गाड़ी पकड़ी। पिछली बार आने वक्त यह लाइन नहीं बनी थी। मैं समझता था पहले अजमेर जाना होगा और फिर शाम के लिए दूसरी ट्रेन मिलेगी। सवेरा हो गया था अब हमारी गाड़ी मारवाड़ में चल रही थी। मैं उत्सुकता से मरुभूमि को बाट देखने की कोशिश कर रहा था लेकिन वह तो अभी बहुत दूर थी। २४ तारीख के सवेरे पौने ६ बजे हम दोनों जोधपुर पहुँचे। पहले ठहरने का कहीं प्रबन्ध करना था। प्रो० देवराज उपाध्याय का पत्र भी आ चुका था लेकिन ट्रेन का पता न रहने से हम ही उपाध्यायजी के घर को ढूंढने के लिए निकलना पड़ा। एक घंटा ढूंढने में लगा। उपाध्याय जी आरा के रहने वाले और मेरे घनिष्ठ परिचित हैं। उनकी पहली पत्नी मेरे जेल के सहयोगी मित्र श्री पारसनाथ त्रिपाठी की पुत्री थी और वर्तमान पत्नी स्वनामधन्य पण्डित रामावतार शर्मा की पुत्री। देवराजजी स्वयं हिन्दी साहित्य के गम्भीर विद्वान है, लेखनी में भी शक्ति है, किन्तु उनका आलस्य बहुत अखरता है। योग्य प्रतिभाएँ जब कार्यक्षेत्र में आने से हिच किचाती हैं तो अयोग्य लोगों के आगे बढ़ने में उनकी शिकायत कम हो सकती है? उपाध्यायजी कितने ही सालों से अब कानों से बहुत कम सुनते हैं, जिसके कारण अड़चन भी है।

लोग आज शाम को मेरे आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, लेकिन मुझे तो जल्दी पड़ी हुई थी। परिभाषा की जिम्मेवारी लेकर उसके बारे में अभी मैं कुछ नहीं कर सका था। समिति की बैठक में देर थी इसलिए बीच के

समय को मैंने इस यात्रा में बिताना चाहा था। इसी कारण ही आधी रात के बाद ६ बजे जोधपुर को छोड़ देना था।

यशवन्तसिंह कालेज के अध्यापकों से बातचीत हुई फिर यहां की एक सुंदर संस्था बाल निकेतन देखने गया। निकेतन में तीन वर्ष तक के ही बच्चे रहते हैं। डेढ़ सौ के करीब बच्चों का होना ही बतलाता था कि इसकी उपयोगिता को लोग समझते हैं। बच्चों को किसी प्रकार का ताड़ना नहीं दी जाती सभी शिक्षा खिलौनों द्वारा दी जाती है। व्यवहार करने की क्षमता होते ही बच्चे अपने हाथ से काम करने लगते हैं। मुझे वहाँ सोवियत की शिशुशालाओं के बारे में कहने के लिए कहा गया। कालेज के छात्र छात्राओं के सामने बोलना पड़ा जहाँ श्रोताओं की सारी संख्या उपस्थित थी। फिर यहां की दूसरी संस्था कुमारालय में गया जहाँ छठी से दसवीं कक्षा तक के छात्र पढ़ते हैं। अधिकतर लड़के यहां रहते हैं। जोधपुर पुरानी रियासत है वहाँ इन नवीन संस्थाओं को देखकर भविष्य के लिए आशा पैदा होना स्वाभाविक है। जोधपुर के तरुण महाराजा समय से शिक्षा लेने के लिए तैयार नहीं थे और एक तरह जबर्दस्ती उन्हें विलायत के पथ में करना पड़ा। उसके बाद भी —ह होश नहीं आई थी और तिकड़म के लिए रास्ता ढूढ़ रहे थे। वस्तुतः राजा में इतनी बुद्धि भी नहीं थी उन्हें तो दरबारी जन नचाते थे —म ही नाच रहे थे। पर मुर्ग चन्द्रवंश का जमाना लौटने वाला नहीं था।

२४ तारीख—अनवार—को भी हम काफी व्यस्त रहे। सवेरे साहित्य —रिषद् की गोष्ठी में गए। कुछ तरुणों ने अपनी कविताएं सुनाईं। आजकल —धपुर जैसे रियासती शहर में भी —नवीन हिन्दी कवियों का मिलना आश्चर्य —बात नहीं है पर उनमें बहुत कम हो कवि होने का अंकुर अपने भीतर —ते हैं। कुछ अपनी कमजोरी का समर्थन वाद भी है लेकिन ऐसा कौ —गा भी काफी है जो कभी यह मानने के लिए तैयार नहीं कि मैं उच्च —का कवि नहीं हूँ। ऐसा होने पर भी कुछ तरुणों की कविताओं को —र निराश होने की जरूरत नहीं थी।

जोधपुर में आर्योपन्यास पं० रामगरीय शर्मा रहते हैं यह जानकर

मुझे मिलने की इच्छा हुई। पर इसी समय वहीं विवाह कराना था, जिसके लिए वह आकर चले गए थे। उनकी धर्मपत्नी और पुत्र और पुत्री ने पिता की ओर से स्वागत सम्भार और भोजन कराया। वहाँ से उपाध्यायजी के स्थान पर लौट आया। तब से ७ बजे तक प्रश्नोत्तर रूप में गोष्ठी चलती रही। फिर म्युनिसिपल हाल में भाषण दिया। ४ बजे एक और जगह भी भाषण की बात थी, लेकिन तयारी जल्दी-जल्दी में नहीं हो सकी और नियत समय से डेढ़ घंटे बाद मुस्लिम स्कूल में हिन्दी भाषा के ऊपर जाकर बोला।

जोधपुर भी अंगड़ाई ले रहा था। बाल निकेतन और कुमाराश्रम जैसी संस्थाएँ बतला रही थीं कि वह अपने को आधुनिक युग के लिए तैयार कर रहा है। लगनवाले कार्यकर्ताओं को किसी साधन का अभाव नहीं रहता। साहित्यिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की यहाँ कमी नहीं थी। एक दिन और रहने के लिए जोर दिया जा रहा था, लेकिन वैसा करने पर आगे के प्रोग्राम टूट जाते। इसी समय को महाराजा को प्रथम पुत्र हुआ था, जिस पर दो करोड़ रुपया उड़ाए गए। उदयपुर कहीं अधिक प्रतिष्ठित संस्थान है, लेकिन सामन्तवाद की जितनी छाप जोधपुर में दीख पड़ी, वैसी वहाँ नहीं।

आगरा—रात के ६ बजे आनेवाली गाड़ी ११ बजे आई। २६ को सवेरा फुलेरा में हुआ। यहाँ गाड़ी बदली। दो पहर बाद बांदीकुई पहुँचे। सेकंड क्लास में रिजर्व कर लेने के कारण फुलेरा तक स्थान के लिए जगह मिल गई। आगे तो भीड़ के लिए कुछ पूछना ही नहीं। रास्ते में साँभर स्टेशन मिला। साँभर झील हिन्दुस्तान के बड़े भाग को नमक देती है। झील जयपुर और जोधपुर की शामिलात है, किन्तु नमक बनाने का सारा प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के हाथ में है। इस समय यहाँ तीन सौ श्रमिक काम करते थे, जो मौसिम के समय हजार तक हो जाते हैं। अकेला साँभर कैसे सारे देश को नमक दे सकता है? इसीलिए समुद्र को भी इस्तेमाल किया जा रहा है। साँभर की शाकम्भरी देवी बहुत प्रसिद्ध है। वह चौहानों की कुलदेवी

थी। पृथ्वीराज का वंश शाकम्भरी का चौहान कहा जाता था। शाकम्भरी पृथिवीराज से भी पुराना है यह इस नाम ही से मालूम होता है—शाकभरी शाक का भरण करने वाली। अफसोस रहा मैं उतरकर वहाँ देख सुन नहीं सका।

बादीकुई में ट्रेन बहुत देर तक खड़ी रही, और ४ बजे बाद ही आगे की गाड़ी मिली। इससे अच्छा हुआ होता यदि मारवाड़ जंक्शन में इसी आगरा जानेवाली ट्रेन को पकड़ लिए होते फिर वहाँ से सीधे आगरा पहुँचते। हमारी ट्रेन आगरा के पास पहुँच गई उसी वक्त डब्बे में एक एंग्लो इंडियन परिवार सवार हुआ। वह आगरा में ब्याह के लिए जा रहा था। अभी उनको वेष और भाषाओं में भारतीयता बिल्कुल पसन्द नहीं थी। लेकिन स्त्रियाँ जो हिन्दी बोल रही थी, वह बिल्कुल शुद्ध थी। पहला जमाना होता तो इनका दिमाग भी अंग्रेजों से अधिक ही आसमान पर चढ़ा रहता लेकिन अब उनके भाव बदल गए हैं और अधिक भद्र मालूम होते है। एंग्लो इंडियनों में जो अपने गोरेपन में अंग्रेजों के बहुत नजदीक थे वह हजारों की संख्या में भारत छोड़कर आस्ट्रेलिया न्यूजीलेण्ड या दूसरे गोरे उपनिवेशों में चले गए। बाकी अपनी वर्तमान स्थिति और भावी आशंका के कारण असंतुष्ट हैं किन्तु कोई रास्ता नहीं दीख पड़ता।

सवा ६ बजे शाम को हमारी ट्रेन आगरा पहुँची। श्री रतनलाल मित्तल के यहाँ ठहरे। धनी मानी होने हुए भी रतनलाल जी साहित्यिक रुचि रखनेवाले थे। इन्होंने एक पुस्तकालय खोला है जिनमें एक मृतपुत्र राजेन्द्र के नाम पर है। राजेन्द्र कालेज के द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी था पानी में डूबकर उसकी असमय मृत्यु हो गई। उसी के नाम पर विश्व साहित्य के उत्तम ग्रंथों के अनुवादों की माला वह प्रकाशित करना चाहते थे। आगरा में तीन दिन का समय रखा था। २७ को सवेरे गीता मन्दिर देखने का आग्रह किया। स्वामी आनन्द घन को किसी ने सवा डेढ़ लाख रुपए दिए। उसीसे उन्होंने नगर से बाहर यह मंदिर स्थापित किया। गीता प्रचार के साथ गाय ढोर सेवा भी यहाँ सम्मिलित कर दी गई थी। फिर हम मित्रों

गए जहाँ महान् अकबर अपने अधूरे स्वप्नों को लेकर सोया। सारे भारत को एक जाति बनाने का उसका स्वप्न अब पूरा होके रहेगा, इसमें क्या सन्देह? आगरा के कैलाश को वर्षों आगरा में रहने पर भी मैं देख न पाया। नगर के बाहर जमुना के तट पर इस स्थान में हिन्दुओं के बहुत से मन्दिर हैं। पहले भी यहाँ मन्दिर रहे होंगे। खण्डित मूर्तियों को जल्दी से जल्दी जमुना में डालने की आवश्यकता मानी जाती है, तो इतिहास की उन अनमोल सामग्रियों के मिलने की क्या सम्भावना? बहुत से धार्मिक स्थानों को इस शताब्दी के आरम्भ में मैंने देखा था। उस समय उनमें जीवन और चहल-पहल थी, जिसका अब अभाव-सा दीख पड़ता था। नूरजहाँ के माँ-बाप की कबर जमुना पार एतमादुद्दौला में है। इमारत छोटी किन्तु बहुत सुन्दर है।

रात को रांगेय राघव के यहाँ साहित्यिक गोष्ठी हुई, जिसमें आगरा के बहुत से साहित्यिक आए। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि पिछले पाँच सालों में रांगेय जी साहित्य-क्षेत्र में बहुत आगे बढ़े हैं। अच्छी-अच्छी कविताएँ लिखीं, कहानी, उपन्यास रचे। रांगेय जी के लिए यह तो कहना बिलकुल उचित नहीं होगा कि वह अहिन्दी-भाषी हैं। उनका खान-पान भले ही तमिलभाषी रहा हो, लेकिन उनका जन्म-करम आगरा में ही हुआ था और शायद तमिल भाषा पर वह उतना अधिकार भी नहीं रखते, जितना हिन्दी पर।

श्री रतनलालजी ने अतिथि सेवा पर ही अपने कार्य की इतिश्री नहीं समझी, बल्कि वह अधिकतर मेरे ही साथ रहे। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश और हरियाना के शहरों और कस्बों में बहुत से जैन गृहस्थ परिवार हैं। रतनलाल जी भी जैन हैं। मेरी धारणा है, सभी जैन बस्तियों में अनिवार्य रूप से रहने वाले पुस्तक भण्डारों के हस्तलिखित ग्रन्थों में हिन्दी गद्य पद्य की पुरानी रचनाओं के मिलने की सम्भावना है। अपभ्रंश के भी अज्ञात ग्रन्थ वहाँ हो सकते हैं। यहाँ के लक्ष्मी पुस्तकालय के साढ़े चार हजार ग्रन्थों में से अधिकांश हस्तलिखित हैं। मुझे उनके देखने की बड़ी इच्छा थी। मैं देखने गया, तो मालूम हुआ, कि पुस्तकालय की चाभी मौजूद नहीं है। सूचीपत्र

देखने से काम भी नहीं चल सकता था, क्योंकि सूचीपत्र बनानेवाले अपभ्रंश ग्रंथों का भी प्राकृत का समर्थन है। मेरठ वाला के अपने क्षेत्र मेरठ और अम्बाला के मिशनरी तथा बिजनौर जिले की जन बस्तियों के पुस्तक भण्डारों से हिंदी के प्राचीनतम गद्य पद्य के मिलने की संभावना है। बहुत संभव है वह खड़ी बोली के साहित्य का १३ वी १४ वी शताब्दी तक ले जाएँ। बौद्ध और जैन लोकभाषा को अपने धर्म के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानते रहे। पालि प्राकृत और अपभ्रंश की इतनी ग्रंथराशि जो मिली है, वह इसी प्रेम के कारण। अपभ्रंश के बाद जब खड़ी बोली कुरु और कुरु-जांगल के जिला में आ उपस्थित हुई तो उन्होंने अवश्य उसमें भी धार्मिक ग्रंथ लिखे होंगे। यह काम मेरे लिए बड़ा आकर्षक है लेकिन समय कहाँ से लाऊँ यह तो मासों नहीं वर्षों ठाँव ठाँव खाक छानने की बात है।

उसी दिन—२८ जनवरी—दयालबाग और पास में द्वितीय ताजमहल बननेवाले राधास्वामी मंदिर को भी देख आए। १८ बजे आगरा के कालेजों की हिंदी छात्र समितियों ने अभिनंदन किया जिसमें मुझे भाषण देना पड़ा। फिर 'सैनिक' कार्यालय में स्वागत हुआ जहाँ पं० श्री राम शर्मा पं० हरिशंकर शर्मा और दूसरों के दर्शन हुए। शाम को ७ बजे नागरी प्रचारिणी की ओर से अभिनंदन पत्र मिला। भाषण के बीच ही देवताओं को पसंद नहीं आया और बूँदें तेज हो गईं जिससे बीच में ही उसे बंद कर देना पड़ा।

२९ जनवरी को सवेरे पं० श्रीराम शर्मा और डा० सत्येन्द्र के यहाँ जलपान हुआ। फतेहपुर सिकरी जाने का प्रोग्राम था पहले तो जान पड़ा, कि मोटर बिना यात्रा स्थगित करनी पड़ेगी। पर १२ बजे वह आ ही गई और ४५ मिनट में २४ मील की यात्रा करके हम अकबर की पुरी में पहुँच गए। रमतेराम जी साथ थे और ठाकुर साहब तो बराबर ही साथ थे। ! घंटे हम सिकरी के महलों को घूम घूमकर देखते रहे। कला के साथ इमारतों को दृढ़ बनाने का भी पूरा ख्याल रखा गया है और इसी वजह से साढ़े तीन सौ वर्ष बाद भी ये इमारतें अच्छी स्थिति में हैं। महलों का

ीवारो पर पहले सुदर चित्र थ, जिनके अवशेष अब वही ही रह गए हैं। सकरी का महल एक पहाडी के ऊपर बना है। पास की निम्न भूमि का ाध बाँधकर किसी समय विशाल जलाशय म परिणत कर दिया गया था, जा कि बाँध के अभाव म अब फिर निम्न भूमि के खेतो क रूप मे परिणत हा गया था। सोलह वप तक सीकरी को अकबर की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। खनुवा यहाँ से सात मील पर है, जहा बाबर न राणा सागा को हराया था। यह निर्णायक युद्ध था, और इसम विजय प्राप्त कर भारत म मुगल वश की स्थापना हुई। दीवानआम और दीवानेखास यहा भी हैं, यद्यपि इनसे बडे आगरा के किले म और उनमे भी बडे दिल्ली के लाल किले म है रानिया के रनिवास हैं, जिनमे कुछ हिन्दू रानिया भी थी, और अकबर न प्रोत्साहन दिया था, कि वह अपने धम मे ही रह।

पास ही विशाल जामा मस्जिद है, जिसका दरवाजा अतिविशाल (बुलन्द दरवाजा) है। भीतर शेख सलीम चिश्ती की समाधि है। समाधि को सगमरमर का जहाँगीर ने बनवाया। निस्सन्तान होने के कारण अकबर साधु फकीरो की बडी सेवा करता था। अनेको ने दुवा की होगी, किन्तु शेख सलीम की लग गई। अकबर ने पुत्ररत्न प्राप्त किया, जिसका नाम शेख के नाम पर सलीम रखा। शेख सलीम की शीतल छाया के लिए ही अकबर न दिल्ली छाडकर सीकरी को राजधानी बनाया। पीछे उसे अनुकूल न पाकर आगरा का अपनी राजधानी बनाया।

४ बजे आगरा लौटे। यदि ८ घटे पहले मोटर मिली होगी, ता १२ बजे ही हम लौट आते और भाजन करके उसी समय मथुरा के लिए प्रस्थान कर देत।

गाधीजी की वीरगति—साढे ५ बजे आगरा से हमने प्रस्थान किया, और पौन ७ बजे मथुरा पहुँच गए। सुख सचारक कम्पनी के स्वामी डा० विश्वपाल क घर पर ठहर। रात के ९ बजे तक वही साहित्य गोष्ठी होती रही। यह जानकर बडी प्रसन्नता हुइ, कि यहा के साहित्यिका का तल काफी ऊँचा है। सुखसचारक कम्पनी के सस्थापक प० क्षेत्रपाल शर्मा थे,

खन से काम भी नहीं चल सकता था, क्योंकि सूचीपत्र बनानेवाले अपभ्रंश
था का भी प्राकृत का समझते है। खड़ी बोली के अपने क्षेत्र मेरठ और
म्बाला कमिश्नरी तथा बिजनौर जिले की जैन बस्तियों के पुस्तक भण्डारों
हिन्दी के प्राचीनतम गद्य पद्य के मिलने की संभावना है। बहुत संभव
वह खड़ी बोली के साहित्य को १३ वी १४ वी शताब्दी तक ले जाए।
बौद्ध और जैन लोकभाषा को अपने धर्म के प्रचार का सबसे बड़ा साधन
मानते रहे। पालि प्राकृत और अपभ्रंश की इतनी ग्रंथराशि जो मिली है,
वह इसी भ्रम के कारण। अपभ्रंश के बाद जब खड़ी बोली गुरु और कुरु-
जांगल के जिला में आ उपस्थित हुई, तो उन्होंने अवश्य उसमें भी धार्मिक
ग्रंथ लिखे होंगे। यह काम मेरे लिए बड़ा आकर्षक है लेकिन समय कहाँ से
लाऊँ यह तो मामा नहीं क्यों ठाँव ठाँव खाक छानने की बात है।

उसी दिन—२८ जनवरी—ग्वालबाग और पास में द्वितीय ताजमहल
बननेवाले राधास्वामी मंदिर को भी देख आए। १४ बजे आगरा के कालेजों
की हिन्दी छात्र समितियों ने अभिनंदन किया जिसमें मुझे भाषण देना
पड़ा। फिर सैनिक कार्यालय में स्वागत हुआ जहाँ प० श्री राम शर्मा
प० हरिशंकर शर्मा और दूसरों के दर्शन हुए। शाम को ७ बजे नागरी
प्रचारिणी की ओर से अभिनन्दन-पत्र मिला। भाषण के बीच ही देवताओं
को पसन्द नहीं आया और बूँदें तेज हो गई, जिससे बीच में ही उसे बन्द
कर देना पड़ा।

२९ जनवरी को सवेरे प० श्रीराम शर्मा और डा० सत्येन्द्र के यहाँ
चायपान हुआ। फतेहपुर सिकरी जाने का प्रोग्राम था पहले तो जान पड़ा,
कि मोटर बिना यात्रा स्थगित करनी पड़ेगी। पर १२ बजे वह आ ही गई
और ४५ मिनट में २४ मील की यात्रा करके हम अकबर की पुरी में पहुँच
गए। कमलेश्वर जी साथ थे और ठाकुर साहब तो बराबर ही साथी थे।
२ घंटे हम सिकरी के महलों को घूम घूमकर देखते रहे। कला के साथ
मकानों को दृढ़ बनाने का भी पूरा ख्याल रखा गया है और इसी वजह से
साढ़े तीन सौ वर्ष बाद भी ये इमारतें अच्छी स्थिति में हैं। महलों की

दीवारों पर पहले सुन्दर चित्र थे, जिनके अवशेष अब कहीं कहीं रह गए हैं। सिकरी का महल एक पहाड़ी के ऊपर बना है। पास की निम्न भूमि को बाँध बाँधकर किसी समय विशाल जलाशय में परिणत कर दिया गया था, जो कि बाँध के अभाव में अब फिर निम्न भूमि के खेतों के रूप में परिणत हो गया था। सोलह वर्ष तक सीकरी को अकबर की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कनुवा यहाँ से सात मील पर है जहाँ बाबर ने राणा सांगा को हराया था। यह निर्णायक युद्ध था, और इसमें विजय प्राप्त कर भारत में मुगल वंश की स्थापना हुई। दीवानआम और दीवानेखास यहाँ भी हैं यद्यपि इनसे बड़े आगरा के किले में और उनसे भी बड़े दिल्ली के लाल किले में हैं। रानियों के रनिवास हैं, जिनमें कुछ हिन्दू रानियाँ भी थीं और अकबर ने आत्माप्त्न दिया था, कि वह अपने धर्म में ही रहें।

पास ही विशाल जामा मस्जिद है, जिसका दरवाजा अतिविशाल (बुलंद दरवाजा) है। भीतर शेख सलीम चिश्ती की समाधि है। समाधि को संगमरमर का जहाँगीर ने बनवाया। निस्सन्तान होने के कारण अकबर साधु फकीरों की बड़ी सेवा करता था। उनकी न दुआ भी होगी किन्तु शेख सलीम की लग गई। अकबर ने पुत्ररत्न प्राप्त किया, जिसका नाम शेख के नाम पर सलीम रखा। शेख सलीम की शीतल छाया के लिए ही अकबर ने दिल्ली छोड़कर सीकरी को राजधानी बनाया। पीछे उसे अनुकूल न पाकर आगरा को अपनी राजधानी बनाया।

४ बजे आगरा लौटे। यदि ४ घंटे पहले मोटर मिली होती तो १२ बजे ही हम लौट आते और भोजन करके उसी समय मथुरा के लिए प्रस्थान कर देते।

गांधीजी की वीरगति—साढ़े ५ बजे आगरा से हमने प्रस्थान किया, और पौने ७ बजे मथुरा पहुँच गए। सुख सचारक कम्पनी के स्वामी डा० विश्वपाल के घर पर ठहरे। रात के ६ बजे तक वहीं साहित्य-गोष्ठी होती रही। यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि यहाँ के साहित्यिकों का तल काफी ऊँचा है। सुखसचारक कम्पनी के संस्थापक प० क्षेत्रपाल शर्मा थे,

जिन्होंने दवादवी अपना औषधालय और इस कम्पनी को शुरू किया। विज्ञापन की शक्ति को उस समय अभी अमृतधारा के मालिक जैसे कुछ ही लोग जानते थे। अमृतधारा की सफलता पर बहुतों को सन्देह था कि यह रास्ता पुराना हो गया है इसमें आकर्षण नहीं अतएव सफलता की आशा नहीं। पर पं० क्षेत्रपाल ने दिखला दिया कि अतिशय रगड़ करे जो कोई। अनल प्रकट चन्दन से होई। सभी युगों में और आजकल तो विशेष तौर से विज्ञापन की महिमा अपरम्पार है। विज्ञापन के ढंग हर युग में भिन्न भिन्न हों यह कोई अचम्भे की बात नहीं है। प्राचीन सन्त महात्माओं का विज्ञापन उनके शिष्य और अनुचर किया करते थे। आधुनिक सन्त महात्माओं का भी प्रचार यह बड़े दत्त चित्त से करते हैं और उसके अतिरिक्त अपनी पुस्तकों पुस्तिकाओं से भी महात्मा लोग प्रचार करने में निरत रहते हैं। व्यवसाय में सफलता का अर्थ है लक्ष्मी की सिद्धि अर्थात् द्रव्य की प्राप्ति। फिर द्रव्येण सर्वे वशा द्रव्य के वश में सभी है। द्रव्य की प्रचुरता से यदि प्रथम पीढ़ी का नहीं तो अगली पीढ़ी का शिक्षा-संस्कृति संबंधी तल बहुत ऊँचा हो जाता और फिर साधारण स्थिति के अर्ध शिक्षित अन्न ग्रामीण पिता माता के यहाँ पैदा हुए व्यक्ति भी उच्च वर्ग में शामिल हो जाते हैं। सुखसंचारक कम्पनी के स्वामी ही नहीं बल्कि उनके सम्बन्धी सिकन्दराबाद के मुरारीलाल शर्मा और दूसरे बहुतों की सन्तानें इसके उदाहरण हैं।

२० तारीख को गुरुवार का अविस्मरणीय दिन आया। सवेरे जलपान के बाद ६ बजे म्यूज़ियम पहुँचे। मथुरा का म्यूज़ियम अपना विशेष महत्व रखता है। इसकी स्थापना का श्रेय पं० राधाकृष्ण को सांस्कृतिक प्रेम है। कुषाण-काल में ही मथुरा समृद्धि के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। प्रायः साढ़े तीन शताब्दियों तक वह कुषाणों और उनके महाराज्यपालों की राजधानी रही। उससे पहले वह शूरसेन जनपद की एक मामूली सी राजधानी भर हो रहा पर उस समय बहुत उन्नति करने का उसके लिए अवसर नहीं था यद्यपि व्यापार के चतुष्पथ पर होने से आय बढ़ने की बहुत-सी सम्भाव

नाएँ थी। अकबर ने यदि आगरा का लाभ न किया होता और जिस लाभ म सिकरी से उसका नजदीक होना भी एक कारण था तो मथुरा फिर एक बार कुषाणो की अपनी समृद्धि को दोहराती। आज मथुरा का महानम कृष्ण की भूमि के कारण है। कुषाणो के समय उसे अपने बड़प्पन के लिए इस महत्व की आवश्यकता नहीं थी। कनिष्क और हुविष्क का साम्राज्य सारे उत्तरी भारत से मध्य एसिया म अराल समुद्र तक फैला हुआ था। वाणिज्य अपने चरम उत्कर्ष पर था। कनिष्क की कई राजधानिया थी जिनम कपिशा—काबुल पुष्पपुर पशावर और मथुरा मुख्य थी। अपनी राजधानिया को सुअलंकृत करने का कुषाणो का व्यसन था। कनिष्क की मथुरा कितनी भव्य और सुन्दर रही होगी इसकी कल्पना की जा सकती है, पर कल्पना स कही अधिक ठोस प्रमाण यह म्यूजियम है जहाँ पर कुषाण काल की सबसे अधिक और सुन्दर मूर्तिया सगृहीत की गई है। धरती के भीतर वह इससे भी अधिक हैं, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। कितनी ही मूर्तिया तो मथुरा के भिन्न भिन्न स्थानो म अभी भी भिन्न भिन्न देवताओं के नाम से पूजी जा रही है। उनसे भी अधिक को जमुना लाभ मिला है। सचमुच ही जमुना, गगा, सरजू, गण्डक आदि म सकड़ो वर्षों से खण्डित किन्तु अद्भुत हजारो प्राचीन मूर्तिया का डाला जाता रहा है। क्या उनके मिलने की फिर कभी सम्भावना है ? मिलने पर भी दन्तहीन केश की तरह स्थानभ्रष्ट हो वह अपने बहुत स ऐतिहासिक महत्व को खो चुकी हैं। मुझे केदार की मुद्राओं के बारे मे जानकारी प्राप्त करने की इच्छा थी। यहा केदार की सुवर्ण मुद्रा थी। केदार को कुछ इतिहासकार पीछे का कुषाण राजा मानते हैं और कुछ उस हेफ्ताल स्वत हूण।

फिर हम वृन्दावन गए। गोविन्दराज का मन्दिर अकबर के समय म बना था, और शायद वह सदा अपूर्ण ही रहा। वृन्दावन जमुना के उसी तरफ नहीं था, जिस तरफ कि मथुरा। पर रोटी के हाथो अब मनवा दिया गया है, कि यही वृन्दावन है। भागवत् स मालूम है कि वृन्दावन जाने म वसुदेव को जमुना पार करना पडा। परित्यक्त और विस्मृत वृन्दावन का आविष्कार

जिन्होंने देखादेखी अपना औषधालय और इस कम्पनी को शुरू किया। विज्ञापन की शक्ति को उस समय अभी अमृतधारा के मालिक जैसे कुछ ही लोग जानते थे। अमृतधारा की सफलता पर बहुतों को सन्देह था कि यह रास्ता पुराना हो गया है इसमें आकर्षण नहीं अतएव सफलता की आशा नहीं। पर प० क्षेत्रपाल ने दिखला दिया कि अतिशय रगड़ करे जो कोई। अनल प्रगट चन्दन से होई। सभी युगों में और आजकल तो विशेष तौर से विज्ञापन की महिमा अपरम्पार है। विज्ञापन के ढंग हर युग में भिन्न भिन्न हों यह कोई अचम्भे की बात नहीं है। प्राचीन सन्त महात्माओं का विज्ञापन उनके शिष्य और अनुचर किया करते थे। आधुनिक सन्त महात्माओं का भी प्रचार वह बड़े दत्त चित्त से करते हैं और उसके अतिरिक्त अपनी पुस्तकों-पुस्तिकाओं से भी महात्मा लोग प्रचार करने में निरत रहते हैं। व्यवसाय में सफलता का अर्थ है लक्ष्मी की सिद्धि अर्थात् द्रव्य की प्राप्ति। फिर 'द्रव्येण सर्वे वशा' द्रव्य के वश में सभी हैं। द्रव्य की प्रचुरता से यदि प्रथम पीढ़ी का नहीं तो अगली पीढ़ी का शिक्षा संस्कृति संबंधी तल बहुत ऊँचा हो जाता और फिर साधारण स्थिति के अर्ध शिक्षित अर्ध ग्रामीण पिता माता के यहाँ पैदा हुए व्यक्ति भी उच्च वर्ग में शामिल हो जाते हैं। सुखसंचारक कम्पनी के स्वामी ही नहीं बल्कि उनके सम्बन्धी मित्र दराबार के मुरारीलाल शर्मा और दूसरे बहुतों की सन्तानें इसके उदाहरण हैं।

२० तारीख को गुरुवार का अविस्मरणीय दिन आया। सबेरे जलपान के बाद ६ बजे म्यूजियम पहुँचे। मथुरा का म्यूजियम अपना विशेष महत्व रखता है। इसकी स्थापना का श्रेय प० राधाकृष्ण का सांस्कृतिक प्रेम है। कुषाण काल में ही मथुरा समृद्धि के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। प्रायः ढाई तीन शताब्दियों तक वह कुषाणों और उनके महाराज्यपालों की राजधानी रहा। उससे पहले वह शूरसेन जनपद की एक मामूली सी राजधानी भले ही रही पर उस समय बहुत उन्नति करने का उसके लिए अवसर नहीं था, यद्यपि व्यापार के चतुष्पथ पर होने से आगे बढ़ने की बहुत सी सम्भाव

नाएँ थी। अकबर ने यदि आगरा का लाभ न लिया होता और जिस लाभ मे सिकरी से उसका नजदीक होना भी एक कारण था तो मथुरा फिर एक बार कुषाणो की अपनी समृद्धि को दोहराती। आज मथुरा का महातम कृष्ण की भूमि के कारण है। कुषाणो के समय उसे अपने बडप्पन के लिए इस महत्व की आवश्यकता नही थी। कनिष्क और हुविष्क का साम्राज्य सारे उत्तरी भारत मे मध्य एसिया म अराल समुद्र तक फला हुआ था। वाणिज्य अपने चरम उत्कर्ष पर था। कनिष्क की कई राजधानिया थी जिनम कपिशा—काबुल पुष्पपुर पेशावर और मथुरा मुख्य थी। अपनी राजधानियो को सुअलकृत करने का कुषाणो का व्यसन था। कनिष्क की मथुरा कितनी भव्य और सुन्दर रही होगी इसकी कल्पना की जा सकती है, पर कल्पना से कही अधिक ठोस प्रमाण यह म्यूजियम है जहा पर कुषाण काल की सबसे अधिक और सुन्दर मूर्तिया सगहीत की गई है। धरती के भीतर वह इससे भी अधिक है, इसे कहने की आवश्यकता नही। कितनी ही मूर्तियाँ तो मथुरा के भिन भिन स्थानो म अभी भी भिन्न भिन्न देवताओ के नाम से पूजी जा रही है। उनमे भी अधिक का जमुना लाभ मिला है। सचमुच ही जमुना गगा, सरजू गण्डक आदि म सैकडो वर्षो स खण्डित किन्तु अद्भुत हजारो प्राचीन मूर्तियो को डाला जाता रहा है। क्या उनके मिलने की फिर कभी सम्भावना है? मिलने पर भी दत्त-नख केश की तरह स्थानभ्रष्ट हो वह अपने बहुत स ऐतिहासिक महत्व को खो चुकी है। मुझे केदार की मुद्राओ के बारे म जानकारी प्राप्त करने की इच्छा थी। यहा केदार की सुवर्ण मुद्रा थी। केदार को कुछ इतिहासकार पीछे का कुषाण राजा मानते है और कुछ उसे हफ्ताल श्वेत हूण।

फिर हम वृन्दावन गए। गोविन्दराज का मन्दिर अकबर के समय म बना था, और शायद वह सदा अपूर्ण ही रहा। वृन्दावन जमुना के उसी तरफ नही था, जिस तरफ कि मथुरा। पर लाठी के हाथो अब मनवा दिया गया है, कि यही वृन्दावन है। भागवत् स मालूम है, कि वृन्दावन जाने म वसुदेव को जमुना पार करना पडा। परित्यक्त और विस्मृत वृन्दावन का आविष्कार

जिन्होंने दवा देखा अपना औषधालय और इस कम्पनी को शुरू किया। विज्ञापन की शक्ति को उस समय अभी अमृतधारा के मालिक जैसे कुछ ही लोग जानते थे। अमृतधारा की सफलता पर बहुतों को सन्देह था कि यह रास्ता पुराना हो गया है इसमें आकर्षण नहीं अतएव सफलता की आशा नहीं। पर प० क्षेत्रपाल ने दिखला दिया, कि अतिशय रगड़ करे जो कोई। अनल प्रकट चन्दन से होई।' सभी युगों में और आजकल तो विशेष तौर से विज्ञापन की महिमा अपरम्पार है। विज्ञापन के ढंग हर युग में भिन्न भिन्न हो यह कोई अचम्भे की बात नहीं है। प्राचीन सन्त महात्माओं का विज्ञापन उनके शिष्य और अनुचर किया करते थे। आधुनिक सन्त महात्माओं का भी प्रचार वह बड़े दत्त चित्त से करते हैं और उनके अतिरिक्त अपनी पुस्तकों पुस्तिकाओं से भी महात्मा लोग प्रचार करने में निरत रहते हैं। व्यवसाय में सफलता का अर्थ है लक्ष्मी की सिद्धि अर्थात् द्रव्य की प्राप्ति। फिर 'द्रव्येण सर्वे वशा द्रव्य के वश में सभी है। द्रव्य की प्रचुरता से यदि प्रथम पीढ़ी का नहीं तो अगली पीढ़ी का शिक्षा-संस्कृति सबधी तल बहुत ऊँचा हो जाता और फिर साधारण स्थिति के अर्ध शिक्षित अर्ध ग्रामीण पिता माता के यहाँ पैदा हुए व्यक्ति भी उच्च वर्ग में शामिल हो जाते है। सुधासिंधु कम्पनी के स्वामी ही नहीं बल्कि उनके सम्बन्धी सिकन्दराबाद के मुरारीलाल शर्मा और दूसरे बहुतों की सन्तानें इसके उदाहरण है।

१० तारीख को शुक्रवार का अविस्मरणीय दिन आया। सवेरे जलपान के बाद ६ बजे म्यूजियम पहुँचे। मथुरा का म्यूजियम अपना विशेष महत्व रखता है। इसकी स्थापना का श्रेय प० राधाकृष्ण को सांस्कृतिक प्रेम है। कुषाण-काल में ही मथुरा समृद्धि के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। प्राय सारे तीन शताब्दियों तक वह कुषाणों और उनके महाराज्यपालों की राजधानी रही। उससे पहले वह शूरसेन जनपद की एक मामूली सी राजधानी भले ही रही पर उस समय बहुत उन्नति करने का उसके लिए अवसर नहीं था यद्यपि व्यापार के चतुष्पथ पर होने से आगे बढ़ने की बहुत-सी सम्भाव

नाएँ थी। अकबर ने यदि आगरा का लाभ न किया होता और जिस लोभ में सिकरी से उसका नजदीक होना भी एक कारण था तो मथुरा फिर एक बार कुषाणों की अपनी समृद्धि को दोहराती। आज मथुरा का महातम कृष्ण की भूमि के कारण है। कुषाणों के समय उसे अपने बड़प्पन के लिए इस महत्त्व की आवश्यकता नहीं थी। कनिष्क और हुविष्क का साम्राज्य सारे उत्तरी भारत में मध्य एसिया में अराल समुद्र तक फैला हुआ था। वाणिज्य अपने चरम उत्कर्ष पर था। कनिष्क की कई राजधानियां थीं जिनमें कपिशा—काबुल, पुष्पपुर—पेशावर और मथुरा मुख्य थीं। अपनी राजधानियों को सुअलंकृत करने का कुषाणों का व्यसन था। कनिष्क की मथुरा कितनी भव्य और सुन्दर रही होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है, पर कल्पना से कहीं अधिक ठोस प्रमाण यह म्यूजियम है जहां पर कुषाण काल की सबसे अधिक और सुन्दर मूर्तियां संगृहीत की गई हैं। धरती के भीतर वह इससे भी अधिक हैं, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। कितनी ही मूर्तियां तो मथुरा के भिन्न भिन्न स्थानों में अभी भी भिन्न भिन्न देवताओं के नाम से पूजी जा रही हैं। उनमें भी अधिक को जमुना लाभ मिला है। सचमुच ही जमुना, गंगा, सरजू, गण्डक आदि में सैंकड़ों वर्षों से खण्डित किन्तु अद्भुत हजारों प्राचीन मूर्तियों का डाला जाना रहा है। क्या उनके मिलने की फिर कभी सम्भावना है? मिलने पर भी दन-नव-केश की तरह स्थानभ्रष्ट हो वह अपने बहुत से ऐतिहासिक महत्त्व को खो चुकी है। मुझे केदार की मुद्राओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा थी। यहां केदार की सुवर्ण मुद्रा थी। केदार को कुछ इतिहासकार पीछे का कुषाण राजा मानते हैं और कुछ उसे हफ्ताल श्वेत हूण।

फिर हम वृन्दावन गए। गोविन्ददेव का मन्दिर अकबर के समय में बना था और शायद वह सदा अपूर्ण ही रहा। वृन्दावन जमुना के उसी तरफ नहीं था, जिस तरफ कि मथुरा। पर लाठी के हाथों अब मनवा लिया गया है, कि यही वृन्दावन है। भागवत् से मालूम है, कि वृन्दावन जाने में वसुदेव को जमुना पार करना पड़ा। परित्यक्त और विस्मृत वृन्दावन का आविष्कार

गौडिया (बगाल के) वष्णवा ने किया। अब वहाँ बगालिन भिखमगिनें भरी पडी थी जिसका कारण पूर्वी-बगाल से भारी तादाद म शरणार्थियो का आना भी था। वृन्दावन गुरुकुल को देखा डेढ़ सौ के करीब विद्यार्थी मेरी दृष्टि म पर्याप्त नही थ। अब तो गुरुकुल की शिक्षा बहुत बातो म युनिवर्सिटी की शिक्षा जसी ही है इसलिए अभिभावको को कोई एतराज नही होना चाहिए। आजकल के जमाने म १६ रुपया मासिक म लडको का कसे भरण-पोषण हो सकता है, इसलिए घी-दूध का १० रुपया और कपडे का भी कुछ बहुत ज्यादा नही है। यहा के स्नातको को कई विषयो म सीधे आगरा युनिवर्सिटी के एम० ए० म बठने का अधिकार है। पर कवल कला से देश का उद्धार नही हो सकता उसक लिए साइन्स और टकनालाजी की आवश्यकता है। गुरुकुल को ऐसी सस्था म परिणत करने के लिए बहुत भारी धन की आवश्यकता होगी।

रास्ते म बिडला का गीता मन्दिर देखा। सीमट और इट के अधिकतर कलाहीन ढाँचो को खडा करके हमारे सेठ अपनी सुरुचिका परिचय देते हैं। यहाँ मन्दिर को चित्रो से भी अलकृत किया गया है और कुछ सगमरमर का भी काम है। नगर से बाहर होने का यह मतलब नही कि विज्ञापन से दूर रहने की कोशिश की गई है। आखिर यह मथुरा से वृन्दावन जाने वाली सडक पर है जिस पर से होकर हरेक यात्री को गुजरना पडता है। यह अविज्ञापन युक्त विज्ञापन का अच्छा नमूना है। दीवारो के चित्रो को देखने से यह तो मानना ही पडेगा कि सौ पचास वर्ष पहले से इस विषय म हमारी रुचि आगे बढी है। यदि देश के सवश्रेष्ठ चित्रकारो से सहायता ली गई होती तो यह और भी सुन्दर होती पर फिर खर्च का सवाल उठ खडा होता।

मध्याह्न भोजन करके फिर हम मथुरा के टीलो की खाक छानने निकले। इनमे कितनी ही चीजें मिली हैं और अभी भी वह बहुत भारी सख्या म अन्तर्हित हैं। एक कालेज म भाषण देकर हम चाय पीने के लिए सुसमाचारक कम्पनी म गए। चाय समाप्त हो रही थी। हम मन्दाकिनी हाल

में भाषण देने के लिए निकल रहे थे, उसी समय जो खबर सुनने में आई, उस पर कानों को विश्वास नहीं। बाजार में रेडियो के सामने खड़े हुए, फिर कानों का विश्वास करने के सिवा और कोई चारा नहीं था। कुछ कुछ मिनट पर रेडियो बराबर दोहरा रहा है गांधीजी को किसी हिंदू आततायी ने आज दिल्ली में मार डाला। भला यह विश्वास करने की बात थी। गांधीजी अजातशत्रु थे वह किसी का अनिष्ट नहीं चाहते थे। उनके भी शत्रु पैदा हो सकते हैं? और सो भी हिंदू सभ्यता और संस्कृति के अभिमान करने वाले लोगों में? पर महाराष्ट्र को कलंक लगाने वाले, ब्राह्मणों के मुख को काला करने वाले नाथूराम गोडसे ने यह काम किया था। बुद्ध के बाद क्या भारत में कोई इतना महान् व्यक्ति पैदा हुआ? हमारे देश की परम्परा ने हमेशा विचार-सहिष्णुता को जगाकर रखा। बुद्ध अनीश्वरवादी थे जात पांत और कितनी ही दूसरी रूढ़ियों के जबरदस्त शत्रु थे स्पष्टवक्ता थे और गांधी की तरह प्रियभाषी भी। ऐसे ही और भी कितने ही महापुरुष इस धरती में पैदा हुए। लोगों ने विचारों का विरोध विचार से किया तलवार और गोली का सहारा कभी नहीं लिया। अधम गोडसे ने न जाने क्या समझकर ऐसा किया। लेकिन, गोडसे को बुरा भला कहना ठीक भी नहीं है जबकि हम जानते हैं कि प्रभुता का हथियाने के लिए उतावले उच्च जाति के कितने ही लोग गोडसे के पीछे थे, जो फिर से पेशवाशाही स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। लेकिन, यह स्वप्न कभी पूरा नहीं होगा। अंग्रेजों के पंजे से निकलकर कुछ उच्च जाति के तानाशाहों के हाथ में भारत अपने भविष्य को नहीं दे सकता। यदि यह सम्भव होता तो अंग्रेजों के जाने के बाद भारत में दस बीस सूर्यवंश चन्द्रवंश राज्य जरूर स्थापित हो गए होते। भारतीय जनता यदि खुलकर अपने भावों को साफ-साफ नहीं बतला सकती तो उसका यह मतलब नहीं, कि उसके मन में कुछ है ही नहीं, और ऐरा गैरा नत्थू खैरा जिधर चाहेगा उधर उसे वहा ले जायगा। बहुजन हित जिस ओर है, उधी ओर भारतीय जनता और उसका देश जाएगा। नदियों की धारा सरल रेखा में नहीं बहती, उसी तरह जनता की धारा भी सरल

रेखा से अपने गन्तव्य स्थान पर नही पहुचती पर उसकी एक दिशा होती है, जिस ही ओर उसे जाना है।

जिस सभा म मुझे भाषण देना था, अब वह शोक-सभा के रूप म परिणत हो गया। सभा म उपस्थित लोग ही नही सारे मथुरावासी स्तब्ध हो गए। ७८ मास की आयु को गाधीजी ने अपने महान् काय म ही बिताया। देश की आजादी उनके जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य था। उस साढे पाँच ही महीने पहले पूरा होते उन्होने अपनी आँखो देख लिया था। उनकी सबसे बडी साध पूरी हो गई थी। वृद्ध तो वे हो और शरीर से दुबले पतले भी। आततायी और उसके पापको का दो चार वष और प्रतीक्षा करने म क्या हो जाता। जहाँ तक गाधीजी का सम्बन्ध है उनका जीवन यशस्वी रहा और मृत्यु भी। कायर आततायी के कम पर विचार करते हुए मुझ उसी समय एक हिन्दू नेता की बात याद आई— ऐसे नही मानगे तो हम जवाहरलाल को मारेंगे, मन्त्रियो को मारेंगे। हा, उन्होने गाधीजी के मारने की बात नही की थी।

६

सम्मेलन में कार्य

३१ जनवरी को जलपान के बाद मोटर अड्डे पर गए, कि बस पकड़ कर आगरा जाएँ। आगरा लौटने के खयाल ही से हम यहाँ आए थे, इसलिए अपनी कुछ चीजें वहीं छोड़ आए थे। पर आज सारा भारत शोक मना रहा था, सभी जगह हड़ताल थी, बसें बन्द थीं, एक्के और ताँगे भी नहीं मिल सकते थे। आगरा होकर लौटने का खयाल हमने छोड़ दिया। छोटी लाइन से हाथरस पहुँचे और वहाँ से बड़ी लाइन की गाड़ी पकड़ी। दिल्ली जाने वाली गाड़ियों में इस समय बड़ी भीड़ थी, लटक भर जा रहे थे। जान पड़ता था रेल की सवारी उनके लिए मुफ्त कर दी गई है। हमें उधर जाना भी नहीं था। कलकत्ता मेल दो घंटा लेट था, सेकंड क्लास भी भरा हुआ था। किसी तरह बैठने के लिए जगह मिली। आज गांधीजी की दाह-क्रिया दिल्ली में होने वाली थी, जिसके उपलक्ष्य में इटावा के पास ट्रेन दस मिनट के लिए खड़ी हो गई। इस समय राजघाट में गांधीजी के शरीर का भस्मान्त किया गया होगा। आगे जाने पर डब्बे में आग लग गई, किन्तु ड्राइवर उसे घसीटकर १२ मील फँफूद ले गया। लोग परेशान थे, ऊपर से खतरे की जंजीर काम नहीं कर रही थी। सौभाग्य से आग सुलगती भर रही, उसने प्रचण्ड रूप धारण नहीं किया, नहीं तो कितनों की बलि होती। फँफूद में वृन्दावन प्रवासी सेठ सेठानी आकर ट्रेन में चढ़े। सेठ का हाथ बड़ा

वर गोमुखी म था राधेश्याम क भक्त थे, अखण्ड माला फेर रहे थे, हरि कीर्तन के भी बड़े प्रमी थे। अब कलकत्ता जा रह थे। उनके भक्तिभाव से हम कुछ लेना दना नही था, लेकिन यह देखकर बुरा जरूर लगा कि मिट्टी से हाथ धो धोकर उन्होने सारा पाखाना खराब कर दिया। हमारे यहाँ वयक्तिक शुद्धता सबसे ऊपर मानी जाती है चाहे दूसरा का उसस कितना ही अनिष्ट हो। यह मिट्टी से हाथ धोना ही था तो नीचे पड़ी मिट्टी को भी धो देना चाहिए था पर वह मिट्टी तो पाखान म पड चुकी थी, उसको धोने से धर्मात्मा सेठ अशुद्ध हो जाते।

कानपुर म कुछ आदमी उतर डब्बे म कुछ आराम हुआ। पौने ११ बजे ट्रेन प्रयाग पहुंची और हम भारद्वाज क पास श्रीनिवासजी क घर पर पहुँचे। प० बलभद्र ठाकुर के साथ रहने से सारी यात्रा बडे सुख के साथ बीती।

प्रयाग—सत्रह दिन की डाक प्रतीक्षा कर रही थी। सभी पत्रो का जवाब देना शक्ति से बाहर था। पर बहुतो का जवाब दिए। अगले दिन रविवार (१ फरवरी) सम्मेलन की स्थायी समिति की बठक होने वाली थी, इसीलिए मुझे जल्दी-जल्दी म प्रयाग आना पडा था। स्थायी समिति म उस दिन गाधीजी का नृशस हत्या क बारे म सिफ शोक प्रस्ताव पास हुआ और ८ फरवरी क लिए बैठक स्थगित कर दी गई। नवजीवन' क सम्पादक होने के लिए आग्रह किया जा रहा था। आज मैंने श्री सीताराम गुटे को जवाब दे दिया—मैं उसे स्वीकार करने क लिए तयार नहीं।

जगह जगह स बुलावे आ रहे थे पर मेरे सामने मुख्य काम था निर्माण मे लगना। मूत्र की परीक्षा और चिकित्सा नारायणन शुरू नहा की थी लेकिन दिन रात म पद्रह सोलह बार पेशाब जाना खटका की चीज थी। मित्र लोग और भी अधिक चिंतित थे। मास के मध्य तक उसका प्रभाव तेजी म घटता दिखाई पडा। वजन घट जाने से तो प्रसन्नता हुई क्योंकि प्रयत्न करके भी मैं उसमे सफल नही हुआ था अब घट अपने आप कम हो गया था। मालूम था कि शारीरिक श्रम का अभाव हो इसका कारण है।

मैं समझता था, कि टहलना सबसे अच्छा व्यायाम है, और शायद पहाडा म जाकर घूमन म इसमे लाभ होगा। यदि इस विषय म गम्भीर होता ता इसी समय घूमना शुरू कर देता, लेकिन समय का लोभ था। घूमन की जगह कुछ काम कर लेना अच्छा। वस्तुत अब उससे कुछ हान वाला भी नही था यह आगे के तजर्बे से मालूम हुआ कि "चिडिया खेत चुग गई थी"। पन्थिया प्रथि अपन काम स विश्राम ले चुकी थी।

८ फरवरी को अब भी माघ मेला था। महादव भाई के साथ हम भी सगम की आर घूमन गए। गारखपुर जिले की एक बुढिया अपने साथियो स छूट गइ थी। उसे अपन जिल का भी नाम नही मालूम था गाव का भला प्रयाग म कौन जानता। लेकिन बोली स पता लग ही रहा था कि वह किस जिले की है। मैंने उसके जिले के आदमिया के पास पहुचा दिया। यह सौभाग्य हा था, नही तो भारत के किसी दूर स्थान म भटकने पर उसे कितना मुश्किल हाता। साधुओ क डेरा म अब भी धम ध्वनि हो रही थी। अब भी सक्डो की पगत भोजन के लिए बठी थी अब भी श्रद्धालु भक्तो की कमी नही थी। स्वामी विद्वदानन्द अपन साथ गगा पार झूसी मे ले गए। वहाँ उन्हाने एक कब्रस्तान को आश्रम म बदल दिया था दा एक पक्की कोठरिया बनवा कर बडे बडे स्वप्न देख रह थ। कमठ जीव है। १६१३ म बरेली जिले के रामनगर गाव म पैदा हुए। पिता कज छाड गए थे जिसे हटाने के लिए दिल्ली म नौकरी करने लग। फिर घूमन निकले तब से घूमते ही रहे। स्त्री मर गई और लडकी का ब्याह कर दिया। सुभीता यह भी हुआ कि पहले आयसमाजी बने फिर काग्रेस की ओर खिंचे और १६४२ म बरेली के रेकाड घर जलाने मे हाथ बँटाया। रकाड जिसमे हमारे भी बहुत स एतिहासिक रिकाड रखे हुए थे। इतिहास लिखने मे इनकी अत्यन्त आवश्यकता थी। पर उस समय इतना विवेक किसको ? अँग्रेजा का रेकाड घर है, उसम आग लगा दो। गढमुक्तेश्वर म भी पहुँचे और वहा हिन्दू धम रक्षा के लिए खड्ग धारण किया। झूसी म गगा तट पर भी उस व्रत का पालन किया। मन म बात बैठ जानी चाहिए, फिर -

काम करने के लिए तो वह थकना नहीं जानते। अनीश्वरवादी हैं किन्तु आदर्शवादी हैं। रिक्तपाणि हैं किन्तु स्वार्थशून्य। सेवा करने की धुन है लेकिन अनुशासन के फन्दे में शायद ही फँस सकें। पुराने समय में झूसी एक नगर था जिसका नाम प्रतिष्ठान था। प्रयाग उस समय तपस्वियों का जंगल था। झूसी के टीलों में बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री छिपी हुई है। उनकी कुटिया के पास के टीले में ही गुप्तकालीन ईंटें देखीं। सैर करने में श्री महादेव साहा भी साथ थे।

गाँधीजी की हत्या के सम्बन्ध में पीछे और भी बातों का पता लगा। षडयन्त्र में शामिल होने वालों में से एक ने बम्बई के प्रोफेसर डा० जगदीशचन्द्र जैन से अपना मनसूबा बतलाया था। डा० जैन ने बहुत व्यग्रता के साथ इस सूचना को बम्बई के मन्त्रियों तक पहुँचाने की कोशिश की और चाहा कि अधिक सावधानी बरती जाय। लेकिन मन्त्रियों को उसकी पर्वाह कहाँ? या पर्वाह थी तो मुन्शी को इतनी जल्दी त्याग कैसे सकते थे। अब राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेताओं की गिरफ्तारियाँ हो रही थीं। संघ की अन्तिम चौकड़ी पेशवा राज्य का स्वप्न देख रही थी। जाट और राजपूत का पचड़ा उठाए दूसरे नेता भी मैदान में उतरे हुए थे। सेठ लोग लूट सकें तो लूट के फेर में थे। अजब हालत थी। इस हत्या से नेताओं की आँखें खुलीं जरूर। २८ फरवरी को जवाहरलालजी १२ तारीख के गाँधीजी के अस्थि विसर्जन की तैयारी देखने आए थे। आनन्द भवन की सड़क पर बहुत भीड़ थी और चारों तरफ पुलिस पल्टन का पहरा बैठा हुआ था।

६ फरवरी को श्री फणि मुखर्जी से भेंट हुई। दस साल पहले वह मेरे साथ तिब्बत गए थे। उस समय अल्हड़ बचपनाई जवान थे। जिसके कारण मुझसे कुछ मनमुटाव भी हो गया था। अब वह विवाहित थे, एक बच्चे के बाप भी। जवाबदेही जीवन को गम्भीर बनाती है। अगले दिन उनके घर चाय पीने गया। उस मनमुटाव का कहीं पता भी नहीं था। समय भी भारी चिकित्सक होता है।

८ फरवरी को साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति की बैठक थी।

भिन्न भिन्न समितियों का चुनाव शान्तिपूर्ण हुआ, यह जानकर प्रसन्नता हुई कुछ मतभेद अवश्य दिखाई पड़े। परिभाषा निर्माण का भार मुझे दिया गया। दारागंज इण्टर कालेज के प्रिंसिपल श्री चौबेजी और यूनिवर्सिटी के डा० सत्यप्रकाश के साथ उप समिति बनी। नागरी प्रचारिणी और नागपुर के विशेषज्ञों को भी सम्मिलित करने का निश्चय किया गया। डा० रघुवीर नागपुर में परिभाषाओं के निर्माण का काम कर रहे थे। उनका निर्माण का ढंग ऐसा था जिसमें सहमत होना भारत के किसी भी विज्ञ पुरुष के लिए सम्भव नहीं था। उनकी धारणा थी कि संस्कृत में २२ उपसर्ग २००० धातु और ३०० के करीब प्रत्यय हैं इनके घटाव-बढ़ाव से हम अच्छा अलग अलग शब्द बना सकते हैं, और उन्हें एक एक अंग्रेजी शब्द के लिए इस्तेमाल करके उन वस्तुओं के साथ चिपका सकते हैं। इस तरीके का हमारे यहां या कहीं भी इस्तेमाल नहीं किया गया। एस शब्द सर्वथा अज्ञात होने अज्ञात से अज्ञात का परिचय अति दुष्कर है, यह सभी जानते हैं। भारत में ढाई हजार वर्ष में परिभाषाएं बनती आई हैं, उसके परिणामस्वरूप भिन्न भिन्न विषयों के दस हजार से अधिक पारिभाषिक शब्द हमारे पास मौजूद हैं। उनमें अधिकतर ज्ञात से ही अज्ञात के परिचय कराने की कोशिश की गई है, और कभी कभी बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को लेने में भी आनाकानी नहीं की गई। उदाहरणार्थ केन्द्र, ग्रीक शब्द है यह जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह मध्य बिन्दु से प्रकट नहीं हो सकता था इसलिए विदेशी शब्द को ही हमारे पूर्वजों ने ले लिया। केन्द्र, केन्द्रित, केन्द्रीकरण आदि इनके रूपों को देखकर कौन कह सकता है, कि यह संस्कृत का शब्द नहीं है। मेरी यही धारणा रही, कि हम नए शब्दों को ज्ञात से अज्ञात की प्रक्रिया से गढ़ना चाहिए और बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को भी स्वीकार करने से परहेज नहीं करना चाहिए।

१० फरवरी को चित्रकार सगल्जी अपनी चित्रशाला दिखाने के लिए ले गए। संगीत चित्र और कविता में मेरा अपना दृष्टिकोण है कि उन्हें प्रकृति के अधिक से अधिक नजदीक रहना चाहिए। उन्होंने अरूप में कोई

हूज नहीं लेकिन बुनियाद धरती पर रहनी चाहिए। संगीत के नाम पर उस्तादों की गलाबाजी से मुझे बड़ी चिढ़ है। उसी तरह चित्र के नाम पर लिकारियाँ भी मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं हैं चाहे इन लिकारियों के साथ बड़े बड़े लोगों का नाम जोड़कर रौब डालने की कोशिश की जाए। सगलजी के सुन्दर चित्र मुझे पसन्द आए क्योंकि उनमें प्रकृति के साथ साथ रहने की कोशिश की गई थी। गुप्तकाल की चित्रकला और मूर्तिकला इसीलिए महान् है कि उसे कल्पना और यथार्थ के सम्मिश्रण से बनाया गया है। उर्दू में मसिया (शोक प्रकाशक) कविता को बिगड़े शायरों की कृति बतलाया जाता है। मैं समझता हूँ, कि प्रकृति का सर्वथा उल्लंघन करने वाली चित्र मूर्ति कविता कला भी उसी तरह बिगड़े कलाकारों का काम है।

संगम पर जाने की मेरी उत्कंठा इसलिए भी हुआ करती थी कि प्रयाग में लाखों की संख्या में आए हुए घुमक्कड़ों में शायद कोई मेरा भी पुराना परिचित निकल आए। इसी विचार से ११ फरवरी को भोजनोपरान्त हम संगम पर गए। 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ' की बात सच्ची निकली। एक युग के बाद भागवताचार्य से मुलाकात हुई। तीस वर्ष तो जरूर बीते थे। उस समय वह तरुण थे और अब वृद्ध। लेकिन फक्कड़ता अब भी उनमें वैसी ही थी। फिर जोर कर मिले। कितनी ही बातों में हम समानधर्मा थे यद्यपि हमारे कार्यक्षेत्र अलग अलग हैं और एक दूसरे से भी इतने दूर जाकर रहने लगे कि आज तीस वर्ष बाद मुलाकात हुई। रामानंदी—वैरागी—सन्तों में घुमक्कड़ी तथा दूसरे कितने ही गुण थे परन्तु विद्या का उनमें अभाव था। शास्त्रीय क्षेत्र में उनकी नाव कमजोर थी। प० भागवतदास ने इस कमी को दूर करने का बीड़ा उठाया और रामानन्द को उनके उचित स्थान पर बिठाने का प्रयत्न किया। रामानन्द रामानुज या किसी भी दूसरे धार्मिक सुधारक और विचारक से कम नहीं थे, बल्कि कह सकते हैं कि दूसरे लकीर के फकीर थे जब कि रामानन्द ने समय की माँग देखते हुए नया रास्ता निकाला। स्वामी प्रयाग के एक ब्राह्मण परिवार में वह पैदा हुए। फिर घुमक्कड़ी करते रामानुजियों के प्रभाव में आकर साधु हो गए। तब आर

वट्टरपंथिया के कारण दम घुटत वातावरण म बाहर निकलना चाहत थ, और वह साथ हा हिंदू धम और संस्कृति का भी ताजी हवा म लाना चाहत थे। दूसरा ओर मुस्लिम शासकों के प्रभाव स जिस हीन अवस्था म हिंदू पड़े हुए थ उसकी भी चिकित्सा करना चाहत थ। उन्होंने सोचा—जात पात के बधना का ढीला करना हागा, छुआछूत म बाहर निकलना हागा, कूपमडूकता दूर करनी हागी और उद्धार के लिए पण्डिता और सामन्ता ही नही, बल्कि जनता और उसकी भाषा का सहारा लेना हागा। उन्हान इन विचारा का काय रूप म परिणत किया। रामानन्द के शिष्य ब्राह्मण स चमार तक सभी जातिया के थे। कबीर ने अपन गुरु का नाम उज्वल किया। रविदास ने बतला दिया कि जन्म कोई चीज नही है शुद्ध विचारवाले महापुरुष चमार के घर म भी पैदा हो सकत है। छुआछूत को जितना दूर तक उन्होंने हटाया था वह पीछे वहाँ नही रह सकी। तो भी बड़ी जातिया का सहभोज कम नही था, और सहपक्ति म ता बल्कि प्राय सभी जातिया के साधुओं का सम्मिलित किया गया। कहावत है कि साधुआ की पक्ति म पत्तला का अभाव देखकर सुरसीराम किसी साधु की पनही लेकर पाति म जा बठे। उन्होंने समझा था साधु की पनही से बढ़कर पवित्र कौन दूसरी चीज हो सकती है। कूपमडूकता दूर करन म रामानन्द की शिक्षा ने कितना काम किया, यह इसीसे मालूम हागा कि तब से हजारा बैरागी देश और देश के बाहर भी कुछ दूर तक सदा घुमक्कड़ी करते रहे। इसके फलस्वरूप भारत के कोने कोने म ही नही बल्कि अफगानिस्तान म भी बैरागिया की कुटियाएँ बन गई जहाँ आने जानेवाले घुमक्कड़ चार दिन अच्छी तरह घर की तरह विश्राम कर सकत हैं। यद्यपि भोजन के छुआछूत में बैरागी उतने नही आगे बढ़े जितने कि सन्यासी और उदासी, तो भी रामानुजी वालेहू के वेल यहा पैदा नही हो पाए। जनता की भाषा को रामानन्द ने स्वय अपनाकर कुछ लिखा जरूर था, लेकिन वह अधिकतर पद थे जिनकी भाषा पुरानी थी, और वह अधिकतर कण्ठस्थ रखे गए थे। इसके कारण रामानन्द की यह अनमोल कृतिया पूरे रूप म हमारे सामने

नहीं आ पाई। लेकिन रामानन्द ने ही हमें तुलसी को दिया, उन्हीं की परम्परा में अग्रदास और दूसरे संत थे। सचमुच रामानन्द का काम महान् था इतना महान् कि लोग उसका अभी ठीक से मूल्यांकन नहीं कर सके। पं० भगवद्दास (अब पं० भगवताचार्य) ने उसी रामानन्द के झण्डे को उठाया था। उस समय पहले-पहल स्वामी भगवताचार्य ने जब गेरुआ कपड़ा पहना तो वैरागियों में खलबली मच गई। वह समझते थे कि गेरुआ कपड़ा तो संन्यासियों की चीज है। अब भी उसमें गेरुआ कपड़ा पहननेवाले कम नहीं हैं, लेकिन अब उससे उन्हें चिढ़ नहीं है। स्वामी भगवताचार्य का अब उनमें बहुत सम्मान है। एक दूसरे से दूर रहने पर भी पुस्तकों और कभी कभी पत्रों द्वारा हम एक दूसरे की गतिविधि का परिचय रखते थे। हमें प्रसन्नता होती थी, कि दोनों ही अपने कार्य में तत्पर रहे। पं० भगवताचार्य ने संस्कृत में तीन भागों में गांधीजी की जीवनी लिखी है और भी कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं। उस समय वह संतों की मंडली में बैठे हुए थे। काले शरीर पर मोटे झोटे भगवे कपड़े को देखकर कोई जान नहीं सकता था कि यह इतना तेजस्वी पुरुष है, यदि उसकी नजर उनकी चमकती आँखों पर न पड़े। उन्होंने स्वागत करते हुए उपस्थित संतों से मेरा परिचय कराया और कुछ कहने के लिए कहा। कोई घुमक्कड़ संन्यासियों से बड़े बड़े घुमक्कड़ों का पंथ करनेवाली इस मंडली के प्रति सम्मान दिखाए बिना कैसे रह सकता था। उस समय की कुछ बातें याद आ गईं जब कि मैं निर्द्वन्द्व ही मैं भारत घूमता था। पहले-पहल घुमक्कड़ी के पाठ को उन्हीं के पास आकर सीखा था। इन्हीं के साथ ने धन बना और दुर्लभ्य पढ़ना या भय को भी प्रेम ही चार बना दिया। घण्टा भर बातें मिलाने के बाद हम गंगा पार श्री हनुमन्त के स्थान पर गये। स्वामी भगवदाचार्यजी और दूसरे सन्तों से था और दूसरे विषयों पर बातचीत होती रही। कुछ तरुण साधु विद्वानों को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, इस ख्याल से कि यह संस्कृत के गम्भीर पाण्डित्य को ये नष्ट न होने देंगे। मठ में घूमते हुए डा० मंगलदेव शास्त्री से भेंट हो गई। चौदह वर्ष से प्रमाणवार्तिकभाष्य छपने की प्रतीक्षा कर रहा

था। नि॰बन म कितन परिश्रम और प्रम स उनारकर मैं लाया था। कई दरवाजा का दखा, आशा टा हा करक भी वह प्रेम का मुह नहीं दख सका। डा० मग॰दासजी दख न काशी सस्कृत कालेज से छपान की बात की तो मुझे बहुत हप हुआ यद्यपि दूध क जले का जैसे छाछ भी फूक फूक कर पीना पडता है मैं सहसा विश्वास करन क लिए तैयार नहीं हा सकता था, कि "प्रमाणवार्तिकभाष्य" की नैया पार हा जाएगी। सचमुच ही अभी उस और कई धर देखन थे और अन्त म सात वप बाद जायसवाल सस्थान ने उसे प्रकाशित करन का पुण्य काय किया।

१२ फरवरी का गाधीजी का त्रिवणी म अस्थि विसजन हानवाला था। त्रिवेणी म ही अस्थि विसजन को क्या महत्व दिया गया ? न गाधीजी की एमी धार्मिक मान्यता थी न जवाहरलाल जैसे कितन ही नेताआ की हा सकती थी। अस्थि विसजन दिल्ली की जमुना म भी हो सकता था। शायद दिल्ली म इस कृत्य का सम्पादन करन म सम्मान का अपूण रूप म दाहराना भर होता और यहा उनक लिए एक नया स्थान मिल रहा था। गाधीजी का अस्थियाँ दश क भिन्न भिन्न भागा म बाटकर विसर्जित की गई, लकिन उनके विसजन का विशप समाराह जवाहरलाल की जन्मनगरी प्रयाग म ही हुआ। लाग जान गय थ कि भीड अपार हागी। रास्ता निश्चित था। हम भी रिजेण्ट सिनमा क पास की एक काठी म ६ बजे ही जाकर डट गए। कितन ही लाग और भी पहले से सडक क किनार वटघर क बाहर बिछा-वना बिछाकर बठे हुए थे। अस्थि का विशेष ट्रेन स दिल्ली से लाया गया था। ६ बजे जलूस निकलनेवाला था उसम डेढ घटे की देर थी। सडक पर दस दस हाथ के फासल पर सनिक तैयार थे। सडक के किनारे के मकाना की छता पर भी लागा की भीड थी। गाधीजी का शव नहीं था। उसक लिए जा भाव पदा होता, वह अस्थि के लिए नहीं हा सकता था। इसीलिए जलूस म जानवाले मालूम हा रह थे मले म जा रहे हैं। वही बात दशको म स भी अधिकाश म दखी जाती थी। जलूस म जवाहरलाल पदल चल रहे थे। वल्लभभाई और प० गाविन्दवल्लभ पन्त के लिए पैदल चलना सभव

नही था। और भी कितने ही लोग गाडियो पर थे। एक लौरी पर अखण्ड गीता पाठ हो रहा था जिसमे बाबा राघवदासजी भी सम्मिलित थे। पौने ११ बजे जलूस हमारे सामने से गुजरा।

नजरबन्दी के दिनो मे मैने सिगरेट पीना सीखा था। १९४० से १९४१ तक पीता रहा। क्यो पीता था? देखादेखी ही कह सकता हू या समय काटने के लिए। लिखते वक्त तो मैं कभी सिगरेट नही पी सकता था। यह लाभ जरूर था कि इसके द्वारा मित्रो का स्वागत सत्कार हो सकता था। मेरे मित्रो का कहना था कि इसमे रस आता है। मुझे वह रस कभी नही मिला अच्छे से अच्छे सिगरेट को पीकर भी वही बात देखी। किसी किसी का कहना था पचास सिगरेट के एक पूरे डिब्बे को पीने पर किसी एक मे रस आएगा। लेकिन वह मेरी शक्ति से बाहर की बात थी। ईरान मे सिगरेट पीता रहा रूस के अपने पच्चीस मास मे उसे बिल्कुल छोड दिया। लन्दन से फिर यह बला पीछे पड गई जहाज मे श्रेष्ठ सिगरटो के बहुत सस्ते दाम पर मिलते देखकर मित्रमण्डली का उससे सत्कार करने का ख्याल आया। अब वह मुझे दिल्ली का लड्डू मालूम हो रहा था—जो खाय वह भी पछताए, जो न खाए वह भी। मैं उसे छोडना चाहता था और आज इस पुण्य दिन मैंने उसे छोड दिया।

लखनऊ—उसी दिन रात को लखनऊ के लिए रवाना हो गया। सीट पहले ही से रिजर्व थी नही तो प्रयाग से लौटनेवाली भीड के कारण जगह नही मिलती। सवेरे साढे ७ बजे लखनऊ पहुँच रिसालदार बाग मे श्री बोधानन्द महास्थविर के यहाँ ठहरा। काफी दिनो बाद मैं यहाँ आया था। महास्थविर का शरीर अब दुर्बल हो चला था। ७५ वर्ष के हो गए थे, लेकिन बात करने मे जब जोश आता, तो उनकी वही तेजस्विता दखने लायक होती। विहार की भूमि मे अब मकान बन चुके थे। पिछले मकान से बीस रुपया मासिक किराया भी मिलता था। महास्थविर को इसकी चिन्ता थी कि कैसे विहार का काम पाछे भी ठीक से चलता रहेगा। कुछ तो उनको पढने का बहुत शौक था और उतना ही संग्रह का भी। इस

प्रचार विहार मे एक काफी बडा पुस्तक भण्डार जमा हो गया। महास्थविर जब भी मुझसे मिलते भावोद्रेक म सजल-नेत्र हुए बिना नही रहते थे।

चायपान म बाद कैसरबाग म म्यूजियम देखने गय। उत्तर प्रदेश का यह सबसे बडा सग्रहालय है। मुझे "मधुर स्वप्न" उपन्यास लिखने की धुन थी। उपन्यास उस काल का था, जब कि पाचवी छठी शताब्दी म हेफ्ताल (श्वेत हूण) उत्तरी भारत के बहुत से भाग अफगानिस्तान और मध्य एसिया क शासक थे। मैं उनके इतिहास की कुछ गुत्थिया को सुलझाने म लगा हुआ था। म्यूजियम मे केदार के सिक्के थे। जिन्ह लघु कुषाण भी कहा जाता है। उधर कुछ लोग केदार को हफ्ताल (श्वेत हूण) का नेता मानते हैं। हफ्ताल हूण नही थे इसम तो कोई सन्देह नही।

१४ फरवरी का यशपाल जी से मिलने गया। वह इस समय दुर्गा भाभी क यहाँ रहत थे। वहा म फिर नरेन्द्रजी के यहा गये तो मालूम हुआ कि वह बाहर चले गए है। तीन घटा रिक्शा लेकर म्यूजियम गोमती कम्पनी बाग आदि की सैर करत रहे। सवा १२ बजे नरेन्द्रजी के यहा पहुच और दो घट तक उनसे बातचीत होती रही। शास्त्रीय बातो के अतिरिक्त परिभाषाओ क बारे म विशेष तौर से हमने विचार विनिमय किया। उन्हे आशा थी, कि मैं कुछ दिना ठहरूँगा, किन्तु अब समय कम और काम ज्यादा थे।

बरेली—उसी दिन बरेली जाने का विचार था, लेकिन अगले दिन शनिवार को पजाब एक्सप्रेस म मुश्किल से जगह मिली। डब्बा मे पलटन और पुलिस के अफसर भरे थे। तीन सज्जन बात करने मे होड लगाये हुए थ। अपने राम तो सारी यात्रा म एसे बठे रहे जिससे लोगो को भ्रम हो सकता था, कि यह आदमी गूगा है। बात करने की कोई जरूरत भी नही थी। खिडकी से बाहर हरे भरे खेतो को देखता, कही कही ऊख भी खडी थी। इस लाइन म सफर करने पर सडीला की मिठाइ हमेशा आकर्षण की चीज होती है। यद्यपि अब वही लड्डू नही होते तो भी नाम का गुण कुछ जरूर दिखाई पडता है। बरेली ट्रेन लेट पहुँची। स्टेशन पर प्रा०

रामाश्रय मिश्र कितने और अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के साथ जब फूल माला गले में डालकर उतारने लगे तो डब्बे के साथियों को आश्चर्य होना ही चाहिए। उन्हें क्या मालूम, यह गूंग की तरह बैठा आदमी कौन है। मिश्रजी के साथ हम उनके निवास पर गए। परिवार में पांच सन्तानें दो स्त्री पुरुष और अंधी माता आठ प्राणी थे, और कमानेवाला सिर्फ एक आदमी। शिक्षित परिवार का भार वहन करना हमारे यहाँ कितना मुश्किल है इसका अन्त कब होगा?

१६ तारीख को सबेरे ६ बजे मैं रिक्शा लेकर अकेले ही चल पड़ा। बरेली में मेरे घुमक्कड़ी जीवन के बहुत से परिचित स्थान थे। १९१० में पहले पहल इस नगर में आया था तभी से एक मधुर स्मृति बराबर मन में बनी रहती है। आज उन स्थानों को फिर देखने की इच्छा की। बरेली सिटी स्टेशन के सामने अम्बाप्रसाद शाह की धर्मशाला में गया, जिसमें १९१० के उत्तराखण्ड की यात्रा से लौटकर कुछ दिनों ठहरा था। अब भी वह वैसी ही थी। पीछे बाग भी वैसा ही था, आँगन कुछ कम साफ मालूम होता था। बगल वाली वह धर्मशाला भी मौजूद है जिसमें काषाय वस्त्र धारी प० खुनीलाल शास्त्री बाधि प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे।

वहाँ से निकलकर छोटी लाइन के साथ की सड़क से रिक्शा आगे बढ़ा। एक संन्यासी मठ में गया। सोच रहा था यहाँ कोई खण्डित मूर्ति मिलती जिससे बरेली के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। पर कोई नहीं मिली। पूछने पर अलखनाथ चम्पतराय की बगिया आदि स्थानों के नाम मालूम हुए। एक बैरागी स्थान में गये। वहाँ हवोल्हू चल रहा था जिसमें दो पैसे में एक गिलास गन्ने का रस मिल जाता था। मैंने तीन गिलास रस पिया, ६ पैसे दिये। महन्तजी का ही वह कोल्हू था, उन्होंने पैसा लेने से इन्कार कर दिया। घूमते हुए अलखनाथ मन्दिर में गये। १९१० के फक्कड़ीपन और सजीवता का यहाँ कुछ कुछ परिचय मिला। गांजे और गांजे का चिलम चल रही थी और भांग छनने की तैयारी हो रही थी। नाथों का मन्दिर होने के कारण मैंने पुस्तकों के बारे में पूछा तो गोरख पंथ की कुछ

छपी साधारण-सी पुस्तकें दिखलाइ। अपनी परम्परा का ज्ञान जब बडे बडे नायपथिया का नही है तो यहाँ उसकी क्या आशा हो सकती थी? हा, यह जानकर प्रसन्नता हुई कि घुमक्कडी का वातावरण यहाँ कुछ दिखाई दे रहा था। छोटे से स्थान के आँगन म कई मूर्तिया मौजूद थी।

मध्याह्न भोजन के समय मैं मिश्रजी के घर पर लौट आया। ४ वजे तक यही गोष्ठी चलती रही, फिर बरेली कालेज गया। इस कालेज की स्थापना १८३७ म—महाविद्रोह से बीस साल पहले—हुई थी। इस समय इसमे १३०० के करीब छात्र थे। कालेज के अधिकारिया म दकियानूसी बूढा का प्रभुत्व है। उत्तर पचाल (रुहेलखण्ड) उत्तर प्रदेश क सबसे कम जाग्रत स्थाना म हैं। बूढो म जान न हो, पर जवाना में क्यो नही, यह समझ म नही आता। हर जगह शिक्षित मध्य वग द्वारा राजनीतिक और सामाजिक जागृति आई है। यहा का वह वग अधिकतर मुस्लिम भद्र वग था और वह राष्ट्रीय भावना से दूर हट कर विदेशी शासको की मुखरुई हासिल करने की कोशिश करता था। क्या यह कारण हो सकता है? कालेज म पहले फोटो, और फिर चायपान हुआ। इसके बाद विद्यार्थियो और अध्यापको के सामने कुछ कविताएँ पढी गइ कुछ भाषण हुए और अन्त म मैंने साहित्य और हिन्दी के भविष्य पर भाषण दिया।

१७ को दोपहर तक निवासस्थान पर ही साहित्यिको की गोष्ठी जमी रही। भोजनोपरान्त २ बजे निकले।

केन्द्रीय जेल मे ७०० के करीब बन्दी थ। हाथ का कताई, हाथ की बुनाई पर ज्यादा जोर दिया गया था। बन्दिया को जब अपने परिश्रम का कोई बदला नही मिलता, तो उन्ह काम करने की क्या प्रेरणा होने लगी? हाँ एक नई बात देखी कि अब रसोईघर मे पत्थर के कोयले क तन्दूर थ जिन पर रोटियाँ पकाई जाती थी। इतनी तेज आच के तन्दूर म हाथ मुह झुलसने से बचाने का कोई बचाव नही था। जेल की रोटिया कच्ची होना थी य वसी नही थी। वहाँ स पास ही लडके बन्दिया का जेलखाना था, जिनम सौ स ऊपर बन्दी थे। यहाँ हरेक को अपने काम का पारिश्रमिक

मिलता था इसलिए उनकी काम करने मे रुचि थी। सारा काम हाथ से होता था, अर्थात् उपज बहुत निम्न तल पर हो रही थी, तो भी हरेक लड़का बीस पच्चीस रुपया मासिक कमा लेता था। यहा कपडा बुनने सीने का काम जूता खिलौना कुर्सी मेज आदि का काम कराया जाता था।

बरेली मे केन्द्रीय भारत का सबसे बडा पशु अनुसधान प्रतिष्ठान है जिसका प्रबन्ध सरकार के हाथ मे है। शहर से बाहर यह विशाल सस्था बहुत दूर तक फैली है। यहा पशुओ के खाद्य का विश्लेषण होता है और कैसे पुष्टिहीन तृणो को अधिक पुष्टिकारक बनाया जा सकता इसका तजर्बा किया जाता है। कृत्रिम गर्भाधान का भी प्रयोग होता है। यत्र द्वारा वीर्य-निक्षेप करने से एक साड बीस गायो के लिए और अधिक प्रबन्ध हो, तो दो सौ गायो के लिए पर्याप्त होता है। विशालकाय साँड छोटी जाति के गायो के उपयुक्त भी नही हो सकते लेकिन इस विधि से कोई हानि नही है। एक छोटी पहाडी गाय और शाहीवाल साड की आठ मास की सुन्दर बछिया का देखा जिसके सामने उसकी माँ छोटी मालूम होती थी। कहते तो नही थे, कि इस तरह से प्रसव के वक्त कोई दिक्कत होती है। पर पूर्वी बगाल और आसाम के सीमान्त पर जगली भैसो से ग्रामीण भैसो की सन्तानो के प्रसव के समय बच्चे के बडे होने से अधिक सख्या मे भैसो के मरने की बात सुनी जाती है। वहाँ जगली अर्नाभैसें स्वजातीय ग्रामीण भैसो के झुण्ड मे आ जाया करती हैं।

लौटकर शाम का चाय डा० श्यामस्वरूप सत्यव्रत के यहाँ पीनी थी। डाक्टर साहब पुराने आर्यसमाजी आदर्शवादी पुरुष हैं। अपने सारे परिवार को आर्यसमाज के साँचे मे ढालने की कोशिश की है यद्यपि उपहासास्पद रीति से नही। टौन हाल मे पहुँचकर वहाँ भाषण देना पडा। जहाँ बरेली के गण्यमान्य नागरिक मौजूद थे। अगले दिन (१८ फरवरी) सवेरे की चाय श्री रामजीशरण सक्सेना के यहाँ हुई। सक्सेनाजी कवि और अध्यापक रहे। कवि अब भी हैं, लेकिन अध्यापकी छोड वकालत करने लगे और अच्छे चमके। लेकिन कविता का प्रेम उनके हृदय से नही गया।

इकी देखादेखी बरेली के तरुण कवि निरंकारदेव भी वकालत म चले गये। न-तल-लकडी का प्रवन्ध यदि स्वतन्त्र रीति से हो सके, तो साहित्यकार लिए इससे बढकर और कौन बात हो सकती है? बरेली का मेरा जहाँ क अनुभव रहा, बहुत अच्छा रहा। बहुत से योग्य साहित्यकर्मी यहाँ ले। प्रो० भोलानाथ शर्मा तो गुदडी के लाल निकले। उनकी एकाध तियो को पहले भी मैं देख चुका था। लेकिन, उनके बारे मे इतना जानने ा मौका इसी समय मिला। प० भोलानाथजी बरेली कालेज म सस्कृत के ोफेसर हैं। गोयथे की प्रसिद्ध कविता "फौस्ट" क एक भाग के जमन से ोधे हिन्दी मे अनुवाद भी मैं देख चुका था। लेकिन, यह जानकर मुझे सन्नता आश्चय और खेद भी हुआ, कि वह ग्रीक भाषा के भी विद्वान् हैं। सन्नता इसलिए, कि ग्रीक के ग्रथरत्नो को सीधे हिन्दी म करनेवाला एक वेद्वान् मिल गया जो ग्रीक के साथ सस्कृत का भी पण्डित है। आश्चय इसलिए कि अब तक इनको लोगो न पहचाना क्यो नही, और खेद इसलिए कि उनके ज्ञान का कोई उपयोग नही लिया जा रहा है। शर्माजी न प्लातोन (प्लेटो) क प्रसिद्ध ग्रथ 'पोलितिइया' (रिपब्लिक) का हिन्दी म अनुवाद किया था पर प्रकाशित करनेवाला कोई मिल नही रहा था। मैंने उनसे कहा कि इसे सम्मेलन द्वारा प्रकाशित कराऊँगा, और ग्रीक मनीषियो की महान् कृतियो को हिन्दी म ला देने को आप अपने जीवन का लक्ष्य बनाइये। यदि अरिस्तातिल (अरस्तू) के सभी ग्रथो को आप हिन्दी म ला सकें, तो हमारे साहित्य पर यह इतना बडा उपकार होगा, जिसके लिए वह हमेशा आपका कृतज्ञ होगा। उन्होने पुस्तको के अभाव की शिकायत की। प्रयाग म आने पर मैंने यह बात आचार्य क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से कही। उनके पास लातिन अनुवाद के साथ ग्रीक साहित्यकारो म अरिस्तातिल और प्लातोन के करीब करीब सारे ग्रथ लातिन अनुवाद के साथ दो शताब्दी पहले क छपे मौजूद थे। यह समाचार सुनकर वह भी मेरी तरह अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा, इन ग्रथो के मेरे पुस्तकालय म रहने का कोई फायदा नही, इनसे शर्माजी काम लें। मैंने उन ग्रथो को सम्मेलन को प्रदान करवा

वहां से अच्छी जिल्द बंधवाकर शर्माजी के पास भेज दिया। मेरे जोर देने पर सम्मेलन ने 'पोलितइया' को आदर्श नगर के नाम से काफी देर बाद छाप दिया। प० भोलानाथ अपने काम में दिलोजान से जुट गये। उन्होंने अरिस्तातिल के महान् ग्रंथ "राजनीति" का अनुवाद अगले ही साल समाप्त कर डाला। उतने से ही उनको संतोष नहीं हुआ और इंगलैण्ड और अमेरिका में ग्रीक ग्रंथ रत्नों के जो नवीनतम संस्करण निकल रहे थे, उनका भी उन्होंने उपयोग किया। १९५० के आरंभ में ग्रंथ छपने के लिए तैयार हो चुका था और आज ६ वर्ष तक उसने प्रेस का मुंह नहीं देखा। [redacted] साल हमने खो दिये। यदि उनके ग्रंथ तुरन्त छपने लग होते तो संभवतः अरिस्तातिल के अधिकांश ग्रंथों को वह हिन्दी में ला चुके होते। यह उपेक्षा अत्यन्त खेदजनक है। हिन्दी में गतिरोध कहां है इसे देखना है तो यहां देखिए। संस्कृत और ग्रीस का एक साथ विद्वान् और हिन्दी पर पूरा अधिकार रखनेवाला *व्यक्ति हर रोज नहीं मिला करता और हमने उसकी प्रतिभा से लाभ* उठाने का यत्न ही नहीं किया।

प्रयाग—पंजाब मेल एक घंटा लेट रहा। उस वक्त की गाड़ियों के लिए यह कोई असाधारण बात नहीं थी। बेटिकटवालों की भरमार थी, इसलिए उन्हें दण्ड देने के लिए ट्रेनों में मजिस्ट्रेट सफर करते थे, जिसके कारण बेटिकटवालों की कमी हुई थी और हम आराम से बैठने की जगह मिल गई थी। आकाश में बादल छाये हुए थे, लेकिन फरवरी में वर्षा ऋतु तो नहीं होती, इसलिए बूंदें एकाध ही कभी गिरती थीं। १२ बजे के बाद लखनऊ पहुंचे और रिक्शा लेकर राम भवन गये। यहीं दुर्गा भाभी रहा करती थीं। यशपाल भी यहीं थे। भाभी ने बच्चों के लिए एक पाठशाला खोल रखी थी। हम कालविन तालुकदार स्कूल देखने गये। अवध तालुकदारों का प्रदेश है। लाखों की आमदनीवाले दर्जनों राजा महाराजा नवाब की उपाधियों से भूषित अंग्रेजों के अनन्य भक्त तालुकदारों के पुत्र यहां पढ़ते थे। यह स्कूल इतना बड़ा है, जिसके सामने युनिवर्सिटी भी छोटी मालूम होती है, जहां तक भूमि का सम्बन्ध है। किंडरगार्टन से लेकर १२ वां

श्रेणी तक यहा पढाई होती थी। १५० तालुकादार पुत्र उस समय यहा पढ रहे थे। अंग्रेजो न जनसाधारण से अलग रखकर उन्हे शिक्षा के साथ साथ राजभक्ति का पाठ पढान का यहाँ प्रबन्ध किया था। राजकुमारो और नवाबजादो को जिस तरह रखना चाहिए उसी तरह उन्हे रखा जाता था। इसे देखकर मेरा ख्याल तालुकदारी उठने की ओर गया। उसी समय पर एक तालुकदार तरुण ने कहा— अभी उसके उठने म पाच छ साल लगेंगे।' शायद ऐसा कहने मे वह गलती पर नही था और उसके अभिभावको ने उस समय का पूरा फायदा उठाया। तालुकादारी खरीदने के लिए अब कौन-सा बेवकूफ तैयार होगा? पर, जमीन परती जगल की बन्दोबस्ती से उन्होंने खूब रुपया पैदा किया, कितना ही ने ट्रैक्टर के साथ फाम बनाने का प्रयत्न किया शहरो मे जायदादें ली। इन सबके कारण तालुकादारो की स्थिति वैसी दयनीय नही होने पाई जसी कि छोटे जमीदारो की। तालुका दार स्कूल अब तालुकदारी के तौर पर नही रह सकता था यह तो निश्चय था। लेकिन उसे इजीनियरिंग या टेक्नीकल कालेज के रूप मे परिणत करने का ख्याल अभी तक किसी को नही था।

पता लगा, उदयशकर का कलात्मक फिल्म 'कल्पना' आया हुआ है। हम भी देखने के लिए गए। देखकर निराश हो मैंने सोचा—भवनता के श्रम ने इस समाप्त कर दिया। उदयशकर ने कलाकार उदयन को फिल्म की कथा का आधार बनाया, और कलाकार के लम्बे जीवन का छोटी-छोटी झाँकियों मे चित्रित करना चाहा। वह झाकी इतनी कम थी, कि जब तक उससे आदमी कुछ निष्कर्ष निकाले उसमे पहले ही वह खतम हो जाती। फिल्म साधारण जनता के लिए तो लिखा ही नहीं गया था, यदि मेरे जसे दर्शक भी उसे नही पसन्द कर पाये तो उसकी असफलता निश्चित थी। यदि उन्होने नवीन उदयन की कथा का मोह छोड नत्य तथा सगीत की छोटी-छोटी भूमिकाओ के साथ पेश किया होता तो जरूर जनप्रिय होते और आर्थिक दृष्टि से भी बहुत सफल रहता। इस असफलता को देखकर मुझे बहुत खेद हुआ क्योकि मैं उदयशकर की कला का प्रशसक हू।

१६ को डा० अहमद और हाजरा बेगम से मिलने गया। ये कितने भले और ईमानदार दम्पती हैं। आँधी आये या तूफान वह अपने लक्ष्य पर अटल रहकर आगे बढ़ रहे हैं। हाजरा ने लंदन में मांटेसरी की शिक्षा बहुत पहले जाकर ली थी आजकल वह एक मांटेसरी स्कूल में पढ़ा रही हैं। भोजन के बाद श्रीमती दुर्गादेवी के मांटेसरी स्कूल को भी देखने गया। इन स्कूलों की अपनी उपयोगिता है तभी तो लोग अधिक खर्च करके अपने बच्चों को इनमें पढ़ाने के लिए भेजते हैं। लेकिन मुझे तो नीदमहल में पले मध्य-वर्ग के इन राजकुमारों और राजकुमारियों की शिक्षा दीक्षा का देने के लिए कोई महत्व नहीं मालूम होता। साधारण बालकों से अलग रख कर एक कृत्रिम वातावरण में बच्चों को पढ़ाना उनमें साधारण नागरिक के भाव को नहीं पैदा कर सकता। वह अवश्य सतमंजिले महल की छत पर खड़े होकर नीचे रेंगती जनता को देखेंगे। लेकिन इसका दोष हम हाजरा और दुर्गा भाभी को नहीं देते। ऐसी शिक्षा की मध्य वर्ग को आवश्यकता है जिसका उपयोग वह अपने तौर से करना चाहता है। उसी दिन इसा बेला थोबर्न कालेज की छात्राओं के बीच घंटा भर रूसी शिक्षा के बारे में बोलना पड़ा। यह मिशनरियों का कालेज है और अब नये वातावरण से अपने को प्रभावित करने की कोशिश कर रहा है। छात्राएं बीच-बीच में हँस भी रही थीं जिससे मालूम होता था उनका मनोरंजन भी हो रहा है। ज्ञानवृद्धि के बारे में तो सन्देह ही नहीं।

शाम के वक्त प्रगतिशील लेखकों की गोष्ठी हुई। कम्युनिस्ट मुझे अब अपने से अलग समझते थे इसलिए उनके प्रश्नोत्तर भी उसी के अनुकूल होते थे। मुझे उनका कठमुल्लापन अच्छा नहीं लगता था, और यह और भी कि वह खामखाह अपने को दूसरों द्वारा बहिष्कृत रहने का प्रयत्न करते हैं। मेरी धारणा है कम्युनिस्टों को अपने भीतर अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी दूसरों में घुल मिल जाने की कोशिश करनी चाहिए वैसे ही जैसे स्वस्थ शरीर में हड्डियाँ। यदि विरोधी उनको अलग अलग कर पाएँगे तो असफल करने में कामयाब होंगे। हिन्दी के राजभाषा और राष्ट्र

भाषा होने पर मुसलमानों के ऊपर जुल्म होगा उनकी संस्कृति का विनाश होगा यही रटन लगाये थे। लेकिन हिन्दीभाषी प्रान्तों में हिन्दी के राज-भाषा होने में अब कोई सन्देह नहीं रह गया था। उनका कहना था—सरकार के करने से हमें कुछ नहीं समझना चाहिए, लेकिन दस पाँच साल में कांग्रेसी सरकार का स्थान दूसरा लेगा, यह सोचनेवाले दया के ही पात्र थे।

प्रयाग—उसी दिन रात के ११ बजे प्रयाग जानेवाली ट्रेन पकड़ी और सोते-सोते अगले दिन सबेरे प्रयाग पहुँच गया। माघ मेले के कारण हैजा फैल गया था, दो सौ आदमी मर चुके थे, बड़े जोर शोर से हैजे का टीका लगाया जा रहा था। कुछ तो ध्यान इसका रखना ही चाहिए स्वयं शिकार न होवे यदि हैजा फैलाने में सहायक बना जाए, तो यह और भी बुरा है। पर मुझे इसकी पर्वाह नहीं थी। उस दिन प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त और कुछ और लेखकों की पुस्तकें पढ़ता रहा। खामखाह विश्वास कर लिया था, कि "प्रमाणवार्तिक भाष्य" अब छप ही जाएगा, इसलिए उसे प्रेस के लिए तैयार करने लगा। गर्मियों में पहाड़ पर जाना होगा, यह निश्चय ही था कभी-कभी कुल्लू का भी ख्याल आता। डा० जार्ज रायरिक के पुत्र से मालूम हुआ कि अभी भी सड़क टूटी हुई है और कितनी ही जगह पर पैदल जाना पड़ता है। पुस्तकों के बक्सों को उठाए पैदल चलने के झगड़े को कौन मोल लेगा, इसलिए किसी दूसरी जगह जाने का ख्याल करना होगा। रेल में पैर छिल गया था जो अभी सूखा नहीं था। डायबेटीज तो इसी समय राम बनती है नहीं तो यदि जरूरत से अधिक वजन न घटे तो उसकी पर्वाह नहीं करनी चाहिए। २२ फरवरी को इतवार था। उस दिन शाम को घूमते हुए रसूलाबाद साहित्यकार संसद भवन में पहुँचा। गंगा के किनारे ऊँची जगह पर बहुत सुन्दर स्थान है। पर, एकान्त प्रेमी कवि या योगी के लिए यह उपयोगी हो सकती है। लेकिन, सभी तो गंगाजल और स्वच्छ हवा पर जी नहीं सकते। यदि पुस्तकों की आवश्यकता हुई तो मीलों दूर शहर में जाइए यदि जीवन की दूसरी चीजों की आवश्यकता पड़ी तो

भिन्न मायलघाट गए। उन्निद्रता का इस वक्त आधिक्य था, जिसके साथ-साथ दिमाग भी गरम था। लेकिन कुछ भी हो उनका सौजन्य सदा उनके पास रहता है। इस समय तुलसी रामायण का हिन्दी में करने की धुन सवार थी। कुछ देर तक बातचीत हुई। उन्होंने अपने इस नये प्रयत्न के कुछ नमूना को दिखलाया। सम्मेलन ने हिन्दी के महान् कवियों के कविता संग्रह उन्हीं के द्वारा कराने का प्रयत्न किया था और इस सम्बन्ध में कुछ ग्रन्थ निकले भी थे। निरालाजी के कहने पर उन्होंने भी एक संग्रह करीब करीब तयार कर लिया था। कुछ रुपया मांगने पर लोगों ने कायदे-कानून की बात करनी शुरू की तो उन्होंने अपने संग्रह को देने से इन्कार कर दिया। भला ऐसे पुरुष के सामने कायदे-कानून की बात करनी चाहिए। एक बार इन्कार कर देने पर मेरे प्रयत्न का भी क्या असर कोई असर हो सकता था? यहां से नागरी प्रचारिणी श्रीचन्द विद्यापीठ दयानन्द आयुर्वेद विद्यालय, कार्माइकल पुस्तकालय होते स्वामी सत्यस्वरूपजी के पास उदासी विद्यालय में गया। इसे मैं साधुओं का आदर्श विद्यापीठ कहता हूँ, जिसका अर्थ यह नहीं कि उसकी स्थिति बराबर ही एक तरह की रह सकेगी। विद्यार्थी थोड़े से थे पर सभी उच्च कक्षाओं के। कितने ही उनमें किसी विषय के आचार्य हो चुके थे। खाने रहने का बहुत अच्छा प्रबन्ध था। डेढ़ घंटे तक उनसे बातचीत होती रही। भविष्य के बारे में वह चिन्तित थे लेकिन मैंने बतला दिया, कि साधु विद्वानों को चिन्ता करने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं। संस्कृत के गम्भीर पांडित्य के साथ साथ आधुनिक अनुसंधान के ढंग को भी उन्हें कुछ अपनाना चाहिए। जिस जनतांत्रिकता और साम्यवाद के आदर्श की तरफ आज दुनिया का झुकाव है उसको किसी न किसी रूप में भारत में यदि किसी ने कायम रखा, तो वह साधु ही हैं। आर्थिक कठिनाई की वह बात नहीं बतलाते थे बल्कि कहते थे कि कितने ही धनसम्पन्न मठों के लिए योग्य उत्तराधिकारी नहीं मिल रहे हैं हमारे यहां बराबर मांग आती रहती है।

२७ को हम फिर भोजनोपरान्त निकले। रास्ते में न्यायाचार्य प०

महेन्द्र शास्त्री से भेंट की फिर पं० जयचन्दजी के यहां गये। सुमित्राजी रुग्ण थीं। उनका स्वास्थ्य सदा ही से अच्छा नहीं रहा है, और ऊपर से काम करने की आदत है। वहां से विश्वविद्यालय में अपने आदि पथ प्रदर्शक गुरु मौलवी महेशप्रसाद के पास पहुँचे। आयु का प्रभाव शरीर पर पड़ना जरूरी है। ब्याह करने का फल चार भवानियां थीं। पत्नी कब की चल बसी थीं। चारों में सिर्फ एक कल्याणी का ब्याह हो पाया था औरों की चिन्ता पिता को होनी ही चाहिए। कल्याणी ने वेद मध्यमा में नाम लिखाया है। लेकिन ब्राह्मण वेदपाठी स्वर सहित वेद कायस्थ और सो भी स्त्री को कैसे पढ़ा जा सकता था। उसने पढ़ाने से इन्कार कर दिया। मालूम होता था २०वीं शताब्दी के आधा बीतने पर भी अभी इन कूपमंडूकों को कुछ होश नहीं आया। आजकल इसका आन्दोलन चल रहा था। अन्त में भवितव्यता के सामने उन्हें सिर झुकाना ही पड़ेगा अपनी जड़ता का प्रदर्शन चाहे वह कुछ दिन और कर लें। २८ को भी भिन्न भिन्न जगहों पर घूमने और मिलने जुलने में बिताया। परिभाषा के बारे में विश्वविद्यालय के अध्यापकों से इस समय कोई बातचीत नहीं कर सका। रास्ते में बाबू श्रीनिवासजी से मुलाकात हो गई। कितने सालों पहले नालन्दा में उनका दर्शन हुआ था। डा० भगवानदास के भाई बाबू गोविन्दास बहुत विद्या व्यसनी थे और उनके पुस्तकों का संग्रह काशी में बहुत अच्छा माना जाता था। उन्हीं के यह सुपुत्र थे। वह नागरी लिपि सुधार के प्रयत्न में लगे हुए थे। उनमे उसी विषय पर बातचीत होती रही। लेकिन वर्तमान लिपि को छोड़कर किसी नवीन या प्राचीन रूप को अपनाने की योजना सफल होगी इस पर मुझे विश्वास नहीं था। वह अशोक ब्राह्मी के क के ऊपर नागरी की तरह पाई लगाकर उसे क का रूप देना चाहते थे। बातचीत करते पं० जयचन्द्जी के पास गए। पं० जयचन्द्जी हमारे इतिहासज्ञों में गम्भीर चेतना और गवेषणा रखने वाले पुरुष हैं। यदि वह केवल एकसुरा होते, तो और भी अधिक काम कर पाए होते। लेकिन दूसरी कल्पनाएं उनको एक सुरा रहने कब दे सकती थीं? आजकल वह प्रकाशन और ग्रन्थ प्रणयन में

वडे वडे स्वप्न देख रहे थे समय रह थे। जल्दी ही इन पुस्तका के बडे-बडे सस्करण निकलने लगेंगे, भारत की सारी भाषाओ म वह अनुवाद होकर कोने-कोने म फल जाएँगे। लाखो नही तो हजारा का वारा न्यारा होगा। स्वप्न देखना बुरा नही है क्याकि कितने ही स्वप्न सत्य निकलकर आगे यत्न का रास्ता खोलते हैं, पर इस समय मुझे तो एसी कोई सभावना नहीं मालूम होती थी।

सेवा उपवन म जाने पर बाबू शिवप्रसाद गुप्त की सौम्य मूर्ति याद आने लगी। कितनी उदारता और महानुभूति उनके हृदय म थी। उग्र राजनीतिज्ञो और कायकर्ताओ एव साहित्यकारो के लिए वह कितनी प्रसन्नता के साथ सहायता करने के लिए तयार रहते। तारीफ यह कि उसके दिखाव की कोई कोशिश नहीं करते। तिब्बत के जाने के बाद से लौटने के बाद उनके साथ मेरा अधिक सम्पर्क बढा था। जब वहाँ से पुस्तको के लाने का सवाल पदा हुआ, तो उन्होने आचाय नरेन्द्रदेवजी के कहने पर वहा मरे रहने का प्रबन्ध किया था। पैमे लका से आ गए इसलिए मुझे उनकी आर्थिक सहायता लेने की जरूरत नही पडी। लका म चीनी त्रिपिटक की जरूरत हुइ। उस समय जापान म उसका बहुत उत्तम थसा सस्करण प्रकाशित हुआ था। उसके लिए डेढ हजार रुपय उन्होने भिजवा दिए। वह त्रिपिटक अब विद्यापीठ मे था। लेकिन आर्थिक सहायता मे उदारता उनके व्यक्तित्व की पूरी परिचायक नही है। वह बडे प्रेम के साथ मेरे कार्यों की ओर देखा करते थे। १९३८ म सारनाथ म रहकर मैं कुछ लिख रहा था। उस समय वह मिलने आए थे। लौटते वक्त हिन्दू मुस्लिम झगडे का शिकार हुए। किसी मुसलमान को रास्ते म पडा देखकर वह विह्वल हो गए और उसके बचाने के प्रयत्न म लगे। उस पुरुष से शून्य उपवन को देखकर मेरे हृदय म एक टीस होनी स्वाभाविक थी। अब सेवा उपवन के स्वामी उनके दौहित्र श्री सत्यन्द्र और उनके अनुज थे। सत्येन्द्र आज" और ज्ञान मण्डल को और उन्नत बनाने मे तत्पर थे। लिनो और मानो टाइप के बिना आज कल किसी देश की मुद्रण कला आगे नही बढ सकती। हमारे नागरी को

छापने में पाँच सौ के करीब टाइपों की आवश्यकता होती है। उन्होंने और पं० पराडकरजी ने सोचकर एक योजना निकाली थी जिसके द्वारा १२५ टाइपों की ही जरूरत पड़ती। इसमें सबसे अच्छी बात यह थी कि प्रचलित नागरी में बहुत कम छेड़खानी की गई थी और उसके सौंदर्य को घटने नहीं दिया था। मैं भी लिपि सुधार का पक्षपाती था। इसके बारे में काफी देर तक बातचीत होती रही। पराडकरजी दुबले पतले शायद पहले से ही थे, लेकिन डायबटीज के शिकार थे। मैं भी उसी पथ का पथिक था और पुराने तजर्बेकारों से लाभ उठाने की कोशिश करना चाहता था। पर अन्त में मुझे पं० ब्रजमोहन व्यास की बात ही सच्ची जँची—इन्सुलिन को नियमपूर्वक लो और खान-पीन में परहेज मत करो। मात्रा का परहेज तो मैंने जरूर आवश्यक समझा किन्तु बाकी व्यास सूत्र निरावाध साबित हुआ।

७

परिभाषा-निर्माण के काम में

प्रयाग—२६ को मैं प्रयाग में था और भोजनोपरान्त उसी दिन चट्टोपाध्यायजी के निवास पर चला गया। मेरे लिए एक अलग कोठरी थी। यहाँ अपने काम की पुस्तकों को सुरक्षित रखा सकता था, लेकिन पेशाब की दिक्कत जरूर थी। उसी दिन सम्मेलन की कई समितियों की बैठकों में शामिल होने सम्मेलन भवन गया। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के सम्बन्ध में दो महीने हो गए और अभी तक कुछ नहीं हुआ था। मुझे सबसे बड़ा डर था बदनाम होने का। मैं किसी काम का जिम्मा लेकर फिसड्डी नहीं रहना चाहता हूँ। लेकिन क्या करता? उप-समिति के सहकारियों को फुर्सत नहीं थी।

१ मार्च से मैंने ऐनी की कृति "गुलामान' या 'जो दास थे" के नाम से हिन्दी अनुवाद करना शुरू किया। उर्दू अनुवाद रूस से ही करके लाया था, लेकिन उसका कोई प्रकाशक नहीं मिला। श्री तारिणीश झा श्रीगणेश का काम करने लगे। यह तो निश्चय ही था, कि एकान्त साधना निभ नहीं सकेगी, तो भी मिलने जुलनेवालों से कम से कम बातचीत करने का नियम रखा। उसी दिन शाम को पटना से वीरेन्द्रकुमार सिंह आए, और वचन ले लिया, कि 'जो दास थे" का प्रकाशन मैं करूँगा। परिभाषा कार्य के कारण मैं बहुत चिन्तित था। डा० सत्यप्रकाश से मिला। उन्हें भय था, कि सम्मे

रन अपनी अलग टकसाल खोलना चाहता है। मैंने कहा, हम अपने अपने काम का बाट लेना चाहिए और एक दूसरे के काम में सम्मति और सहयोग देना चाहिए। उस समय प्रयाग विश्वविद्यालय और काशी नागरी प्रचारिणी सभा मे भी इस सम्बन्ध में सोचा जा रहा था। कल की बात "पथ नही गई। आज डा० धीरेन्द्रवर्मा और डा० माताप्रसाद आए। उनमे उसी बारे मे और भी बातचीत हुई। उनसे मालूम हुआ कि विश्वविद्यालय परिषद् छ कोशों के बनाने का विचार रखती है जिनमे विज्ञान का काम कितना ही तैयार भी हो गया है। कला-सम्बन्धी परिभाषा को भी वह लेना चाहते थे राजकीय काम के लिए नागरी प्रचारिणी काम कर रही थी। बाकी तीन को साहित्य सम्मेलन ले सकता था। साहित्य सम्मेलन के लेने का यह मतलब तो था नही कि उसमे विश्वविद्यालय के विद्वानो का काम नही रहता। आखिर मुख्य तौर से यह काम तो उनका ही था।

३ माघ को राय रामचरण की पुत्री के ब्याह मे गए। शताब्दियो पुराने बडे रईस की लडकी की शादी हो रही थी फिर पुरानी परम्परा एकबयक छोडी कैसे जा सकती थी? तो भी बारात मे सौ सवा सौ आदमियो का ही आना शुभ लक्षण था। भोज मे सब डटे आए।

अन्तर्राष्ट्रीय दुनिया में एग्लो अमरिकन गुट पाकिस्तान को अपने पाकेट मे रखने की कोशिश कर रहे थे और कश्मीर के सम्बन्ध मे छिपकर सहायता भी दे रहा था। मंचूरिया (चीन) मे चीनी मुक्ति सेना सफलता प्राप्त कर रही थी। अमरिका इस फूटी आखो भी देख नहीं सकता था। यह तटस्थ नहीं था बल्कि अमेरिकन सेना भेजना छोडकर सब तरह से सहायता दे रहा था। भूमाग पर लाल रंग पश्चिम से पूर्व की ओर बढ रहा था इसे देखकर बडी प्रसन्नता हो रही थी।

अभी ईगर और लोला के पत्र आ रहे थे। उन्हे आशा थी कि दो वर्ष बिताकर मैं फिर रूस लौट जाऊँगा। कितना घोर निराशा होगी जब उन्हे असली बात मालूम होगी। इसी समय मालूम हुआ कि बाबू मुरली मनोहर प्रसाद ने "सर्चलाइट" से इस्तीफा दे दिया। सर्चलाइट को पैदा करने

और उसे जीवित रखने के लिए उन्होंने उसे अपने खून से सींचा था। जिस समय उसमें घाटा ही घाटा होता था, उस समय राष्ट्रीयता के पक्षपाती इस पत्र को मुरली बाबू ने अस्त होने नहीं दिया। फिर थैलीशाह पत्रों को हथियाने लगे और 'सचलाइट' उनके हाथ में चला गया। अब कलम नहीं थैली का उस पर एकाधिपत्य था। थैली ने कलम को अपनी उंगली पर नचाना चाहा, मुरली बाबू इसके लिए तैयार नहीं हुए, और अब उनके खून का सींचा बड़ा पौधा दूसरे के हाथ में चला गया।

कभी-कभी ख्याल आता था टहलने के रूप में थोड़ा शारीरिक व्यायाम करूँ, लेकिन मनसाराम कह रहे थे—हिमालय में चलना ही है वहीं नियमपूर्वक टहला जाएगा। यह तो अब मालूम होने लगा था, कि मधुमेह —डायबटीज—शारीरिक श्रम न करके पुष्टिकारक भोजन करने का ही दण्ड है। पक्रिया ग्रंथि कुछ दिनों तक इन्सुलिन की कमी को पूरा करने के लिए जी तोड़कर कोशिश करती है फिर स्वयं दम तोड़ देता है। बुद्ध क्या चंक्रमण—टहलना—के पक्षपाती थे, अब इसका महत्व मालूम हो रहा था। पूर्व में लाल रंग मंचूरिया की तरफ बढ़ रहा था, तो उधर पश्चिम में चेकोस्लोवाकिया में भी वामपक्ष ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इंगलैंड और अमेरिका परेशान थे लेकिन यह भी नहीं हिम्मत होती थी कि दखल देकर तीसरा विश्व युद्ध छेड़ें।

विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् के सुन्दर काम का और भी पता लगा। साइंस की परिभाषाएं वह छपवा रही थी। अर्थशास्त्र, व्यापार इतिहास, राजनीति भूगोल, दर्शन, कानून, भाषाविज्ञान व्याकरण, शिक्षा काव्य, गणित, ज्योतिष रसायन भौतिकी वनस्पति, प्राणिशास्त्र कृषि की ओर भी पग बढ़ रहा था। मुझे अच्छा लगा कि सम्मेलन और हिन्दी परिषद् मिलकर काम करें। ७ मार्च को रविवार का विश्राम का दिन था। उस दिन महिला छात्रालय में व्याख्यान देना पड़ा। स्वयं लेखक और भुक्तभोगी होने से मैं लेखकों की कठिनाइयाँ जानता हूँ, और अपने समानधर्माओं को प्रोत्साहन और सहायता देना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ। ऐसा करते

कभी-कभी लेखक और प्रकाशक के पचड़े में भी फँस जाऊँ, तो कोई आश्चर्य नहीं फिर वह सिरदर्द का कारण हो सकता है। आदमी अपने अविवेक से फँसता है, फिर दुनिया भर को दोष देता फिरता है। मैंने मनसाराम को कहा— यार तुम ऐसे झगड़ों में न पड़ा करो। काजी को शहर के अंदेसे से दुबले होने की जरूरत नहीं।

कई दिनों से संकल्प विकल्प होते होते ८ मार्च की शाम को श्री तारिणीशजी के साथ टहलने निकले। दारागंज की ओर के बाँध के नीचे फसल काटकर रखी जा रही थी। अबके फसल अच्छी थी। बिहार में अनाज के दाम के गिरने की खबर आई थी सोच रहा था यह फसल अच्छी होने ही के कारण होगा। अनाज की चोरबाजारी करने वाले बहुत हाय हाय कर रहे थे। जाड़े का अब लेश भी नहीं रह गया था। मार्च के पहले ही सप्ताह में इतना परिवर्तन। सिर्फ रात को कुछ देर कम्बल लेने की जरूरत पड़ती थी। अब ध्यान था पहाड़ पर भागने की तैयारी करने की ओर। कनौर ही जाना ठीक मालूम देता था लेकिन अपनी पहली कनौर यात्रा में बोझा के लिए आदमी न मिलने का कड़ा तजर्बा था। अगले दिन भी शाम को टहलने निकले। डा० बदरीनाथ प्रसाद के यहाँ गये। लक्ष्मीदेवी ने बतलाया स्वास्थ्य अच्छा था। यह सुनकर प्रसन्नता होनी ही चाहिए। सोचता था शायद सिगरेट छोड़ने का वरदान है या भोजन में संयम करने का लेकिन जब तक हर दो घंटे बाद पेशाब करने जाना आवश्यक था, तब मेरे लिए यह तकलीफ कम हो सकती थी? चट्टोपाध्यायजी मेरा बहुत ध्यान रखते थे, इतना अधिक कि बाजे वक्त संकोच होने लगता था। वह अद्भुत पुरुष हैं। उनकी विद्या और विद्याप्रेम के प्रति मेरी भारी श्रद्धा है। किन्तु अपने इस ज्ञान का वह लेखनी द्वारा उपयोग नहीं करते, इसका मैं बराबर उलाहना देता था। वे धर्म के अनुष्ठानों में बिल्कुल पुराणपंथी पण्डित मालूम होते, लेकिन अनुसंधान में कट्टर आधुनिक दृष्टि वाले नास्तिक। सादगी उनकी प्रतिभा के लिए सोने में सुगंध का काम देती है। विद्या के वे प्रेम रागी हैं। माता के अनन्य भक्त हैं। ऐसी माता, जिसे उच्च श्रेणी

के एक मित्र चुरैल कहने में भी परहेज नहीं करते, लेकिन चट्टोपाध्यायजी इसे सुनने के लिए तैयार नहीं। माता का कोई भी फर्मादेश हो उसे पूरा करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। माता की भक्ति पर ही उन्होंने एक युग तक अपनी पत्नी को छोड़ रखा। उनकी एकमात्र पुत्री का बड़ा दुखद अन्त हुआ और बेचारी पिता के दर्शन की लालसा लेकर ही चल बसी, तब इनकी आँख खुली। इस समय पण्डिताइन अपने मायके गई हुई थीं। ब्राह्मण रसोइया कुछ दिनों के लिए घर गया था, एक ब्राह्मणी भोजन बनाने आती थी। कुछ ही सालों में नई आर्थिक समस्याओं ने एक नई प्रथा चलवा दी है। बर्तन माँजने वाली कई घरों में समय बाँधकर बारी बारी से बर्तन माँजती हैं। एक जगह माँजने पर पचास तीस रुपया देना पड़ता, जिसके लिए बहुत कम परिवार तैयार होते। वह पाँच पाँच मास मास रुपये लेकर अब इस काम को करने लगी हैं। इसी तरह भोजन बनाने वाली भी कई घरों में भोजन बनाती हैं। उन्हें वेतन भर देना पड़ता, भोजन नहीं। इससे मध्य वित्त लोगों का बोझा कम था और साथ ही काम करने वाले भी घाटे में नहीं थे।

अब मन किन्नर देश में दौड़ रहा था। उसके सदाहरित देवदारों के घने जंगल याद आते थे, वहीं एक कुटिया बनाना होगी और किसी के ही पास कभी डाक मिलने का सुभीता रहेगा। रेल से सैकड़ों मील दूर तिब्बत की सीमा के पास का यह निवास पसन्द करने में हिचकिचाहट भी होती थी। फिर आदमी दूर कितना ही हो जाएँ उसके अपनापे के कारण बाहरी दुनिया के साथ सम्बन्ध भी होते हैं। कभी-कभी तो अलग-अलग रहने पर भी चित्त की स्थिति गाड़ी के पहिये की तरह ऊपर नीचे होती रहती है। आत्मा के जितने अधिक सम्बन्ध होते हैं, उतने ही उसके हर्ष विषाद भी। हर्ष को आदमी स्वाभाविक समझ लेता है और विषाद को अनभीष्ट समझ उसको कई गुना बढ़ाकर अनुभव करता है।

११ तारीख को मच्छरों के मारे मैं परेशान था, शाम से ही मसहरी के भीतर घुसना मुश्किल था। गर्मी बढ़ चली थी। भोजन पर संयम था

मिच छोड दी थी, घी तेल का नाममात्र ही इस्तेमाल था। कभी कभी मट्ठा मिल जाता था। शाम को ६ बजे एक घंटा घूमने जाता था। गर्मी और मच्छरों के मारे रात को लिखाने का काम छोड दिया था। रात का स्नान करने पर भी गर्मी से त्राण कहा?

प० भोलानाथ ने 'पोलिटइया' का अनुवाद भेजा था जो १५ मार्च को मुझे मिल गया। अगले दिन प० बलदेव उपाध्याय आये। आचार विचार में तो चट्टोपाध्यायजी के दूसरे सस्करण थे और दोनों में पटती भी खूब थी। पुजारी तो हैं ही साथ ही स्वयपाकी भी, लेकिन चट्टोपाध्यायजी से इनमें बडा भेद है—यह अपने ज्ञान से दूसरों को लाभान्वित करने के लिए अपनी लेखनी को खूब चलाते हैं और संस्कृत वाड मय की सुन्दर कृतियों को हिन्दी वालों के लिए सुलभ कर रहे हैं। उनका 'भारतीय दर्शन' का तीसरा सस्करण छप गया है जो बतलाता है कि गम्भीर विषयों के पढने की ओर भी हिन्दीवालों की रुचि है।

१७ मार्च को सर्दी लौट-सी आई रात को कम्बल ओढना पडा। उस हटाकर रख दिया था।

यह रियासतों के विलयन और वहाँ की प्रजा के जबर्दस्त आन्दोलन का समय था। १७ तारीख को पता लगा अल्वर भरतपुर, करौली को मिलाकर मत्स्य राज्य की स्थापना कर दी गई है विन्ध्य प्रदेश में बुन्देलखण्ड की रियासतें और रीवाँ शामिल हो गइ। रीवाँ की नाजबरदारी के लिए वहाँ की सरकार को अलग करके राजा को राजप्रमुख बनाया गया। धौलीशाहा के समर्थक सरदार पटेल मुकुटधारियों को एकदम लुप्त करने में अनिष्ट समझते, या सोचते थे कि कुछ काम हम कर रहे हैं और आगे का काम समय करेगा। रामपुर जैसी सुन्दर रियासत के ही किनारे में हम गर्मियों में जाने वाले थे। वहाँ भी प्रजा में असन्तोष होने की खबर आई। पत्रों में पढा जनता ने पुलिस की बन्दूक छीन ली। अभी हम दो महीने बाद जाना था तब तक और बातें भी साफ हो जानेवाली थी।

१८ दिन की लिखाई के बाद १८ मार्च को 'जो दास थे' समाप्त कर

दिया। ताजिक से उर्दू में अनुवाद करने में एक महीना लगा था। अपने मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास 'मधुर स्वप्न' का ख्याल बार बार आता था, पर अभी हाथ लगाने में मन हिचकिचाता था। इस उपन्यास के लिखने के लिए ईरान और रूस में मैंने काफी सामग्री एकत्रित की थी। "मध्य-एसिया का इतिहास" के लिए भारी परिमाण में नोट और मनों किताबें रूस से लाया था। इन दोनों किताबों में हाथ लगाने के लिए मैं बेकरार था। और इसे कनौर के प्रवास पर छोड़ रहा था। सोच रहा था—'वहीं गर्मियों में काम करने के लिए बुढ़िया रहें, भोट सम्बन्धी अनुसंधान हों, बौद्ध ग्रंथों के सम्पादन आदि का भी काम चले। तिब्बत से जिन संस्कृत ग्रंथों के फोटो मैं लाया था उनमें ज्ञानश्री के तर्कशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथों का ख्याल मेरे मन में बारम्बार आता था, यद्यपि 'प्रमाणवार्तिकभाष्य' अभी प्रकाशक के बिना यों ही पड़ा था, तो भी ख्याल आता, पटना में दो सप्ताह रह कर यदि ज्ञानश्री के ग्रंथों को उतार सकता तो अच्छा होता।

१८ मार्च को परिभाषा उप-समिति की बैठक हुई। सिर्फ डा० सत्य-प्रकाश ही आ सके। हमने साल भर में ६० हजार परिभाषाओं के बनाने पर विचार किया। २१ के रविवार को स्थाई समिति की बैठक हुई लेकिन पारिभाषिक शब्दों की योजना आगे नहीं बढ़ी। टण्डनजी ने बत-लाया सबसे पहले राजकीय परिभाषाओं का काम लेना चाहिये। वह युक्त-प्रान्त की एसेम्बली के स्पीकर थे, उन्हें परिभाषाओं के अभाव में अड़चन पड़ रही थी। परिभाषा निर्माण के लिए तीन हजार रुपये भी मंजूर हुए। हमने सोचा था कुछ हजार में काम चल जायगा, लेकिन अन्त में "शासन शब्द" में १५ हजार शब्द लेने पड़े। पहाड़ पर जाने से पहले इस काम को खतम करना था अर्थात् हमारे पास मुश्किल से डेढ़ महीने थे। पर मुझे विश्वास था हम इस काम को कर लेंगे। काम करने में सहायक की आव-श्यकता थी। चट्टोपाध्यायजी से श्री विद्यानिवास मिश्र की प्रतिभा के बारे में सुन चुका था। विद्यानिवास के बुलाने के लिए पत्र लिखने को कहा। श्री प्रभाकर माचवे ने भी सहायता देने की इच्छा प्रकट की थी। इन दो तरुण

पण्डिता और जितन ही और सहायका की सहायता से यह काम आसानी से हो सकता था। मैं अब समझने लगा कि इस काम के लिए सम्मेलन-भवन की सत्यनारायण कुटीर म रहना ही अच्छा होगा।

१६ माच को मालूम हुआ हैदराबाद म सघर्ष जारी हो गया। इत्तिहाद मुस्लमिन उसे छोटा पाकिस्तान बनाना चाहती थी। निजाम उसके विरुद्ध जाने की हिम्मत कैसे कर सकता था लेकिन जूनागढ़ का उदाहरण उसके सामने था। जूनागढ़ नवाब ने पाकिस्तान म मिलना चाहा और अन्त म स्वयं देश छोडकर पाकिस्तान भागना पडा। लोग निजाम के निरंकुश शासन को बर्दाश्त करते करते तग आ गए थ। लेकिन हैदराबाद के सम्बन्ध म आखीरी निर्णय करने म भारत सरकार हिचकिचा रही थी। उसे अपनी और अपनी जनता की शक्ति का पता नहीं था, और अमरिका तथा इग्लैंड की लाल-लाल आँखें भय पैदा करने म समर्थ थी।

२० तारीख को दाँतो की पीडा ने हटने का नाम नहीं लिया। लान म डाक्टर के पास गए। मालूम हुआ दाँतो म छेद नहीं है उसका इनेमल खराब हो गया है जिसी के कारण अधिक गरम या ठण्डा पानी पीने म पीडा होती थी। उन्होंने बतलाया कि दाँतो को साफ कराना है और दाहिनी ओर की निचली अंतिम दाढ को निकलवाना है। दाँत की पीडा को साथ लेकर सुदूर पहाडो म जाना अच्छा नहीं इसलिए उन्हें ठीक कराने का निश्चय कर लिया। ३० माच को एक दाढ डाक्टर ने निकाल लिया। सूई करने की सूई लगाई गई। उस समय दर्द नहीं हुआ पर पीछे शाम तक होता रहा। डाक्टर ने बाकी दाँतो को भी साफ कर दिया।

२१ माच को सम्मेलन म कार्य समिति और फिर स्थाई समिति की बैठक हुई। पारिभाषिक शब्दो की यातना को इतनी जल्दी देखकर मैं व्यग्र था। किसी काम को लेकर उसके पूरा करने म सुस्ती दिखलाना मेरी दृष्टि म अक्षम्य अपराध है, और मैं इस तरह म अपने सारे कार्यों को समेट कर इसी म जुटने के लिए तैयार था। एनीरे लघु उपन्यास यनाम (अजाय) के अनुवाद का काम तो यो ही ले लिया था। वह पाँच छ दिन म

अधिक का काम भी नहीं था। टण्डनजी उतने ही ढीलमढाल चलनेवाले थे जितना कि मैं चुस्त। मैं दौड़ लगाना चाहता था और वह चींटी से भी सुस्त चाल से रेंगना चाहते थे। मैं झुँझला उठता था। लेकिन राजकाज की परिभाषाओं के निर्माण में जल्दी होने में वह भी सहमत थे।

२५ और २६ मार्च को होली थी। होली का हुड़दंग पहले ही से शुरू हो गया था। इतनी मँहगी होने पर भी लकड़ियाँ कम जगह जगह इतनी मात्रा में जमा कर ली गई थीं यह सोचने की बात थी। कांग्रेसवालों ने गाँधीजी के शोक में इस साल होली न मनाने की आज्ञा निकाली थी लेकिन हर तरह से दुःखी लोगों को दुःख भूलने के किसी क्षण को निषिद्ध करना ठीक नहीं लोगों ने आज्ञा नहीं मानी।

२५ मार्च से मैं परिभाषा के सम्बन्ध की सामग्री जमा करने में लगा। ग्वालियर राज्य ने हिन्दी में बहुत सी कानून की पुस्तकें छपवाई थीं। उन्हें मँगवाया। प्रयाग की कसौटी पर कसी तज्ञ आदमी द्वारा गढ़ी परिभाषाएँ बहुत अच्छी होती हैं। पर ऐसे तजर्बे की गति भयंकर रूप से धीमी है इसलिए हम केवल उसका आश्रय नहीं ले सकते थे।

२५ मार्च को पता लगा सोशलिस्ट कांग्रेस से अलग हो गये। कम्युनिस्ट बहुत पहले अलग किए गए थे, और अब सोशलिस्टों ने भी कांग्रेस को छोड़ा। कांग्रेस के नेताओं में नीचे से ऊपर तक इतनी गन्दगी आ गई थी कि सोशलिस्टों को मालूम हुआ यह डूबती नैया है, इससे कूद पड़ना ही अच्छा है। किन्तु इससे वह कांग्रेस का स्थान भ्रष्ट नहीं कर सकते। उसके लिए लोगों के भीतर यह विश्वास पैदा करना होगा, कि कांग्रेस के कन्धे का भार दूसरे भी उठाने के लिए तैयार हैं। यह तभी हो सकता था जब कि सभी वामपक्षी दल अपना संयुक्त मोर्चा बनाएँ। कहने की आवश्यकता नहीं, कि कांग्रेस के बाद जो दल अधिक शक्तिशाली है उनमें कम्युनिस्ट पार्टी का नाम सर्वप्रथम आता है। और सोशलिस्ट तो कम्युनिस्ट नाम से भी वैसे ही भड़कते हैं, जैसे लाल रंग से गुस्सैल साँड। देश के ही कम्युनिस्टों का नहीं, बल्कि बाहर के भी कम्युनिस्ट या कम्युनिस्ट प्रभावित

देश को वह फूटी आंखों देखना नहीं चाहते। कोई यह विश्वास नहीं करेगा, कि एक चना भाड़ फोड़ देगा। सोशलिस्टों के स्वर्ग के भूतल पर आने के लिए युगों प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है जिसके लिए जनता तैयार नहीं हो सकती। वह अपनी इस नीति में कांग्रेस के ही पक्ष का समर्थन करते हैं क्योंकि दूसरे कार्यकारी नेतृत्व के अभाव में लोग कांग्रेस की अवहेलना कैसे करेंगे? कांग्रेस के लिए यह भी जरूरी नहीं है, कि सभी लोग उसका सक्रिय समर्थन करें। यदि बहुजन उदासीन रहे, तो अपने स्वार्थ के लिए कांग्रेस के साथ चिपके लोग उसे जिताने में सफल होंगे।

भाई रामगोपाल वर्षों मेरे साथ एक तरह का स्वप्न देखने वाले थे। हमारा स्नेह और घनिष्ठता असाधारण थी। अफसोस अकाल ही वह प्लेग के शिकार हुए। उनकी निशानी दयाशंकर रह। वह २७ को मिले। बी०ए० पास करके महोबा में भूगोल के अस्थायी अध्यापक थे। एम०ए० या एल०टी० करके आगे बढ़ना चाहते थे। ऐसे तरुण को यदि सहायता न दी जाए तो किसको दी जाए? लेकिन आजकल सिफारिश का जमाना है। सिफारिश भी वैसे ही आदमियों की लगती है जो उच्च पदाधिकारी के किसी काम में साधक होने वाले हों। मेरे भीतर वह योग्यता नहीं जिसका अर्थ था जबान खाली जाती। जिससे मैं बचना चाहता था। तब भी कुछ तो करना ही था लगा तो तीर नहीं तो तुक्का ही सही।

२७ मार्च को पसीना आने लगा था, और पहाड़ पर जाना था मई में। कैसे दिन बीतेगा? कुल्लू में श्री चन्द्रकान्तजी का पत्र आया, अब के साल वहाँ आएँ किन्तु वहाँ जाने में सबसे बड़ा बाधा थी रास्ते की। अभी मोटर सड़क दुरुस्त नहीं हुई थी। एक आकर्षण था डा० जार्ज रायरिक का किन्तु वह भी विदेश चले जानेवाले थे। मैंने इस समय कुल्लू जाने में असमर्थता प्रकट की।

राजापुर —२८ के रविवार को दोपहर को साहित्यिकों की एक मण्डली गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान राजापुर के लिए बस पर रवाना हुई। अभी सरकारी रोडवेज की बसें नहीं चल रही थीं। हमारी बस भरी हुई

थी। डा० उदयनारायण तिवारी, पं० वाचस्पति पाठक, निमूल्जी, श्री रामबहारी शुक्ल साथ थे। ढाई घंटे में हम जमुना के किनारे पहुँचे। रास्ते के कुछ गाँवों में प्लेग फैला हुआ था, लोग घरों से बाहर झोंपड़ियों में थे। फसल कट चुकी थी। स्वतन्त्र भारत के देहातों में भी पहले की भाँति वही नंगी भूखी मूर्तियाँ दीख पड़ रही थीं। दोपहर की तपती हुई गर्मी थी। जमुना के किनारे दोमंजिला पक्की धर्मशाला थी। यहीं थोड़ा जलपान और विश्राम हुआ। फिर पैदल नाव की ओर बढ़े। बालू तपी थी, फिर भि[illegible]ला रहा था। नाव से उस पार पहुँचे। तुलसीदास का मंदिर इस शताब्दी के आरम्भ में कुछ उत्साही पुरुषों ने चन्दा करके बनवाया था। जमुना उसके नीचे की जमीन को काट रही थी और गाँव भी कटता जा रहा था। रास्ते में एक ऐसे ही पत्थर को रंग रंगकर संकटमोचन हनुमान बना दिया गया था। पर राजापुर अर्वाचीन स्थान नहीं है। रास्ते में चार मुँहवाला मुखलिंग मिला, जो बतला रहा था कि मैं गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं ईसवी) के आसपास का हूँ। फिर एक जगह नृत्य करती बीस भुजावाली गणेश की मूर्ति मिली, उसने बतलाया ११वीं १२वीं शताब्दी में मैं आज की स्थिति से बेहतर अवस्था में था। यह तो धरती के ऊपर ऊपर दिखाई देनेवाली पुरातात्विक सामग्री थी, भीतर न जाने कितनी चीजें मिलेंगी। राजापुर जमुना का एक महत्त्वशाली घाट है जो एक चलते वणिक्-पथ पर अवस्थित है। घाट की आमदनी तुलसीदास के स्मारक को मिला करती थी जो १८४१ में ४२०० रुपये वार्षिक थी। गाँव में मकान अधिकतर कच्चे हैं। पक्के मकानों का भी निचला भाग मिट्टी का है। राजापुर में मानस की एक पुरानी हस्तलिखित पोथी है, जिसे गोस्वामीजी के अपने हाथ की लिखी बतलाया जाता है। रामु, फ[illegible]ु आदि के अन्त के उकार बतलाते थे, कि पुरानी प्रति है पर रामायण के श्लोकों में ण के स्थान में तीन बार स का आना बतला रहा था कि यह गोस्वामीजी के हाथ की लिखी पुस्तक नहीं हो सकती। राजापुर में एक छोटा-सा बाजार है। स्मारक की रक्षा के

और वृद्धि के सम्बन्ध में एक सभा हुई और फिर हम वहाँ से उसी दिन प्रयाग लौट आए।

गर्मी में कहीं बाहर जाने आने का प्रोग्राम रखना भारी घबराहट की बात थी। पर श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने जब २० २१ अप्रैल के वैशाली उत्सव में सभापति बनने के लिए स्वयं आकर निमंत्रण दिया, तो मेरे लिए इन्कार करना मुश्किल हो गया। सभापति बनना ही नहीं था, बल्कि वैशाली पर एक भाषण भी तैयार करना था और भारत के परम यशस्वी तथा ऐतिहासिक इस गणराज्य के ऊपर काफी प्रकाश डालना था। वैशाली चाहे आज के दो-तीन जिला का ही गणराज्य था, पर ग्रीस उससे भी छोटा था। गोस्वामीजी ने कहा है— 'रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।' स्वेच्छाचारिता के घनान्धकार में लिच्छवियों का यह गण प्रकाश स्तम्भ था।

सत्यनारायण कुटीर—परिभाषा के काम में कई आत्मियों से सहायता लेनी थी और न जाने किस समय कौन सी पुस्तकालय से मंगाना पड़े इस ख्याल से ३१ मार्च को मैं सम्मेलन भवन की सत्यनारायणकुटीर में चला आया। टण्डनजी ने कुछ सामग्री देने के लिए कहा था। उनके पास लखनऊ आदमी जाकर खाली हाथ लौटे। मुझे क्षण क्षण की फिकर थी और उनके लिए तो हफ्ता प्रतीक्षा में खो देना कोई बात नहीं थी। मैंने तार और चिट्ठी भेजकर कह दिया कि यदि ऐसा हुआ तो मुझे काम से हट जाना पड़ेगा। पहले के नौ हजार शब्द जमा थे उनमें अस्त-व्यस्त प्रकार के थे तो भी पाँच हजार अर्थ सहित शब्द मिल सकते थे। हमने संकल्प किया कि अप्रैल के अन्त तक दस हजार शब्दों को तैयार करके टण्डनजी को दे दिया जाए। कुटीर में आने पर भोजन की समस्या सामने आई। मित्रवर प्रबन्ध श्री श्रीनिवासजी ने अपने यहाँ से कर दिया। गर्मी के लिए बिजली का पंखा रात दिन चलने के लिए तैयार था। लेकिन उसमें भी जब-तब गरम हवा आती थी। इसी समय सिमला से रजनी की चिट्ठी 'पहाड़' के बारे में सम्मति लिखने के लिए आई। मैंने उनमें रामपुर बुशहर के बारे में

पूछ ताछ की। उन्होंने लिखा, रामपुर के रास्ते में दूर तक बस जाती है। साथ जाने के लिए आदमी का भी प्रबंध हो जाएगा। २२ वर्ष पहले के तजर्बे पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता था। अब इस ताजा सूचना से किन्नौर का जाना पक्का हो गया।

२ अप्रैल को सूचना मिली कि लखनऊ में मेरे मित्र [illegible] का देहान्त हो गया। १८ वर्ष पहले वह गम्भीर प्रकृति के आदमी जरूर मालूम होते थे, लेकिन उनकी प्रतिभा का पता उस समय नहीं लगा था। पीछे तो वह एक सिद्धहस्त लेखक साबित हुए और विद्यालंकार [illegible] माने गए। इस प्रिय मित्र का वामपक्षी विचारधारा का केन्द्र बनाने में उनका विशेष हाथ था। ऐसे पुरुष का इतना जल्दी उठ जाना बड़े अफसोस की बात थी।

बलिया—३ अप्रैल को डा॰ उदयनारायण तिवारी के साथ बलिया में साहित्य सम्मेलन के लिए जाना पड़ा। गर्मी का दिन था और भी छोटी लाइन की यात्रा। हम साढ़े ७ बजे शाम को चले। गाड़ी चार घंटे लेट बनारस तक ही हो गई। इंजन का पुराना होना भी कारण था और काम क्षमता भी कम थी। अक्षमता की शिकायत सिर्फ रेल के बारे में क्यों की जाए, जबकि सरकार के एक एक पुर्जे में वह देखी जाती है। सरकारी यन्त्र चलाने के लिए तिगुने चौगुने अफसर और कर्मचारी रख लिए गए हैं, लेकिन काम कोई भी ठीक से नहीं होता। रेल के सेकेंड क्लास के डब्बे को देखने से मालूम हो रहा था कि [illegible] हुए किसी खानदानी धनिक का कमरा है। फर्श उखड़ा हुआ, गद्दे गन्दे और बुरी हालत में, पाखाने का कमोड टूटा हुआ, जिसे सिर्फ दिखाने के लिए ही मुश्किल से इस्तेमाल किया जा सकता था। हाथ धोने का बेसिन नदारद और नल में पानी नहीं। सभी जगह जड़ता सभी जगह अस्वच्छता।

४ अप्रैल ३ घंटा लेट हो ११ बजे दिन को हम बलिया पहुँचे। काफी गर्मी थी। जिला-बोर्ड के सेक्रेटरी श्री श्यामसुन्दर उपाध्याय के घर पर ठहरे। पुराने ढंग का बंगला था, जिसकी छत काफी ऊँची और मोटी थी

जिसमे गर्मी कुछ कम मालूम होती थी। ३ बजे से सम्मेलन शुरू होने वाला था लेकिन तब तो गर्मी बहुत होती। अच्छा ही हुआ जो वह साढे ५ बजे शुरू हुआ। लिखित भाषण तैयार करने के लिए समय कहा था, मैंने मौखिक ही भाषण दिया।

आजकल जिला बोर्ड के चुनाव की धूम थी। सभापति और सदस्य सभी चुने जानेवाले थे। जिले के सर्वप्रिय तरुण तारकेश्वर पाडे काग्रेस की ओर से जिला बोर्ड के लिए खडे होनेवाले थे प्रात ने भी इसे मान लिया था। लेकिन जात पात बडा बुरा हो। ऊपर पहुँचकर दूसरे को टिकट दिलवा दिया गया। तारकेश्वर काग्रेस के विरुद्ध खडे होने के लिए नही तयार हो सकते थे, पर किसी सोशलिस्ट को कसे रोका जा सकता था?

बलिया वस्तुत शहर नही एक बडा सा गाँव है। गगा नातिदूर बहती है और धार को कोई बाँध नही है, गाँव बिल्कुल गगा पर निर्भर है। पानी और बिजली का भी कोइ प्रबन्ध नही है। किसी समय भी पाखाने का इतना कुप्रबन्ध हमारे देश मे नही रहा होगा। लेकिन यह सिर्फ बलिया की बात नही है। टौंस जो यहाँ सरजू (छोटी) कही जाती है बलिया के पास बहती है वस्तुत बलिया के कटन का डर सरजू से हो है। अगले दिन नार्मल स्कूल मे व्याख्यान देने गए। यहाँ बलिया और गाजीपुर दोनो जिलो के अध्यापक प्रशिक्षण के लिए आए थे। शाम को चलता पुस्तकालय मे गए। पुस्तकें तीन ही हजार थी जिनका उपयोग बहुत अच्छी तरह किया जाता था। वह बराबर घूमती रहती थी। पुस्तकालय ने अपना मकान भी बना लिया आशा है वह तजी से बढेगा। ६ बजे भोजपुरी सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। डा० रामविचार पाडे की भोजपुरी कविताए बडी अच्छी लगी। वह अष्टाग आयुर्वेद विद्यालय कलकत्ता के स्नातक हैं। यद्यपि आयुर्वेद के लिए आवश्यकता नही थी तो भी प्राइवेट पढने की लगन के कारण उन्होंने बी० ए० और एम० ए० पास कर लिया। कुछ और तरुणो ने भी अपनी कविताएँ सुनाई। इस समय बार बार चितू पाडे की याद आती थी। सम्मेलन ने भोजपुरी प्रान्त निर्माण का प्रस्ताव पास

किया। तीन करोड भोजपुरी भाषी दो दो प्रान्तो म बटे रहे, और उनकी भाषा की कोइ कद्र न हो, यह दु ख की बात थी। लेकिन आजकल जनता और उनकी भाषा की पूछ कहा दिल्ली क देवताओ क दरबार म हो सकती थी? पर जनता का दिन लौटेगा जरूर।

६ बजे तक सम्मेलन म रहत हम प्रसन्न मन थे। उसी समय तार मिला, डा० उदयनारायण की लडकी कलावती का देहान्त हो गया। जब हम घर थे, तब ऐसी कोई सम्भावना नही थी। कलावती और लीलावती दोनो यमल कन्याएँ थी। दोनो ही शरीर से दुबल जरूर थी, पर इसकी शका किसे हो सकती थी?

रात को ही गाडी पकडी और अगले दिन ६ अप्रल का सवा ८ बजे हम रामबाग (प्रयाग शहर) स्टेशन पर पहुँच गए। सत्यनारायण कुटीर म पहुँचे। त्रिपाठी और ठाकुर पहले हो काम म लगे हुए थे। आज विद्या निवास भी आ गए। यह मालूम होने म देर नहीं लगी, कि विद्यानिवास प्रतिभाशाली होने के साथ साथ बहुत महनती तरुण हैं। वह यूनिवर्सिटी की हरेक परीक्षा म प्रथम श्रेणी और प्रथम नम्बर म आते रहे, सभी विषयो म अच्छे थे सस्कृत म भी शास्त्री कर चुके थे। जहाँ तक हमारे काम का सम्बध था वह उसके लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे। उनकी तीक्ष्ण स्मरण शक्ति और भी भारी सहायक थी। गोरखपुर जिले के सरजूपारियो म पक्की-कुल क थे। पक्की बिना मास मछली खाए भी हो सकता है यह बात यदि उनको देखने से पहले कोइ कहता तो मैं विश्वास नही करता। सरजूपारियो म यह सबसे उच्चकुलीन माने जाते हैं। पक्की अपने बरतन भाँडे का भी दूसरे को नही देते, और न दूसरे का छुआ कच्चा पका खाते। पक्की ब्याह भी पक्की म ही कर सकते है। अपक्की (दुल्हे) के साथ ब्याह करने से जाति से बहिष्कृत कर दिए जाते है। इस बहिष्कार क फल स्वरूप अब पक्तियो क कुछ ही सौ परिवार रह गए है जिनके भीतर ब्याह गोत्र छोडकर बहुत नजदीक सम्बधियो म होता है। विद्यानिवासजी को अपने साले पौत्र का भी इन्तिजाम करना था जिसके लिए वह किसी को

साथ लाए थे। दूध फल में छूत नहीं मानते यह अच्छी बात थी। सरजू पारियों में पक्की का रवाज कोई अलग थलग या आकस्मिक घटना नहीं था। १०वीं ११वीं शताब्दी में इस तरह के प्रयत्न करीब करीब सारे उत्तर भारत में हुए। गहड़वार गोविन्दचन्द्र ने कनौजिया में पक्कुटले और सरजू पारियों में पक्का तयार किए, उनके लिए बड़ी बड़ी जागीरें इस शर्त पर दीं कि वे अपने खान पान और सम्बन्ध व्यवहार में दूसरों से अलग रहकर जातिवाद को मजबूत करें। उस समय बहुत से कुलीन बनाये गए होंगे जो सम्पत्ति के साथ आर्थिक स्थानों के बटवारे के कारण दरिद्र होते गए और कुलीनता के आचार का पालन करना सम्भव नहीं हो सका, जिसके कारण उनमें बहुत से पक्की से टूटकर साधारण ब्राह्मणों में सम्मिलित होते गए। इसी समय के आसपास मिथिला में श्रोत्रिय ब्राह्मणों और बंगाल में कुलीन ब्राह्मणों की सृष्टि हुई। धार्मिक रूढ़ियों और विचारों में विद्यानिवास जो अपने गुरु पं० चट्टोपाध्याय जैसे ही हैं पर ऐतिहासिक अनुसंधान में यह उन्हीं की तरह दृष्टिकोण रखेंगे इसकी मुझे आशा थी। आठ वर्ष पहले उनकी लेखनी ने अपना जौहर नहीं दिखलाया था, लेकिन सम्भावनाएं उस समय भी थीं। अब तो विद्यानिवास हिन्दी के एक सुन्दर निबंधकार हैं।

इस समय सरकार कम्युनिस्टों के दमन करने में लगी हुई थी। यद्यपि पार्टी को सिर्फ बंगाल में गैरकानूनी बनाया गया था, लेकिन गिरफ्तारियाँ अन्धाधुन्ध हो रही थीं। कोई भी रचनात्मक या दूसरी बड़ी बात हो, उसे झट कम्युनिस्टों का काम बतलाकर सीधे प्रहार कर दिया जाता था। समाजवादी नेहरू अब नाम मात्र के रह गए थे और शायद अमेरिका को खुश करने के लिए फासिस्टों का रास्ता अपनाया जा रहा था। नेहरू वस्तुतः उस समय केवल सरदार पटेल के भोंपू से बढ़कर कुछ नहीं थे। सारी शक्ति और कुंजी पटेल के हाथ में थी जो प्रगतिशील विचारधारा को सुनने के लिए भी तैयार नहीं थे। इस के फलस्वरूप उनको पाकर फूले नहीं समाते थे और उस समय जो कुराज्यों की तजो से बनी उनकी सुन्दर साख ढँकने पर पटेल के

कांग्रेस के सूत्रधार उस वक्त सरदार वल्लभभाई पटेल थे। चारों तरफ उन्हीं की तूती बोल रही थी। वह किसी भी प्रगतिशील कदम को उठाने के लिए तैयार नहीं थे। रियासतों के एकीकरण और हैदराबाद के बारे में जो काम उन्होंने दृढ़ता से किया है, उसकी अवश्य प्रशंसा करनी पड़ेगी। वह समझते थे कि देश की गरीबी दूर करने के लिए हमारे सेठी पूँजीपति और जमींदार सलामत रहें। जमींदार मल्लू नहीं था जो कि तत्क्षण भारत के लिए अपनी थैली खोल देता। वह पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों को चबाने के लिए तैयार था, और सिर्फ नाक भर के लिए कुछ ठीकरे फेंक सकता था।

सत्यनारायण कुटीर में काम धड़ल्ले से होने लगा। बहुत साल पहले पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने मणवध के कुछ भागों को सुनाया था। अभी उन्होंने उसे आरम्भ ही किया था। ८ अप्रैल को उन्होंने उसके लिखे हुए और अंश सुनाए। मैं तो जानता था कि इतना सुन्दर और स्वतंत्र काव्य को जल्दी से जल्दी पूर्ण होकर प्रकाशित होना चाहिए, लेकिन कवि तो सदा निरंकुश होते आए हैं। इन पंक्तियों के लिखने के समय भी अभी उसका थोड़ा-सा अंश बाकी ही है। प्रशंसा करते हुए मैंने उस दिन भी जोर देकर कहा—सब छोड़कर इसे समाप्त कर दीजिए।

१० अप्रैल को नौरात्रि का व्रत आरम्भ हुआ। श्री श्रीनिवासजी के यहाँ अन्नाहार और उनके बड़े भाई के यहाँ फलाहार चला। हम दोनों में शामिल थे। उस समय फल खाने को मन करता था, पर यहाँ के खरबूज निरे फीके थे।

११ अप्रैल को मूत्र परीक्षा कराने पर मालूम हुआ, कि चीनी काफी है लेकिन अभी इन्सुलिन के लेने के प्रतिबन्ध से मैं बचना नहीं चाहता था।

सम्मेलन की नया स्टम पस्टम बन रही थी इसी समय नहीं, शायद कुछ समय पहले से ही। टण्डनजी ही उसको नई दिशा दे सकते थे पर वह एक दिन की बात को एक साल से पहले निर्णय नहीं कर सकते थे। सम्मेलन की परीक्षा अब बहुत बड़ी परीक्षा थी, जिसमें आधे लाख के करीब

विद्यार्थी बैठते थे। जहाँ गुड़ होता है वहाँ चींटियाँ भी आ जाती हैं, और सम्मेलन की अवस्था कुछ वैसी सी होती जा रही थी। मैं तो समझता था, सम्मेलन का प्रचार युग समाप्त करके अब उच्च साहित्यिक अकदमी का रूप लेना चाहिए। सम्मानार्थ प्रतिवर्ष सभापति का चुनाव और अधिवेशन भी हो, पर पदाधिकारियों का चुनाव तीन वर्ष बाद हो जिसमें एक बार ये आए पदाधिकारी अपनी योजनाओं का कुछ पूरा कर सकें। उसे साहित्य सृजन में अपनी शक्ति लगानी चाहिए और महान् कवियों की पहले ग्रन्थावलियाँ प्रकाशित कर देनी चाहिए, फिर विश्व साहित्य के अनमोल ग्रन्थों को हिन्दी में लाना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द से १३ अप्रैल को भेंट हुई। बल्देव चौबे के नाम से वह मेरे घनिष्ठ मित्र और कितने ही स्वप्नों के साथी रहे। आजमगढ़ में उन्होंने हरिजन गुरुकुल शाला और हरिजन उत्थान के लिए उन्होंने अपना जीवन लगा दिया। इसके लिए उन्होंने अपने समाज की परवाह नहीं की। उनका आग्रह था मैं कुछ दिनों आकर गुरुकुल में रहूँ, लेकिन किसको पता था कि दिन इतने महँगे हो जाएँगे। अगले दिन गर्मी की वृद्धि चित्त को विकल कर रही थी लेकिन संकल्प कर लिया था— 'इस मास को तो यहीं बिताना ही है।" शाम का भोजन विद्यावती और उनके पति दुबरी हूबे के यहाँ हुआ। विद्यावती बल्देव चौबे की पुत्री हैं। चौबेजी की चली होती तो सभी बच्चे हिन्दी मिडिल से आगे न बढ़ होते। पर बच्चों को बूआ महादेवी का वरदहस्त मिला था, इसलिए सभी एम० ए० होने में सफल हुए।

१४ अप्रैल को गर्मी की वृद्धि चित्त को विकल कर रही थी लेकिन संकल्प कर लिया था— इस मास को तो यहीं बिताना है।'

अगले दिन बिजली के स्टेशन के कारण कुछ घंटे के लिए पंखा बन्द हो गया। फिर क्या पूछना है। मालूम हुआ, कि जीवन पंखे के सहारे चल रहा था।

विद्यानिवासजी बड़ी तत्परता से और बहुत अच्छा काम कर रहे थे।

उनका वैतनिक काम करने में हिचकिचाहट थी। कभी कोई कह ही सकता था। पर उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी, कि अवैतनिक काम कर सकें। शासन शब्दकोश के तैयार होकर टाइप हो जाने के बाद भारत के और प्रान्तों के तज्ञों के पास जाकर उसके बारे में परामर्श लेना था। श्री प्रभाकर माचवे ने सहयोग देना कबूल किया था, यह बड़ी प्रसन्नता की बात थी।

कवि शील कानपुर के लिए वचन ले चुके थे, १६ को ३ बजे रात्रि की गाड़ी से हम कानपुर चले। गर्मी में चलना तो पसन्द नहीं था, लेकिन क्या करते! रात को तीन बजे श्री ललितमोहन अवस्थी के निवास पर राम-मोहन कटरा में गए। शीलजी साथ थे, इसलिए रास्ता पूछने की जरूरत नहीं थी। सँकरी सड़क थी, जिस पर बीच-बीच में गाएँ लेटी थीं, लोग गर्मी से बचने के लिए आसमान के नीचे चारपाइयों पर पड़े थे। अगले दिन क्राइस्ट चर्च कालेज में सार्वजनिक सभा हुई। छुट्टी के कारण विद्यार्थी नहीं थे, इसलिए भीड़ जितनी होनी चाहिए थी उतनी नहीं हुई, लेकिन संख्या की कमी को श्रोताओं के वर्ग ने सन्तुष्ट कर दिया। मुझे कुछ असन्तोष तो हो सकता था, क्योंकि मेरे प्रिय तो तरुण हैं। प्रबन्धक कह रहे थे, कांग्रेस और प्रताप वालों ने बाधा उपस्थित की। सभा से मैं श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के घर पर गया। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी मिले। आजकल वे कानपुर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के अध्यक्ष थे। कानपुर में सचमुच ही बहुत इम्प्रूवमेंट—सुधार—करने की आवश्यकता थी। सौ ही वर्ष पहले तो गंगा के किनारे इस गाँवड़े में लखनऊ के नवाब पर अंकुश रखने के लिए अंग्रेजों ने अपना फौजी कम्पू (कैम्प) बनाया, जो कम्पू से कानपुर बन गया। उस समय किसको आशा थी, कि सौ वर्ष बाद यह १३-१४ लाख आबादी का शहर हो जाएगा। इसलिए अग्रसोची होकर शहर को बाकायदा बसाने की ओर ध्यान नहीं रखा गया, और खाली जमीन में जिसकी जहाँ इच्छा हुई उसने वहाँ अपने लिए मकान बना लिया। ये सँकरी सड़कें सँकरी गलियाँ जैसी हैं, जिनमें—मनीराम की बगिया जैसों में—मोटर चलाने में ड्राइवरों

का क्या चढ़ने वाले का भी दिल काँपता है। शहर से बाहर समझकर बंगलों को बनाया गया था, लेकिन अब वे भी शहर के भीतर आ गए। ५० हज़ार से ऊपर शरणार्थी भी यहां बस गए। नए मकान बराबर बनते जा रहे थे, तो भी उनकी कमी थी। व्यापार में शरणार्थियों से दूसरे बनिये जब होड़ नहीं लगा सकते, तो तरह-तरह से दोष निकालने लगते हैं—'वे नकली चीज़ देते हैं उनका आचार विचार शिथिल है। स्त्रियाँ नंगी नहाती हैं आदि-आदि। देश काल के अनुसार आचार विचार में अंतर होता ही है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश वाले ब्राह्मण मछली मांस का नाम सुनने के लिए भी तैयार नहीं हैं और पूर्व वाले मूछ पर ताव देकर उसका सेवन करते हैं। स्त्रियाँ पंजाब ही में नंगी नहीं नहातीं हमारे यहाँ भी नहाती हैं। हाँ, इतना अन्तर जरूर है कि यहाँ वे पुरुषों की नजर बचाकर नहाती हैं।

१८ को दिन भर कानपुर ही में रहना था। मुझे फोटो का शौक है। यात्री और यात्रा सम्बन्धी लेखक होने से मुझे फोटो का महत्व मालूम हुआ, और एक बार इस खर्चीले शौक में जब आदमी पड़ गया तो कितना ही हाथ रोकने पर भी खचना पड़ ही जाता है। मेरे पास सोवियत से लाया फेड कमरा था, जिसका नेगटिव बहुत छोटा एक फिल्म में ३६ होता था और बिना इन्लार्ज किये उसका कोई महत्व नहीं था। यहाँ चित्रा स्टूडियो में एक रिफ्लेक्स कमरा (अर्गोफ्लेक्स) ३३५ रुपये साढ़े १० आने में खरीद लिया। कुछ समझ तो रहा था कि इससे काम नहीं चलेगा। मुझे और महंगा कमरा लेना पड़ेगा। पर सामने दिखकर लोभ का संवरण नहीं कर सका। दोपहर का भोजन श्री पुरुषोत्तम कपूर के यहाँ हुआ जहाँ प्रिंसिपल हीरालाल खन्नाजी भी मिले। और भी कई मित्र आए। इसी घर में कम्युनिस्ट सन्तोष कपूर का जन्म हुआ। सन्तोष ने अपनी सारी जवानी कानपुर के मजदूरों की सेवा और संगठन में लगा दी। आज तक भी उनका एक पैर बराबर जेल ही में रहता है। वह अपने उद्देश्य और स्वप्न में अदम्य हैं। खन्नाजी को इस बात का बहुत दुःख हुआ कि म्युनिसिपल्टी ने मुझे मान पत्र नहीं दिया? यह क्या समझते नहीं थे, कि मेरा रास्ता किस ओर का

है और म्युनिसिपल्टी का मानपत्र मिस आर। आजनापगन्त बुद्धपुरी म श्री मधार्यीजी के विद्यालय म गये। बहुत दिना बा॰ श्री सतरामजी से भी वहीं भेंट हा गई। तरुण चेहरा अब बूढा हा गया था। बोच ने समय देखने का मौका नहीं मिला नही तो परिवतन इतना हुआ नही मालूम हाता। मधार्यीजा पहल बुद्ध क नाम स आकृष्ट हुए थ और अपन साथ बुद्ध का भी आयसमाजी बनाना चाहत थ, लेकिन अब वह काफी आग बढे थे। नवाबपुरा म श्री छैलविहारी कटक न गिरिता की एक छाटी-सी बैठक हिन्दी प्रचारिणी सभा म की। कटकजी जलपान कराना चाहत थ लेकिन इस वक्त ता एक एक मिनट का बहुत मूल्य था। वहां से नरणार्थियों की बस्ती म एक सिनमा म चायपान के लिए मित्र लाग ले गए, फिर नागरी प्रचारिणी सभा म। प०लक्ष्मीधर वाजपेयी सभा के अध्यक्ष थे। वाजपेयीजी का सारा जीवन हिन्दी की सवा म लग रहा था। उन्होंने पत्र-सम्पादन किय, पुस्तकें लिखी प्रकाशन किये। मर लिए ता सब स बडी बात यह थी कि हिन्दी साहित्यकारा म सबम पुराने और पहल इन्हीं का आगरा म मैंन श्रद्धा वनत दृष्टि स देखा। भाषण क बाद कानपुर के महासेठ श्री रामरतन गुप्त क यहाँ पत्रकारा स भेंट और भाजन हाना काम करना था। इस प्रकार वह सारा दिन कानपुर म अत्यन्त व्यस्त रहा। कानपुर म मेरे लिए ता यह परम्परा-सी बन गई है, कितना हा बचने पर भी दिन म चार-पाँच सभाओं म जाकर बालना मामूली बात थी। १० बजे रात की गाडी पकडकर १ बजे प्रयाग पहुच छाटी लाइन (ओ० टी० आर०) पकडी।

८

वैशाली में (१९४८)

छोटी लाइन की गाडी में चढ़ने पर दिल गरियार बैल बन जाता था। बनारस तक गाडी खूब जोर से चली फिर छकड़ा बन गई। भीड थी पर सेकेंड क्लास में उतनी नहीं थी। बलिया और छपरा के आसपास श्रेणी-विभाग हट ही जाता है, लठियल लोगों की भूमि है, टिकट कलक्टर भी अपनी जान को सस्ती नहीं समझते। मानपुर में पहुंचने पर मालूम हुआ, गाडी दो घंटा लेट है। अब डिब्बे में दो ही आदमी रह गये और सोने का मौका मिला। ३ बजे रात को मुजफ्फरपुर पहुंचे। उस रात को कहीं जाना-आना मुश्किल होता लेकिन सेक्रेटरी मौजूद थे। नींद अभी पूरी नहीं हुई थी, जाकर सो गया। बिजली के पंखे के नीचे पड़ा था लेकिन सामने मधुर नाद करके मच्छर बस धप धरते। मालूम होता था गुच्छे-के-गुच्छे बनकर सिर पर धावा बोल रहे थे। आखिर सिर को भी ढांकना पड़ा।

हमारे मेजबान श्री दिग्विजयसिंह थे। इनके दादा बाबू लंगटसिंह एक मामूली चपरासी थे। फिर अपने अध्यवसाय से लाखों रुपये कमाए लेकिन गरीबी में पले होने पर भी रुपया उनका अपना सेवक नहीं बना सका। उन्होंने मुजफ्फरपुर में शिक्षा के प्रचार के लिए लाखों दिया और उसी से ग्रियर भूमिहार कालेज बना। अंग्रेजों का नाम रखने पर कालेज की [illegible] में सहायता होती है, इसलिए यह नाम रखा गया।

(अब उसका नाम लंगटसिंह कालेज है)। किन्तु दादा के बचपन की गरीबी का नाम सुनकर उन्हें उसका क्या परिचय मिल सकता है। कालेज में नव संस्कृति केन्द्र में जाकर डेढ़ घंटा बोलना पड़ा। दोपहर को भोजन कर दिग्विजय बाबू के घर पर रह गये, और ४ बजे उन्हीं के साथ मोटर में वैशाली की पुनीत भूमि के लिए रवाना हुए। भारत के लिए उसका स्थान वैसा ही है, जैसा यूरोप के लिए एथेंस का। आखिर हमारा भी ध्येय गण राज्य ही है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर (आई० सी० एस०) जब यहाँ सब डिवीजनल आफिसर थे, तो उनका ध्यान वैशाली की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने ही भूली वैशाली को लोगों के सामने लाने का प्रयत्न किया। वैशाली को आजकल बसाढ़ कहते हैं। पुरानी वैशाली के अवशेष कोल्हुआ बनिया, चमार आदि कितने ही गाँवों में फैले हुए हैं। सरकारी और गैर-सरकारी सभी लोग वैशाली महोत्सव की तैयारी में लगे हुए थे। अप्रैल का गर्मियों का महीना समाजों के लिए अनुकूलता नहीं है पर इसी ऋतु में वैशाली में श्रमण महावीर का जन्म हुआ था। कृषि विभाग और सहयोग समिति की प्रदर्शनी हो रही थी। तम्बू पड़े हुए थे। दोपहर के वक्त इन तम्बुओं के भीतर रहने वालों की क्या गति बनती होगी? पर मुझे यह ख्याल नहीं था कि उनके लिए गर्मियों में पहाड़ का रहना अस्वाभाविक और यहीं रहना स्वाभाविक था।

जरा धूप कम होने पर हम घूमने के लिए निकले। कोल्हुआ में अशोक स्तम्भ देखने गये। यद्यपि वह साधु की कुटिया के आँगन में पड़ गया है लेकिन उसका ऊपरी भाग बहुत देर से दिखाई पड़ता है। अशोक ने वैशाली के महत्त्व को दिखलाने के लिए इस स्तम्भ को स्थापित किया था। शायद यहीं महावन कूटागारशाला थी जहाँ भगवान् बुद्ध अक्सर आकर रहा करते थे। बाहर ११वीं १२वीं शताब्दी की मुकुटधारी बुद्ध प्रतिमा थी जिसके दायक ने उस पर खुदवा दिया था—'देय धर्म्मोयं प्रवरमहायानियायिन करणिकोच्छाट माणिक्य-सुतस्य।' जिससे मालूम हुआ कि इस मूर्ति के बनवानेवाले कायस्थ उच्छाट थे, जिनके पिता का नाम माणिक्य था। करणिक

८

वैशाली में (१९४८)

छोटी लाइन की गाड़ी में चढ़ने पर दिल मरियार बैल बन जाता था। बनारस तक गाड़ी खूब जोर से चली, फिर छकड़ा बन गई। भीड़ थी पर सेकेंड क्लास में उतनी नहीं थी। बलिया और छपरा के आसपास श्रेणी विभाग हट ही जाता है, लठियल लोगों की भूमि है, टिकट कलक्टर भी अपनी जान को सस्ती नहीं समझते। सोनपुर में पहुंचने पर मालूम हुआ, गाड़ी दो घंटा लेट है। अब डिब्बे में दो ही आदमी रह गए और सोने का मौका मिला। ३ बजे रात को मुजफ्फरपुर पहुंचे। उस रात का कहीं जाना आना मुश्किल होता लेकिन सेक्रेटरी मौजूद थे। नींद अभी पूरी नहीं हुई थी, जाकर सो गया। बिजली के पंखे के नीचे पड़ा था लेकिन सामने मधुर राग दंगपर मच्छर बस धर्य धरते। मालूम होता था गुच्छे-के गुच्छे बनकर सिर पर धावा बोल रहे थे। आखिर सिर को भी ढंकना पड़ा।

हमारे मेजबान श्री दिग्विजयसिंह थे। इनके दादा बाबू लंगटसिंह एक मामूली चपरासी थे। फिर अपने अध्यवसाय से लाखों रुपये कमाए लेकिन गरीबों में पले होने पर भी रुपया उनको अपना सेवक नहीं बना सका। उन्होंने मुजफ्फरपुर में शिक्षा के प्रचार के लिए लाखों दिया और उसी से ग्रियर भूमिहार कालेज बना। अंग्रेजों का नाम रखने पर कालेज की स्थापना और वृद्धि में सहायता होती है, इसलिए यह नाम रखा गया।

(अब उसका नाम लंगटसिंह कालेज है)। किन्तु दादा के बचपन की गरीबी का नाम सुनकर उन्हें उनका क्या परिचय मिल सकता है। कालेज में नव संस्कृति केन्द्र में जाकर डेढ़ घंटा बोलना पड़ा। दोपहर का भोजन कर निविनय बाबू के घर पर रह गये और ४ बजे उन्हीं के साथ मोटर से वैशाली की पुनीत भूमि के लिए रवाना हुए। भारत के लिए उसका स्थान वैसा ही है जैसा युरोप के लिए अथेन्स का। आखिर हमारा भी ध्येय गण राज्य ही है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर (आई० सी० एस०) जब यहाँ सब डिवीजनल आफिसर थे तो उनका ध्यान वैशाली की ओर आकृष्ट हुआ, और उन्होंने ही भूली वैशाली को लोगों के सामने लाने का प्रयत्न किया। वैशाली को आजकल बसाढ़ कहते हैं। पुरानी वैशाली के अवशेष कोल्हुआ बनिया बसाढ़ आदि कितने ही गाँवों में फैले हुए हैं। सरकारी और गैर-सरकारी सभी लोग वैशाली महोत्सव की तैयारी में लगे हुए थे। जेठ का गर्मियों का महीना समारोह के लिए अनुकूल तो नहीं है पर इसी ऋतु में वैशाली में श्रमण महावीर का जन्म हुआ था। कृषि विभाग और सहयोग समिति की प्रदर्शनी हो रही थी, तम्बू पड़े हुए थे, दोपहर के वक्त इन तम्बुओं के भीतर रहने वाले की कैसी गति बनती होगी? पर मुझे यह ख्याल नहीं था कि उनके लिए गर्मियों में पहाड़ का रहना अस्वाभाविक और यहाँ रहना स्वाभाविक था।

जरा धूप कम होने पर हम घूमने के लिए निकले। कोल्हुआ में अशोक स्तम्भ देखने गये। यद्यपि वह साधु की कुटिया के आंगन में पड़ गया है लेकिन उसका ऊपरी भाग बहुत दूर से दिखाई पड़ता है। अशोक ने वैशाली के महत्व को दिखलाने के लिए इस स्तम्भ को स्थापित किया था। शायद यहीं महावन कूटागारशाला थे जहाँ भगवान् बुद्ध अक्सर आकर रहा करते थे। बाहर ११वीं १२वीं शताब्दी की मुकुटधारी बुद्ध प्रतिमा थी जिसके दामन ने उस पर खुदवा दिया था—'देय धर्म्मोयं प्रवरमहायानयायिनः करणिकोच्छाट माणिक्य-सुतस्य।' जिससे मालूम हुआ कि इस मूर्ति के बनवानेवाले कायस्थ उच्छाट थे, जिसके पिता का नाम माणिक था। करणिक-

या करनन कायस्थ आज भी तिरहुत म हाते है यद्यपि भोजपुरा भूभाग–जा वैशाली से कुछ ही मील पर बहती गण्डक क दूसरे पार स "गुरु" हो जाता है—म रहनवाले कायस्थ श्रीवास्तव मुक्ति (प्रवश) क निवासी हैं। वशाली अपन बुद्ध भक्त कायस्थों के लिए मशहूर है। उसने सस्कृति के दिग्गज पडित बौद्ध आचार्यों को भी पदा किया। कायस्थ प० गयाधर यहीं क थ, जिन्ह सस्कृत के ग्रथो के अनुवाद के लिए तिब्बत बुलवाया गया।

वाल्हुआ स चक रामदास और बनिया गाँव म गये। य गाव पुरान ध्वसावशेषा पर बसे हैं। बनिया क श्री विजलीसिंह अधिक पढे लिखे नही थे लेकिन उनको पुरानी चीजा क जमा करन का शौक था। काफी चीजों के एकत्रित हो जान पर गुणग्राहकों का उनके दशन के लिए पहुँचना स्वाभाविक है। विजलीसिंह के घर पर बडे बडे लोगो के आने से गाँव वालो म से कुछ को ईर्ष्या होनी भी स्वाभाविक है। वह उस समय मौजूद नही थे। हमारी जीप लौट आई, और भोजन करके हम फिर वहाँ पहुचे। उनके सग्रह म कितने ही मौर्यकालीन और कुषाणकालीन सिक्के थ। मिट्टी की पुरानी मूर्तियाँ तथा और भी कितनी ही चीजें उन्होने अपने खपडल के घर म सजा रखी हैं। उनका यह प्रेम सराहनीय था किन्तु पुरानी सामग्री क लिए यह स्थान सुरक्षित नही समझा जा सकता। एसी महत्वपूर्ण सामग्री का व्यक्ति क हाथ म रहना भी मैं ठीक नही मानता। यह जरूरी नही कि भक्त की सन्तान भी भक्त हो इसलिए पीछे इन चीजा क तितर बितर हो जान का डर था। विजलीसिंह अब भी अपन काम म लगे हुए थे। जनवरी (१९५६) म मुझे आया सुनकर वह पटना आए और बराबर साथ रहने लगे। जब मैं कलकत्ता जान लगा तब भी वह स्टेशन पर मौजूद थ। मैं उनके चेहरे को भी भूल गया था, और नाम को भी। अक्सर एसा होता है, कि नाम और चेहरे दोनो को एक साथ मैं याद नहीं कर सकता किन्तु अलग अलग याद कर सकता हूँ। लेकिन इस समय दोनो नही याद आ रहे थे। विजलीसिंह समझते होंगे, मैं उन्हें पहचान रहा हूँ। चाहे पहचान भी न पाऊ तो भी थोडे समय के परिचित

पुरुष के सामने भी वैसा व्यवहार करना मेरा स्वभाव नहीं है, जिससे उसके हृदय पर ठेस पहुँचे। यदि बिजलीसिंह ने अपना परिचय दे दिया होता कि मैं वही आदमी हूँ, जिसने बनिया में पुरातात्विक वस्तुओं का संग्रह कर रखा है, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, और पिछले आठ वर्ष के उनके काम के बारे में पूछता और सुनता। मैं सारे समय उन्हें पहचान नहीं सका। मेरे दोस्त कहने लगे यह आदमी खुफिया पुलिस का है। मैंने उनसे यह तो कह दिया—"पुलिस ऐसे सीधे-सादे आदमी से मेरे बारे में अपना काम नहीं ले सकती।" हाँ, पुलिस स्वतंत्र भारत में भी मेरे पीछे वैसे ही परेशान है जैसे अँग्रेजों के समय में। मुझे पीछे अफसोस हुआ, जब मालूम हुआ कि वह सीधे सादे व्यक्ति बिजलीसिंह ही थे।

बनिया में और जगहों पर भी खेतों में कभी कभी कुइयाँ निकल आती हैं। ये कुइयाँ वृत्ताकार एक ईंट से बनी होती हैं। आजकल ऐसी ईंटों के बनाने का यहाँ रवाज नहीं है। लेकिन छपरा गोरखपुर, बस्ती के तीन जिलों को पार कर चौथे गोंडा जिले में यदि हम जायें, तो आज भी ऐसी ईंटें बना और पकाकर लोग कुइयाँ तैयार करते हैं। ये सस्ती पड़ती हैं। मामूली खर्च के पानी के लिए काफी भी होती हैं। एक जगह पास पास तीन कुइयाँ थीं। लोगों की समझ में नहीं आ रहा था, कि इतने पास पास कुइयों के बनाने की क्या जरूरत थी। लेकिन ये कुइयाँ तो थीं नहीं ये तो संडास की कुइयाँ अर्थात् गूथकूप थे। उस समय सामाजिक स्वास्थ्य और नागरिक सफाई की ओर लोगों का ज्यादा ध्यान था इसलिए हर घर में गूथकूप के रहने की आवश्यकता थी। यहाँ के लोगों को यह समझाने में बहुत दिक्कत भी नहीं हुई क्योंकि गूथकूप का ढक्कन तीन टुकड़ों में टूटा वहाँ मौजूद था। इसके बीच में एक बित्ते का गोल छेद था, पावदान भी बना था और आगे छोटा छेद पेशाब गिरने के लिए था। लोगों को यह विश्वास हो गया, लेकिन वह कुइयाँ समझकर उसका पानी पी रहे थे। मैंने कहा, इसकी पर्वाह न कीजिए। कुछ ही महीने में पाखाना गामा के फूल का रूप ले लेता क्या उसे

अभक्ष्य समझा जाता है ? और ये सूपस्तूप तो आज से सहस्राब्दी पहले इस्ते माल किये जाते होंगे।

२१ को भी सवेरे हम पुरानी वैशाली की परिक्रमा में निकले। बावन पोखर पर एक शिला में गणेश और सप्तमातृका की मूर्तियाँ खुदी हुई देखी। पास ही में बुद्ध फिर छठे तीर्थंकर पद्मप्रभु सिंहनाद अवलोकितेश्वर हर गौरी और विष्णु की मूर्तियाँ थी। इनमे विष्णु की मूर्ति सबसे पुरानी थी बाकी ११वीं १२वीं सदी की थी। अवलोकितेश्वर की खण्डित मूर्ति बडी ही सुन्दर थी। यहाँ से दक्षिण भगवानपुर रत्ती गये। वैशाली के लिच्छ वियो की एक शाखा ज्ञात थी जिसे पालि में ञाती ञात या नत्ती भी कहा जाता है। तीर्थंकर महावीर को वैशालिक और ज्ञातपुत्र (पालि नात पुत्र) कहा गया है। उनके वैशाली में उत्पन्न और ज्ञातृ सन्तान होने मे कोई सन्देह नहीं लेकिन अभी बहुत से जैन इस मानने में आना कानी कर रहे हैं। बीच में इस भूमि में जैनो के उच्छिन्न हो जाने और पीछे स्थानो का मनमाना प्राचीन नाम रखकर तीर्थ बना लेने के बाद इनके लिए यह हिचकिचाहट स्वाभाविक है। भगवानपुर रत्ती का अर्थ है रति परगने का भगवानपुर। भगवानपुर नाम के कितने ही गाँव हैं इसलिए यह विशेषण लगाना पडा। रत्ति नत्ति या नात का ही बिगडा हुआ रूप है। आजकल भी इस परगने में जथरिया भूमिहार बहुत बडी संख्या में रहते हैं। यह लिच्छवियो की उसी ज्ञातृ शाखा की सन्तान हैं नात से ही जथरिया शब्द बना। महावीर भी काश्यप गोत्र थे और यह भी काश्यप गोत्री हैं। नात लोग क्षत्रिय थे और ये अपने को भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं, यह भेद जरूर है जिसका समाधान मुश्किल नहीं है। यहाँ कोई विशेष चिह्न नहीं मिले होगा भीता जमीन बना हुआ है। यह गाँव उसी स्थान पर है जहाँ वैशाली का पश्चिमी द्वार था और जहाँ से ही बुद्ध अन्तिम बार कुसिनारा की ओर जाते वक्त निकले थे। जलपान के बाद महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में होनी जैन सभा में भाषण दिया फिर जीप पर चलना धूप में निकल पडे। शम्मन छपरा की

बाग में चार पांच हाथ नीचे अर्थात् १२ १३ सौ साल पहले (गुप्त काल में) की एक चार मुखों वाला विशाल मुखलिंग देखा। यह गुप्त काल से पहले का होगा। शायद यही वैशाली के पूर्व द्वार के बाहर चैत्य रहा होगा। चैत्य उस समय पूज्य चौतरे को कहते थे और वह बौद्धों के ही नहीं, दूसरों के भी होते थे।

शाम के साढ़े ५ बजे बिहार के राज्यपाल अणे साहब आए। भीड़ थी लाउडस्पीकर ठीक से काम नहीं कर रहा था, इसलिए सुनाई देना मुश्किल था। लाटसाहब भाषण देकर थोड़ी देर बाद चले गए। मैंने भी अपना कागजी पर लिखा भाषण दिया। कितने ही प्रस्ताव पास हुए। उस समय बातचीत हो रही थी कि वैशाली में प्राकृत का एक शोधपीठ या इन्स्टीटयूट कायम किया जाए। बिहार ने पीछे दरभंगा में संस्कृत इन्स्टीटयूट, नालन्दा में पालि इन्स्टीटयूट और वैशाली में प्राकृत इन्स्टीटयूट कायम किया। इन तीनों स्थानों में दरभंगा ही ऐसा है जहां अनुसंधान के लिए काफी सामग्री मौजूद है। वहां शहर है। एक अच्छा-खासा डिग्री कालेज है और महाराजा की बहुत बड़ी निजी लाइब्रेरी भी है। बाकी दोनों स्थानों में हरेक चीज का बन्दोबस्त स्वयं करना पड़ेगा। लाखों की इमारतें खड़ी करनी होंगी, फिर एक बड़े पुस्तकालय को तैयार करना पड़ेगा, और सबसे बड़ी दिक्कत यह कि सैकड़ों छात्रों और शोधकर्ताओं को वहां लाकर रखना आसान नहीं होगा। खैर, इन स्थानों का अपना महत्त्व है। नालन्दा को भुलाया नहीं जा सकता, पर वहां केवल पालि इन्स्टीटयूट कायम करना ठीक नहीं है। बौद्ध वाङ्मय और बौद्ध जगत् की भाषाओं के अध्ययन का वहां केन्द्र बनाना चाहिए। वैशाली में जैन वाङ्मय ही नहीं, राजनीति और गणराज्यों के इतिहास के अनुसंधान केन्द्र बनाने चाहिए। दरभंगा में मिथिला इन्स्टीटयूट रहे।

प्रयाग—वैशाली से ११ बजे रात को चलकर १ बजे की ट्रेन पकड़ी। छपरा पहुँचते सवेरा हो गया। गर्मी बहुत मालूम हो रही थी, पछवा से लू की लपट निकल रही थी। इधर यह गर्मी थी, जो कह रही थी जल्दी भाग

जाओ उधर आमों में टिकोरे (कैरियाँ) झूम झूमकर कह रहे थे— 'हम कुछ ही दिनों में बड़े पीले और मीठे हो जाएँगे। फिर आमों से वंचित क्या होने जा रहे हो?' एक बार आम साचकर नीचे रखना चाहता था दूसरी बार गर्मी भगाकर पहाड़ पर पहुँचाना चाहती थी। और पहाड़ पर भी हम अब के साल कनौर जा रहे थे, जहाँ पक्के आम किसी तरह भी सही सलामत नहीं पहुँच सकते। निर्विजय बाबू ने बहुत अच्छे आमों का टोकरा रेल द्वारा शिमला भेजा। वह समझते थे, मैं शिमला ही के आसपास कहीं रहता हूँ। दिल्ली शिमला से आठ-दसवें दिन डाक द्वारा चिनी पहुँची। उस वक्त मैं यही मनाने लगा था अगर रेल से किसी ने चुराकर टोकरे को खा लिया होता तो बहुत अच्छा।

प्यास बहुत सता रही थी। भोजन करना मुश्किल था। साढ़े ७ बजे शाम को प्रयाग पहुँचकर सत्यनारायण कुटीर में चला आया। टाइप करने का काम कागज के लिए रुका हुआ है यह जानकर बड़ी झुंझलाहट पैदा हुई। टण्डनजी पर भी क्रोध आ रहा था बड़ दीर्घसूत्री अनिश्चयात्मक वृत्ति के पुरुष हैं। स्वतिन काम को तो घाट पर पहुँचाना ही था। सुनीति बाबू ने सरकारी कामों में व्यवहार्य परिभाषाएँ बनाई थी। इसमें पदाधिकारियों और कार्यालयों के नामों की ही सूची थी किन्तु निर्माण का ढंग बहुत अच्छा था। हमने उनमें से बहुतों को स्वीकार कर लिया। जो शब्द अकारान्त थे उनके साथ अब उन्हें अंग्रेजी और हिन्दी में टाइप कराना था। इसमें भी हमने कुछ आदमियों को लगा दिया। इसी समय सम्मेलन के कर्मचारियों ने वेतन-वृद्धि के लिए माँग की। आखिर यह जानते थे कि सरकार भी ४० ४४ हजार की सहायता देने जा रहा है। फिर उनका ही वेतन क्यों कम रहे? २३ तारीख को स्मरण किए भी मनमलाहट हुई कि चन्द्रग्रहण के कारण हमारे साथ काम करने वाले लोग त्रिवेणी स्नान करने चले गए। विद्यानिवासजी जान तोड़कर काम कर रहे थे। हमारी योजना के अनुसार उन्हें नाम के सिलसिले के लिए कलकत्ता, कटक और नागपुर जाना जरूरी था। मैं चाहता था पहाड़ के लिए प्रस्थान करने से पहले

के आ जाने तो आगे का दिना निर्देन मामन ही कर दिया जाना। लेकिन अभी टाइपिस्टों का ही कोई ठीकठाक नहीं हो रहा था।

बीच में कुछ दिना अनुपस्थित रहने के कारण कुछ कामों को दुबारा करना पड़ा। विद्यानिवासजी संस्कृत का मोह नहीं छोड़ सके और उन्होंने बहुत से संस्कृत शब्द दिए। हमारा काम लोगों को भाषा सिखलाना नहीं था बल्कि जितने शब्दों का हिन्दी में प्रचार है, उन्हीं से नये शब्दों का गढ़ना था। तीन दिन का काम बढ़ गया। खैर, पहल पहल ऐसा होना स्वाभाविक था। २४ तारीख को माचवेजी भी आ गए। वह भी विद्यानिवासजी की ही तरह मुस्तैद थे। यदि विद्यानिवासजी दाहिने हटना चाहते थे, तो यह उन्हें खींचकर बीच में रखने में समर्थ थे। उस दिन तापमान ११० डिग्री तक पहुंचा। पंखा गरम हवा देने लगा।

२६ को बनारस से रायकृष्णदास पधारे। वह विशेषतौर से देखना चाहते थे, कि हम उसी काम को नहीं दोहरा रहे हैं, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा कर रही है। सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा की प्रतिद्वंद्विता से मुझे कुछ लेना देना नहीं था। मैंने उन्हें परिभाषा समिति का प्रस्ताव दिखला कर बतलाया कि हमारे काम एक दूसरे के पूरक होने चाहिए। रायसाहब ने मुझे इन्सुलिन लेने की सलाह दी। दो चार सुई लेने के लिए तो मैं तैयार था लेकिन अभी प्रतिदिन सूई को चुभाने से भागता था। यह भी मन के किसी कोने में आशा थी—"शायद देवहिमालय कृपा कर, वर्षों प्रतिदिन दो घंटा टहलना है ही।" पक्रिया-प्रवि के पत्मान लेने से शरीर में क्या परिवर्तन होता है यह कुछ कुछ दिखाई देने लगा। प्यास और पेशाब दोनों एक साथ जोर करने, मुंह का स्वाद बुरा रहता, चमड़ा रूखा तथा मन में एक तरह की निर्बलता मालूम होती। डा० रवि वर्मा ने पेशाब देखकर बतलाया कि चीनी बहुत अधिक है। ८ बजे इन्सुलिन की सूई ली। ३ घंटे बाद ११ बजे रात को मुंह के स्वाद में अन्तर मालूम होने लगा। फिर भी सोच रहा था, इंजेक्शन बड़ी बुरी बला है सूई को गरम पानी में उबाल कर साफ रखना होगा, फिर इंजेक्शन का सारा सामान—इन्सुलिन सिर-

रिट रुई सूई चिमटा आदि—सब पास रखना होगा। साफ दिखाई देने लगा कि यह सारा तरददुद अकल कंधे पर उठाया नहीं जा सकता, पर अबकी बार तो हिमालय अकेले ही जाने का निश्चय किया।

२८ तारीख को शाम-सवेर दोनों समय इंसुलिन का इंजेक्शन लिया। शाम को सवेर से दून परिमाण में।

२८ को तिब्बत की कुछ बातें मालूम हुई। पता लगा सरकार और सेरा विहार के भिक्षुओं में झगड़ा हो गया। सेरा में निश्चित रडिंग लामा तेरहवें दलाई लामा के मरने के बाद तिब्बत के रिजेन्ट हुए थे। मेरे मित्र गेन्‌ तन्‌दर उनके अध्यापक रहे। तन दर अब सेरा के एक विभाग के खम्बो (डीन) थे। वह बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् थे। बाहरी मंगोलिया को अपनी भूमि को छोड़कर २५ ३० वर्ष से सेरा में पहले विद्यार्थी और फिर अध्यापक रहे। यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि इस झगड़े में मुठभेड़ में सिपाहियों ने गेन्‌ तन्‌ दर को मार डाला। उनकी सर्वतोमुखी विद्या का उपयोग अब होनेवाला था। इतना बहुमूल्य जीवन इतनी जल्दी समाप्त हो गया। मेरे दूसरे मित्र और साथी गेशे धर्मवर्धन छाम्‌फेल (सघधमवधन) के बारे में पता लगा कि प्रगतिशील विचारों वाली अपनी पुस्तक के छपवाने के लिए उन्हें जेल में बन्द कर दिया गया है जितना ही बार कोड़े लगाए गए। धमवधन अच्छे चित्रकार थे उत्तम कवि और साथ ही दर्शन के पंडित थे। मेरे साथ रहने का प्रभाव पढ़ने में उनके विचार भी मार्क्सवादी हो गए। नवीन तिब्बत को उनसे बहुत आशा हो सकती थी लेकिन वह भी समय से पहले ही चल बसे। गेशे धर्मकीर्ति मेरे साथ दो बार भारत आ चुके थे। वह खवाल के पास के मंगोल थे। वह आजकल तिब्बती व्यापार बना रहे थे। मैं प्रयाग में था और ये शानजनक घटनाएँ हिमालय पार सुदूर ल्हासा में घट रही थीं। पर मालूम होता था वे मेरे सामने हो रही हैं। मेरा चित्त बहुत खिन्न था।

अब मैं डायबटीज की ओर से अधिक उपेक्षा करने के लिए तैयार नहीं था। ६० यूनिट इंसुलिन का इंजेक्शन देने पर पेशाब की जाँच रहती।

२६ तारीख को दिन में तीसरी बार इंजेक्शन लिया। डा० गजिवर्मा ने इन्सुलिन, पेनिसिलीन, पिचकारी, गरम करने का चम्मच और दूसरी सारी चीजें जमा कर दीं। सब पर १०६ रुपये खर्च आये। डाक्टर ने अपनी फीस लेने से इन्कार कर दिया। मैं ऐसी जगह जा रहा था, जहाँ इंजेक्शन देने वाला कोई नहीं मिलता, इसलिए ३० अप्रैल को अपने हाथ से इंजेक्शन लिया।

इसी दिन कोश प्राय: समाप्त हो गया। टाइपिस्ट अंग्रेजी और हिन्दी में शब्दों को टाइप करने में लगे हुए थे। विद्यानिवासजी भी घर जाकर लौट आए। जिस सिद्धान्त के अनुसार हम परिभाषाओं का निर्माण कर रहे हैं, इस पर एक लेख भी तैयार किया।

२ मई को रविवार था। आज सम्मेलन कार्य-समिति की बैठक हुई। "शासन शब्दकोश" का दफ्तर विसर्जित हो गया, और समिति ने विधान की परिभाषाओं के लिए भी पाँच हजार रुपये मंजूर किए। अगले दिन मुझे हिमालय के लिए रवाना होना था। आनन्दजी का बहुत आग्रह था कि मैं किसी को अपने साथ ले जाऊँ, किन्तु मुझे किन्नौर जाना था, वहाँ की यात्रा में कई कठिनाइयाँ आ सकती थीं, जिनका सामना करने के लिए हरेक आदमी तैयार नहीं हो सकता था। इसलिए मैंने प्रयाग से अपने साथ किसी को ले जाना पसन्द नहीं किया। इतना विश्वास तो हो ही गया था, कि शिमला से कोई आदमी मिल जाएगा। हाँ, यह बन्दोबस्त इसी यात्रा के लिए था। अब तो मालूम होने लगा था कि किसी आदमी को साथ रखना होगा, जो लिख भी सके और इंजेक्शन भी दे सके।

९

किन्नर देश में

३ मई को साढ़े ८ बजे मैं कालका मेल से प्रयाग से रवाना हुआ। कितने ही मित्र मिलने आए। दवाइयों का एक पार्सल घर पर ही छोड़ गए। कई चीजों को साथ रखने में ऐसा होता ही है। उस पार्सल में मूत्र परीक्षा की दवाई थी। हमारे डब्बे में दो बंगाली सज्जन थे, जिनमें एक दिल्ली और दूसरे कालका तक के साथी थे। थोड़ी ही देर में हम चिरपरिचित से हो गये। साथ में एक अंग्रेज भी चल रहे थे। वह बीस साल से दार्जिलिंग के चायबगानों के प्रबन्धक थे। चायबगान भी तो अब अंग्रेजों के हाथ से निकल रहे थे। उत्तरी ईरान में चाय के बगीचे बनाए जा रहे थे। अब वह उन्हीं के लिए वहाँ बुलाए गए थे। वह चायबगान के कुलियों की सादगी की बड़ी प्रशंसा करते थे। क्यों न प्रशंसा करते, जब कि वह बिना कान पूँछ हिलाये उनके इशारे पर हर वक्त काम करने के लिए तैयार रहते थे। 'कम्युनिस्टों' से उनको जरूर शिकायत थी, क्योंकि वह कुलियों को भड़का रहे थे। दासों के युग में मनुष्य का पशु की तरह काम करना स्वामियों को स्वाभाविक मालूम होता था। आज भी करोड़ों का माल पैदा करनेवाले चायबगान के कुली आधे पेट रहकर काम करें, तभी वह भले मालूम होते हैं।

१२ बजे से ६ बजे तक चलती हुई ट्रेन में भी बड़ी गर्मी रही। खाना खाने का मन नहीं किया। ८ बजे बाद हम दिल्ली पहुँचे। दो घंटे से अधिक

गाड़ी रुकी रही। सीट रिजर्व थी, चार सीटें थीं और चार ही आदमी थे इसलिए रात को सोने का आराम रहा, और दिन में गप्-शप् में समय बीतते मालूम नहीं हुआ।

शिमला—४ मई को सबेरे हम कालका पहुँच गये थे। छोटी गाड़ी पकड़नी थी। दो सूटकेसों और बिस्तरे को लगेज में भेज दिया बाकी सामान साथ रखा था। चंडीगढ़ आया। यही पूर्वी पंजाब की राजधानी बनने जा रही थी। यह प्रयत्न मुहम्मद तुगलक के दौलताबाद बसाने से भी बदतर था। आखिर दौलताबाद में पहले ही से देवगिरि जैसा नगर मौजूद था और यहाँ जंगल में राजधानी बसने जा रही थी। जालंधर प्राचीन काल में भी एक बड़ी राजधानी था। आज भी एक बड़ा शहर, और उसमें कुछ ही मील पर कपूरथला के महल मौजूद थे। पंजाब की राजधानी होने के लिए वह सबसे उपयुक्त था, लेकिन समझाये कौन। मालूम हुआ, कि एक मंत्री की यहाँ बहुत सारी जमीन थी वह राजधानी के नाम पर लाखों रुपये में बिक गई। (चंडीगढ़ की राजधानी अब सरकारी तौर से उद्‌घाटित हो गई है, लेकिन, पंजाबी भाषा के छोर पर बसे इस नगर के सौभाग्य को पंजाबी भाषा किसी समय भी छीन सकती है)।

छोटी लाइन का डब्बा और इंजन भी छोटा था। ट्रेन छोटे-छोटे पहियों से बालक की तरह धीरे धीरे ऊपर साँप सी टेढ़ी मेढ़ी चढ़ रही थी। रास्ते में पहाड़ के भीतर कितनी ही सुरंगें मिलीं। चार हजार फुट की ऊँचाई पर पहुँचने के बाद गर्मी से छुट्टी मिली। यहाँ गेहूँ अब पक रहे थे। दोपहर के करीब शिमला पहुँच गये। स्टेशन पर प्रो० लाजपतराय नय्यर अपनी बहिन रजनीजी के साथ मौजूद थे। जीप पर चढ़कर ऊपर पहुँचे, और थोड़ी-सी चढ़ाई को पैदल पार करना पड़ा। फरग्राव बँगले पर पहुँचने में काफी थकावट हुई। मकान बड़े सुरम्य हरे भरे स्थान में था। सफाई और शांति चारों ओर विराज रही थी। रेल के लम्बे सफर के बाद स्नान करना अनिवार्य है। स्नान किया, लेकिन पेट खराब था, दर्द भी था और कई पतले दस्त और एक के भी हुई। ६ बजे रात को छुट्टी मिली। आज खाना नहीं खाया।

प्रो० नय्यर पंजाब सरकार के प्रचार विभाग के डायरेक्टर जेनरल (महा-निर्देशक) थे। उन्होंने कुछ फिल्में दिखलाई जिनमें गाव वालों के कुछ दृश्य थे, पर पेट के दर्द के मारे मन नहीं लग रहा था।

उस दिन शाम को शिमला की प्रधान सड़क—माल—पर टहलने गये थे। पंजाबी ललनाएँ सारे भारत में आधुनिकता में अव्वल रहती हैं। वे माल को पेरिस की फैशनवाली सड़क बना रही थी। परिस और भारत के फैशनों का यहाँ बहुत विचित्र सम्मिश्रण था। एक तन्वी ने चिकवन की पतली साड़ी और ब्लाउज पहनते वक्त यह ध्यान रखा था कि उदर का सौंदर्य ढँकने न पाए। यदि स्वस्थ और सुन्दर होती तो गुप्तकाल की मूर्ति सी सुन्दर मालूम होती, लेकिन थी वह बिल्कुल मुर्दैल। शाम को माल पर तो मालूम होता था कि सौन्दर्य और वेषभूषा की प्रदर्शनी हो रही है। ये पहाड़ी नहीं पंजाबी तरुणियाँ थी। तरुण पीढ़ी पिछली पीढ़ी को बहुत पीछे छोड़ गई थी। एक लड़की अपने भाई से कह रही थी— मैं अपने मित्र के पास जा रही हूँ। भाई ने जवाब दिया— तुम्हारा मित्र तरुण अमुक है ना ?' बीसवी सदी के मध्य में ही यदि यह देखा जा रहा है तो आगे कहाँ तक पहुँचेंगे इसे कहना मुश्किल है।

किन्नर देश की यात्रा का विस्तृत वर्णन मैं 'किन्नर देश में' कर चुका हूँ, जो कि 'हिमाचल प्रदेश' में भी लिया गया है इसलिए उन सब बातों को यहाँ दोहराना उचित नहीं। यहाँ संक्षेप में ही कुछ वर्णन करना होगा। शिमला में मैं ४ से १२ मई तक रहा। प्रो० लाजपतराय का मेहमान होकर। यह पंजाबी गुण हमेशा ही मुझे दिल के मेहमाननवाज मालूम हुए। प्रो० नैय्यर में ये गुण और भी अधिक थे। उनकी पत्नी भी हर तरह मुझे कोई तकलीफ न हो, इसका ध्यान रखती रहीं। यहाँ आकर इन्सुलिन को नियमपूर्वक लेना मैंने शुरू नहीं किया भोजन में भी संयम नहीं कर पाया। जाग जाने की धुन थी। पैदल चलने की कभी-कभी हिम्मत करता था लेकिन चढ़ाई में साँस फूलती देख कर घोड़े की आवश्यकता थी। स्वतंत्र भारत में अब २२ रियासतों को मिलाकर हिमाचल प्रदेश बना

दिया गया था, जिसके चीफ-कमिश्नर मेरे पुराने परिचित श्री एन० सी० मेहता थे। वैसे भी उनसे मिलता, किन्तु अब तो उनके प्रदेश में कई महीनों के लिए जा रहा था, इसलिए जरूरी था। टेलीफोन किया। मेहताजी अनुपस्थित थे, अपना नम्बर दे दिया, और सोचा यदि टेलीफोन आयगा तो मिलने चलेंगे। टेलीफोन आया और ७ मई को हिमाचल सरकार के सचिवालय में उनसे मिलने गया। सचिवालय जिस इमारत में था, उसका नाम हिमालयधाम रखा गया था। मेहताजी मित्र और व्यस्त होने पर भी उसका प्रदर्शन नहीं किया। कुछ बातें हुईं, उन्होंने कहा कि फल उत्पादन और सड़कों का निर्माण यह सबसे पहले करना है। कनौर में अंगूर के बगीचे हैं जिसमें जीप द्वारा वह आ सकें, सड़कों का ऐसा बन्दोबस्त करना होगा। यह भी कहा कि हम लोग लोक-कला की प्रदर्शनी में एक मण्डली बाहर भेजना चाहते हैं, उसके लिए ध्यान रखेंगे। मेरे लिए सबसे बड़ा काम यह हुआ, कि उन्होंने रामपुर के उच्चाधिकारी को पत्र लिख दिया, कि घोड़े भारवाहक और डाक बँगला आदि का प्रबन्ध कर दें तथा ठाणदार में १३ तारीख को एक घोड़ा और दो कुली तैयार रहें।

८ तारीख को मेरे देवला के साथी ठाकुर गोविन्दसिंह मिले। उनके साथ कनौर (स्पिलो) के ठाकुर गोपालचन्द नेगी भी थे, जो इलाहाबाद में एल० एल० बी० के द्वितीय वर्ष के छात्र थे। तीसरे पुरुष शाग निवासी नेगी ठाकुरसेन बी० एस सी०, एल एल० बी० थे। नेगी ठाकुरसिंह कृषि के ग्रेजुएट थे, नौकरी में चले गए थे, और अब हिमाचल के लिए कुछ करना चाहते थे। मालूम हुआ, कि चीनी का कमिश्नरी घर अब भी खाली पड़ा है, उसके एक भाग में अस्पताल है। नेगीजी ने अपने परिचितों को कई चिटिठयाँ लिख दीं।

उसी दिन कालीबाड़ी में गये। इसकी स्थापना १८१५ में उसी समय हुई थी, जब कि हिमालय के भारतीय पहाड़ों को अंग्रेजों ने नेपालियों से छीना था। बंगाली सबसे पहले पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आये। उनके भी कुछ लोग आधुनिकता में किसी समय सरपट दौड़े, लेकिन वह समय बहुत

पहले चीन चुरा। अब उनमें आधुनिकता, आधुनिक सज्जा वेष भूषा भी है पर गम्भीरता के साथ।

शिमला घूम फिरकर देखा। उसने दूर के बंगलों में भी गए। कुफरी में वनभोज भी किया। १२ मई के सवा ९ बजे रेस्तराँ में पंजाब के मंत्रियों ने चाय पार्टी दी, जिसमें डा० गोपीचन्द मुख्य मंत्री तथा दूसरे मन्त्री भी आये। उसी दिन दोपहर को पं० भगवतदत्तजी मिले। अब भी वह उसी तरह स्वाध्यायशील हैं और आर्य समाज के वैसे ही पक्षपाती भी। कालिदास और समुद्रगुप्त को वह ईसवी सन् के आरम्भ में ले जाना चाहते हैं और बुद्ध का ईसा पूर्व ७वीं सदी में। विचार भेद कितना ही हो, किन्तु हमारा वैसा ही मधुर सम्बन्ध था, जैसा १९१६ में। ४२ वर्षों का उन पर कोई प्रभाव नहीं है, यह जरूर ईर्ष्या की बात थी। लाहौर में वह शान्तिपूर्वक मॉडल टौन में अपने घर में रहा करते थे। निश्चिन्त जीवन था, देश का बँटवारा हुआ। ९ अगस्त (१९४७) को परिवार-सहित चले आये। कष्ट का जीवन है। घरबार नहीं। लड़का मध्य एसिया म्यूजियम में काम कर रहा है, पत्नी अमृतसर के एक विद्यालय में अध्यापिका हो गई थीं, यही सन्तोष की बात है।

१३ मई को साढ़े ७ बजे बस में हम रवाना हुए। २६ मील पर नारकण्डा तक बस जाती थी, जो ९००० फुट की ऊँचाई पर है। यहाँ से रामपुर ३२ मील था। लेकिन, हमारे लिए घोड़ा ठाणादार में आने वाला था। रास्ते में रामपुर हाई स्कूल के हेडमास्टर पं० दोलतरामजी भी इसी बस में आये थे। सामान के लिये पाँच रुपये में खच्चर किया और स्वयं ११ मील की यात्रा पैदल तय करने के लिए चल पड़ा। पहले घण्टे में रफ्तार चार मील रही, फिर कुछ सुस्त, नव मील के पास पहुँचने पर तब घोड़ा मिल गया। ठाणादार में डाक बंगले में ठहरे। शिमला में भारतीय प्रतिनिधि श्री दलीचन्दजी स्टोक के पुत्र, या प्रीतमसिंह और पुराने परिचित डा० नगेन्द्रसिंह आये मिले। बिल्कुल अपने में आ गये। रामपुर से आये घोड़े खच्चर मौजूद थे।

अगले दिन ६ बजे चलने से पहले रायसाहब देवदासजी परौंठे और फल लेकर आये। रात को पेट ठीक नही था इसलिये आज उपवास करने की सोची थी। फल ले लिये। नौला और निरत होते शाम होने से पहले ही रामपुर पहुँच गये। डाकबँगला नगर से दूर था। हमने बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया जब वहाँ के उच्चाधिकारी सरदार साहब ने अपने बँगले मे रहने के लिए कहा। वे क्वेटा मे रेवेन्यू अफसर थे। घर उजड़ने के बाद इधर चले आये। और अब इस काम पर थे। रास्ते मे एक जगह घोड़े ने पत्थर से गिरा दिया चार जगह घाव हो गया। इन्सुलिन लेना जरूरी था। हमारे मेजबान सूई देने मे दक्ष निकले। १५, १६ को रामपुर मे ही बिताया। रास्ते के लिए कुछ चीजें खरीदी, चिनी के बारे मे कुछ जानकारी प्राप्त की। रामपुर का राजा अभी लड़का था, राजमाता दुःखी थी। इस दिन के लिए कभी सोचा नही था। अब उनकी कोई पूछ नही थी। राजा के घोड़े और खच्चरों को भी सरकारी बनाया जा रहा था। तोशाखाने मे लाखो आभूषण रहे होंगे लेकिन सब पर ताला लगाकर उठ गए, जो दो चार हजार के थे उन्हे रानी को दे देने मे क्या आपत्ति थी? बेचारी अपने दुःखों का वर्णन करने अपने को रोक नहीं सकी और उसकी आँखो मे आँसू आ गये।

१७ तारीख को सवेरे साढ़े ६ बजे आगे के लिए रवाना हुए। सामान के लिए दो सरकारी खच्चर मिले थे। सवारी के घोड़े की पीठ कटी थी, मगर एक मील जाने पर मालूम हुआ, उसे लौटा दिया। नौ मील पर गौरा के डाकबँगले मे दोपहर के लिए ठहर गये। मार्च मे अखबारो मे रामपुर बुशहर मे प्रजा के विद्रोह के बारे मे पढ़ा था। गौरा का डाकबँगला भी उस समय विद्रोह का एक मुख्य स्थान था। मास्टर जगुलाल और प० सत्यदेव प्रजा के नेता थे। रियासत वाले अपनी पुरानी चाल चलना चाहते थे। सराहन मे जगुलाल को गिरफ्तार करके गौरा के डाकबँगले मे लाया गया। गिरफ्तार करनेवाली पुलिस स्वय गिरफ्तार हो गई। अगले दिन रियासत के जज, पुलिस के अफसर तथा दर्जन से अधिक सिपाहियो ने गोली चलाकर काम बनाना चाहा, लेकिन उन्हे आत्मसमर्पण करना पड़ा। कितने ही दिनो तक

रामपुर में प्रजा का राज्य रहा। मास्टर अनुलाल और पं० सत्यदेव के नेतृत्व ही के कारण लूट पाट नहीं हुई। अन्त में भारत सरकार ने पुलिस भेजी और बिना गोली चलाये ही शान्ति स्थापित हो गई।

आज २१ मील चलकर शिमला से १६वें मील पर अवस्थित सराहन के डाकबँगले में पहुँचे। सारी यात्रा पैदल हुई थी, इसलिये थकावट थी और अन्त की तीन चार मील की चढ़ाई तो बहुत ही कठिन मालूम हुई। बँगले पर पहुँचते पहुँचते चूर चूर हो गये थे। अध्यापक मोहनलालजी को पहले ही नेगीजी की चिट्ठी मिल चुकी थी। उन्होंने आराम का सारा प्रबन्ध किया, और २० रुपये पर अगले पड़ाव के लिए एक घोड़ा भी कर दिया।

माइम दौलतराम को पहले ही रवाना कर दिया। घोड़ा देखने में बड़ा रौबदार और मजबूत था। हमने सोचा था यह चलने में हवा से बातें करेगा पर वह वैसा साबित नहीं हुआ। शोल्डिंग नाला पार कर मैं एक दूकान में बैठा था। पास के खेत में खम्बा लोगों का तम्बू पड़ा हुआ था। खम्बा तिब्बती खानाबदोश हैं जो जाड़े में मानसरोवर प्रदेश और गर्मियों में दिल्ली और दूसरे भारत के शहरों में घूमा करते हैं। तिब्बती में बात करने पर मेरा और उसका आकर्षण हुआ। उसने चाय पीने के लिए बुलाया। चाय पीने से भी बढ़कर मुझे तिब्बत और खम्बा लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा थी। तरुण का बौद्ध धर्म में अनुराग था, ब्राह्मण धर्म को वह झूठा धर्म समझता था। उसकी जानकारी काफी थी। उसने कम्युनिस्ट पार्टी का भी नाम सुना था, शायद यह मालूम नहीं था कि दो साल बाद तिब्बत में कम्युनिस्ट पार्टी की दुंदुभि बजने लगेगी। वह चाहता था भोट में भी गरीबों का शोषण बन्द होना चाहिये। उस दिन २३ मील चलकर साढ़े ५ बजे नचार पहुँच गए। चारों ओर देवदारों के सघन वन की छटा थी। इधर के जंगलों के कंजरवेटर का कार्यालय यहीं रहता है। कंजरवेटर ग्लिन साहब जालन्धर के रहने वाले थे। चाय पिलाकर उन्होंने अपना साग सब्जियों का बाग दिखलाया। अभी फल कोई नहीं तैयार था। नेगी ठाकुरसिंह ने चिट्ठी यहाँ भी लिख दी थी और बाबू

अमीचन्द ने बड़ी मदद की। सबेर की चाय डिप्टी साहब के यहाँ पी। फिर पगी से बाबू अमीचन्द साथ साथ चले। अगला डाकबँगला वगपू में था जिससे जरा ही नीचे सतलुज को पार करने के लिए लोहे का पुल था। रास्ता उतराई का था इसलिए घोड़ा रहने पर भी उसका कोई काम नहीं था। डाकबँगले पर ९ बजे ही पहुँच गये। सड़क के इन्स्पेक्टर श्री लक्ष्मीनन्द बड़े प्रेम से मिले। चार घण्टा विश्राम करने के बाद अब वह साथी बन गए। उन्होंने अपना घोड़ा और एक आदमी रागी तक के लिए दे दिया। वँगतू पुल सवा पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर है। हम किन्नौर की सब जगह में थे यह आसानी से मालूम हो सकता है। आगे कुछ दूर सतलुज का रास्ता रोक देने वाला पहाड़ आ गया। इसको तोड़ने में सतलुज को लाखों वर्ष लगे होंगे। पानी का रास्ता तो निकल आया लेकिन आदमी का रास्ता उतना खुला नहीं है। चार मील जाने पर बाबू लक्ष्मीनन्द को छोड़ दिया। कुछ देर समतल-सी जगह में चलने के बाद तीन मील की कड़ी चढ़ाई आई। घोड़ी देखने में कमजोर मालूम होती थी, लेकिन उसने पार कर दिया। १२५४ मील पर उरनी के डाकबँगले में विश्राम किया। यहाँ बालकों के स्कूल का अभाव बहुत खटकता था। हमने उनकी ओर से एक दरख्वास्त लिख दी। अब हम ठेठ किन्नर देश में थे। आजकल यहाँ का जीवन कितना महँगा था, यह इसी से मालूम हो जाएगा कि दोनों खच्चरों के रात को खाने के लिए ६ रुपये की घास खरीदनी पड़ी। आटा सवा रुपया सेर था जो भी सुलभ नहीं था।

२० मई को जलपान करके सबेरे रवाना हुए। जहाँ तहाँ चढ़ाई पर घोड़े की सवारी करते, अधिकतर पैदल चलते रागी पहुँचे। रागी से चार मील पहले जाड़े में बर्फ के सैलाब ने बुरी तरह से सड़क को तोड़ दिया था। बरास्ते दीवार-सी खड़ी चढ़ाई पर चढ़ना पड़ा। यदि उतराई होती तो मेरी तो हिम्मत नहीं होती, टूट जाने का डर था। रागी में नगी सन्तोषदास से मुलाकात हुई। सैलाब ने डाकबँगले को तोड़-मरोड़कर बहुत दूर फेंक दिया था। जंगल विभाग की मुस्तैदी के कारण यहाँ बहुत जगह

पर अच्छे देवदार वन लग गये हैं, और वनों की रक्षा भी हुई है। रारो गाँव में सब पुरानी, अंगराट अंगूर के बहुत से बाग हैं। यहाँ का काला छोटा अंगूर शताब्दियों से मशहूर रहा है। प्राचीनकाल में कन्नौज के राजाओं को भी यहीं से लाल शराब जाती होगी। गुजर प्रतिहारों के समय किन्नर देश अवश्य कान्यकुब्ज साम्राज्य के भीतर था।

चिनी—उसी दिन ५ बजे चिनी पहुँचकर जंगलात के डाकबंगले में ठहरे। कितने ही दिनों की इकट्ठा डाक मिली। उसीके पारायण में बहुत सा समय लग गया। अब ७ अगस्त तक के लिए चिनी घर हो गया। गाँव में ६० के करीब घर हैं। मिडिल स्कूल है, जिसके प्रधानाध्यापक पोस्ट-मास्टर भी हैं। यहाँ तहसील भी है, तहसीलदार और स्कूल के अध्यापक लोगों से परिचय हुआ। वे हर तरह से मेरी सहायता करने के लिए तैयार थे। अब मुझे मालूम हुआ, खान पान का प्रबन्ध अपने जिम्मे लेना बड़े सिरदर्द का कारण होगा। यह चिन्ता दूर हो गई, जब अगले दिन पुण्यसागर साथ रहने के लिए अकस्मात् आ गये। यह किन्नर हैं। किन्नर लोगों में अधिकांश लोग बौद्ध हैं। वे साधु होकर अब सानम् ग्यनुछा थे जिसका ही अनुवाद मैंने पुण्यसागर किया। वह छठे दर्जे तक पढ़े थे लेकिन पढ़ाई उर्दू में की थी। यदि हिन्दी में होती तो हम दोनों को ज्यादा फायदा रहता। फिर भी मेरे साथ रहते रहते वे हिन्दी काफी पढ़ने लग गये। भोजन के बारे में अब मैं निश्चिन्त रह सकता था। उस समय साग सब्जी का बड़ा अभाव था लेकिन खाने की चीजें दुकान में मिल सकती थीं। कुछ चीजों की दिक्कत जरूर थी लेकिन भूखे रहने की नौबत नहीं थी।

२१ मई को दोपहर बाद स्कूल में गए। यह बस्ती में सबसे ऊँची जगह पर अवस्थित है जहाँ किसी समय चीनी ठरम (ठाकुर) का दुर्ग था। अनगढ़ पत्थरों की दीवारें बनी थीं। दीवारों का पता नहीं है पत्थर जरूर मिलते हैं और मिट्टी के ढेर हुए। पुराने अवशेष के भीतर क्या छिपा है यह जानने की इच्छा प्रबल होना स्वाभाविक है। पर जिज्ञासा की पूर्ति होना आसान नहीं है। बहुत पीछे मैंने रहस्य जानने की कोशिश की और

जहा-तहा कुछ खुदवाया, पर उसमे पत्थर और जली लकडी मिली। यह दुर्ग वैसा ही रहा होगा जैसा यहाँ ल्वरग और कामरू मे अर्थात् बहुत कुछ वर्गाकार २० २५ हाथ लम्बी चौडी तथा छ मंजिला सतमंजिला इमारत, जिसमे लकडी का भी कुछ कुछ उपयोग है। धातु मे लोहे का सिर्फ एक बान का फल मिला। दुर्ग की एक तरफ चीनी गाव है और दूसरी तरफ कुछ नीचे हट कर तहसील और दूसरी सरकारी इमारतें। दुर्ग की एक ओर पहाड के लिए असाधारण काफी लम्बा चौडा एक खेत है जो चिनी के देवता का है। स्कूल मे डेढ सौ के करीब लडके पढते थे। दूर दूर गावो के लडके गरीबी के कारण तब तक यहा पढने के लिए नही आ सकते, जब तक कि उन्हे आर्थिक सहायता न मिले। खुला और ऊँचा होने से यह स्थान सर्द है, इसलिए नीचे अपेक्षाकृत कुछ गरम जगह मे जाने वाला था। डाकखाने मे एक बार साढे सात सौ रुपये से अधिक जमा नही किया जा सकता, इसलिए दो बार मे रुपयो को जमा किया।

जंगलात के डाक बंगले मे हम रह सकते थे किन्तु वह मुख्यत जंगलात के अफसरो के लिए है, इसलिए हम किसी दूसरी जगह रहना चाहते थे। रेंजर श्री देवदत्त शर्मा अमृतसर के निवासी तरुण और मिलनसार थे, वह अपनी नवपरिणीता पत्नी और बहिन के साथ बँगले के पास के क्वाटर मे रहते थे। हमारे यहा पैसा देने वाले अतिथि के रखने का इन्तिजाम नही, स्वतन्त्र प्रबन्ध करना तो आवश्यक था। वहा से कुछ फर्लांग हट कर सडक के ऊपर मिश्नरियो के मकान को देखने गए। सामने की इमारत अस्पताल के लिए थी, जिसमे वर्षों से कोई डाक्टर नही था और कम्पाउडर ठाकुरसिंह ही डाक्टर का काम करते थे। सबसे पीछे की कोठरियो मे ठाकुरसिंह का परिवार रहता था और बीच मे अच्छे खासे तीन चार कमरो की एक इमारत खाली पडी थी। इसी को हमने पसन्द किया। अगले दिन सामान लाने मे आदमियो के मिलने मे दिक्कत हुई, सयोग से वैशाख पूर्णिमा को बुद्ध-पूजा के लिए बहुत सी साधुनियाँ जमा हुई थी, उन्होने खुशी से हमारा सामान मिशनरी बँगले मे पहुँचा दिया। किसी समय वहाँ जर्मन मिशनरी

रहते थे फिर सान्क्शन आर्मी वाले आये। उस समय यहाँ का फल और फूलों का बाग बड़ी अच्छी हालत में था। माली अब भी था किन्तु बाग को कोई देखने वाला नहीं था। वर्षा में माली नहीं। १९२६ में मैंने यहाँ खूब बढ़ी खाई थी जो अब उच्छिन्न हो गई थी। नासपाती इंग्लैण्ड से मँगाकर लगाई गई थी अब भी उसमें बड़े-बड़े फल आते हैं। कितने शौक से इस बगीचे को लगाया गया होगा किन्तु अब यह बिल्कुल खतम हो रहा था।

२२ मई को तहसीलदार मानदास दौरे पर से लौटे। पुराने सब सूबानी और अफसरों के साथ कुछ लोग भी चले आये। रियासत के नौकर थे यद्यपि राय हुए थे कि अब नई सरकार रखेगी या नहीं। चीफ-कमिश्नर की सिफारिशी चिट्ठी आ गई थी इसलिए चाहते थे कि उनके बारे में मैं सिफारिश करूँ। मैंने कहा कि सबसे बड़ी सिफारिश यह होगी कि यहाँ के प्रजा खनिज-सम्पत्ति दस्तकारी आदि के बारे में पूरी जानकारी पैदा करके चीफ-कमिश्नर साहब के पास भेजें।

पुष्पसागर के जाने से मेरी तीन चौथाई चिन्ता दूर हो गई। यह बिल्कुल संयोग था जो वह आ गये। मेरा उनसे पहले का परिचय नहीं था, लेकिन नाम शायद वह जानते थे। स्वास्थ्य की ओर ध्यान पहले गया। २३ मई को मूत्र-परीक्षा की तो मालूम हुआ चीनी थोड़ी है। पानसेल्टिन की गोलियाँ लेते रहे पेनिसिलिन की सूई लेने का आग्रह पर छोड़ दिया। दूध और घी की पहाड़ में आशा की जा सकती थी लेकिन वे भी यहाँ दुर्लभ थे। सर्दी एक कम्बल और एक अण्डी से अधिक की नहीं थी। २४ मई से हमने दो घंटा घूमना शुरू कर दिया।

चिनी में डाक हर दूसरे दिन आता था किन्तु रास्ता खराब होने तथा कुप्रबन्ध के कारण उसका समय निश्चित नहीं था।

अब चिनी में आशा रखते थे मधुर स्वप्न को लिख डालेंगे, लेकिन उसका समय साल भर बाद आने वाला था। हाँ उसकी सामग्री जमा रहे। कनौर के लोक गीतों की ओर भी ध्यान गया। वे अधिकतर प्रेम सौन्दर्य प्रकृति अद्भुत कार्य या घटना आदि के बारे में होते हैं और हर जगह के

शाप गीतों की तरह इनकी आयु भी ज्यादा नहीं होती। एक बार तूफान की तरह वे निकल कर सारे किन्नर देश को गुंजा देते हैं, फिर दूर जाते शब्द की तरह क्षीण होते नष्ट हो जाते हैं। शायद देवताओं के गीतों की आयु ज्यादा होती है। मैंने वहाँ रहते कितने ही गीत जमा किए। जो किन्नर देश में छपे हैं। यहाँ रहते भिन्न भिन्न तरह के लोग मिलने आते थे। धनकुटा निवासी नेपाली रामानन्द के शिष्य परमानन्द चेतन चार पाँच वर्ष से किन्नर देश में डटे थे। फक्कड़, पहाड़ों में खूब घूमे थे। घूमते घामते यहाँ पहुँचे, और किन्नरियों के फेर में पड़ गए। अब सम्मान भी नहीं रहा है, लेकिन किन्नर में सुरा बहुत सुलभ, उन्हें तो बिना दाम के मिल जाती थी। इसलिए सुरा-सुन्दरी छोड़ें तभी तो किन्नर देश से निकलें। परमानन्द चेतन कश्मीर से नेपाल तक के पहाड़ों को छाने हुए हैं। दस बारह हजार फुट की ऊँचाई उनके लिए कुछ नहीं है। दूसरे घुमक्कड़ अम्दो के मिले। वह एक युग तिब्बत में बिता चुके थे। अब तिब्बत और भारत उनके पैरों के नीचे था। ऊपर की यात्रा में स्क में एक और मंगोल भिक्षु मिले। तीस वर्ष पहले शायद कम्युनिस्ट क्रान्ति के कारण देश छोड़कर वह ल्हासा के डेपुङ मठ में आये। वहाँ कुछ दिन पढ़ने लिखने के बाद फिर भारत और तिब्बत के चक्कर में लग गये थे। इस चक्कर से केवल घुमक्कड़ी की लालसा ही पूरी नहीं होती, बल्कि तीर्थयात्री होने से जीविका भी चलने लगती है। चौथे घुमक्कड़ नेपाली रामाचार्य थे जो तोताद्रि के रामानुजी जगद्गुरु के शिष्य थे। वह पूर्वी नेपाल के धनकुटा में पैदा हुए, फिर काशी जीविका की तलाश में पहुँचे। अन्त में घुमक्कड़ी ने पीछा किया, और घूमते हुए मद्रास की तरफ जाकर रामानुजी साधु बने। वहाँ के कितने ही परिचित स्थानों के बारे में बतलाते थे। वह आजकल अधिकतर मौन—खामोश—में रहा करते थे, और लोग उन्हें मौनेशाह कहा करते थे, जिसका अर्थ है मौने का फकीर। उनके पैर में हमेशा ही चक्कर बँधा रहता। बहुत बीहड़ मार्गों से वह एक दो नहीं पाँच पाँच बार कैलाश मानसरोवर गये। १९५३ में मैं काठमाण्डू गया तो वहाँ भी किन्नर देश से पहाड़ों को कूदते-फाँदते पहुँचे थे। उनका

पाठशालाओं की धुन है। अधिकारी भी प्रसन्नता से सहायता करते हैं।

खाने की दिक्कत बिल्कुल दूर नहीं हुई थी और सबसे ज्यादा दिक्कत थी साग और तेमनकी की। १ जून तहसीलदार साहब ने कुछ सूखा मांस भेज दिया और पुष्पसागर ने हाँगियार गृहपत्नी की तरह थोड़ा थोड़ा करके दस दिन तक उसे चलाया। अब कुछ हरा साग मिलने लगा, पत्ता के मिलने में अभी एक महीने से ज्यादा की देर थी। सब इन्सपेक्टर बाबू लक्ष्मीनन्द ने घी भेजा लेकिन दाम लेने से इन्कार किया। यह भी आफत थी। बस घी का खर्च भी ज्यादा नहीं था रोटी चुपड़ने नहीं थे और तलने का काम तेल से भी चल जाता था। ३ जून की शाम को हल्का सा ज्वर आया। पेट जब-तब गड़बड़ हो जाया करता था। मात्रा से भोजन करने की ओर बहुत ध्यान देने की जरूरत थी।

किसी जगह के पुराने स्थानों का पता लगाना हो, तो देश के जानकार आदमी से उन स्थानों के बारे में पूछें जिनका पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध जोड़ा गया हो। इधर पहाड़ में सभी प्राचीन स्थानों को पाण्डवों का अज्ञात निवास माना जाता है। ब्रह्मचारी परमानन्द ने उनके बारे में बतलाया कि सतलुज के इस पार है कोठी कदमार रारंग लवरंग कनम स्पू, डुबलिंग टशीगंग, सामंग नाको और सतलुज पार मोरंग ठंगी चारंग और नस्या उपत्यका में साङ्ला और कामरू।

किन्नर देश के देवता न मिट्टी पत्थर के हैं और न निष्क्रिय निर्जीव। वे विमानों पर ही आते और विमानों पर ही टहलने के लिए निकलते हैं। विमान छोटी सी खुली पालकी जैसा होता है, जिसके भीतर से चार पांच हाथ लम्बी भुज की सीधी बल्ली डाली जाती है जो स्प्रिंग की तरह इशारे पर लचकती है। इसी विमान के बीच में लकड़ी की कमचियों में कुछ ऊंची सी जगह बना दी जाती है जिस पर रेशमी कपड़ा डाल कर चांदी या गंगा जमुनी चेहरे चिपका दिये जाते हैं। यही देवता है। गांव के दुःख सुख और हरेक काम में देवता की राय लेना जरूरी है। देवता कभी किसी के सिर पर आ करके बातें करता है, कभी चिट्ठी डालने पर अपना निर्णय देता है पर

सबसे अधिक चाहता व क धे पर चढकर विमान के हिलने के सकेत मे रात
करता है। यदि विमान पूछने वाले के सामने की ओर घूमा तो उसका अर्थ
हाँ है यदि दूसरी ओर झुका तो नही। यदि ऊपर-नीचे उछले तो बहुत
अच्छा और अत्यधिक उछले तो देवता नाराज है। चिनी के देवता का नाम
नरेनस (नारायण) है। देवता काफी धनाढय होते हैं गाव के सबसे अच्छा
खेत उनका होता है। इसके अलावा वह जब चाहता है, नये नये कर वसूल
करता है। खुशी मे दान-दक्षिणा जो मिलती है सो अलग। देवता के अपने
समय-समय पर उत्सव हुआ करते हैं जिनमे देवता की आमदनी पूडे-पूरी
और दूसरे पकवानो को बनाकर प्रसाद बाँटने मे खर्च होती है। कभी-कभी
देवता वनभोज के लिए भी जाता है उस समय दो वाहको के अतिरिक्त बाजे
वालो और अभिवादको की पूरी पल्टन साथ-साथ चलती है। चिनी मे
कोलियो (हरिजनो) का अपना अलग विष्णु मन्दिर है, जिसमे ...
(तिब्बती देवता, बुद्ध मूर्तियो) के होने की सभावना है लेकिन वे कुछ
सालो बाद भडार मे निकाले जाते हैं। ये धातु की मूर्तियाँ हैं और पुरानी
परिपाटी के अनुसार इन पर हस्तलेख भी होना चाहिए।
अडा यद्यपि अति सुलभ नही था, तो भी मिल जाता था। ४ जून को
पतले दस्त आए पचिश का सदेह हो गया। दस्त को कम करने के लिए
चारपाई पर पड जाना आवश्यक मालूम हुआ। इस समय पुस्तक न पत्थर
जीवन पर ही दृष्टि पडने लगी— जीवन निस्सार तो नहीं है यद्यपि उसका
आसमान पर नही उठाना चाहिए। जीवन पथ के प्रस्थान के लिए उपयुक्त
ग्रथो की आवश्यकता है। और ससारयमा लेखक के होने पर वे बडे
सहायक हो सकते है। अतान क्या सचमुच स्वप्न है? नही उसकी स्मृति
सुखद होती है हाँ, कभी कभी दुखद भी होती है। यह बात स्वप्न के बारे
म नहीं है। और वर्तमान समय म तो भागी जाती वस्तु ठोस चीज है। वैय
क्तिक तौर से एक आदमी का मन कभी अवसाद मे पड जाता है निराशा
छा जाती है, किन्तु इससे सबके जीवन का मूल्याकन नहीं करना चाहिए।
तरुणाई म आदमी के पास बहुत समय होता है और बहुतायत के कारण

आदमी उसके खर्च में मितव्ययिता भी नहीं कर पाता। यदि करता, तो उसे और भी अनुभव होता, और साहस यात्राएं कर सकता। पर क्या यदि अपने अनुभव से कोई एक जीवन प्रयोग बना दे तो दूसरे उसका उपयोग करेंगे ही? पूरी तौर से तो नहीं तो भी उससे कुछ का कल्याण जरूर होगा। बाईस साल पहले मैं यहाँ एक ना दिन रहा था। आज पहली आधा मास हो गया। मेरे भीतर क्या अंतर है? उस समय एक तरह साहस यात्रा करने निकला था। कश्मीर के रास्ते लद्दाख गया था फिर तिब्बत के पश्चिमी भाग में घूमकर यहाँ आ निकला। अपरिचित देश था और भाषा भी अपरिचित थी। साधन एक तरह शरीर मात्र था। पर साथ ही तरुणाई की उमंग थी। आज भी उमंगें कभी-कभी उठती हैं फिर तुरंत रुकाव आता है—पूरा करने के समय पर भी ध्यान दो।

अगले दिन (५ जून) भी लेटा रहा। मन लगाने के लिए बाइबल पढ़ने लगा। मूसा की पाँचों पुस्तकें (तौरेत) और याशुआ की पुस्तक समाप्त कर डालीं। यह यहूदी जाति का एक तरह का इतिहास है। यहूदी मेसोपोतामिया से निकले, पहले फिलस्तीन गए, फिर फिलस्तीन के विजेता मिस्रियों के हाथ में पड़कर उनके देश में चरवाही करते रहे। याकूब का ही नाम इसराइल था, जिसके कारण यहूदियों को बनीइसराइल कहा है। याकूब का ही पुत्र युसुफ मिस्र गया था। फिर उसके परिवार के लोग भी वहाँ पहुँचे। न जाने कितनी पीढ़ियों तक वहाँ सुख-दुख भोगते रहे, लेकिन वे सदा फिलस्तीन का स्वप्न देखते रहे। मूसा और उसके भाई हारून ने उन्हें निकालकर फिलस्तीन पहुँचाया। मूसा राजनीतिज्ञ था, योद्धा नहीं। याशुआ योद्धा था जो यहूदियों का त्राणकर्ता बना। कबीलाशाही समाज था। युद्ध बराबर होते रहते थे। युद्ध में स्त्रियों बच्चों को मारने से भी वे बाज नहीं आते थे, खासतौर से वयस्क स्त्रियों को जरा भी दया दिखलाने के लिए तैयार नहीं थे। यहूदी मूर्ति पूजा के सख्त विरोधी थे। मूर्ति बनाने के लिए अधिक उन्नत संस्कृति की आवश्यकता है। उनको वयस्क स्त्रियों से सदा डर रहता था कि वे यहोवा की पूजा छोड़कर मूर्तियों की पूजा

करने लगेंगी। मूर्तियो और देवताओं को ध्वस करना वे पुण्य का काम समझते थे। इस बात को इस्लाम ने उन्ही से सीखा। मेरे लिए मूसा की पाचो पुस्तकें पढने मे और भी दिलचस्प थी क्योकि उनमे यहूवा और उसके वठन की आक किन्नर के देवता और देव (विमान) जसो ही मालूम होती थी। जब यहूवा यहूदी पैगम्बरो से बात करता तो मुझे यहा के देवता का अपने ज्येष्ठ कर्मचारी से बात करने की बात याद आती थी।

६ जून को पहले की तरह पाँच मील टहल आए। बहुत थकावट और कमजोरी मालूम हुई। पेट अब भी साफ नही था। दिन मे दही सत्तू खाया, और शाम को सत्तू का निरामिष सूप पिया। प्यास अधिक लगती थी यद्यपि पेशाब अधिक बार नही जाना पडता था इसलिए पेशाब मे चीनी के अधिक होने का सन्देह नही था। ५५ से ऊपर का था उसका प्रभाव होना ही चाहिए। यदि मधुमेह नही होता तो किसी दूसरे रूप मे निर्बलता आती। पाचन शक्ति की कमी और पेट का साफ न होना भी शायद उसी का लक्षण हो। तो भी सयम रखना आवश्यक था, ताकि इस जीवन से अधिक से अधिक काम लिया जा सके। मैं अनुभव करने लगा, एक स्थायी सहयात्री अत्यावश्यक है, जो लिखने का काम करे। आदमी तो मिल सकता है किन्तु स्थायी रहेगा, इसमे सन्देह है। साथ ही मधुमेह के लिए इन्सुलिन की सूई देनेवाला हो, तो और अच्छा। ६ जून को लिखा था—'प्रतिवर्ष दो हजार पृष्ठ लिखने की योजना रहनी चाहिए। काम न हो तो जीने का फल क्या।

चिनी मे रहते परिभाषा के काम की ओर ध्यान लगा रहता था। काफी दिनो बाद विद्यानिवास और माचवेजी की चिट्ठियाँ कलकत्ते से आई। सुनीत बाबू ने हमारे काम की प्रशसा की और काम मे सहयोग देने के लिए चिट्ठी लिखी। "शासन शब्दकोश" टाइप कर लिया गया था लेकिन प्रेस मे भेजने से पहले उसे एक बार देख लेना जरूरी था। इतने दूर दोनो को बुलाना आसान नही था इसलिए सोचा, कि जुलाई के अन्त मे काठगढ उतर चलें। अभी गर्मी बहुत होगी इसलिए नीचे उतरना ठीक नही है वही कुछ एक मास रहकर प्रेस-कापी का सशोधन कर डालें।

१०

तिब्बत के सीमांत पर

किन्नर देश में वर्षा के बहुत कम होने से यात्रा करने में कोई कठिनाई नहीं थी। इसने किन्नर के छोरपर अवस्थित भारत के अंतिम गाँव नमग्या तक की यात्रा को कर लेना अच्छा समझा। १२ जून को यात्रा के लिए आवश्यक सामान को पुण्यसागर बाँधने लगे। तहसीलदार के एक चपरासी ने साथ दिया और उसके लिए ऐसे आदमी को चुना, जो रास्ते में आदमी और घोड़े का प्रबन्ध आसानी से कर सके। १३ तारीख को सवेरे अभी पेट में कुछ गड़बड़ी थी ही इसलिए थोड़ा दही खाकर चल पड़े। यहाँ से घोड़ा नहीं लिया, क्योंकि अगला पड़ाव पगी छः ही मील पर था, जो हमारे रोजाना के टहलने से एक ही मील दूर था। दो भारवाहक सामान लेकर चले। प्रायः समतल तिब्बत हिंदुस्तान सड़क थी जो शिमला से तिब्बत की सीमा तक जाती थी। अंग्रेजों ने इस पश्चिमी तिब्बत पर हाथ साफ करने की नियत से बनवाया था और इसीलिए इधर की सीमा को अपने नक्शों में अनिश्चित रखा था। सड़क हरे भरे जंगलों से जा रही थी जिनमें देवदार और नेवजा (चिलगोजा) के दरख्त थे। देवदार की बाहरी छाल सूखी पपड़ी-जमी होती है और नेवजा की हरी। पेड़, डालियाँ और पत्ते दोनों के सुन्दर होते हैं पत्तियाँ बारहों महीने हरी रहती हैं। छाल के सौन्दर्य में नेवजा बढ़कर है। नेवजा के ही फलों में से चिलगोजा निकलता है इस

तार वह यहाँ अधिक मूल्यवान समझा जाए तो कोई आश्चर्य नही।

पगी शिमला से १४४ मील ६ फर्लांग पर है। अत मे ही थोडी सी चढाई मिली। थोडा विश्राम करके फिर आदमी लिए। आदमी की मजूरी दो आना प्रतिमील नियत है, अगले पडाव रारग तक १२ आना देना चाहिए था, लेकिन मैंने एक एक रुपया दिया। घोडेवाला ८ मील के लिए ४ रुपया मागता था। और दया जतलाते एक रुपया छोडने का कहा। मैंने घोडा नही लिया। सिर्फ एक जगह अधिक चढाई थी नही तो समतल सी ही जमीन थी। आज १४ मील पैदल चला था, इसलिए रारग पहुँचते पहुचते थक गया। पगी और रारग दोनो गाँवो के लोग पानी पानी पुकार रहे थे, और पास के खड्डो मे बहुत सा पानी बेकार बह रहा था। दूर से नहर द्वारा पानी लाना उनके बस की बात नही थी।

१४ जून को गाँव के भीतर मन्दिरो को देखने गए। वसे चिनी मे भी बौद्ध धर्म का प्रभाव है, लेकिन रारग तो बिल्कुल बौद्ध गाँव है। एक मन्दिर मे चौरासी सिद्धो के चित्र दीवार पर हाल मे अकित चित्र थे। कुछ देर मे घोडा भी आ गया और उसपर सवार होकर जगी चले, जो यहाँ से ७ मील के करीब थी। जगी बहुत पुरानी बस्ती है गाँव भी बडा है। सामने सतलज पार मोरग गाँव है वहाँ का "पाण्डवो" का किला दिखलाई दे रहा था, जो एक छोटी टेकरी पर था। कनौर मे कई भाषाएँ बोली जाती हैं यहाँ की भाषा भिन्न थी, लेकिन चिनी मे बोली जानेवाली हमस्कद भाषा सब जगह चलती है।

लिप्पा (८६०० फुट)—लिप्पा सडक से कुछ हटकर है लेकिन हमने उसके बारेमे जो बातें सुनी थी इसके कारण वहाँ जाना आवश्यक जान पडा। घोडे और दो भारवाहक मिल गए। तीन मील हिन्दुस्तान तिब्बत सडक से चले, फिर बाइ ओर का रास्ता लिया। चढाई पहले दो मील की आई और मार्ग भी कठिन था। सबसे बुरी बात तब होती थी, जब तीव्रो ढलुआ धरती पर जाना पडता था डर लगता था कि पर फिसला और न जाने कहाँ पहुँचे। पवन की यात्रा वही अच्छी तरह कर सकते हैं जो पड पर

१०

तिब्बत के सीमांत पर

किन्नर देश में वर्षा के बहुत कम होने से यात्रा करने में कोई कठिनाई नहीं थी। हमने किन्नर के छोरपर अवस्थित भारत के अन्तिम गाँव नमग्या तक की यात्रा को कर लेना अच्छा समझा। १२ जून को यात्रा के लिए आवश्यक सामान को पुण्यसागर बाँधने लगे। तहसीलदार के एक चपरासी ने साथ दिया और उसके लिए ऐसे आदमी को चुना, जो रास्ते में आदमी और घोड़े का प्रबन्ध आसानी से कर सके। १३ तारीख को सवेरे अभी पेट में कुछ गड़बड़ी थी ही इसलिए थोड़ा दही खाकर चल पड़े। यहाँ से घोड़ा नहीं लिया, क्योंकि अगला पड़ाव पगी छ ही मील पर था जो हमारे रोजाना के टहलने से एक ही मील दूर था। दो भारवाहक सामान लेकर चले। प्रायः समतल तिब्बत हिन्दुस्तान सड़क थी जो शिमला से तिब्बत की सीमा तक जाती थी। अंग्रेजों ने इसे पश्चिमी तिब्बत पर हाथ साफ करने की नियत से बनवाया था और इसीलिए इधर की सीमा को अपने नक्शों में अनिश्चित रखा था। सड़क हरे भरे जंगलों से जा रही थी, जिनमें देवदार और नेवजा (चिलगोजा) के दरख्त थे। देवदार की बाहरी छाल सूखी पपड़ी जैसी होती है और नेवजा की हरी। पेड़, डालियाँ और पत्ते दोनों में सुन्दर होते हैं पत्तियाँ बारहों महीने हरी रहती हैं। छाल के सौन्दर्य में नेवजा बढ़कर है। नेवजा के ही फलों में से चिलगोजा निकलता है इस

प्रकार वह यहाँ अधिक मूल्यवान समझा जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।
पगी शिमला से १४८ मील ६ फर्लांग पर है। अंत में हो थोड़ी
चढ़ाई मिली। थोड़ा विश्राम करके फिर आदमी लिए। आदमी को म
दो आना प्रतिमील नियत है अगले पडाव रारग तक १२ आना देना
चाहिए था, लेकिन मैंने एक एक रुपया दिया। घोड़ेवाला ८ मील के लिए
४ रुपया मांगता था। और दया जतलाते एक रुपया छोड़ने को कहा।
मैंने घोड़ा नहीं लिया। सिर्फ एक जगह अधिक चढ़ाई थी, नहीं तो समतल
सी ही जमीन थी। आज १८ मील पैदल चला था इसलिए रारग पहुँचते
पहुचते थक गया। पगी और रारग दोनों गाँवों के लोग पानी पानी पुकार
रह थे, और पास के खड्डों में बहुत सा पानी बेकार बह रहा था। दूर से
हर द्वारा पानी लाना उनके बस की बात नहीं थी।
१४ जून को गाँव के भीतर मंदिरों को देखने गए। वैसे चिनी में भी
बौद्ध धर्म का प्रभाव है लेकिन रारग तो बिल्कुल बौद्ध गाँव है। एक मंदिर
में चौरासी सिद्धों के चित्र दीवार पर हाल में अंकित चित्र थे। कुछ देर में
घोड़ा भी आ गया और उसपर सवार होकर जंगी चले, जो यहाँ से ७ मील
के करीब थी। जंगी बहुत पुरानी बस्ती है गाँव भी बड़ा है। सामने
सतलुज पार मोरंग गाँव है वहाँ का "पाण्डवों' का किला दिखलाई दे रहा
था, जो एक छोटी टेकरी पर था। कनौर में कई भाषाएँ बोली जाती हैं
यहाँ की भाषा भिन्न थी, लेकिन चिनी में बोली जानेवाली हमस्कद भाषा
सब जगह चलती है।
लिप्पा (८९०० फुट)—लिप्पा सड़क से कुछ हटकर है लेकिन हमने
उसके बारे में जो बातें सुनी थी, इसके कारण वहाँ जाना आवश्यक जान पड़ा।
घोड़े और दो भारवाहक मिल गए। तीन मील हिंदुस्तान तिब्बत सड़क
से चले, फिर ओड़ आर का रास्ता लिया। चढ़ाई पहले दो मील की थाई,
और मार्ग भी कठिन था। सबसे बुरी बात तब होती थी, जब तीखी ढलुआ
धरती पर जाना पड़ता था डर लगता था, कि पर फिसला और न जाने
वहाँ पहुँचे। पवन की यात्रा वहीं अच्छी तरह कर सकते हैं जो पेड़ पर

ग्च्छा चढना जानते हैं और जिनका शरीर हल्का है। इन दोनो कमिया
के साथ साथ अब आयु का बोझ भी मेरे ऊपर था। खैर जब चल पडा,
तो पीछे लौटना तो नही हो सकता था। आखिर पहाड की एक बाहु पर
पहुँचे जहाँ से सामने लिप्पा का बना गाँव दिखलाइ पड रहा था। जगलात
का बगादर पीछे छूटा लकडी के पुल से एक नदी पार की जो अपेक्षाकृत
बडी थी। फिर छोटी धार के पुल पर से गुजरे। यहाँ बहुत-सी पनचक्कियाँ
लगी थी। देवराम ज्योतिषी लिप्पा के रहनेवाले थे जिनका पचाग
ल्हासा और तिब्बत तक चलता है। उनके लडके सामने डुबग्र अगवानी के
लिए आए और अपने साथ गुम्बा (विहार) में ले गए जिसे कि उनके बाप
ने बनवाया था। चढाई कठिन थी, पर मैं घोडे पर चढकर गया। गुम्बा
गाँव के ऊपर बीच में है जिसके ऊपर भी घर हैं। एक बडी शाला में आसन
लगा जिसमें मत्रेय (भावी बुद्ध) की मूर्ति थी। पहिले बडी प्रसन्नता हुई
जो पछतावे में बदल गई जब रात को पिस्सुओ ने नींद हराम कर दी।
सारनाथ मंदिर की दीवारो पर जापानी चित्रकार ने बुद्ध के जीवन
सम्बन्धी चित्र बनाये थे जिनके फोटो सुलभ थे। उन्ही को देखकर लदाखी
चित्रकार ने यहाँ की दीवारो को चित्रित किया था जो बुरा नही था।
ल्हासा का कजूर ग्रथ सग्रह रखा हुआ था, और तरगी का बहुतसग्रह तजूर
आजकल रास्ते में था। नीचे गाव से बाहर एक और भी कजूरशाला थी,
जिसमें कजूर की पोथियाँ रखी हुई थी। उस दिन विशेष उत्सव था। पहले
पुस्तको की पीठ पर रखे स्त्री-पुरुषो ने जलूस निकाला और अन्त में कजूर
शाला के पास नर नारी नृत्य करने लगे। मन्दिर से शराब की सदाव्रत
बँट रही थी। नाचना क्या हाथ मे हाथ मिलाये टहलना था। एक ओर
स्त्रियो की पाती थी और दूसरी ओर पुरुषो की।

१६ जून को भी मैं लिप्पा में रहा। कनौर के सबसे धनी बनीलालजी
लिप्पा के रहनेवाले यहाँ के जैलदार थे। कुछ पीढियो से उनके घर में कनौर
के बाहर की पहाडी स्त्रियो से ब्याह करने का रवाज था क्योंकि वे उच्च
कुलीना समझी जाती थी। लोक नृत्य में वे भी कल शामिल हुई थी। उप-

रयवा के देखने से मालूम होता, कि पहले यहा बस्ती अधिक थी बहुत पुराने सेना के निशान मिलते थे, सामने पश्चिमवाली ढाल म देवदार के जटा के कुछे मिलन हैं, अब वह ढलान बिल्कुल नगी है। ऊपर एक किला है जिसम ओखल के पत्थर पाये जाते हैं चावल कूटने ही के काम नही आती, बल्कि किसी समय उसीसे आटा पीसा जाता था। इसी तरफ से जाने पर चार दिन म आदमी स्पिती पहुच सकता है। पुराने जमाने म स्पितीवाले और मौका पड़ने पर यहाँ वाले भी लूटमार करने जाया करते थे—एक दिन के रास्ते पर अमरँग मे पनचक्की के पत्थर मिलते हैं। आक्रमणकारियो के आने की सूचना जगह-जगह आग जलाकर दी जाती थी। पूछने पर पता लगा, कि यहाँ पर भी खरोराम्खग—(मुसल्मानी कब्रें) मिलती हैं। यहा के लोग यह भूल गये हैं, कि मुसल्मान ही नही बल्कि कभी उनके पूर्वज भी मुर्दों को कब्रो मे गाडा करते थे। पुराने मकानो की अनगढ़ पत्थरो की दीवारें भी कभी-कभी निकल आती थी। गुम्बा बनाते वक्त तीन मिट्टी के बरतन निकले थे। आजकल लिप्पा म न मिट्टी के बरतन बनते हैं न उनका व्यवहार होता है। आठ साल पहले नम्बरदार के कोठे पर देवता की कोठरी म अमावस्यानी म आग लग गई फलस्वरूप सारा गाव नष्ट हो गया। इन पुराने गाँवो म प्राचीन काल की कितनी वस्तुएँ मिल सकती थीं, लेकिन मकानो म लकडी की बहुतायत होने से ऐसी आग जब-तब लग ही जाती है। फिर से मकान बनाने के लिए पनीराम ने खेत मे नीव खोदनी शुरू की। वहा तहखाना निकल आया। पहले दीवार मालूम हुई। खजाने के लोभ मे खोदने पर घर निकल आया, जिसकी दीवार म नीचे उतरने के लिए पत्थर की सीढ़ियाँ थीं। घर ऊपर स पत्थर से ढँका था। मेरी उत्सुकता बढ गई जब मालूम हुआ कि हाल ही म पानी की कूल बनाते वक्त एक कब्र म नरकपाल निकला था। कपाल पानी पड़ने मे बहुत कुछ गल गया था खोपड़ी भी टूटी हुई थी लेकिन वह दीर्घकपाल थी, अर्थात् आज के लोगो की तरह आयत कपाल नही। क्या यहाँ गम लोग रहते थे ? कनौर लोग अपने को खासिया भी कहते हैं, पर इनकी भाषा किरात वश की है। उसी वश की,

जिसकी भाषा के अवशेष चम्बा से आसाम तक नागाओं तक के सारे हिमालय में मिलते हैं, और जिस विद्वान् मान रमर वहन है। बस्त्र में कोई चीज नहीं मिला। मैं नए राउ मकान की ओर चलने की सोचने लगा। उस समय मकान मालिक एक पास का अवशेष कटारा और एक मिट्टी का कुतुप लेकर आया जो उसी बस्त्र में मिले थे। शायद कोई जेवर भी रहा हो लेकिन पंजीराम उससे इन्कार करते थे। कटारा जर्जर हो गया था और कुतुप का मुंह इतना सँकरा था, कि मेरा अंगूठा भी उसमें नहीं जा सकता था। इसमें शराब रख और कटारे में भोजन रखकर मुर्दे के साथ गाड़ा गया था इसमें सन्देह नहीं।

१७ जून का प्रातराश जलदार कनीलाल के यहां किया। चार भाइयों में एक भाई मर गया। कनीलालजी स्वयं सातवें दर्जे तक पढ़े हुए हैं। मझला भाई आठवें दर्जे तक पढ़कर घर का काम कर रहा था सबसे छोटा रामपुर के हाई स्कूल में नवें दर्जे में पढ़ रहा था। लक्ष्मी के साथ सरस्वती की भी आराधना करना यह घर चाहता है यह इसी का प्रमाण था। माँ के कानों हाथ गले साने से लाल हो रहे थे। वह भी काची (नीचे की पहाड़ी) और बहू भी काची थी। इनका घर बहुत पुराना है लेकिन रात को उसे समय आग प्रचण्ड हुई कि कागज पत्र मूर्तियाँ और पोथियाँ तक जल गई किसी तरह लोग अपना प्राण लेकर भागने में सफल हुए।

कनम्—लिप्पा से कनम् की ओर चले। जो आठ-नौ मील से अधिक दूर नहीं है, लेकिन चढ़ाई बहुत सख्त है। कहीं-कहीं साढ़ियाँ हैं जिन पर घोड़े पर चढ़कर नहीं चला जा सकता इसलिए बहुत कुछ पैदल ही चलना पड़ा। उतराई भी इतनी कड़ी थी, कि घोड़े का इस्तेमाल नहीं हो सका। डाँडे पर पहुँच कर वहां से लबरंग और कनम् के गाँव दिखलाई दे रहे थे लेकिन वह काफी दूर थे। उतराई ही उतराई थी। अभी देवदार थे, लेकिन उतने घने नहीं थे। लबरंग का अर्थ है गुरु या लामा का महल। सात मंजिला २० हाथ चौड़ा २५ हाथ लम्बा यहाँ का दुर्ग तो किसी ठाकुर का महल बतलाया जाता है। दीवार में छिल पत्थरों और लकड़ी

की सुदर जोडाई भीतर बैठकर तीर मारने के लिए छेद बने हुए थे। ऊपर की मंजिल गिर रही थी। लोगो का यहा के ठाकुर की बहुत क्षीण स्मृति है। मध्य काल मे लूट पाट करने के लिए निरतियो और कन्नौरो म होड लगी रहती थी। उस समय आवश्यकता पडने पर लोग इस दुग मे शरण लेते थे। दुग के पास ही सबरन्गू देवमन्दिर है जो पत्थर का बना है। ओपग सिंह का खानदान बहुत पुराना है लेकिन अब निस्सतान है। कन्नौर मे पाडव विवाह का रवाज है जिसके कारण जनसख्या बढने नही पाती और लडाई या निस्सतानता से उसके घटने की सभावना रहती है। लबरग मे ६५ परिवार थे, पहले इससे अधिक रहे होगे। प्राय दो मील उतर कर हम मडर मिल गइ और फिर कुछ दूर चलकर कनम् का डाकबँगला मिला। कनम् १० ००० फुट से ६४७० फुट ऊँचाई पर तथा शिमला से १७० मील ३ फलाग पर अवस्थित है। यहा भी ला छे रो लग (मुसलमानी कब्रा) के होने का पता लगा। सडक बनाने और खेत खोदने म कइ कपाल मिले थे लेकिन लोगो न उन्हे मुसलमानो का समझा। उन्हें क्या मालूम था कि इन कपालो स उनके और उनके पूवजो के इतिहास पर बडा प्रकाश पड सकता है। कजूर देवालय म भारतीय ग्रथो के दोनो वृहद् सग्रह—कजूर और तजूर—तिब्बती भाषा म रखे हुए थे। वृत्ति के लिए एक खेत भी है जिसकी आमदनी से मकान की मरम्मत तथा साल भर म एक बार पाठ करनेवाले भिक्षुओ को भोजन मिलता है। कनम् का देवता डबला बहुत धनी और शक्तिशाली है। लौटी यात्रा मे मैंने २६ जून को कनम् की अच्छी तरह देखा। उस समय नम्बरदार की अध्यक्षता म डबला स बातचीत हुई थी, जो काफी रोचक थी। देवताओ क अनाचार को देवताओ की ही मदद स हटाया जा सकता है। चिनी क नीचे कोठी की देवी मारे कन्नौर की महा महिम देवी है। वह सकडो बकरो की बलि लिया करती है बुद्ध क धम को नही मानती। चिरकुमारी होन स उसम बहुत क्रोध है। मैंने उस दिन डबला देवता स ऐसो नियम से बात करनी चाहा कि डबला और देवी का ब्याह हो जाए, और बौद्ध पति का पत्नी पर प्रभाव पडे। मैं हिन्दी म कहता था

और नम्बरदार अगरजीत उस बनौर भाषा म डवला म बह रहे थे। नम्बरदार न कहा, कि हमारे दवता हिन्दी समझते हैं। मैं भी जानता था, कि वह दुनिया की सभी भाषाओं का समझते हैं। लेकिन देवता के सामने कोई एसा शब्द न निकल जाए, जिससे नाराज होने का डर हो, इसलिए मैंने नम्बरदार को ही दुभाषिया बनाया। मेरे कह अनुसार नम्बरदार ने पूछा —आप कोठी की देवीस ब्याह करेंगे ना ?

डवला ने सिर को दोनों तरफ जोर से हिलाया जिसका अर्थ था मुझे शादी नहीं करनी है।

नम्बरदार—शादी करने म हज क्या है मनुष्यों की तरह दवता भी ब्याह करते हैं। क्या आप बिलकुल इन्कार करते हैं ?

फिर सिर हिला अर्थात् नहीं।

नम्बरदार—तो किसके साथ कोठी की चण्डिका देवी की शादी हो ? वह बहुत बड़ी देवी है उसके बराबर का कोई दवता नहीं है न चिनी का न स्वागी का न पगा का न रारग का न जगी का न लिप्पा का और न रूबरग का ? क्या चिनी के नरेन से शादी करनी चाहिए ?

—नहीं सगा सम्बन्धी है शादी नहीं हो सकती।

नम्बरदार—डम्बरसाहब चिनी के दवता नारायण से नहीं, तो क्या सुगरा के श्रम मनमिर से होनी चाहिए ?

—नहीं, वह भी सम्बन्धी है।

नम्बरदार—और कामरू के बद्रीनाथ से। वह भी राज का माफीदार है और देवी भी माफीदार है।

—हाँ हो सकता है खुश होकर उछलकर डवला ने प्रसन्नता प्रकट की।

नम्बरदार के और पूछने पर डवला ने चण्डिका के ब्याह की आज्ञा दिखाई पर जैसा कि पीछे देवी से पूछने पर मालूम हुआ वह एसे बन्धन म पड़ने के लिए तैयार नहीं है। नम्बरदार साथ हो डवला जनता के महामन्त्री

हैं। पूछने पर डबला ने आमदनी खर्च का हिसाब माँगा, और कहा कि ने
साल से हिसाब नहीं हुआ है।

कनम् तिब्बत के एक प्रसिद्ध लामा लोचवा रिन्-छेन्-जङपो—(रत्न
द्र अनुवादक था) गद्दी स्थान है। रत्नभद्र ११वीं शताब्दियों में हुए थे
तिब्बत के सबसे बड़े पण्डितों में थे। संस्कृत के बहुत से गम्भीर ग्रंथों का
अनुवाद उन्होंने तिब्बती में किया था। तिब्बत में जब महापुरुषों के अवतार
मानने की परिपाटी चल गई, और हरेक विहार की गद्दी पर अवतारी महंत
स्वीकार किये गए लड़कों को बैठाया जाने लगा, तो इस लोचवा का भी
अवतार पैदा हुआ। लोचवा की गुम्बा पिछली सदियों उपेक्षित सी दिखाई
पड़ता थी, किन्तु अबकी वह अच्छी हालत में थी। वहाँ कुछ भिक्षु भी मिले
जिनमें से कितने ही तिब्बत में पढ़कर आए थे।

स्पू (६७०० फुट)—१८ जून को हम कनौर के दूसरे महाग्राम सुग
नम् को देखने की लालसा से चले। कनम् के आगे कुछ ही दूर पर अब
वृक्षों का अभाव हो गया। तिब्बत जैसे नंगे पहाड़ थे। रास्ता अधिकतर
समतल था। सिर्फ़ द्यारो खड्ड के पास दो मील उतराई आई। धूप बहुत
थी और यहाँ सुखद मालूम भी नहीं होती थी। खड्ड पर लोहे का पुल
था। यहाँ जो नदी बह रही थी, वह भी स्पिती के सीमान्ती पवनों से आ
रही थी। पुल पार हो नदी के बाएं किनारे ऊपर की तरफ़ बढ़ना था। यह
सड़क गई थी। लोग और अधिकतर स्त्रियाँ सड़क की मरम्मत कर रहे
थे। दो मील के करीब जाने पर द्यारो गाँव मिला। यहीं पर भारवाहक
और घोड़ा बदलना था। घोड़ा अच्छा नहीं मिला। सवार होने के समय
उसको भड़कते देखकर चलने का ख्याल छोड़ना पड़ा। एक मील पर जाने
पर मालूम हुआ, कि रास्ता बेमरम्मत और रोमांचकारी है। मैं शरीर से
भी निर्बल था। सुग नम्वाले बड़ी प्रतीक्षा कर रहे थे, लेकिन वहाँ जाने
का ख्याल छोड़ मैं लौटकर रात के लिए द्यारो के निकट अमरनाथ के घर
पर ठहर गया। वह पहले का बहुत धनी और प्रभावशाली घर था। सुग-नम्
से ऊपर ग्यापोग में इनका और भी अच्छा घर था। अमरनाथ के पिता

चरनदास पितामह इन्द्रदास और प्रपितामह नताराम थे। नताराम १८३४ ई० में कनिंघम की लद्दाख सीमा में पथ प्रदर्शक थे। इन्द्रदास राजा के प्रभावशाली अमात्य थे। उनके समय ही इस घर की महती श्रीवृद्धि हुई। बीस साल पहले तक हालत बुरी नहीं हुई थी, फिर घर में पागल होने लगे। दो भाई मर चुके थे। ममारचन्द ग्यापाग में पल्ना (पागल) होकर पड़ा है और अमरनाथ यहाँ। अमरनाथ की आयु उस समय ४८ साल की थी, घर में कोई सन्तान नहीं था। पति-पत्नी माना तीन प्राणी थे। अन्न भी खाने भर के लिए सम्पत्ति थी लेकिन लोग जहाँ तहाँ लूट खाते थे। अब यह वंश उच्छिन्न होने वाला है। कई पत्नियों से पाँडव विवाह होने के कारण घर बड़े नहीं, आगे के लिए ख्याल में बिस्ट का नाम लेनेवाला कोई नहीं रहेगा। उस घर के दरो-दीवार से हसरत बरस रही थी। अमरनाथ बड़े चाव से बातें करते थे। कभी अक्ल की और कभी बेअक्ल की। इस साल बर्फ बहुत पड़ी थी इसलिए बगल से जाने वाली छोटी सड़क में काफी पानी था नहीं तो यह सूख जाया करती है। बिस्ट का घर ही नहीं, बल्कि सारा गाँव श्रीहीन था।

१९ जून को भारवाहकों की प्रतीक्षा किये बिना मैं चल पड़ा। चपरासी उनका प्रबन्ध करके साथ आ चलने के लिए था ही पुण्यसागर भी साथ थे। रास्ता सड़क से पुल तक पहले ही था उसके बाद कुछ समतल भूमि से सड़क चली। एक ढाढा पार करने के लिए नदी की धार छोड़कर चढ़ाई चढ़नी पड़ी। फिर बगले की ओर बनाई रही। स्पू बड़ा गाँव है। इसमें बहुत से टोले हैं। शिमला से यह १८८६ मील पर अवस्थित है। इसका स्पू नाम क्यों पड़ा? कुछ लोग बतला रहे थे, कि यह फुग का अपभ्रंश है खुनु फुग का अर्थ है कनार की गुहा। यहाँ के लोगों की बोली तिब्बती है। अब तक हिन्दी से ही मैं काम चलाता था, जिसके समझने वाले कनौर पुरुषों में सभी नहीं थे और स्त्रियाँ तो कनौरी छोड़ दूसरी जानती ही नहीं। अब किसी के साथ बात करने में दुभाषिया की जरूरत नहीं थी, सबकी मातृभाषा तिब्बती थी। यद्यपि स्पू अन्तिम गाँव नहीं है किन्तु इसके

विशाल और हरे भरे खेतों तथा बड़े गांव को देखकर मोरावियन (जर्मन) मिश्नरियों ने इसी को १८८३ ई० में अपना प्रचार केन्द्र चुना। रेम्स्प दम्पती पहले आए और यहीं मरे। इसके और भी कितने ही मिश्नरियों ने लोगों की दृष्टि के अनुसार सेवा करते अपने प्राण छोड़े। यह देखकर दुःख हो रहा था कि उनकी कब्रें अब लुप्त हो चुकी हैं और उन पर के पत्थर बिखरे पड़े हैं।

उस समय स्पू गांव में इधर की सड़क नहीं बनी थी। वह १९०७ ई० में बनी। डाकबँगला १९१३ ई० में। मिश्नरियों ने एक छोटा सा गिर्जा बनाया था जो अब लुप्त हो चुका है। मिश्नरी बढ़ई का काम जानते थे, उन्होंने बढ़ईगीरी के साथ-साथ मोजा-स्वेटर बुनना और शिक्षा प्रचार का भी काम किया। आज गांव की सभी स्त्रियां स्वेटर मोजा बुन लेती हैं, यह उन्हीं की कृपा है। जर्मन पादरी मार्क्स ने—जो अच्छा बढ़ई भी था—यहां कई बड़े कमरों का एक बँगला बनाया जो अब भी अच्छी हालत में था, यद्यपि उसके शीशे टूट रहे थे। उसके पहले मिडल स्कूल के लिए इमारत बनाने की जरूरत नहीं होगी, पर अभी तो यहां कोई स्कूल नहीं था। स्पू के लोग सभी बौद्ध हैं। यहां कई बौद्ध मन्दिर हैं। लोचा लाखड (अनुवादक देवालय) में बुद्ध के साथ सारिपुत्र मौद्गल्यायन की भी मूर्तियां हैं। एक मिट्टी के अवलोकितेश्वर एक लकड़ी की बोधिसत्व प्रतिमा भी है। लोगों को स्त्री पुरुष का कोई ख्याल नहीं और वे बोधिसत्व को श्वेत तारा मानते थे। मन्दिर शताब्दियों पुराना है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की हाथ की लिखी पोथी के चित्र भारतीय कलम के मालूम होते हैं। गांव का दूसरा मन्दिर लोगजर है जिसमें करोड़ों 'ओं मणि पद्मे हुम्' मन्त्र लिखे कागजों से भरी बेलनाकार विशाल माने है। श्रद्धालु समय-समय पर वहां जाकर माने को घुमाते पुण्य लाभ करते हैं। कलिम्पाग के पादरी थर्चिन् स्पू में ही पैदा हुए। उनके नेत्रविहीन भाई उस समय माने चला रहे थे, जब मैं मन्दिर को देखने गया था। माने के पीछे दो पुरानी बोधिसत्व मूर्तियां थीं, जिनकी बनावट भारतीय मालूम होती थी अर्थात् वे सात आठ सौ वर्ष

पुरानी होगी। यहाँ पर भी लामा की समाधियाँ मिट्टी के बरतना के साथ मिलती हैं लेकिन उनका कोई निश्चित स्थान नही, इसलिए फरमाइश पर खोद करके निकाला नही जा सकता। नम्बरदार देवीचन्द अब नम्बरदारी से मुअत्तल थे। वे तिब्बत में काफी घूमे हुए हैं। तूची के साथ पश्चिमी तिब्बत में गए थे। उनकी इस बात पर तो विश्वास हो सकता था, कि तूची ने यहाँ से बहुत सी हस्तलिखित पुस्तकें उचित अनुचित ढंग से प्राप्त की, लेकिन यह विश्वास करने के लिए मन तैयार नही था कि अधिक बोझ के कारण चित्रों को काटकर निकाल के पुरानी पोथियों को आग की भेंट कर दिया गया। कब्र से निकला हाथ का बना एक मिट्टी का कुतुप मिला जिसको और लिप्पा की चोजों को भी मैंने चीफ-कमिश्नर साहब को किसी म्यूजियम में रखने के लिए दे दिया।

स्पू के लोगो का अब भी विश्वास था कि देश पर अँग्रेजो का ही शासन है। जब नोट और डाकखाना के टिकट अँग्रेजो के चल रहे थे तो ये सीधे सादे लोग कैसे विश्वास करते कि अँग्रेज अब नही रहे। पगी का देवता तक इतना मूढ था, कि वह इस बात को मानने के लिए तैयार नही था। सयोग से इसी समय स्वदेशी टिकट मेरे पास पहुँच गया था, उसको भेजकर देवता को मनवाने की मैंने कोशिश की थी। देवता के मानने ही पर तो भक्त मान सकते हैं।

२१ तारीख को भी हम स्पू ही में रहे। मिशनरियो के समय यहाँ डाकखाना भी था। स्कूल तो उसके बाद भी कितने ही सालो तक रहा, जिसे लडको की कमी के कारण तोड दिया गया। यहाँ के लोगो की मातभाषा में पढाया जाता तो लडको की कमी नही हो सकती। हिन्दी में पढाने की कोशिश की जाय तो दो तीन साल में उनके पल्ले क्या पडेगा? पहले दो साल तो यहाँ और इसके आसपास के तिब्बती भाषी इलाके में तिब्बती भाषा को ही माध्यम बनाना चाहिए। इस उपत्यका में स्पू इर्जलिंग नम्ग्या, खब टशीगग में तिब्बती बोली जाती है और पास के पहाड के परले पार

डूगरग के चागा, नावा, मर्गलिंग लिया, चुलिंग आदि गाँव भी तिब्बती भाषी हैं।

नम्ग्या (९८०० फुट)—स्पू से आठ मील पर सतलुज के बाएँ भारत का अंतिम गाँव नम्ग्या है। यहाँ से दो मील और आगे यानी शिमला से १९६ मील पर एक सूखा-सा नाला है, जो तिब्बत और भारत की सीमा—अब चीन और भारत की सीमा—है। लेकिन नम्ग्या से आगे तिब्बत के प्रथम गाँव शिपकी में सतलुज के किनारे किनारे नहीं जाया जा सकता, उसके लिए शिपकी का डाँडा पार करना पड़ता है। २२ तारीख को हम स्पू से रवाना हुए और दोपहर के करीब नम्ग्या पहुँच गए। रास्ता अच्छा था सवारी के लिए घाटा भी था। तो उस सूखी-नाखी पर्वतमाला में नम्ग्या इन्द्रपुरी का एक टुकड़ा मालूम होता था। गाँव के आसपास की भूमि हरियाली में ढँकी थी, खेतों में हरे हरे नग जौ लगे थे। खुबानी (चुली) अखरोट के दरख्त हरे पत्तों से ढके थे। यहाँ भी कुछ अंगूर की बेलें थीं, जो और भी बढ़ाई जा सकती थी और वर्षा के अत्यंत कम होने से अंगूर बहुत मीठा होता है, इस कहने की आवश्यकता नहीं। पूछने पर यहाँ भी खसों की समाधियों के होने की बात मालूम हुई। लोगों ने बतलाया, इन समाधियों में बरतन जरूर मिलते हैं। बरतन मिलने का मतलब ही है ये मुसलमानों की कब्रें नहीं हैं हालाँकि लोग वैसा ही विश्वास रखते हैं। गाँव से बाहर एक स्थान पर खुदवाया, तो सड़ी हड्डी निकली। गाँव कुछ ही साल पहिले आग से जल गया था। उसके साथ कितनी ही ऐतिहासिक चीजें भी जली होंगी। एक परिवार में देव-भवन में नेपाल की बनी धातु की तीन अच्छी मूर्तियाँ मिलीं। हस्तलिखित बौद्ध ग्रंथ प्राय प्रत्येक परिवार में मिल जाते हैं और उनकी पुष्पिका में दाता और राजा का नाम भी लिखा होता है, जिससे यहाँ के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। नम्ग्या बीस घरों का गाँव है। पाण्डव विवाह ने जन-वृद्धि का निरोध किया, नहीं तो और भी परिवार होते।

नम्ग्यावालों के दिल में कज़ाकों का भय अभी भूला नहीं था। मध्य

वित्त और धनी कजाक वालाविर शा न म असन्तुष्ट हो अपनी जन्मभूमि छाडकर सिनक्याग (चीनी तुर्किस्तान) म चले आए। वहाँ भी ठौर ठिकाना न लगने पर लूटते मारते तिब्बत म घुसे। पश्चिमी तिब्बत की कुछ गुम्बाओ का भी उन्होंने लूटा। उनके नमृग्या की तरफ बढ़ने की खबर आ चुकी थी। नमृग्या के तीस परिवार अधिकतर निहत्थे या पलीते वाली बन्दूको के साथ कैसे उन हथियारबन्द लुटेरो का मुकाबिला कर सकते थे। कई दिन रात तो लोगो की नीद हराम हो गई थी। अन्त म कजाक इधर न आकर उधार की तरफ मुड़ गए इस प्रकार संकट दूर हुआ। नमृग्या के लोगो को अभी क्या मालूम था, कि उनके आगे के गाँवो को जल्दी ही एक नया भविष्य होने वाली है। तिब्बत के लोग भी वही बोली बोलते हैं जो नमृग्या के लोगी धर्म को मानते हैं जिसे नमृग्या वाले। उस समय लोगो के लिए ल्हासा देहली दूर अस्त की बात थी। उनको यह भी नहीं पता था कि इस समय चीन म देवासुर संग्राम मचा हुआ है और मास ही भर म असुरराज च्याग बाद शेक को चीन से भागना पड़ेगा। माओ के नेतृत्व म नया चीन जनम रहा है जो सारे चीतन-बीतन तिब्बत का भी नेतृत्व करेगा। उस समय दो मील पर अवस्थित सूखा नाला चीन और भारत गणराज्य की सीमा बन जाएगा। फिर तिब्बत प्रगति म सरपट दौड़ने लगेगा और भारत का छकड़ा अपनी पुरानी गति से घिसटता रहेगा। कुछ ही समय बाद नमृग्यावाले आश्चर्य म सुनेंगे और आख मल के देखेंगे कि उस पार मोटर दौड़ रही हैं, हवाई जहाज उड़ रहे हैं हजारो एकड़ जमीन ट्रैक्टर से जुतकर तरह तरह के अनाज और साग-तरकारी से लहलहा रही है। सदियो पिछड़ा देश कुछ ही सालो म बहुत आगे बढ़ जाएगा निरक्षरता नष्ट हो जाएगी। मैल और गंदे रहने वाले तिब्बती कपड़े और शरीर से साफ सुथरे दिखाई पड़ने लगेंगे और चाट थाड क उनडु मपपाल मम त्रा त पुरुष दीखने लगेंगे।

२३ जून को सवेरे ही दूध रोटी खाकर हम चल दिए। साढ़े ७ मील के रास्ते म पाँच मील पैदल चले। हल्की उतराई म सवारी की जरूरत नहीं थी। रास्ते म विश्राम करने की भी जरूरत नहीं पड़ी और ६ बजे स्पू पहुँच

गए। स्पू और दूसरे भी इधर के डाकबंगले सैर-सपाटा करने प्रकृति का आनन्द लूटने वाले अंग्रेज सैलानियों के लिए बने थे। इन बंगलों में अंग्रेजी की काफी पुस्तकें थीं। जो भी सैलानी नई पुस्तक पसन्द करता वह उसे बंगले में रख जाता। सभी पुस्तकें सुरक्षित हैं यह नहीं कहा जा सकता। मैं स्पू लौटकर फिर दो दिन ठहर गया, इसमें मैं कुछ समय पुस्तकों के पन्ने में भी लगाया। डिकेन का उपन्यास 'मार्टिन चूजेल्वेट' को समाप्त किया, एकाध जगह कुछ चुभते वाक्य मिले, नहीं तो कोई चमत्कार नहीं था। इधर के लोगों को कनारे लोग जाड या लदवा कहते हैं। जाड को मनुष्य जाट है। वह नाम क्या दिया गया? यहां की जय वपानी लोग है जो यथार्थ ही है।

२८ जून को सवेरे चले। श्यांगो के पुल तक पैदल ही आए। फिर घोड़े पर चक्कर मारा १६ मील का रास्ता पूरा करके दोपहर के कुछ बाद कनम के डाकबंगले में पहुँचे। आने पर कुछ बूंदाबांदी हुई ठंडक बढ़ गई। रेंजर श्री देवदत्त शर्मा आज ही सुगनम से आए थे। वह लिप्पा से कड़े-कड़े सुग नम् गए थे जिसका श्रेय है अजपथने—बकरियों के रास्ते गए थे। मैदानी आदमियों के लिए यह बड़ी हिम्मत की बात थी। शर्माजी बड़े मुस्तैद आदमी और हर तरह की तकलीफ उठाने के लिए तैयार थे। उनके पास से पांच दिन पहले—२० जून का—'ट्रिब्यून' अखबार मिला। अगले दिन कनम् ही में रहे। उसी दिन डबला ददवा से बातचीत हुई थी।

३० को सवेरे जलपान के बाद फिर नाचे की ओर चले। नम्बरदार अगरजीन का घोड़ा कमजोर था। रिकाब भी टूट गई और जीन भी जवाब देने वाली थी। दो ही मील चक्कर गए, फिर लिप्पा खड्ड पर नाचकर उसे लौटा दिया। दोपहर से पहले जंगी पहुंचे। भारवाहक और घोड़ा तयार था। भारवाहकों को भेजकर भोजन के बाद हम भी चल पड़े। घोड़ा चढ़ने लगा दो मील का सवारी के बाद उस भी लौटा दिया। रारंग में गांव के बाहर की उसी सत्री में ठहरे, जिसमें पिछली बार ठहरे थे। प्रायः नौ हजार फुट की ऊँचाई पर भी मक्खियों के मारे आफत थी। मैंने मेरा साहब का

कनौर के बारे में कुछ सिफारिशें लिख भेजी थी। उन्होंने अपने जवाब में लिखा कि फलों की बागवानी को बढ़ाने की ओर हम ध्यान दे रहे हैं। चिनी के लिए डाक्टर भेजेंगे। तिब्बती पढ़ाई का भी शीघ्र प्रबन्ध करना चाहते हैं। मैंने उन्हें दूसरी चिट्ठी लिखी, जिसमें जंगी, अक्पा, रारंग के लोगों की पानी की तकलीफ की ओर ध्यान दिलाया और यह भी कि यहाँ पानी की नहरें आसानी से निकाली जा सकती हैं।

२८ को सबेरे चले। पंगी में थोड़ी देर ठहरे। यहाँ भी किसी को घड़े में हड्डी मिली थी। यह जिज्ञासा की चीज थी। फिर चलकर १२ बजे चिनी पहुँच गए।

११

फिर चिनी में

हम साढ़े दिन बाद चिनी लौटे थे। इसी बीच कितना परिवर्तन हो रहा था। खूबानी के दरख्त अब पीले फलों से लदे हुए थे। वह खूब खाई जाने लगी थी। खूबानी कनौर के गरीबों का सबसे बड़ा सहारा है। कच्ची और खट्टी खूबानी की चटनी बनाकर खाते हैं। पकने पर उससे पेट भरने की कोशिश करते हैं। छतों पर पीले फल सूखते हुए दूर से गाँवों को एक अजब रंग देते हैं। मैं ऊपर जाती सड़क से नीचे के गाँवों की इन पीली छतों का अर्थ नहीं जान पाया। पूछने पर पुण्यसागर ने रहस्य बतलाया। सूखी खूबानी को कोठरों में भरकर रख देते हैं। जाड़े में अनाज के साथ यही गरीबों का प्रधान भोजन होता है। कनौर में खूबानी के पेड़ यदि वनस्पति से हों, तो अचरज क्या? हाँ, अच्छी किसिम की खूबानी नहीं पैदा करते और सदा से अपने यहाँ लगाई जाती जाति को ही लगाते हैं।

मेहताजी ने अपने एक पत्र में लिखा था, कि अब रामपुर-बुशहर और आस-पास के कई इलाकों को मिलाकर उसका नाम महासू जिला पड़ गया है। तहसील से मालूम हुआ, कि सरदार बलदेवसिंह रामपुर से चले गए। महासू जिले के डिप्टी कमिश्नर पण्डित चरलारकृष्ण बनाए गए हैं। कई और पुराने रियासती नौकरों को पेन्शन दे दी गई है। इन परिवर्तनों में

म पहाड पर चला जाना चाहिए और नवम्बर क आरम्भ म ही वहाँ से नाचे उतरने का नाम लना चाहिए। बस पाँच महीने स अधिक मदान क लिए दना चाहिए तभी कुछ काम किया जा सकता है तभी शरीर का स्वस्थ रखा जा सकता है। मेरे कम्पाटमेट म चार आदमी थ। सुन्दरलाल गोसाइ लाहौर म वकील थ, छ हजार महीने की आमदनी और हाईकोर्ट क जज बनने की आशा भी थी। पाकिस्तान ने सब पर पानी फेर दिया। दो हजार अब भी कमा लेते है। घर मकान गया लेकिन रहने का काम किसी तरह चल हो जाता है। पच्चीस हजार रुपय का पुस्तकालय था, जिसमे स तीन चौथाई पुस्तको का इसलिए मगा पाए कि जफरल्ला स उनकी दोस्ती थी। दूसरे थे शाहजादा मिजाज क कोई सेठ कुमार जो सदा मोटर और मोटर क पुर्जों की बातें करते थ। तीसरे सज्जन कुछ हसमुख थे, जो कानपुर म उतर गए। इस समय जमुना गगा घाघरा की बाढ़ स युक्त प्रात म हाहाकार मचा हुआ था। बाढ़ या सूखा, युक्त प्रात म किसी न किसी हिस्से का हर साल घेरे रखता है। जान के नुकसान स बढ़कर मुसीबत है जीविका क नाश की। इसकी दवा तभी हो सकती है, यदि फसलो का अनिवाय बीमा हो। अच्छी फसल क समय सरकार कुछ प्रतिशत ल ले, और फसल बिगडने पर बीमा की हुई मात्रा म अनाज का दे दे। ४ तारीख को प्रयाग पहुँचकर श्रीनिवासजी क यहाँ ठहरा।

५ को रविवार था। सरकारी कार्यालय म काम करने वालो की सुविधा क लिए सम्मेलन की समितियों की बैठकें अक्सर रविवार का ही हुआ करती है। इस समय उस दिन ११ बजे म कार्यसमिति की बैठक हुई। सम्मेलन नियमावली क सशोधन का काय हो रहा था। नियमावली के सशोधन का काम और पहले से चल रहा है। यदि टण्डनजी ने जरा कम दीर्घसूत्रता स काम लिया होता तो शायद नियमावली काफी पहले स्वीकृत हो गइ होती और फिर गुट क चींटो से भुगतने की नौबत न आती और न सम्मेलन दलदल म पडा होता। सशोधन रखा गया कि सम्मेलन क प्रधान और प्रधान मन्त्री तीन-तीन साल क लिए चुने जाएँ और वही

मन्त्रिमण्डल बनाएँ। दिल्ली में सम्मेलन भवन बनाने के लिए सरकार पाँच लाख रुपये इस शर्त पर दे रही थी, कि सम्मेलन भी पाँच लाख और जमा कर ले। यह कोई मुश्किल नहीं था, लेकिन उसमें भी आखिरी निर्णय टण्डनजी के हाथों में था। सब जगह कुछ ही दूर जाने पर रास्ता रुक जाता। टण्डनजी उच्च आदर्श पर चलने वाले हैं, उनकी नियति पर संदेह नहीं किया जा सकता था। पर किसी किसी काम को घड़ियों और मिनटों में निश्चय करने से ही काम चलता है और वह सालों में भी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहते।

उसी दिन कुमारी केम्प से मुलाकात हुई। वह युगोस्लाविया की नागरिका और इस समय इलाहाबाद युनिवर्सिटी में रूसी पढ़ा रही थी। युगोस्लाविया की भाषा और रूसी भाषा का बहुत नजदीक का सम्बन्ध है। अँग्रेजी भी उनकी मातृभाषा सदृश रही, इसलिए उनके जैसा अध्यापक आसानी से नहीं मिल सकता था। लेकिन, उनका अपना विषय था पुरातत्व और नृतत्व, जिसके लिए यहाँ काम का सुभीता नहीं था, यह उनके सामने बड़ी अड़चन थी।

इस समय बाढ़ आई हुई थी। १६१६ की बाढ़ की तरह से भी पानी ऊपर बढ़ गया था। जो मोरियाँ गंगा में पानी ले जाने के लिए बनी थीं, अब वे पानी लाने वाली हो गई, यदि उन्हें खुला रखा जाता। लोग शंकित थे। ८ तारीख को तो बल्कि आयुर्वेद महिला कालेज में छोटी-सी नदी बह रही थी। जमुना क्षुद्र नदी की तरह उतरा रही थी। ६ तारीख को दोनों बहनें जब उतरने लगीं तो लोगों की जान में जान आई।

"शासन शब्दकोश" को प्रेस में दे दिया गया था, और चौथाई कम्पोज भी हो गया था। जो कुछ घटाना-बढ़ाना था, वह प्रूफ में करना था। सबसे पहले इसी काम को पूरा करना था। अभी "किन्नर देश में" का कुछ हिस्सा लिखने को बाकी था और 'आज की राजनीति' और 'घुमक्कड़ शास्त्र' तो दिमाग से कागज पर उतरे भी नहीं थे, उनके लिए भी प्रकाशकों की माँग थी। ६ सितम्बर को "शासन शब्दकोश" के पहले फार्म को छापने की

आना दे दी। उस दिन प्रभाव अधिक होती मालूम हुई। हिमालय के नियमपूर्वक चहलकदमी का कोई असर नहीं हुआ? मैं निराश नहीं हुआ और अगले दिन से तीन मील रोज टहलने का नियम बना लिया और इतना या कुछ कम कई महीनों तक नियमपूर्वक घूमता रहा। बनारस से दुखद खबर मिली रायकृष्णदास का घर गिर गया। आजकल घर बनाना आसान नहीं है और उनका खानदानी घर बड़ा भव्य था पास में गंगा की धारा खिसक पड़ती थी। उसी दिन मालूम हुआ हैदराबाद के बारे में भारत सरकार कुछ करने के लिए तैयार है। १३ तारीख को पता लगा, कि भारतीय सेना शोलापुर, बेजवाड़ा, मनमाड और चाँदा—चार जगहों से हैदराबाद में घुसी है जिनमें दक्षिण (बेजवाड़ा और पश्चिम शोलापुर) में मुख्य आक्रमण हो रहा है। शोलापुर में बढ़ी सेना सौ मील आगे बढ़ चुकी है। संचालक जेनरल राजेन्द्रसिंह के एक कम्यूनिक से साफ था कि भारत सरकार निजाम को बरकरार रखना चाहती है। यही क्या, वह तो बहुत पीछे तक यह भी चाहती रही कि हैदराबाद में पड़े महाराष्ट्र, कर्नाटक और आन्ध्र के हिस्से भी अपने स्वाभाविक बन्धुओं से अलग रखे जाएँ। रिजवी के इस्लामी रजाकारों (स्वयं सेवकों) ने हैदराबाद में हद कर दी थी। वहाँ दूसरा पाकिस्तान कायम हो गया था। हजारों हिन्दू परिवार अपने को अरक्षित समझकर रियासत से बाहर चले गए थे। लेकिन, रजाकार आधुनिक सेना का मुकाबिला कैसे कर सकते थे? अगले दिन की खबर में भी यही पता लगा कि बहुत प्रतिरोध नहीं हो रहा है। १७ सितम्बर की शाम को ५ बजे निजाम ने अधीनता स्वीकार की और पाँच ही दिनों में हैदराबाद काण्ड खत्म हो गया। हैदराबाद में कोई कार्रवाई की जाए इसके लिए पटेल ने ही दृढ़ता दिखाई। नेहरू अपनी सज्जनता में हमेशा हिचकिचाते रहे। यह भी कहा जाता है कि सेनाओं को कूच का हुक्म दिया जा चुका था, उसी दिन आधी रात को अंग्रेज प्रधान सेनापति ने सरकार को बतलाया, कि ऐसा करने पर पाकिस्तान हमला कर देगा और दिल्ली, अहमदाबाद और बम्बई को पाकिस्तानी हवाई जहाज ध्वस्त कर देंगे।

ि‍न्दी व देवताओं म घबराहट हो गई थी लेकिन अब तो तीर हाथ से निकल चुका था।

प्रयाग म रहने विद्यार्थियों और तरुणों व सगठनों के किसी न किसी काम म भाग लेना आवश्यक ठहरा। १३ सितम्बर को कायस्थ पाठशाला के छात्र सघ का उद्घाटन करने गए। अगले दिन शाम को इडो सावियत सोसायटी का उद्घाटन और भाषण देना पडा।

बहुत दिनों से मैं जोर दे रहा था कि उदू की अमूल्य निधियों को नागरी अक्षरों म लाना चाहिए। मरे सभापति होने के समय सम्मेलन म ऐसी १६ पोथियों के निकालने का निश्चय भी हो गया था लेकिन कोई उसके लिए आगे नहीं आया। गोयलजी ने उर्दू कविता पर एक बहुत सुन्दर पुस्तक "शेर ओ शायरी" लिखी, जिसकी भूमिका मुझे लिखने के लिए कहा। मुझे ऐसा करने म बडी प्रसन्नता हुई क्योंकि गोयलजी का उदू काव्य का गभीर ज्ञान और लिखने की शक्ति ऐसी थी जिसके द्वारा हिन्दी पाठकों को उदू कविता के समझने म आसानी होती। काफी बडी पुस्तक ज्ञानमडल प्रेस म बडी सुन्दर छपी। हिन्दी वाले उदू कविता के प्रेमी हैं यह इसी से मालूम होगा, कि पुस्तक का प्रथम संस्करण एक साल म ही खतम हो गया और फिर उत्साहित होकर गोयलजी ने कई भागों म "शेर ओ सुखन" को प्रकाशित करके उदू कविता के बहुत बडे भाग को हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ कर दिया। यह सन्तोष की बात है लेकिन मैं इसको पर्याप्त नहीं समझता। उदू का सारा मूल्यवान गद्य और पद्य साहित्य नागरी अक्षरों म छपना चाहिए। उर्दू भाषा के लिए नागरी लिपि भी अपनी लिपि हो जानी चाहिए। उर्दू हमारी भाषा है, उर्दू का साहित्य हमारा है उर्दू के महान कवि और लेखक हमारे अपने हाड मास है। उर्दू लिपि म पुस्तकों के प्रकाशन म अब बहुत कमी हो गई है, उस लिपि के पढने वाले भी कम होते जा रहे हैं। ऐसी अवस्था म उदू-साहित्य नागरी म जल्दी आना और भी आवश्यक है। इसका यह मतलब नहीं, कि उदू-साहित्य का उर्दू लिपि का

बायकाट करना चाहिए। हाँ, उर्दू के प्रचार में उर्दू लिपि को बाधा के रूप में सामने नहीं आना चाहिए।

पेशाब में चीनी के बढ़ने में अब उसकी तरफ उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उसकी चिकित्सा के लिए कई तजर्बे कर चुका था, आयुर्वेदिक दवाइयाँ भी खाई थीं। ३० सितम्बर को एक सप्ताह के लिए मैंने निरन्न भोजन करने का निश्चय कर लिया और अण्डा मांस मछली तथा फल यही भोजन में रखे। मैं इसे फलाहार कहता था। और सचमुच ही यदि फल के अतिरिक्त दूध को भी फलाहार माना जा सकता है तो इनको क्यों नहीं। सबेरे आध सेर दूध श्रीनिवासजी के यहाँ से आ जाता था। मांस या मछली बिना पानी के चढ़ा दिया जाते। पककर उनमें स्वयं काफी सूप पैदा हो जाता। नमक के अतिरिक्त और कोई मसाला या तामसिक चीज साथ में लेना नहीं चाहता था, लेकिन मछली की गन्ध को दबाने के लिए प्याज और कुछ चीजों के डालने की जरूरत थी। टंडनजी वैसे बड़े भक्त राधा स्वामी हैं लेकिन उनका मेरे ऊपर विशेष स्नेह या अनुग्रह कहिए वे भी चाहते थे कि मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहे, ताकि मैं अच्छी तरह काम कर सकूँ। एक दिन उन्होंने किसी दूसरे परिचित रोगी का उदाहरण देते हुए बतलाया भी था कि वे मांस खाया करते थे। इस भोजन के नियम से कुछ ही समय लेने से लाभ मालूम हुआ और पेशाब कम होने लगी। टहलना भी मैंने पूर्ववत जारी रखा तो भी २५ अक्तूबर को चीनी आने में कोई रुकावट न देखकर आन पड़ा—इन्सुलिन लेना ही चाहिए। लेकिन, नियमपूर्वक इन्सुलिन लेने में अभी दो वर्ष की देर थी जब सब तरफ से भटककर और सतर में पड़कर देख लिया, कि इन्सुलिन छोड़ 'नान्या पन्था विद्यतेऽयनाय'।

बहुत सालों बाद १६ की शाम को आर्य समाज में हिन्दी दिवस के सम्बन्ध में व्याख्यान देना पड़ा। मैंने सोचा था इतने सालों में यहाँ भी परिवर्तन हुआ होगा, लेकिन वह धर्म क्या यदि उस पर काल का प्रभाव पड़े? सभा के बाद अब भी वही 'हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिए'

की तुकबन्दी गाई जा रही थी। सबसे बड़ा आश्चर्य यह हुआ कि अपने को आर्यसमाजी कहलाने वाले एक सज्जन ने पतित जातियों पर ढोंगा कसने के लिए मुझसे विवाद करना चाहा।

इधर "शासन शब्दकोश" की छपाई चल रही थी, उधर आगे के परिभाषाओं के काम के बारे में भी हम तैयार हो रहे थे। विद्यानिवासजी और माधवजी कलकत्ता, कटक, नागपुर आदि में जाकर वहाँ के अधिकारी विद्वानों से मिल आए थे। सबने हमारे काम को बहुत पसन्द किया था। साइन्स की परिभाषाओं के बनाने के लिए एक साइन्स और भाषा दोनों के जानकार योग्य आदमी की तलाश थी। डा० महादेव साहा ने श्री सुरेशचन्द्र सेन गुप्त का पता दिया। वे साइन्स के एम० एस-सी० थे, संस्कृत और रूसी तथा यूरोप की और भी कितनी ही भाषाओं के उच्च जानकार थे। वे इस काम के लिए उपयुक्त थे और वैसे ही साबित भी हुए। बहुत बातों में वे विद्यानिवास जैसे ही थे। प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन के अध्यापक डा० विश्वनाथ नरवणे दर्शन की परिभाषाओं की जिम्मेवारी लेने के लिए तैयार थे।

अपनी आर्थिक स्थिति की ओर ख्याल करना जरूरी था, क्योंकि सम्मेलन से पैसा लेकर मैं काम करना नहीं चाहता था। इस साल ४१०० रुपए के करीब किताब महल से रायल्टी मिली थी, जो अकेले रहने पर भी मेरे लिए अपर्याप्त थी। कभी इतनी रकम को मैं बहुत काफी समझता, लेकिन इस वक्त तो इससे काम चलना मुश्किल था।

अगली गर्मियों में फिर कहीं भागना था, और वहाँ भी खर्च की जरूरत थी। साथ में एक सहायक की आवश्यकता तो अनिवार्य मालूम होती थी। पुण्यसागर का ज्ञान इतना कम था, कि उनसे काम नहीं चल सकता था। चन्द्रकान्तजी शिमला में साथ रहे। उनका आग्रह था कि मैं कुल्लू चलूँ। कुल्लू में नगर मुझे बहुत पसन्द था। डा० जार्ज रोयरिक का खण्डाला (पूना) से पत्र आया, जिसमें उन्होंने लिखा था, कि हम नगर के अपने निवास उरुस्वती को बेचना नहीं चाहते, किन्तु काम को सुभीते की दृष्टि से सम्मिलित

या सिक्ख में रहना चाहते हैं। नगर का खर्च भी ज्यादा था। फिर विभाजन के समय मुसलमानों का जो निर्मम हत्या हुई थी, उससे भी उनके परिवार को दुःख पहुँचा था। इस समय तो कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण से कुल्लू और लाहुल वाले भी चिन्तित हो गए थे।

२६ सितम्बर को कार्यसमिति की बैठक में और बातों के साथ यह भी स्वीकृत हुआ कि सम्मेलन के अवसर पर 'वन्दे मातरम्' को राष्ट्रगीत के तौर पर गाया जाए। भारत सरकार इस तथा 'जन मन गण अधिनायक" वाला को राष्ट्रगीत मानती है। जन मन गण किसी नेता के लिए सम्बोधित गीत है, वह जनता या देश के लिए नहीं है। शायद नेताओं के अहं की उससे तुष्टि होती है, इसीलिए उसे राष्ट्रगान बना दिया गया। दिल्ली में सम्मेलन भवन बनाने के बारे में बैठक में बात भी नहीं हो सकी, और दो दलों के नेताओं में स्पष्ट हो गयी।

विनय प्रेस में अब प्रेस में था। लिखी पुस्तकें अगर तुरंत छपने लग जाएँ, तो लेखकों को बड़ी प्रसन्नता होती है। लेकिन में गर्मी का तो पखे से किसी तरह भगाते थे, लेकिन रात का कोई उपाय नहीं था। बिजली के दीपक पर हजारों पतंगे टूट पड़ते थे, और काम करना मुश्किल हो जाता था।

इसी समय इलाहाबाद में अश्क की कहानी 'सरदारजी' पर वावेला मचा था। प्रादेशिक सरकार मुकदमा चला रही थी। हिन्दू मुस्लिम झगड़े में जो बर्बरता दिखलाई गई थी, उसका वर्णन करते हुए एक सरदार (सिक्ख) की मुसलमान के बचाने के लिए अद्भुत आत्माहुति का इसमें चित्रण था। पहले भाग में कुछ अप्रिय सत्य कहे गए थे, जिसको लेकर सिक्खों ने वावेला मचाया, और सरकार को यह मुकदमा चलाना पड़ा। अन्त में लेखक का छुटकारा हो गया, पर यह तो मालूम हो गया कि लेखक का पथ कृपाण की धार है।

कुछ ही दिनों बाद मैं फिर सम्मेलन भवन में सत्यनारायण कुटीर में रहने लगा। काम करने का सुभीता यहाँ हो सकता था। नियमपूर्वक टह

सता था। ३ अक्तूबर को साहित्य संसद् भवन में रसूलाबाद गया। महादेवी जी की यह संस्था गंगा के किनारे बहुत अच्छे स्थान पर है लेकिन आर्थिक चिंता से पीड़ित लेखक शहर से दूर इस संस्था का लाभ कैसे उठा सकता है? आज से पचास वर्ष बाद इसका महत्त्व बहुत बड़ा हो सकता है लेकिन आजकल तो वह सिर्फ तमाशे की चीज हो है।

कितनी ही पुस्तकें मैं केवल अपनी इच्छा पर ही लिखता हूँ। कभी कभी ऐसी पुस्तक भी लिखनी पड़ती है जिसमें मित्रों का बाध्य करना भी सहायक होता है। यद्यपि लिखता हूँ तब भी वैसी ही पुस्तक में जिसमें मेरा रुचि होती है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इधर कई बार हिन्दुस्तानी एकेडमी के लिए तीन भाषण तैयार करने के लिए कहा। मैंने 'बौद्ध संस्कृति' पर वचन दे दिया। उस समय नहीं मालूम था कि मुझे इतनी बड़ी पुस्तक लिखनी पड़ेगी और दुर्लभ समय में से भी कई महीने निकालकर उस दन पड़ेंगे फिर पुस्तक छपकर तैयार हो जाने पर भी फरवरी १९५६ तक उसके पाठकों के हाथ में पहुँचने की नौबत आएगी।

टाइप के सुधार की ओर भी मेरा मन दौड़ रहा था। मैं सोच रहा था यदि ऊपर-नीचे की पाइयों को बगल में रख दिया जाए तो हिन्दी के छोटे आकार के टाइप भी देखने में काफी बड़े और मोटे मालूम होंगे। आजकल दस प्वाइंट के शरीर वाले टाइप का आकार वस्तुतः ६ प्वाइंट के बराबर होता है। इसी दिक्कत के कारण ६ प्वाइंट के टाइप हिन्दी में ढाले नहीं जा सकते। मैंने यह बात प्रयाग के एक टाइप फौंड्री के स्वामी को बतलाई और उन्होंने इस तरह का टाइप ढाल भी दिया। मैं चाहता था अपनी एक दो पुस्तकें इस टाइप में छपवाऊँ। अक्षरों के आकार में तो कोई अन्तर था नहीं, इसलिए पढ़ने में दिक्कत नहीं हो सकती थी। सुधरे हुए टाइप में मेरी किसी पुस्तक को आनन्दजी छापने वाले थे। पीछे सब तितर बितर हो गया और टाइप बन के बन रह गए। ४ अक्तूबर की रात को मिनसार तक पैसे की सहायता लेनी पड़ी। भोजन में अगले दिन की डायरी के अनुसार — सवेरे आध सेर शुद्ध दूध श्रीनिवासजी के यहाँ से आ जाता है और शाम

को यहाँ मँगा लेते हैं। आध सेर मछली या मास और सवा सेर सब या दूसरे फल—जिनका किलोरी परिणाम है साढ़े १६०० जो अपर्याप्त है। यदि पाव भर मास और बढ़ाए, तो ८०० किलोरी और बढ़कर २२००, २३०० किलोरी होकर पर्याप्त होगा।

'शासन शब्दकोश' में तुरन्त हाथ लगाना टंडनजी के कारण हुआ था। इधर मैंने संविधान के मसौदे के हिन्दी अनुवाद को जब देखा तो माथा ठनका। यह तो हिन्दी के किसी दुश्मन का ही काम हो सकता था। यह अनुवाद नहीं किया गया था बल्कि नई भाषा लोगों के ऊपर थोपी गई थी। मैंने उसका थोड़ा अनुवाद करके दिखलाया तो टंडनजी और दूसरे मित्रों का आग्रह हुआ कि संविधान के अंग्रेजी मसौदे का पूरा अनुवाद कर दिया जाए और उसे छाप भी दिया जाए, ताकि संविधान सभा की अगली महत्वपूर्ण बैठक में उसे लोगों में वितरण करके बतलाया जा सके कि यह हिन्दी का कसूर नहीं है जो कि उस तरह का अनुवाद सरकार की ओर से नियुक्त समिति ने किया है। डा० रघुवीर से बाई शिकायत नहीं हो सकती थी वे अपने पल्लवग्राही पांडित्य के बल पर टाँग अड़ा सकते थे। श्री घनश्यामसिंह गुप्त हिन्दी के बड़े प्रेमी और सहृदय पुरुष थे। वे चाहते थे कि हमारे स्वतन्त्र देश में अंग्रेजी का प्रभुत्व हटे और हिन्दी उसका स्थान ले। इस काम में सहायता देने के लिए उन्हें किसी विशेषज्ञ की जरूरत थी और भूले भटके डा० रघुवीर किसी तरह नागपुर पहुँच गए। लेकिन आश्चर्य होता था कि इस पर श्री हरिभाउ उपाध्याय श्री कमलापति त्रिपाठी और डा० नगेन्द्र ने क्या ध्यान नहीं दिया। १०३ धाराओं के अनुवाद को देखने के बाद टंडनजी ने कहा सबका अनुवाद कर डालना चाहिए। मैं और विद्यानिवासजी उसमें जुट गए। अनुवाद करते समय रघुवीरी प्रक्रिया को और नजदीक से देखने का मौका मिला और उस पर मैंने एक व्यंग्यात्मक लेख भी लिख डाला।

दरभंगा—दरभंगा में ओरियंटल का प्रेस हो रही थी। प्रयाग से भी डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी जा रहे थे। उधर

मुजफ्फरपुर में बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन हो रहा था, उसका भी आग्रह था इसलिए १५ अक्तूबर को साढ़े ७ बजे रामबाग स्टेशन से छोटी लाइन द्वारा मैं रवाना हुआ। सेकंड क्लास की अवस्था कम से कम इस ट्रेन में सुथरी मालूम होती थी। अच्छा डब्बा लगा हुआ था। बनारस गाजीपुर बलिया छपरा में भीड़ जरूर रही, और छपरा बलिया में देखने से मालूम हो रहा था, कि अब भी पुराने जमाने की तरह ही बड़ी संख्या में लोग मजूरी करने के लिए बंगाल की ओर जा रहे हैं। पहले वे पूर्वी बंगाल के सूबों में जाकर काम किया करते थे लेकिन अब तो वे पाकिस्तान में हैं। श्रम मारा मारा फिर रहा है, और उसमें समुचित काम लेने की व्यवस्था नहीं है। शारीरिक और मानसिक श्रम की यह बेकारी ही हमारी दरिद्रता का कारण है।

रात को २ बजे ट्रेन मुजफ्फरपुर पहुँची। श्री रामधारी प्रसादजी बाबू उमाशंकरजी और श्री देवदत्त शास्त्री से स्टेशन ही पर मुलाकात हुई। रात को सबसे पहला काम सोने का था। सबेरे मित्रों से मुलाकात होती रही। असहयोग के दिनों में कांग्रेस की सरगर्मियों के समय मुजफ्फरपुर न जाने कितनी बार आना-जाना रहा। लेकिन २०-२५ वर्ष में तो नई पीढ़ी आ जाती है, और पुराने परिचित चेहरे विरल हो जाते हैं। अधिवेशन के समय मुजफ्फरपुर नगरपालिका ने मुझे अभिनन्दन-पत्र प्रदान किया। ३ बजे ही अधिवेशन में शामिल हुआ। अभिनन्दन के उत्तर में मुझे भी एक घंटा बोलना पड़ा। इस समय डायबटीज का मन पर भी प्रभाव पड़ रहा था, मालूम होता था, जैसे कुछ नशे में बोल रहा हूँ। साथ ही अनकुस भी लगता था। दरअसल मुझे पहले ही समझना चाहिए था, कि डायबटीज का एक-मात्र उपचार है नियमपूर्वक रोज इन्सुलिन लेना। फिर मानसिक शारीरिक सारे क्षोभ मिट जाते हैं।

नागार्जुनजी और नलिनविलोचन शर्मा भी ७ बजे शाम को उसी ट्रेन से दरभंगा की ओर चल रहे थे। नलिनजी अपने डाक्टरेट के निबन्ध के बारे में बातचीत करते रहे। पीछे जब युनिवर्सिटियों के निबन्ध टक सर हो

गए तो बहुतों ने उसका ख्याल छोड़ दिया और नलिनजी भी शिथिल हो गए। उनसे भी ज्यादा मैं सोचा करता था कि अपने काल के अद्भुत विद्वान् प० रामावतार शर्मा की संस्कृत और हिन्दी कृतियों को पुस्तकाकार कम छापा जाए। उनका सम्पूर्ण काम तो प्रकाश में बिल्कुल आया ही नहीं और डर था कभी स्वदेह जरा को प्राप्त न हो जाए। नलिनजी की वह मूर्ति भी मुझे याद है जबकि दो-तीन वर्ष के बच्चे थे और बनारस में शर्माजी आधी धोती नीचे और आधी धोती ऊपर किए उनको कंधे पर करके गंगा स्नान को जाते समय लोगों की जिज्ञासाओं का तृप्त करने के लिए देर तक सड़क के किनारे खड़े थे। शर्माजी के निबन्ध और पुस्तकें अब प्रकाशित हो रहे हैं यह बड़े हर्ष की बात है।

रात के १२ बजे दरभंगा पहुंचे। महाराजा दरभंगा के लालबाग के अतिथि भवन में ठहराया गया। डा० बाबूराम सक्सेना और डा० तिवारी और बहुत से विद्वानों के साथ खेमों में टिके हुए थे। डा० अमरनाथ झा की तरह इस सम्मेलन के निमन्त्रणकर्ता थे प्रबन्ध सारा डा० उमेश मिश्र के ऊपर था। अपनी मातृभाषा भोजपुरी का पक्षपाती होने से मैं भी चाहता था कि उसको उचित स्थान मिले। भोजपुरी प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हो, उसमें साहित्य का निर्माण हो। कुछ दूर तक वह व्याख्या की भी भाषा हो। पर डा० उमेश मिश्र और कितने ही और मैथिली ब्राह्मण इतने से सन्तुष्ट नहीं हैं। वह हिन्दी के विरोध को मातृभाषा भक्ति का एक अंग मानते थे। उनके ख्यालशरीफ में भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी नहीं संस्कृत होनी चाहिए। कितनों के तर्क को सुनकर तो मुझे याद आता था 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः'। (दफ्तरों के कागज पत्रों में या तो अंग्रेजी का प्रयोग किया गया था या संस्कृत का। हिन्दी विद्वेषमूलक मैथिली का समर्थन कुछ बूढ़े और बिगड़े दिमागों का ही स्वप्न है। मैथिल प्रतिभा पिटारी में बन्द होने के लिए तैयार नहीं हो सकती। उसे सारे भारत के रंगमंच पर अपना जौहर दिखलाना है। संस्कृत में आज तक उसका स्थान अद्वितीय रहा है। कुछ ही दिनों में जब मैथिली तरुणों के दिमाग का ताला टूटा तो

वे आई० सी० एस० में भी अपनी सफलता दिखलाने लगे। हिन्दी में नागार्जुन ने गद्य पद्य दोनों में अपना विशेष स्थान प्राप्त किया है, और दूसरे तरुण भी आगे बढ़ रहे हैं। तरुण पीढ़ी 'पुनर्मूषको भव' मानने के लिए तैयार नहीं हो सकती यह निश्चित है। मैथिली साहित्य में सुन्दर उपन्यास लिखे जा रहे हैं। हरिमोहन ठाकुर की व्यंग्यात्मक कृतियाँ मैथिली में ही नहीं, हिन्दी में भी बहुत आदर के साथ पढ़ी जा रही हैं। आगे के मैथिल विद्वान् अपनी मातृभाषा और हिन्दी दोनों की सेवा करके यश के भागी होंगे इसमें सन्देह नहीं।

कान्फ्रेंस के साथ कई और सम्मेलन हुए। १७ अक्तूबर को हिन्दी कवि सम्मेलन हुआ। पं० माखनलाल चतुर्वेदी का भाषण बड़ा ही सुन्दर था। चतुर्वेदीजी जैसा हिन्दी का सुवक्ता इस वक्त कोई नहीं है, वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं। हरेक शब्द और वाक्य चुने हुए गठे गठे बड़े लालित्य के साथ उनके मुँह से निकलते हैं। सचमुच मालूम होता है मोती झर रहे हैं, मालूम होता है अच्छी तरह लिखे हुए भाषण को कोई सुन्दर पढ़ने वाला पढ़ रहा है। मुझे जब जब चतुर्वेदीजी के भाषण को सुनने का अवसर मिला तब तब ख्याल आया, कि इनके भाषणों के कुछ रेकार्ड रहने चाहिएँ ताकि आनेवाली पीढ़ियाँ भी देखें, कि उनके पूर्वजों में एक इस तरह का अद्भुत वाग्मी पैदा हुआ था। कवियों को विशेष तौर से नहीं बुलाया गया था। हिन्दी को प्रोत्साहन देना कांग्रेस के प्रबन्धकों का ध्येय भी नहीं था। तो भी नागार्जुनजी ने अपनी कुछ सुन्दर और चुभती हुई कवितायें सुनाईं।

अपने बिहार के राजनीतिक जीवन में हर जिले के कितने ही कर्मियों के घनिष्ठ सम्पर्क में मुझे आने का मौका मिला था। काम के प्रचार के लिए इधर उधर जाने पर कभी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों में और कभी वर्षों या महीनों जेल में निरन्तर साथ रहने के समय। ऐसे ही परिचितों में से एक [illegible]रिया सराय में इस समय बीमार थे। उन्हें जब मालूम हुआ तो मिलने के लिए बुलाया। मैं गया। अब वह वृद्ध हो चुके थे, और उस पर रोगी भी। कुछ देर तक बातें होती रहीं। पुराने परिचित ने मिलकर बड़ी

प्रसन्नता हुई। अफसोस है, उस समय नाम लिख नहीं सका और अब याद नहीं आता।

तीसरे पहर बाद पण्डाल खाली था। इस समय संस्कृत के पण्डितों ने अपनी सभा करनी शुरू की। कांग्रेस के लिए समय नजदीक आ रहा था तो भी पण्डितों की सभा खत्म होने का नाम नहीं लेता था। डा० उमेश मिश्र को बहुत बेचैनी होनी चाहिए, लेकिन उन्होंने पालिसी से काम नहीं लिया। फिर क्या था। पण्डित उबल पड़े और उनके अनुवाद करने के लिए आरा जिले के एक सरस्वती-पुत्र लम्बी चौड़ी मूर्ति मंच पर आकर संस्कृत में प्रबन्धकों की धज्जियाँ उतारने लगी। मैं थोड़ी ही देर पहले पण्डाल से बाहर चला आया था। लोगों को कुछ सूझ नहीं रहा था। इसी समय किसी ने मेरा नाम लिया। मुझे वहाँ बुलाया गया। उत्तेजित पण्डित मण्डली को शान्त करने में मैं समर्थ होऊंगा इस पर सहसा मुझे भी विश्वास नहीं था। लेकिन पण्डित मण्डली मुझे अपना मानती थी मेरी बात सुनने के लिए तैयार थी। मंच पर जाकर लम्बी चौड़ी मूर्ति से मैंने भोजपुरी में कहा—'सारे देश के विद्वानों के सामने हम लोगों की भद्द हो जाएगी इसलिए बात को आगे नहीं बढ़ाना चाहिए।' पण्डितों को भी उनकी बातों का कुछ जोरदार समर्थन करके और भद्द होने का डर दिखाकर शान्त किया। पण्डाल कांग्रेस के लिए खाली हो गया। इस बात का उल्लेख करते डा० अमरनाथ झा ने कहा था कि उमेश जी में कुछ खानदानी स्वभाव है जिसके कारण रात दिन एक करके सेवा में लगे रहने पर भी ऐसी चूक हो गई। प० उमेश मिश्र प० शिवकुमार शास्त्री के बाद उनके शिष्य तथा उन्हीं की तरह अपने समय के संस्कृत पण्डित-चक्रवर्ती प० जयदेव मिश्र के सुपुत्र हैं। डा० गंगानाथ झा (प० अमरनाथ झा के पिता) प० जयदेव मिश्र के शिष्य थे इसलिए अपने गुरुपुत्र पर बहुत स्नेह रखते थे। महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र भी जल्दी उत्तेजित हो जाते थे इसका मुझे पता नहीं। लेकिन कुछ कमियों के कारण डा० उमेश मिश्र के गुणों को नहीं भुलाया जा सकता। उनकी

संस्कृत भाषा और उसकी संस्कृति से घनिष्ठ प्रेम है। हां वह सौ साल पहले की दृष्टि से ही उसको देखते हैं।

डायबेटीज के लिए चिन्ता बनी रहती, मुंह का स्वाद और बार-बार पेशाब का होना ही कबाहत का कारण नहीं था, बल्कि मन भी प्रशान्त रह कर काम नहीं कर सकता था। कभी सोचता शरीर का वजन भी इसमें कारण है। क्या ही अच्छा होता यदि १५ पौण्ड घट जाता। डायबेटीज वाले के लिए यह क्या मुश्किल है? और आजकल (१९५६ में) तो वह दिन भी देखना पड़ रहा है जबकि शरीर का वजन उतना (१५२ पौण्ड) ही हो गया है, जितना होना चाहिए था। कान्फ्रेंस में आने का एक यह भी प्रलोभन था, कि परिभाषाओं और हिन्दी के बारे में भिन्न भिन्न प्रदेशों से आए हुए विद्वानों से बातचीत करेंगे। हिन्दी विरोध तो केवल तमिलनाड की चीज है और उसकी जड़ में भी वस्तुतः ब्राह्मण और अब्राह्मण का सवाल है। अब्राह्मण ९० फीसदी से ऊपर है, तो भी वहां के धन विद्या के सर्वेसर्वा ब्राह्मण शताब्दियों से होते आए हैं उसी का बदला अब वहां का बहुजन ले रहा था। ब्राह्मण विद्वान् भी तमिल के पक्ष का अब्राह्मणों की तरह अपनाने के लिए मजबूर हैं। त्रावनकोर और आन्ध्र के प्रतिनिधि हिन्दी और परिभाषाओं के बारे में हमारी ही तरह उत्साह दिखला रहे थे यद्यपि अंग्रेजी का मोह अभी बहुतों के पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ था। मुझे तो समझ में नहीं आता था, कि कैसे कोई सोच-समझ रखनेवाला आदमी मान सकता है कि अंग्रेजी हमारे देश में अनिश्चित काल तक अपने प्रभुत्व को बनाए रखेगी। हम देख ही रहे हैं, कि नई पीढ़ी अंग्रेजी की योग्यता में दिन पर दिन पिछड़ती जा रही है। आज (१९५६ में) तो नवयुवकों में वहां शुद्ध अंग्रेजी बोल समझ सकता है जिसकी शिक्षा कलकत्ता और युरोपियन स्कूलों में हुई है। यह निश्चय ही है कि इस शताब्दी के अन्त तक ऐसे लोगों की भी संख्या बहुत कम हो जाएगी। यदि अगली पीढ़ियां अंग्रेजी को अपने कन्धे पर उठाने के लिए तैयार नहीं हैं तो सठियाए बूढ़ों का चिल्लाना क्या बेकार नहीं है?

१८ अक्तूबर को ढाई बजे कांग्रेस समाप्त हुई। मैंने इसमें परिभाषा सम्बन्धी अपने लेख को पढ़ा था और अन्तिम दिन नाटक स्टेज के बारे में भी कुछ बोला था। उस दिन शाम को हिन्दी महारथियों के स्वागत के लिए टौनहाल में सभा हुई, जिसमें संस्कृत के राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न पर बोलते हुए मैंने कहा—हमारी भाषाओं के उपजीव्य की तरह संस्कृत का स्थान सदा बना रहेगा। लेकिन, अब वेदों के समय में माता का सिंहासन का लोभ छोड़ना ही अच्छा होगा। मिथिला विश्वविद्यालय की स्थापना का भी मैंने समर्थन किया और बतलाया कि जमींदारी प्रथा के हट जाने के बाद यहाँ की बहुत सी इमारतें वक्फ को मिल जाएँगी। दरभंगा में महाराजा का निजी पुस्तकालय है, जो पुस्तकों की संख्या में बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता, लेकिन उसमें भारी परिमाण में बहुत अच्छी-अच्छी पुस्तकें संग्रहीत हैं। छपी हुई पुस्तकों में ऐसी भी बहुत हैं, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आरम्भिक दिनों में लन्दन या विदेश में मुद्रित हुई थीं।

१९ अक्तूबर को सबेरे हम लोगों को विद्यापति के पद सुनने का मौका मिला। हिन्दी और बंगाली कई विद्वान् मैथिल कंठ से मैथिल कोकिल की कविताओं को सुनना चाहते थे। इसका प्रबन्ध महाराजा के अनुज राजाबहादुर विश्वेश्वर सिंह के यहाँ किया गया। दरबारी गुणियों ने उसे उस्तादी तराने से सुनाया, जिसे हम कहीं भी सुन सकते थे। हम तो ग्रामकंठ से उसे सुनना चाहते थे। फिर इन दरबारी गुणियों में इतना बेहूदापन हो सकता है, इसका हमें कभी ख्याल भी नहीं था। सुननेवालों में महिला विदुषी भी थीं, और वह गुणी विद्यापति के नाम से विपरीत रति का पद सुना रहे थे। किसी तरह जल्दी जल्दी वहाँ से हम भागे।

शाम को ५ बजे स्टेशन पहुँचे। प्रयाग के लिए यहीं डब्बा लग गया था, इसलिए हम अब निश्चिन्त थे। अगले दिन (२० अक्तूबर को) हमारी गाड़ी चल रही थी। डा० उमेश मिश्र की अगली पीढ़ी उनके हाथ में नहीं रहेगी, और तीसरी पीढ़ी तो बिल्कुल विद्रोह करेगी, इसमें से देह नहीं। लेकिन, अभी वह अपने पुत्रों पर लोगों के हाथ अपने खान पान के नियम को चला

रहे थे। तीनों पुत्र मुझे चल रहे थे रेल में छुआछूत और खान पान का वही सनातन नियम पालन करना चाहिए चाहे चौबीस घंटे का व्रत क्यों न रखना पड़े। और यह सब उस परम असन्दिग्ध [illegible] के लिए जिस पर उनका गाढ़ ही पूरा विश्वास था। मुझे समस्तीपुर में स्टेशन में सुन्दर स्वादिष्ट बनी हुई मछलियाँ प्लेटफार्म पर बिकती देख पड़ीं, तो मैंने समझा सचमुच ही मिथिला स्वर्ग का एक कोना है। किसी मैथिल ने इसके बारे में कहा था कि अमृत कहीं दूसरी जगह नहीं, बल्कि [illegible] सब शास्त्र-निवारम्भा जम्बीरनारङ्गपरिपूरितमत्स्यखण्डे। नीबू के रस में बनी मछलियों का खण्ड कितना स्वादिष्ट होता है इसे सौभाग्यवान ही जानते हैं। और सकलशास्त्र के महापण्डित होने के साथ ही ब्राह्मण भी ऐसे हैं जो पुरानी आर्य प्रथा को अपनाए हुए बाकी हों या कहीं मत्स्य और मांस के भोजन में परहेज नहीं करते। पश्चिम के म्लेच्छों में जाने पर कभी-कभी उन्हें अपने परमप्रिय खाद्य को छोड़ना पड़ता है और उसके लिए देश लौट कर प्रायश्चित करने के बाद जब जम्बीर-नीर परिपूरित मत्स्य-खण्ड मिलता है तो वह अपने को कृतार्थ समझते हैं। मछलियों के साहस की दाद क्या न दी जाए। मत्स्य कच्छप और वराह इन तीनों अवतारों को [illegible] कर गए इति संचिन्त्य भगवान नारसिंह वपुर्दधौ। (तीन अवतारों के खा जाने से डरकर विष्णु ने नरसिंह का अवतार लिया।) यदि सिंहमांस का अवतार लिया जाता, तो भी सुरक्षित नहीं थी। मैंने देखा था तीनों तरुणों का मुँह चालीस घंटे के व्रत के कारण सूखा हुआ था।

प्रयाग—१० तारीख को प्रयाग पहुँचकर ४ नवम्बर तक के लिए फिर मैं परिभाषा के काम में जुट गया। जल्दी ही फलाहारी हो गया और जैसा कि मैंने कहा मेरे फलाहार का मतलब था अन्न का सर्वथा त्याग। इसमें दूध, मांस, मछली और फल सम्मिलित थे। रोज ५ मील का टहलना भी होने लगा।

२२ अक्टूबर को थापनजी ने अपना विवाह जाति और धर्म के बन्धन को तोड़कर किया। उनकी पत्नी राहगदेवी बनारस की सुशिक्षित ग्रेजुएट

महिला हैं। यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि पतिकुल में तो रूप और उल्लास था। शिवरानीदेवी अपनी बहू को फिर आँखों पर बैठा रही थीं, पर मातृकुल में शोक और संताप छाया हुआ था—वह मुस्लिम कन्या काफिर बनने के लिए काफिर के घर जायगी। काल जब पहले-पहल प्रहार करता है तो भले के लिए होने पर भी वह प्रिय नहीं मालूम होता। लेकिन, काल ही उसे मधुर और प्रिय भी बना देता है। सामाजिक बातों में पीछे रहनेवाले हिन्दू आगे बढ़ रहे हैं, इससे भले दिनों की आशा होती है। मैंने हँसते हुए कहा—अभी बहू को भी कौंसिल में अहिन्दू निर्वाचन क्षेत्र से भेज देना चाहिए। आज प्रेमचन्दजी होते, तो वह भी शिवरानीजी की तरह ही पुत्र और बहू को बड़े रूप से आशीर्वाद देते।

२३ अक्तूबर को श्री राजेन्द्र बाबू के पत्र से मालूम हुआ कि वह भी संविधान के रघुवीरी अनुवाद से संतुष्ट नहीं हैं।

२४ अक्तूबर को प्यास और पेशाब बहुत ज्यादा हो गई। मालूम होने लगा, चंक्रमण और भोजन नियंत्रण से डायबटीज को नहीं भगाया जा सकता, इसलिए लेना ही पड़ेगा। यद्यपि मैं डेढ़ दो घंटे रोज घूम आया करता था, लेकिन १६ घंटे की निरन्तर बैठकी होती थी। ८ बजे सवेरे से रात के १२ बजे तक केवल खाने के लिए कुछ मिनट छोड़ बैठा काम में ही लगा रहता था। मेरे पत्र को राजेन्द्र बाबू ने श्री घनश्यामसिंह गुप्त के पास भी भेज दिया था। उसमें कुछ कड़वी बात भी थी। लेकिन गुप्तजी नम्रता की मूर्ति हैं। उनका अपना निजी आग्रह या स्वार्थ भी रघुवीरी प्रणाली से नहीं है। उन्होंने मिलकर काम करने के लिए कहा और पीछे हम लोगों ने बहुत स्नेह के साथ मिलकर काम किया।

३० अक्तूबर को शासन शब्दकोश छप गया और अगले दिन सौ कापियों की जिल्द भी बँध गई। उसी दिन सम्मेलन के कार्यालय के नए भवन की नींव मुझे डालनी पड़ी और टंडनजी ने सम्मेलन प्रेस का उद्घाटन किया। प्रेस के लिए मैं बहुत उत्सुक था। परिभाषा का काम तभी ठीक से और तेजी से चल सकता था जब प्रेस पूरा सहयोग देने के लिए तैयार हो।

बाहर के प्रेसों में काम संतोषजनक नहीं होता था। उस समय प्रेस के लिए जो दोमंजिला इमारत बनी थी उसे लोग काफी, लेकिन मैं नाकाफी समझता था। परिभाषा के कोशों को छापने के लिए नागरी और अंग्रेजी दोनों टाइप चाहिएँ और छपाई भी अच्छी होनी चाहिए, तभी वह दूसरे प्रान्तों के विद्वानों पर प्रभाव डाल सकती थी। सभी प्रान्तों के भिन्न भिन्न विषयों के पण्डितों से परिभाषा के काम में मुझे सहायता लेनी थी। यदि वह अपने काम को जल्दी और सुन्दर रूप से छपा देखेंगे, तो और भी उत्साह के साथ सहयोग देंगे। टंडनजी ने पटेल बाबू को मोनो टाइप मशीन खरीदने के लिए कह रखा था। छठे छमाहे जब याद आता, तो वह पूछ देते। पटेल बाबू कहते—"बाबूजी, बहुत कुछ हो गया है।" मैं इससे असंतुष्ट था। उस समय मोनोटाइप मशीन का मिलना आसान नहीं था, यह ठीक है और यह भी कि चोरबाजारी से ही काम जल्दी बन सकता था। पर मैं समझता था, यदि कोशिश की जाए, तो सम्मेलन जैसी संस्था के लिए उसका मिलना मुश्किल नहीं होगा। ऐसा ही हुआ भी। मैंने कलकत्ता की अपनी एक यात्रा में बातचीत की। मेरे तरुण मित्र श्री परमानन्द पोद्दार ने कम्पनी के एजेंट से बातचीत की। किसी के लिए आई हुई मशीन की कुछ शर्तें पूरी नहीं हो रही थीं, एजेंट ने उस मशीन को देना स्वीकार कर लिया। मैंने सम्मेलन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति दोनों को लिखा, तुरन्त दाम देकर मशीन उठा लाएँ। दोनों ही तुरन्त तैयार हुए। मशीन सम्मेलन में चली आई। मैं समझने लगा, हमारे परिभाषा के काम में बहुत जल्दी होगा, लेकिन आपसोची बात कम थोड़े ही हुआ करती है।

श्री विद्यानिवास मिश्र बड़ी तत्परता से काम कर रहे थे, उनका ज्ञान तथा स्मरणशक्ति हमारे काम के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई। लेकिन बीच-बीच में उनका मन उचट जाता था। वेतन लेकर काम करने पर जब कोई टीका टिप्पणी कर देता, तो वह विरक्त हो जाते। फिर समझा बुझा कर ठीक करता। इस समय संविधान सभा में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का सवाल पेश था। मौलाना आजाद उसके सख्त विरोधी थे, नेहरू भी उनके समर्थक

थे। राजेन्द्र बाबू विधान सभा के अध्यक्ष थे, और उनमें इतनी भारतीयता थी कि वह अंग्रेजी का कभी समर्थन नहीं कर सकते थे, और हिन्दी के तो वह सदा से पक्षपाती रहे। अपने बहुव्यस्त जीवन में समय निकालकर वह हिंदी में लिखते भी थे, लेकिन सभापति होकर तो इस विवाद में भाग नहीं ले सकते थे। सरदार वल्लभभाई पटेल भी हिन्दी के पक्ष में होते, अगर हिन्दी और अंग्रेजी में एक को चुनना होता। लेकिन संविधान-सभा में हिन्दी हिन्दुस्तानी का सवाल छेड़ दिया गया था और हिन्दुस्तानी के द्वारा उर्दू भाषा लिपि को भी राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न हो रहा था।

परिभाषा के काम के लिए २१ अक्तूबर की बैठक में १० हजार रुपया खर्च करने का निश्चय हुआ, उपयुक्त आदमियों को रखने की बात थी। श्री माधवदत्त शर्मा पंजाब विश्वविद्यालय के शास्त्री और एम० ए० थे। विस्थापित होकर आजकल प्रयाग में थे। एक आदमी का नाम पहले मिलना चाहिए। यह डटकर की और मेरा भी ध्यान गया। उनकी परीक्षा ली, उनकी मुस्तैदी और अभिज्ञता देखकर डा० मोती स्वरूप मासिक देने का भी निश्चय कर लिया गया। माधवजी भी समय देने के लिए कह रहे थे, लेकिन अभी निश्चय नहीं हो सका था क्योंकि वह रेडियो की नौकरी में थे। सहकर्मियों को प्राप्त करना सबसे जरूरी था। इसी बीच दिल्ली जाने की जरूरत पड़ गई। संविधान-सभा के इसी अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के बारे में निर्णय होने वाला था।

दिल्ली—४ नवम्बर को ६ बजे रात की गाड़ी से श्री लक्ष्मीश्वर उपाध्याय के साथ मैं दिल्ली के लिए रवाना हुआ। अगले दिन सबेरे गाड़ी इटावा के पास आ रही थी। टुंडला में कम्पार्टमेंट के तीन सहयात्री उतर गए और आगरा के नजदीक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी तथा दिल्ली के श्री गुरुदत्तजी नए सहयात्री बने। भोजन का समय था और मैं था फलाहारी। मुसलमान माल बेच रहा था मैंने कुछ दाने ले लिए। तब तो मास और दूसरे मुसलमान को चतुर्वेदीजी धमकाकर दूसरे कम्पार्ट में जाने के लिए तैयार हो गए। फिर न जाने क्या रुक गए। मेरा नाम वह जानते थे।

फिर तो घुल घुलकर बातें होने लगीं। मैंने कहा—चतुर्वेदी मथुरा के चौबे तो गंगा के पुरोहित थे, और स्वयं भी अभिनव गंगा थे। उस समय तो यह मांस क्या दूसरे मांस भी उनकी रसोई में रोज बना करते थे।

२ बजे गाड़ी दिल्ली पहुँची। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदीजी स्टेशन पर आए थे। उनके साथ उनके निवास पर गए। पश्चिमी पाकिस्तान से उजड़ कर आए लाखों शरणार्थी अब भी दिल्ली में बेसरोसामान पड़े थे। वस्तुतः यदि वे पुरुषार्थी न होते और अपनी मदद आप करने के लिए तैयार न होते, तो उन्हें और देश को बड़े बुरे दिन देखने पड़ते। मैं सोचता था कि यदि यही इतनी बड़ी संख्या पूर्वी बंगाल से आती तो क्या हालत होती।

उस दिन (५ नवम्बर) शाम को घूमते हुए मध्य एसिया म्यूजियम में गया। इस समय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल यहीं थे। डा० अग्रवाल जैसे सुयोग्य पुरुष को दिल्ली अपने पास नहीं रख सकी, इसमें दिल्ली का ही दोष है। दिल्ली को खुशामदी दरबारी ही पसन्द आते हैं, वहाँ आत्मसम्मान रखनेवाले पण्डित का कैसे गुजारा हो सकता है? अग्रवालजी भी वहाँ नहीं टिक सके। पीछे डा० मोतीचन्द को भी तल्ख-तजर्बा हुआ, और वह भी बम्बई लौट गए। संग्रहालय में उस समय श्री कृष्णदेवजी थे। कृष्णदेवजी बिहार शरीफ के रहने वाले थे और पटना में विद्यार्थी रहते समय से ही मेरे परिचित थे। लेकिन, अब तो उसे १२-१४ साल बीत चुके थे। पुरानी पीढ़ी को सालों का मूल्य समझना चाहिए और 'घर पाछिनी नाव'' की कभी कोशिश नहीं करनी चाहिए। मैं इसके लिए बहुत सावधान रहता हूँ। थोड़े दिन हुए एक प्रोफेसर से पटना में मैंने जब आप करके सम्बोधन किया तो वह कहने लगे—'हमें आपका तुम ही अच्छा लगता है।' पर मैं जानता हूँ कि तुम कहना काल की उपेक्षा करना है।

उसी हाते में कुछ तम्बू पड़े थे जिनमें कितने ही पश्चिमी पंजाब से आए हमारे भाई एक बरसात बिता चुके थे। पं० भगवद्दत्तजी भी यहीं थे। उनके पुत्र सम्भवतः म्यूजियम में काम कर रहे थे। कितनी ही देर तक उनसे बातचीत होती रही। परिभाषा के काम की आवश्यकता को वह समझ

सने थे। यह एक अपने मित्र इंजीनियर के पास भी ले गए। इंजीनियर भाषा की विशेष योग्यता न रखने हुए भी इसको समझते थे कि हम अपनी भाषा में ही ज्ञान विज्ञान को पढ़ना होगा। उन्होंने अपने महकमे के सम्बन्ध की कुछ परिभाषाएँ तैयार कराई और इस लालसा से प० नेहरू का ध्यान लाना चाहा, कि वह उनके लिए साधुवाद देंगे लेकिन उनको उल्टी झाड़ खानी पड़ी—तुम अपने काम को करो अनधिकार चेष्टा न करो। हिन्दी को आगे बढ़ने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा यह साफ मालूम हो रहा था।

६ नवम्बर को सबेरे और शाम दोनों वक्त श्री घनश्यामसिंह गुप्त से परिभाषाओं के बनाने के सम्बन्ध में किन बातों का ख्याल रखना चाहिए, इसके बारे में बात हुई। हम दोनों ही एक राय थे परिभाषाएं परिचित शब्दों से बनाई जाएँ और जनसाधारण तक पहुँचें। प्रसिद्ध शब्दों का बायकाट न किया जाए। लेकिन गुप्तजी अपने रघुवीरी अनुवाद को कानूनी बारीकियों के ख्याल से अधिक उपयुक्त समझते थे। पर, जब फिर मैं अनुवाद करने का अवसर आया तो उन्होंने उस आग्रह को छोड़ दिया।

उसी दिन बौद्ध विहार में जाने पर एक भूतपूर्व इंजीनियर भिक्षु से भेंट हुई जो दिल्ली के पास के एक गाँव में सहयोगी खेती में सहयोग दे रहे थे। वह सरकारी प्रबन्ध से संतुष्ट नहीं थे। पाँच सौ एकड़ साझे में रखकर हरेक परिवार को साढ़े सात एकड़ जमीन दे दी गई। भला दो नाव पर पैर रखकर यात्रा थोड़े ही की जा सकती है? हर परिवार पहले अपने साढ़े सात एकड़ में जुटेगा फिर साझे के खेतों की खोज-खबर लेगा। योजना तो असफल होने ही को थी फिर कहा जाएगा, कि यह तरीका भारत की प्रकृति के अनुकूल नहीं। लेकिन अगर हम अपनी भूमि में पूरी मात्रा में अन्न उपजाना है तो साइंस का सहारा लेकर ही हो सकता है और साइंस का सहारा तभी लिया जा सकता है जब छोटे छोटे खेतों को हटाकर विशाल खेत बनाए जाएँ और सब लोग मिलकर काम करें।

७ नवम्बर को रविवार के दिन श्री वियोगी हरिजी के साथ १० बजे

घूमने के लिए निकले। कुतुब गए। कुछ दूसरा सा ही मालूम होता था। शायद इसका कारण देर से आना हो। कुतुब के पास के पुराने मन्दिरों के अवशेष देखे, लौह गरुड़स्तम्भ पर राजा चन्द्र के अभिलेख को पढ़ा, फिर पुरानी दिल्ली में सब्जी मण्डी होते लौटे। अब सब्जी मण्डी में एक भी मुसलमान नहीं है। उनके घरों में शरणार्थी हिन्दू बस गए हैं। पर यह स्थान था जिसने पिछले साल मुसलमानों ने डटकर सेना का मुकाबिला किया था।
अगले दिन श्री हरभगवानजी अपनी पुत्री गायत्री के साथ मिलने आए। लाहौर में बड़ी साध से उन्होंने कृष्णनगर में अपना घर बनाया था। तरुणाई के संघर्ष के बाद अब कुछ निश्चिन्त सा जीवन बिताने लगे थे, इसी वक्त तूफान आया और नीड़ उजड़ गया। लड़की बौद्ध धर्म में अनुराग रखती थी, और पालि पढ़ना चाहती थी। मैंने दो चार दिन पढ़ा दिया पर इतने से काम थोड़े ही हो सकता था। बौद्ध विहार में भिक्षु पालि के पण्डित थे उनसे सहायता लेने की बात कही।

७ नवम्बर को हिन्दी दिवस की सभा हरिजन निवास में हो रही थी। मैं भी गया। सभा में ठक्कर बापा भी आए। ८० वर्ष के तपे हुए तपस्वी के दर्शन से किसको प्रसन्नता न होती? सबसे अधिक उत्पीड़ित और दलित लोगों के उत्थान में ही इन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया। इंजीनियर थे, दुनिया जिसको सफलता कहती है, उसका रास्ता लिए होते, तो उनका जीवन दूसरा ही होता। लेकिन, फिर वह ठक्कर बापा नहीं हो सकते थे। उनका समय समीप है, पर वह बालू की लकीर की तरह होंगे।

उसी दिन सवा ५ बजे शाम को दौड़ा दौड़ी करते मोटर से मेरठ गए। व्याख्यान दिया, और उसी रात को साढ़े १२ बजे लौट आए। आजकल के नए यातायात के साधनों ने यात्राओं को कितना आसान कर दिया है। यह तो मोटर थी, विमान से तो और भी दूर जा सकता है।

अगले दिन शहर में आर्यवीर दल द्वारा संगठित सभा में सभापति बनकर हमें बोलना पड़ा। सभा हिन्दी के सम्बन्ध में थी, नहीं तो मुझे वहाँ जाने की जरूरत नहीं रहती। सभा में जाने का एक सबसे बड़ा लाभ यह

मे मुलाकात हो गई। अगवार हुआ कि १८ वर्ष बाद डा० अनन्तराम भट्ट से मुलाकात हो गई। अगवार म पढकर वह वहाँ जाए। डा० भट्ट से सबसे पीछे मुलाकात १९३० म लका मे हुई थी जब कि मैंने उन्हे प्रोत्साहित करके जर्मनी भेजा था। तब से वह बराबर जर्मनी म रहे और देश के स्वतन्त्र होने की बात सुनकर बडे उत्साह के साथ अभी अभी लौटे थे। उनके साहस और ज्ञान को मैं बहुत प्रशंसक हूँ चाहता था इसका उपयोग हो। उन्हे आशा थी दिल्ली म उनके योग्य कोई काम मिल जाएगा, इसीलिए वह यहाँ पडे हुए थे। उसी दिन डा० सत्य नारायणसिंह से भी भेंट हो गई। वह बॉन्न म लौटे थे। सोवियत और साम्यवाद से उनकी सहानुभूति बराबर रही लेकिन इधर शायद अपने क्षेत्र म घूमने म बाधा उपस्थित करने के कारण वह सोवियत अधिकारियों से बहुत रुष्ट हो गए थे वैसी ही बातें कर रहे थे। बुद्धिजीवी अपनी बौद्धिक तराजू से हरेक चीज को तोलना है और बहुजनीय लाभ की बातें भूल जाता है। अगले दिन डा० भट्ट से दो तीन घटे बात होती रही। इतने ही दिनो म वह ऊब गए थे और भारत आने के लिए पछता रहे थे। वह संस्कृत के विद्वान् थे वैसी ही मनोवृत्ति रखते थे लेकिन युरोप गए, तो सभी बातो म युरोपियन हो गए। वहाँ की व्यवस्था और नियमित जीवन उन्हे बहुत पसन्द था, यहाँ वह अनियमित-अव्यवस्थित जीवन देख रहे थे। वहाँ हरेक चीज म सफाई और स्वच्छता थी और यहाँ उसका अभाव था। पार्लियामेंट भवन की सीढियो और कोनो म भी लोग पान की पीक थूकने और सिगरेट के टुकडो को फेंकने से बाज नही आते। भट्ट अपने को पानी से बाहर की मछली सा अनुभव करते थे। लौट जाने की सोच रहे थे। मैंने कहा परिभाषा का काम यदि पसन्द हो, तो उसका प्रबन्ध हो सकता है, पर वेतन योग्यतानुसार नही मिल सकता।

१० नवम्बर को हम दिल्ली से प्रयाग चले आए। ट्रेन म इन्दौर मेडिकल कालेज म अनाटोमी के अध्यापक डा० सिंह मिले। वह अपने विषय के शब्दो का संग्रह कर देने को तैयार थे यद्यपि पीछे श्री सेनगुप्त ने इसे स्वय किया, और डा० सिंह की सहायता की जरूरत नही पडा।

१४

राष्ट्रभाषा की जद्दोजहद

प्रयाग—कृषि विज्ञान-सम्बन्धी परिभाषाओं की हमें आवश्यकता थी। २१ नवम्बर को जब मैनी के कृषि कालेज में व्याख्यान देने का निमंत्रण आया, तो मैं वहाँ बड़ी खुशी से गया। यह अमेरिकन मिशनरियों की संस्था थी। अध्यापकों में कितने ही अमेरिकन थे। उन्होंने पारिभाषिक शब्दों के संग्रह में सहायता देने की इच्छा प्रकट की और पीछे पशुपालन के शब्दों को दिया भी। लेकिन, हमारी प्रकाशन-सम्बन्धी व्यवस्था इतनी गड़बड़ थी कि उनसे लाभ नहीं उठा सके।

शृंगवेरपुर—१२ नवम्बर को आनापुर जाना पड़ा। २१ मील मोटर से गए। साथ में कई साहित्यिक मित्र थे। सबसे अधिक यात्रा का प्रलोभन था शृंगवेरपुर (सिंगरौर) को देखना। १८वीं सदी के महावैयाकरण नागेश भट्ट को कुछ रुपल्लियों की सहायता करके शरण देनेवाले यहाँ के स्वामी राम का नाम उस विद्वान ने अमर कर दिया है— 'शृंगवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीवकः।' अब दो सौ वर्ष बाद उस राम के वंश का पता लगाने पर भी मालूम नहीं हुआ। आनापुर से ४ मील पर गंगा के किनारे सिंगरौर का विशाल ध्वंसावशेष है। वाल्मीकि रामायण में शृंगवेरपुर का नाम आया है। उसमें नगर की प्राचीनता की तब तक पुष्टि नहीं हो सकती जब तक कि यहाँ की वस्तुएँ वहाँ का साक्षी न दें, और साक्ष्य को यहाँ कमा

नहीं थी। ४ इंच मोटी, १२ इंच चौड़ी और १८ इंच लम्बा ईंट बतला रही थी कि मौर्यकाल और उससे पहले भी यहाँ पर नगर मौजूद था। गुप्तकाल की एक पुरुष मूर्ति का तादवी के मंदिर में सिंगीरिस के नाम से पूजी जाती है। शृंगवेरपुर को लाल्बुझक्कडों ने सिंगीरिसीपुर बनाने की कोशिश की है और इसीलिए सिंगीरिस की पत्नी तथा राम की बहिन शान्ता का मंदिर खड़ा किया गया है। हो सकता है पास की स्त्री मूर्ति भी गुप्तकालीन हो। नीचे गढ़ में एक बूटधारी सूर्यमूर्ति और मुखलिंग (मुखयुक्त शिवलिंग) देखा। सूर्य चोगाधारी भी हैं। ये दोनों मूर्तियाँ चौथी सदी की हो सकती हैं। ११वीं १२वीं शताब्दी की तो यहाँ कई मूर्तियाँ हैं। जान पड़ता है, मुस्लिम शासनकाल के आरम्भ में यह नगर ध्वस्त किया गया। बहुत पीछे यहाँ राम नामक कोई जागीरदार था जिसने नागेश भट्ट को आश्रय दिया। आजकल संस्कृत पाठशाला भी चल रही है। काल उसके अनुकूल होगा या नहीं, यह भविष्य बतलाएगा।

यहाँ प्रयाग जनपद साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन होनेवाला था। उसीका सभापति बनकर मुझे आना पड़ा। काफी आदमी मौजूद थे, और अधिवेशन समाप्त करके सवा ७ बजे चल हम रात को प्रयाग पहुँच गए।

सारनाथ—नवम्बर में सारनाथ का वार्षिक उत्सव हुआ करता है। आसपास रहने पर मैं वहाँ जरूर पहुँच जाया करता था, जिसमें एक लोभ यह भी था, कि देश विदेश के कितने मित्रों से मुलाकात हो जाती। इसीलिए १३ नवम्बर को सवेरे साढ़े ७ बजे मैं छोटी लाइन से सारनाथ के लिए रवाना हुआ। खेतों में रबी की फसल उग रही थी। दो ही महीने पहले बाढ़ के मारे हाहाकार मचा हुआ था और अब उसका कोई प्रभाव नहीं मालूम होता था। बनारस में एकादशी मेले से लौटनेवाले यात्रियों की भीड़ बढ़ गई। सिकरौड़ में ही डब्बा भर गया था और अलईपुर में तो सकेंड क्लास में भी तिल रखने की जगह नहीं रही। हम छावनी में ही फर्स्ट क्लास में बैठ गए यह अच्छा किया। डब्बों की छतों पर भी लोग जा बैठे थे लेकिन आगे बड़ी लाइन के पुल से सिर टकरा जाता इसलिए जबर्दस्ती

उन्हें उतरवाया गया। ९ बजे सारनाथ पहुँचे। स्टेशन से सारनाथ ग्राम बहुत दूर नहीं है, लेकिन सामान के लिए एक्का और कुली मिलने में बराबर दिक्कत का सामना उठाना पड़ता है। जाकर धर्मशाला में ठहरे। शाम को बर्मी धर्मशाला में कित्तिमा बाबा से मिलने गए। अब चेहरे पर बुढ़ापा छा चुका था। उनका तरुण चेहरा ही मैं कुछ साल पहले देख रहा था। कित्तिमा बाबा ने अपने गुरु महास्थविर चन्द्रमणि (कुशीनारा) की तरह भारत में ही बौद्ध पुनर्जागरण में अपना सारा जीवन लगा दिया। आजकल बर्मी यात्री कम आ रहे हैं, जिसके कारण आर्थिक कठिनाइयाँ भी हो रही हैं।

सारनाथ में घूमते समय उस पुरुष की स्मृति आए बिना कैसे रह सकती थी, जिसने 'बहुजन हिताय' विचरण करने का उपदेश देकर बहुजन का नारा बुलन्द किया था और जिसे नागार्जुन ने अप्रतिम बुद्ध कहते हुए उसकी महा दृष्टि प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपद् (मध्यम-मार्ग) की महिमा गाई थी।

आनन्दजी भी यहीं थे और काश्यपजी भी। भिक्षु जगदीश काश्यप इस समय कुछ भिक्षुपन से उदासीन हो चले थे और चीवर की जगह बगैर किनारी के कपड़े पहने थे। मैंने उन्हें समझाया—भिक्षु वेष को न छोड़ें, इसके जरिए आप बहुत-सा सांस्कृतिक काम कर सकते हैं। क्षणिक आवेग था, पीछे वह ठीक हो गए।

१४ नवम्बर को पं० गुरुसेवक सिंह उपाध्याय से भेंट हुई। शायद यह पहली ही मुलाकात थी। वह ७० साल के थे। जब मैं उनके जन्म-कस्बे निजामाबाद में पढ़ता था, तब वह डिप्टी-कलक्टर थे और विद्या के बारे में निबन्ध लिखने पर मैं और मेरे साथी बराबर उनका उदाहरण दिया करते थे। उपाध्यायजी हरिऔधजी के अनुज हैं। सरकारी नौकरी में रहकर इन्होंने बड़ी योग्यता से काम किया था, और कितने ही दिनों तक सहकार विभाग का संचालन इनके हाथ में था। अवकाश प्राप्त करके अब वह निजामाबाद में नहीं रहते थे? फिर एक भाषा या महाभाषा के आगे बढ़ने की क्या आशा

हो सकती है? लेकिन संस्कृत पुरुष को सांस्कृतिक जीवन के साथ-साथ अपने बच्चों की शिक्षा आदि का भी ख्याल रखना पड़ता है और उसकी अनुकूलता बनारस जैसे शहर ही में हो सकती है।

एक शताब्दी से अधिक हो गए जब से बोध गया मंदिर को बौद्धों के हाथ में आने की खटाखट शुरू हुई। अंग्रेजी शासनकाल में राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में इसके लिए एक समिति भी बनी थी, जिसने सिफारिश की थी, कि मंदिर का प्रबन्ध बौद्धों के हाथ होना चाहिए। दीवानी मामले से बचने के लिए समिति ने बोध गया के महंत को भी प्रबन्ध समिति में रखने की बात कही थी। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि बोध गया मंदिर जैसे एसिया के कई देशों के श्रद्धाभूत स्थान का इस तरह प्रबन्ध हो। स्वतन्त्र भारत में इस सवाल का फिर उठना स्वाभाविक था। लेकिन बिहार सरकार ने जो कानून का मसौदा पेश किया था, उसमें इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि प्रबन्ध समिति में बौद्धों का प्रभाव अधिक न होने पाए। इसीलिए नौ सदस्यों में से चार को ही बौद्ध रखा, चार हिंदू और एक गया जिले का कलक्टर यदि वह हिंदू हो तो। यह सरासर बौद्धों के ऊपर संदेह प्रकट करने की बात थी। सारनाथ में इसके विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ और कहा गया, कि प्रबन्ध समिति में एक दो से अधिक हिंदू नहीं होने चाहिए, और उसे सिर्फ भारतीय बौद्धों के लिए नहीं, बल्कि विश्व भर के बौद्धों के लिए खोल देना चाहिए। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सारनाथ का महाबोधि स्कूल अब एफ० ए० तक मंजूर कर लिया गया था।

गोरखपुर—गोरखपुर आने के लिए श्री विद्यानिवासजी का बहुत आग्रह था। १८ नवम्बर को साढ़े १० बजे मैंने उधर जानेवाली गाड़ी पकड़ी। अगले दिन दो घंटे लेट होकर ट्रेन नौ बजे गोरखपुर पहुँची। विद्यानिवासजी के पिता श्री प्रसिद्धनारायण मिश्र (वकील) के यहाँ ही ठहरे। नीचे लड़कियों का एक स्कूल था, जिसमें किसी को महसूस नहीं हुआ, कि इसे पढ़ने की भी जरूरत है। गोरखपुर आने पर श्री महावीरप्रसाद पोद्दार से मिले बिना कैसे रहा जा सकता था? एक बड़ी दुःखद घटना हुई थी,

जिसका प्रभाव मेरे हृदय पर भी पड़ा था। उनके ज्येष्ठ पुत्र आनन्द ने आत्महत्या कर ली थी। बड़ा ही होनहार तरुण था। पढ़ने में भी अच्छा रहता, और ऊँचे ऊँचे सपने देखा करता था। एम० ए० कर लिया था। मैं रूस में था, मुझसे कुछ पुस्तकों के बारे में पूछा था। किसी तरुणी से प्रेम था जो अपनी जाति और प्रान्त की नहीं थी। दोनों के मिलन में बाधा हुई और दोनों ने आत्महत्या का निश्चय कर लिया। आनन्द कर बैठा लेकिन तरुणी की हिम्मत नहीं हुई। माता पिता पर कैसी बीती, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

इधर कितने ही सालों से बुद्ध निर्वाण स्थान कसया नहीं जा पाया था इसलिए १८ को ६ बजे कसया के लिए रवाना हुआ। चन्दा बाबा अब ७३ साल के हो गए थे। सबसे पहले १९१९ में उनका दर्शन किया था। वृद्ध हो गए हैं किन्तु अब भी स्वस्थ हैं। बुद्ध स्कूल अब उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बन गया है। उसके लिए इमारत भी पक्की तैयार हो गई है। कुशीनारा में एक और धर्मशाला और मन्दिर की वृद्धि हुई, जिसे बिड़ला ने बनवाया। छोटी सी प्राइमरी पाठशाला चन्द्रमणि बाबा के नाम से कायम हुई थी, वह भी अब पक्की हो गई है। बौद्ध मठ की क्षा और नई इमारत तैयार हो गई थी। पहले से बहुत परिवर्तन मालूम हुआ। शताब्दियों तक विस्मृत रहकर बुद्ध अब फिर अपनी जन्मभूमि में लौट रहे हैं नई पीढ़ी दिल खोलकर उनका स्वागत कर रही है।

१७ और १८ को गोरखपुर के कई संस्थाओं में भाषण दिये। सेंट ऐंड्रूज कालेज की संस्कृत परिषद का उद्घाटन भाषण भी देना पड़ा। प० गौरीशंकर मिश्र—देश के पुराने राष्ट्रीय कर्मी—से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब जीवन की सन्ध्या आ गई है। सबसे बड़ा स्वप्न देश की स्वतन्त्रता चरितार्थ हो गया, पर जनता के लिए कुछ नहीं हो रहा है यह जानकर उन्हें खेद हो रहा था।

वाराणसी—१६ की रात की १० बजे की गाड़ी से चलकर अगले दिन साढ़े ८ बजे बनारस पहुंचा। अब के छ दिन रहकर यहाँ के प्रोफेसरों

से परिभाषा निर्माण म सहयाग देन की प्रेरणा के लिए आया था। स्टेशन मे रिक्शा करके नवावपुरा म पण्डित जयचन्द्र विद्यालंकार के यहाँ पहुँचा। प० जयचन्द्र जी जस इतिहास के गम्भीर पण्डित की आर्थिक स्थिति हमेशा अनिश्चित रही जिसको सबसे अधिक भोगना पड़ता उनकी पत्नी सुमित्रा देवी शास्त्रिणी का। लेकिन, चाहे जिस स्थिति म भी हो शास्त्रिणी जी को चिंतित मैंने कभी नहीं देखा और अतिथि सत्कार के लिए वह मुस्कुराते हुए हर वक्त तैयार रही। जलपान करने के बाद काम पर निकला। भारतीय ज्ञानपीठ म न्यायाचार्य प० महेन्द्र शास्त्री नहीं हैं। सेठों की छाया बड़ी विरल होती है। रास्ते मे वृद्ध प० शिवविनायक मिश्र वद्य मिल गये और अपने साथ अपने दातव्य औषधालय म ले गये जिसे मगवा मे उन्होंने देश भक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त के नाम से खाल रखा है। वृद्ध है लेकिन अब भी उनकी कर्मठता नहीं गई है। काग्रेस की गतिविधि स असतुष्ट होना स्वाभाविक है। मैंने कहा— निराश होने की जरूरत नहीं। इसे तरुणों पर छोड दीजिये। वहा स अस्सी पर जगन्नाथ मन्दिर म गये। वहा मेरे बालमित्र दशरथ पाण्डे थे जिनके साथ १६१० या १६११ म दो दिन चार दिन की घुमक्कडी मैंने की थी। उस वक्त आयु १८ साल स ज्यादा नहीं थी और अब मुंह म एक भी दाँत नहीं सारे बाल सफेद हो गये। जगन्नाथ मन्दिर के भीतर नरसिंह का मन्दिर है जिसके पुजारी उड़िया साधु भी उस समय तरुण थे। अब वह भी पके आम हो चुके थे यद्यपि दशरथ जी जितने घिसे नहीं। दिल म आया चलें अपने विद्यार्थी जीवन की एक स्मरणीय जगह मोतीराम के बगीचे को भी देख आएं। उसकी अवस्था देख कर मन को बहुत खेद हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं मोतीराम के बगीचे म किसी तरह के परिवर्तन को देखना नहीं चाहता था किन्तु जिस तरह का परिवर्तन हुआ था वह बुरा था। बगीचे को खरीदकर सेठ गौरीशंकर गोयनका अपने नाम स पाठशाला बनवाने की तयारी कर रहे थे। किनारे की चहारदीवारियाँ प्राय सभी टूट गई थीं। सबसे अफसोस की [illegible] थी कि अपने समय के काशी के महान पण्डितों के भी गुरुतुल्य

ब्रह्मचारी मगनी राम के निवास का वहाँ कोई चिह्न बाकी नहीं रखा गया था। मँगनीराम विद्वान् थे, और वेदान्त की साक्षात् मूर्ति, त्याग के लिए क्या कहना? इसीलिए पण्डित चक्रवर्ती शिवकुमार शास्त्री भी गुरुपूर्णिमा के दिन उनकी पूजा करने के लिए आते। उनको दिखावा छू नहीं गया था। जिस कुटिया में रहते थे वह पहले ही से पक्की बनी हुई थी। दो तरफ कोठरियाँ बीच में दालान और बाहर चौकोर सा पक्का चबूतरा—यह नक्शा अब भी मेरे मानस-पटल पर अंकित है। दो छोटे छोटे गमछे के टुकड़ों से शरीर ढँके चबूतरे पर टहलते मँगनीराम की मूर्ति मैं नहीं भूल सकता। भास्करानन्द बिल्कुल त्यागी थे, उनमें विद्या भी वैसी नहीं थी किन्तु नग्न रहने के कारण उन्हें आसमान पर चढ़ाया गया और थोड़ी ही दूर पर उनकी संगमरमर की समाधि उसी समय बन चुकी थी। यदि किसी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का स्मारक काशी में होना चाहिए था तो वह मँगनीराम ब्रह्मचारी थे। अगर उनकी कुटिया को मानव हाथों ने गिराया नहीं होता तो सौ बरस और चल सकती थी। लेकिन, सेठ ने मगनीराम की मधुर स्मृति को लुप्त करके स्वयं अमर बनना चाहा यह अक्षमतव्य अपराध है। जहाँ तक मँगनीराम ब्रह्मचारी का सम्बन्ध है उन्हें नाम की बिल्कुल भूख नहीं था। जीवन में भी जानकार लोग ही इस गुदड़ी के लाल को पहचानते थे। मरने के बाद वह किसी तरह की यादगार की आकांक्षा नहीं रख सकते थे। लेकिन वेदान्त की दुहाई देनेवाले किस मर्ज की दवा हैं?

मेरे रहते समय मगनीराम बगीचे में विद्यार्थियों और संन्यासियों के लिए तीन या चार क्षेत्र चलते थे, जिनमें ६० ७० आदमियों को भोजन मिलता था। अब उन क्षेत्रों की इमारतें धराशायी हो चुकी थीं। कई दर्जन से अधिक विद्यार्थी रहते थे अब किसी का पता नहीं। बगीचे में सैकड़ों नीबू के पेड़ और कुछ बड़े वृक्ष भी थे जिनमें गर्मियों में भी ठण्डक रहती थी। बीचोबीच दिन के नीचे ऊँचा पक्का चबूतरा था वह भी अब नहीं रहा। शंकर तरुण थे। विरक्त होकर काशीवास करने के लिए चले आये थे। पुरानी निशानी के रूप में मिले। अब आँखों से सूझता नहीं था। बहुत याद

दिलान पर वह मुझे पहचान पाये। दो वृद्ध सयासी भी वहा थे। स्वामी अद्वत आश्रम से मैं बातचीत करता रहा। उनका याद है एक दण्डी स्वामी के भतीजे वनमाली को एक दूसरा विद्यार्थी बहकाकर कहीं ले गया था। वनमाली मेरे ही जिले के रहनेवाले थे और बहकाने का अवश जिस पर लगाया गया वह मैं ही था। हम दोनो म स्नेह था। जब मैं काशी से वैरागी साधु बनने के लिए परसा चला गया तो वनमाली का मन भी उचट गया और वह भी परसा पहुच गये। मैं उस समय दक्षिणी पथ की लम्बी यात्रा पर निकला हुआ था। मेरी अनुपस्थिति म वह वरदराज दास बन गये। कितने ही सालो तक वरदराज और मैं कभी साथ और कभी अलग-अलग पर हृदय म एक दूसरे के नजदीक रहते रहे। असहयोग का जमाना आया और उस समय पाँच छ वर्षों के लिए मैं छपरा का स्थायी निवासी बन गया। लेकिन अब वरदराज वहाँ से गायब हो चुके थे। उनसे मिलने की बहुत कोशिश की और आज भी अपने बालमित्र के मिलने की बड़ी लालसा है। गौहाटी काग्रेस म बहुत पता लगाया। लेकिन असफल रहा। सुना था, वह आसाम म चले गये और फिर साधु से गहस्थ बन गये। तो भी हो मित्र के मिलने की आकाक्षा थी।

बगीचे की दीवार के सहारे—जहाँ पहले बगीचे का एक दरवाजा था अब भी वह घरौंदे सी पक्की कोठरियाँ मौजूद थीं जिनमे चक्रपाणि ब्रह्मचारी और कुछ विद्यार्थी रहा करते थे। छत के ऊपर मैं कितनी ही बार पुस्तक घोखाई करता था। उस समय दीवारो के सहारे जगह जगह छोटी छोटी फूटियाँ बनी हुइ थी जिनको देखने से प्राचीन आश्रम याद आते थे। लेकिन, आज सब लुप्त था। स्वामी अद्वैताश्रम और उनके साथी दण्डी उस पुराने ससार के लुटने से असतुष्ट थ। पर इतना सतोष जरूर था, कि सेठ ने उनके खान पीने का प्रबन्ध कर दिया था। दोनो इतने वृद्ध थे, कि अधिक दिनो तक उनके रहने की आशा नहीं थी।

हिन्दू विश्वविद्यालय म गये। प्रो० ललित किशोर सिंह रघुवशी नाम्नी के पक्षपाती नहीं थे, पर साथ ही अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर अग्रेजी परि

भाषाओं के भारी समर्थक थे। प्रो० फूलदेव सहाय और डा० ब्रजमोहन अपनी परिभाषाएँ चाहते थे, लेकिन डा० रघुवीर की शैली नये शब्दों के बनाने को आसान कर देती थी, इसलिए उसी तरफ झुके हुए थे। सचमुच ही उसमें आसानी थी—उपसर्गों, प्रत्ययों और धातुओं को गणित के अनुसार जोड़ घटाकर अपना शब्द को बनाना। लेकिन जिनके लिए ये शब्द बनाये जाने वाले थे, उनकी दिक्कतों का भी ख्याल करना जरूरी था, जिसे समझने के लिए डा० रघुवीर और उनके साथी तैयार नहीं थे। असली रास्ता दोनों के बीच में था।

२० नवम्बर को फिर निकले। बंगालीटोला, दशाश्वमेध, कचौड़ी गली, मणिकर्णिका, सिंधिया घाट, नन्दनसाहु की गली, गोदौलिया सभी अपनी पुरानी जगहों को देखने फिरे। फिर विद्यानिवास जी के साथ हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर चले। भिनगा की कोठी में पं० गुरुसेवक सिंह उपाध्याय को रहना जानकर उनसे भी थोड़ी देर मिल लिया। वृद्धा की सबसे बड़ी पूजा है उनसे मिलकर कुछ मीठी बातें और पुरानी स्मृतियाँ सुनना तथा सुना देना। विश्वविद्यालय में प्रो० फूलदेव सहाय ने रसायन सम्बन्धी प्लास्टिक आदि की परिभाषाओं को देना स्वीकार किया। डा० दयास्वरूप खनिज और धातु-सम्बन्धी परिभाषाओं का भार उठाने के लिए तैयार थे। डा० पन्त विमान चालन शास्त्र के लिए तैयार थे। डा० राजनाथ भूगर्भ और धातु शास्त्र में सहायता देने को मुस्तैद हुए, यह मालूम हुआ, पर उस समय वह मिल नहीं सके। इंजीनियरिंग कालेज के प्रिन्सिपल सेनगुप्त यन्त्र शास्त्र और बिजली इंजीनियरिंग के लिए विश्वास दिला रहे थे। डा० घोलवालकर बहुत बातें याद होने में विश्वास तो नहीं रखते थे, किन्तु आशा थी अपने टेकनालाजी कालेज से परिभाषाओं का कुछ काम करा देंगे। डा० गाडबोले शिक्षा के लिए कितने ही समय तक जापान और जर्मनी में भी रहे थे, इसलिए अच्छी प्रकार जानते थे, कि अंग्रेजी परिभाषाएँ अन्तर्राष्ट्रीय नहीं हैं, यदि अन्तर्राष्ट्रीय हैं, तो जापान और जर्मनी भी जा सकते हैं। प्रिंसिपल सेनगुप्त ने बहुत उत्साह दिखलाया था। हिन्दू विश्वविद्यालय के

विद्वानों से मिलने पर साफ मालूम होने लगा कि काम पहले कठिन जरूर होगा, किन्तु अंत में इसे पूरा होने में दिक्कत नहीं होगी। मैंने समझा दो मास में विद्वानों से शब्दों का संग्रह कराना, एक मास में सम्पादक विभाग का देखकर अवशिष्ट शब्दों के प्रतिशब्द देना, एक मास सम्पादक मंडल द्वारा सम्पादन किया जाना, टाइप करके दो मास परामर्श के लिए संग्राहक विद्वान और भारत की दूसरी भाषाओं के तज्ञ पण्डितों के पास राय के लिए भेजना और अंत में एक मास लगाकर अन्तिम सम्पादन करके प्रेस के लिए पुस्तक तैयार कर देना। छपाई में एक मास लगने का रख देने पर कुल आठ मास का काम था। बहुत से विषयों का काम एक साथ चल सकता था, इसलिए आठ मास के भीतर कई विषयों की परिभाषाएँ छपकर प्रकाशित हो सकती थीं। मेरे ख्याल से सारा चार पाँच लाख की परिभाषाओं को बनाने में चार पाँच वर्ष से अधिक नहीं लगते। यदि परिभाषा निर्माण का काम रुक गया होता तो १९५२-५३ तक हिन्दी और भारत की सभी भाषाएँ परिभाषाओं के अभाव से मुक्त हो जातीं। सम्मेलन का भीतरी झगड़ा उतनी बाधा नहीं पहुँचा सकता था, जितना परिभाषाओं के छापने में उबा देनेवाली सुस्ती। किस मुँह से मैं विद्वानों को समय और श्रम देकर शब्दों के संग्रह के लिए कहता, जब कि मैं देख रहा था कि उनके छापने की कोई आशा नहीं है।

२१ नवम्बर को डा० मंगलदेव शास्त्री से मिला। उन्होंने भी हमारी योजना को पसन्द किया। उस समय काशी में संस्कृत विश्वविद्यालय बनाने की बात चल रही थी। डा० सम्पूर्णानन्द काशी में इस कृति और कीर्ति के समर्थक थे, जिसके लिए योजना बनाने के वास्ते डा० मंगलदेव को कहा गया था। मुझे तो यह बेकार का सफेद हाथी मालूम होता था। आखिर हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग है ही, उसी को और मजबूत करना चाहिए था और राजकीय संस्कृत कालेज को उसी का अंग बना देना चाहिए था। संस्कृत के विद्यार्थियों की संख्या तो दिन पर दिन कम होती जा रही थी, फिर इस लम्बे चौड़े नामवाली संस्था में पढ़नेवाले कहाँ से आयेंगे? यदि खामखाह

सफेद हाथी का बाचना ही है और अब तो वह बंध सा गया है तो यहां संस्कृत की पढाई में ऐसा परिवर्तन करना चाहिए कि विद्यार्थी ३ मास नहीं ■ मास पढ़े, और अपने-अपने विषयों की गम्भीरता रखते हुए कुछ ऐसे भी विषय ले जिनसे यहां के स्नातकों को सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने की सहायता हो। आज संस्कृत के लिए सबसे बड़ी समस्या है—कैसे उसके गम्भीर पाण्डित्य की रक्षा की जाए। पुराने महाविद्वान महाप्रस्थान करते जा रहे हैं और उनका स्थान लेनेवाले बहुत कम नये पैदा हो रहे हैं। क्या इस महान क्षति को संस्कृत विश्वविद्यालय रोक सकता है? मेरी समझ में इसका दूसरा रास्ता ही है।

उस दिन विश्वविद्यालय में कृषि कालेज के प्रिंसिपल लूथरा से मिले। पुराने युग के नौकरशाह, लालफीताशाही के अनन्य भक्त हैं। उन्होंने सलाह दी, उप कुलपति एक परिपत्र निकाल करके हम लोगों के पास भेज दें तो यह काम आसानी से हो सकता है। उप कुलपति प० गोविन्द मालवीय से परिपत्र निकलवाना मुश्किल नहीं था लेकिन परिपत्र निकालने पर फिर सवाल होगा प्रोफेसर लोग इस काम के लिए अपनी ड्यूटी का समय देंगे, और उनके अपने काम का हरज होगा। मैं चाहता था, इस काम को ड्यूटी से अतिरिक्त मानकर किया जाए।

उस दिन साढ़े ६ बजे शाम को हरिश्चन्द्र कालेज में व्याख्यान देना था। व्याख्यान का एक लाभ तो मुझे होता है तरुणों से मिलने का मौका, जिन्हीं के ऊपर देश का भविष्य निर्भर है, और दूसरा यह था कि पता में निकल जाने से हितमित्रों का पता लग जाता और उनसे मुलाकात हो जाती।

२० तारीख को दाँत के दर्द से होठ सूज गए थे भाषण की भी रुचि थी। काम के लिए मैंने श्री भगवद्दत्त शर्मा और श्री विद्यानिवासजी को विश्वविद्यालय भेजा। प्रिंसिपल लूथरा से ही भेंट हो सकी, और उन्होंने फिर परिपत्र की बात की। बड़े सालों से तिब्बत से लाया 'प्रमाणवार्तिकभाष्य' कई दरवाजे घूमकर आ बौद्ध का भाष्य होने के लिए रखा हुआ था। आचार्य महेन्द्र शास्त्री की आशा थी शायद ज्ञानपीठ उसे छाप दे। वे ले

अध्यापक प० सीताराम शास्त्रि उन्हा के शिष्य थ। निजामाबाद म और भी शिक्षा बढी परन्तु उससे निजामाबाद का कोई फायदा नही हुआ। शिक्षा प्राप्त कर जीविका के लिए लोगा को बाहर जाना पडा और वह किसी बडे शहर म जाकर बस गए।

विश्वविद्यालय म इजीनियरिंग कालेज के प्रिंसिपल श्री सेनगुप्त न बुलाया था। उनसे और बातचीत हुई और बिजली तथा यान्त्रिक इजीनियरिंग की परिभाषाओ का उन्ह देना स्वीकार किया। भिक्षु जगदीश काश्यप उस समय विश्वविद्यालय म ही पालि पढा रहे थ। उन्होन परिभाषा का काम चुस्ती स हो इसका देखभाल का जिम्मा अपने ऊपर लिया। सब मिलाकर बनारस की यह यात्रा बडी उत्साहवधक रही। यदि पीछे गाडी आगे नही बढी तो इसका दोष उनके ऊपर नही था।

विद्यानिवासजी को कल आने क लिए छोड प० भगवद्दत्त शर्मा क साथ रात को मैं प्रयाग के लिए रवाना हो गया।

प्रयाग—आते ही इनकम-टेक्स अफसर का हुकुम मिला। विदेश म रहते समय मेरी आय का ब्योरा मांगा था। मुझे लेनिनग्राद क प्रोफेसर क तौर पर साढे चार हजार रूबल मासिक मिलता था। यदि सरकारी विनिमय का लिया जाता तो दो हजार रुपय से यह अधिक होता था। पर वहाँ की चीजो क मूल्य को देखा जाए तो कितनी ही चीजें यहाँ स बीस-तीस गुनी मँहगी थी। किस तरह हिसाब किया जाए ? विदेश म अपनी आमदनी क लिए यदि देश की दो-चार साल की आमदनी को इनकम-टेक्स म दे दिया जाए तो इसका अथ है भूखे मरना। इनकम-टेक्स का यह झगडा कई साल म तय हुआ।

हिन्दी के छोटे टाइपो के प्रयोग म सबस बडी दिक्कत थी उसकी ऊपर नीचे की मात्राएँ जिसके कारण हमारे अक्षरो का आकार दूना होने पर भी मोटाई आधी होती है। मैंने उसके बारे म कुछ सोचा था, इसे मैं बतला आया हूँ। कल्याण टाइप फाउन्ड्री क मालिक न अपने मिस्त्री मुल्तान स ऐसे टाइप का बनवाना स्वीकार किया जिसम मात्राएँ ऊपर नीचे न होकर

आगे पीछे हो। अन्त में यह टाइप बनकर तैयार भी हुआ लेकिन वह काम में नहीं आया।

२८ नवम्बर को प्रयाग में सरदार वल्लभभाई पटेल के आगमन की धूम थी। वल्लभभाई कांग्रेस आन्दोलन में बड़े मनानी थे, गान्धीजी का उन पर असीम विश्वास था। भारत के स्वतन्त्र होने पर रियासतों के झगड़े मिटाने में उन्होंने बड़ी दक्षता का परिचय दिया था और हैदराबाद की समस्या का हल करना उन्हीं का काम था। लेकिन वह थैलीशाही के सम-र्थक और हर तरह के प्रगतिशील विचारों को कठोरता से दमन करने के पक्षपाती थे। वह आज के भारत की समस्याओं को न समझ पाते थे न उसके सुलझाने की हिम्मत रखते थे। सारे भारत में प्रगतिशील विचार धारा का प्रभाव हो रहा है इसलिए कांग्रेसी नेता और थैलीशाह उनके स्वागत में अपनी पलकों को बिछाने के लिए तैयार थे। पटेल के रहते नेहरू सिर्फ उनके सहायक थे। पटेल स्वयं वक्ता नहीं थे, इसलिए उन्हें एक व्यक्ति की जरूरत थी।

मामूली-सी बात में कभी बात का बतंगड़ बन जाता है, इसका उदाह-रण २६ नवम्बर की एक घटना है। श्रीनिवासजी के छोटे लड़के नीलू का नौकर घुमाने ले गया। उस वक्त प्रयाग में हल्ला मचा हुआ था, कि शहर में सकटसुधवा घूम रहे हैं, जो लकड़ी सुधारकर वहाने करके बच्चों को उठा ले जाते हैं। किसी ने नौकर के साथ नीलू को जाते नहीं देखा था। हल्ला मच गया। लोग इधर उधर बेतहाशा दौड़ने लगे। अन्त में जब नौकर के साथ नीलू सही-सलामत आया तो लोगों की जान में जान आई।

कानपुर—मैं परिभाषाओं की धुन में था। बनारस के बाद कानपुर के विज्ञों से मदद लेने के लिए २६ नवम्बर को कानपुर पहुँचा और प्रो० बालमुकुन्द शुक्ल के पास ठहरा। अगले दिन उनके और श्री ललितमोहन अवस्थी के साथ कृषि कालेज पहुँचा। प्रो० मरगा हिन्दी परिभाषाओं के महत्व को समझने के लिए तैयार नहीं थे, और समझाने पर भी निराशा-वाद की बातें करते रहे। लेकिन डा० जयनारायण सिंह काम करने के

लिए तयार थे। चम स्कूल क प्रयानाध्यापक न भी अपने विषय की परिभाषाओं का देना स्वीकार किया। परिभाषाओं का टाइप करके उसकी कई कापियों की आवश्यकता थी ताकि भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के विद्वानों के पास उनका भेजा जा सके। इसके लिए डुप्लिकेटर मशीन के लिए बातचीत चल रही थी। यहां वह तैयार मिली और मैंने २६०० रुपये में सम्मेलन के लिए उसे खरिदवा दिया।

१ दिसम्बर को टेक्सटाइल (वयन) इन्सटीट्यूट में गया। वहाँ के तीन अध्यापकों—अग्निहोत्री वल्ला और चक्रवर्ती ने वयन सम्बन्धी परिभाषाओं का देने का जिम्मा लिया और यह भी कहा कि जनवरी के अन्त तक हम इस काम को पूरा कर देंगे। वस्तुत जिस विद्वान् से हम मिलते, वह परिभाषा के महत्व को समझता और हम सहायता देने के लिए कटिबद्ध हो जाता। मैं जानता था यह प्रेम की बेगार है। विद्वानों को अपने निजी समय को इसके लिए अर्पित करना पड़ेगा। हारकोर्ट बटलर टेक्नोलाजिकल इन्स्टीट्यूट में चीनी और तेल सम्बन्धी परिभाषाओं का काम श्री श्रीशचन्द्र कौशल के निरीक्षण में होने लगा। कौशलजी टेक्नालोजी के बी० एस सी० थे, यद्यपि उन्होंने जीविका के लिए इनकम टैक्स के मुकदमों की पैरवी का काम ले लिया, और उसमें सफलता प्राप्त करते-करते एल एल० बी० होकर वकील भी बन गए। वह उन पुरुषों में थे जो परिभाषाओं के बारे में सबसे अधिक तत्पर और उनकी तयारी के लिए अधीर थे।

और दिन भी व्याख्यान देने पड़े थे किन्तु २ दिसम्बर को तो व्याख्यानों का तांता लग गया। मारवाड़ी कन्या विद्यालय में ११ बजे व्याख्यान दिया, फिर संस्कृत महाविद्यालय गुरुसहाय खत्री स्कूल और क्राइस्ट चर्च स्कूल में भाषण देकर श्री कलाशचन्द्र कपूर के यहाँ भोजन किया। श्रमजीवी पत्रकार संघ और प्रताप कार्यालय में भी बोलना पड़ा। शाम को कैलाश बाबू के यहाँ भोजन करते समय एक गोष्ठी हो गई।

३ तारीख को ज्यादातर जहाँ तहाँ घूमने का काम हुआ। गंगा के किनारे सतीघाट पर गए, जहां अंग्रेज स्त्री बच्चों का हत्याकाण्ड हुआ था।

मंदिर १८५७ में भी वहां मौजूद था। फिर कम्पनी बाग में उस कुएँ को देखा जिसके भीतर सैकड़ों अंग्रेज नर-नारियों को मरा या अधमरा करके डाल दिया गया बतलाया जाता है, और जिसे पत्थर के अच्छे स्मारक का रूप दे दिया गया था। इस कुएँ का १६ अगस्त १९४७ से पहले भारतीयों को दर्शन के लिए नहीं खोला गया था। अब खुला था, और स्मारक की इमारत मौजूद थी।

उस दिन का प्रातराश और मध्याह्न भोजन श्री पुरुषोत्तम कपूर के यहां हुआ। इधर मैंने विवाह प्रथा और उसके गीतों को जमा करने के लिए कई महिलाओं से कहा था। पुरुषोत्तमजी की धर्मपत्नी विमलाजी से भी मैंने अर्ज कर देना चाहा, कहते रहा, दस में से एक कोई तो उसके लिए तैयार हो जाएगा। विमलाजी ने उत्तर प्रदेश में पीढ़ियों से आ बसे पंजाबी" खत्रियों का विवाह प्रथा और गीतों को जमा भी कर दिया पर वह अधूरा रहने से प्रकाशित नहीं हो सका। एक दर्जन महिलाओं में से सिर्फ एक डा० किरणकुमारी गुप्ता ही ऐसी निकलीं जिन्होंने 'कदीमी अग्रवाल' विवाह प्रथा पर एक सुंदर पुस्तक लिखकर प्रकाशित करवाई।

दिल्ली—उसी दिन साढ़े १० बजे कलकत्ता मेल पकड़कर ६ बजे दिल्ली पहुँचा। अब कितने ही समय के लिए दिल्ली में मेरी टिकान थी चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के यहां होनी थी। दिल्ली में विद्यालंकार की पत्नी श्रीमती स्वर्णलता और दूसरे तरुण-तरुणियों ने मिलकर एक नाट्य मण्डली स्थापित की थी यह स्तुत्य प्रयत्न था। कानपुर में मैं मित्रों से कहता रहा, कि १३ १४ लाख आबादी की इस महानगरी में हिन्दी का रंगमंच न होना खटकता है।

४ सितम्बर को इम्पीरियल कृषि अनुसन्धान देखने गया। पहले यह संस्था पूसा (मुजफ्फरपुर) में थी। जब भूकम्प से वहां की इमारतें ध्वस्त हो गईं, तो उसे यहां लाया गया। डा० उमानाथ चटर्जी और श्री बाबूराम पालिवाल से परिभाषाओं के संग्रह के बारे में बातचीत हुई और दोनों ने काम करने की रुचि प्रकट की। कुछ दिनों बाद ५ सितम्बर को ५० ईश्वर

चन्द्रजी से भेंट हुई। शायद १९१६ था जबकि ईश्वरचन्द्रजी बनारस में पढ़ते थे और कितने ही दिनों तक मैं उनका अतिथि था। वह संस्कृत के, विशेषकर मीमांसा आदि दर्शनों के गम्भीर विद्वान् हैं। आजकल अपने पुत्रों के साथ दिल्ली में रहते थे। मैंने चाहा, कि वह भी परिभाषा के काम में आ जाएं लेकिन पुत्रों को छोड़कर वह यहाँ से नहीं जा सकते थे। प्रयाग में कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं किया जा सकता था। गंगादत्त शास्त्री मिले। उन्होंने काम करने और चलाने की इच्छा प्रकट की। डा० सत्यकाम भारद्वाज दिल्ली में कान नाक और कंठ की बीमारियों के विशेषज्ञ साथ ही हिन्दी के प्रेमी हैं। अपनी बढ़ी हुई प्रेक्टिस में से समय निकालना बड़ा मुश्किल था लेकिन उन्होंने अपने विषय की परिभाषाओं पर काफी काम किया पर उसका उपयोग नहीं किया जा सका।

५ तारीख इतवार के दिन चन्द्रगुप्तजी के यहाँ ही साहित्य गोष्ठी हुई। यह चलती फिरती गोष्ठी मुझे बहुत पसन्द आई। गोष्ठी में जैनेन्द्रजी, नवीन, श्री सियारामशरण गुप्त, अज्ञेय और उर्दू के महाकवि जोश आदि आए थे। कवियों ने अपनी कविता सुनाई, दूसरों ने भाषण दिये और कुछ वार्तालाप हुए। राजेन्द्र एक तरुण मद्रासी थे जो अंग्रेजी में ही लिखते हैं। वह भी बोले। किसी भी तरुण का अपनी भाषा छोड़कर पराई भाषा में लिखने का प्रयत्न करना मैं अच्छा नहीं समझता। यदि प्रतिभा है तो अपने साहित्य में उसे स्थान मिलेगा। अंग्रेजी में जब माइकल मधुसूदन दत्त, सरोजिनी नायडू, तोरुदत्त को नहीं पूछा गया तो दूसरों को कौन पूछता है?

इधर कितने ही दिनों से दिमाग में खिचड़ी सी पक रही थी, और आज की राजनीति पुस्तक द्वारा देश की समस्याओं को रखना चाहता था। इसी समय उसकी भी सामग्री जमा करने और अगले साल गर्मियों में उसे लिखने की सोचने लगा। हमारी सरकार कितनी सुस्त और गतिशून्य है इसे देखकर कुढ़न होती थी। मैं पाकिस्तान भाग गए मुसलमानों की सैकड़ों मोटरें दिल्ली ही में एक जगह रखी हुई थीं। सारी बरसात और सारी गर्मी उन्होंने यहीं देखी। उनके कौड़ी के तीन होने में क्या देर थी?

क्या उनका नीलाम कर रुपया जमा नहीं किया जा सकता था इससे उनका उपयोग भी होता, और पीछे दावेदार को रुपया मिल जाता। क्या उनका नाश राष्ट्र की सम्पत्ति का नाश नहीं था? नौकरशाही सचमुच काठ की मशीन है उससे क्या आशा हो सकती है।

उस समय अपनी लिखी हुई पुस्तकों के प्रकाशित होने में देर देखकर मन में आने लगा कि पुस्तकों को पत्रिका के रूप में प्रकाशित करूँ। पत्रिका के रूप में तो नहीं पर तीन पुस्तकों को प्रकाशित करके प्रकाशन का भी कड़वा मीठा तजर्बा पीछे कर लिया। मुझे तो यही लगा कि लेखक को इसमें नहीं पड़ना चाहिए। यह एक स्वतन्त्र व्यवसाय है, जो पूजी के साथ-साथ आदमी का पूरा समय लेना चाहता है।

६ दिसम्बर को पुराने सेक्रेटेरियट में पब्लिकेशन डिवीजन देखने गए, जहाँ से 'आजकल' "विश्व दर्शन" तथा दूसरी और भी कितनी ही पत्र-पत्रिकाएँ निकला करती हैं। युद्ध के समय अग्रेजो ने ही इस विभाग की स्थापना की थी, जिसका ध्येय था पत्रिकाओं-पुस्तिकाओं द्वारा प्रचार करना। उस समय भारतीय ही नहीं रूसी और चीनी भाषाओं में भी पत्रिकाएँ निकला करती थी। प्रेस में अब भी रूसी और चीनी टाइप थे। मेरे मित्रो ने रूसी स्वय शिक्षक लिखने के लिए कई बार कहा था, जिसके लिए बड़ी दिक्कत थी रूसी टाइप का न मिलना। यहाँ रूसी टाइप थे पर उनका कोई उपयोग नहीं हो रहा था और न कम्पोजिटर मिलने वाला था। शायद ही वह बाहर की पुस्तक को छापना पसन्द करते।

वहा से हरिजन निवास में राष्ट्रभाषा समिति की बैठक में पहुँचे। एक बार तो उलटी दिशा की बस पकड़ ली, और दो मील जाने पर जब पता लगा तो उसे छोड़कर दूसरी बस पकड़ी, जो बिगड़कर कुछ देर के लिए खड़ी हो गई। चली भी तो उससे धुआँ निकलने लगा। आग का डर था खैर दूसरी बस पकड़कर हरिजन निवास पहुँचे। राष्ट्रभाषा समिति का सालाना बजट अब पाँच लाख का था। डेढ लाख अब के साल मकानो पर और ३५ हजार प्रेस पर खर्च करना था। प्रान्तीय समितियो का भी हजारो

रुपये सहायता में देते थे। राष्ट्रभाषा हिन्दी की हमारे देश को आवश्यकता है इसका ज्वलन्त प्रमाण यह बजट था। उसी दिन डा० मोतीचन्द ने पश्चिम भारत चित्रकला के विषय में मैजिक लालटेन पर सारगर्भित व्याख्यान सिंधिया भवन के पास एक स्थान में दिया। मैं उसका सभापति था जिसके कारण अन्त में मुझे बोलना पड़ा।

७ दिसम्बर को प० भगवद्दत्तजी मुझे भारत सरकार के सिंचन विभाग के प्रमुख इंजीनियर खोसला साहब के यहाँ ले गए। रास्ते में उन्होंने बतलाया कि कल नेहरूजी इनके यहाँ आए थे, इन लोगों ने जब अपने हिन्दी परिभाषा निर्माण के नमूना को दिखलाया तो इस अनधिकार चेष्टा के लिए उन्होंने बहुत फटकारा और अंग्रेजी रखने पर ही जोर दिया। बेचारों का उत्साह सारा ठण्डा हो गया। खोसलाजी चिकने घड़े पर अब कब ही पड़ा पड़े पानी का असर इतनी जल्दी कैसे दूर हो सकता है?

मुझे दिल्ली का वायुमण्डल दमघोटू-सा जान पड़ता था। यहाँ के इन्दा आङ्ग्लियनों की हर हरकत से नफरत होती थी। ईसाई न होने, साड़ी धोती में भी एंग्लो इंडियन मनोवृत्ति के लोग कैसे हो सकते हैं, यह इनके देखने से मालूम होता है। अधिकतर तो बल्कि धोती पर नाक भौं सिकोड़ते और कोट पैन्ट, टाई-कालर लगाकर पूरे साहेब बनने का स्वाँग रचते हैं। लिफाफा अधिक रखना तरक्की के लिए और रोब दाब के लिए भी आवश्यक था। इसी कारण आय से अधिक व्यय करना पड़ता था जिसके लिए यनकेन प्रकारेण धन कमाने की कोशिश करते हैं। फिर इस वर्ग में आचारिक पतन धोखाधड़ी व्यभिचार आदि क्या न फैले? इन इन्दा आङ्ग्लियनों की जड़ न जनता में है, न इतिहास में इनके लिए स्थान है। भारतीय संस्कृति का नाम समय असमय ले लेना यह जरूरी समझते हैं। इन्हें अंग्रेजी चाहिए हिन्दी या दूसरी प्रादेशिक भाषा नहीं। ये अंग्रेजी के कूपमण्डूक हैं। इन्हें अंग्रेजी से बाहर की विशाल दुनिया का कोई पता नहीं। अंग्रेजी राज्य से इनका प्रेम है अंग्रेजी रीति रिवाज को ये सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। ब्रिटिश विरोधियों के ये विरोधी हैं, अंग्रेजों के जाने का इन्हें बहुत खेद है। अंग्रेजी

पढ़ने में दस पन्द्रह साल लगाने के लिए तयार हैं लेकिन हिन्दी साहित्य को बिना पढ़े ही जानना चाहते हैं। भारतीय जनता से ये उसी तरह भयभीत हैं जैसे कि अंग्रेज थे। इन्हें भारतीय हित की कोई पर्वाह नहीं। इस सारे वर्ग को नेहरू का संरक्षण मिला हुआ है, इसलिए इन्हें दूसरे की क्या पर्वाह हो सकती है ?

उसी दिन डा० अनन्तराम भट्ट से मुलाकात हुई। अभी तक सफल नहीं हुए। किसी सरकारी नौकरी की तलाश में थे। लेकिन सरकार में योग्यता की थोड़ी ही जरूरत है, वहां तो सिफारिश चाहिए। अब भी निराश नहीं हुए थे। मैं भी चाहता था कि यदि दिल्ली में उन्हें काम मिल जाय तो यह उनके लिए अच्छा होगा। यहां रहते वह हमारे परिभाषा के काम में भी सहायता कर सकते थे। जिस होटल में रह रहे थे, उसका सात सौ कर्ज हो गया था, जिसके लिए चिन्तित थे।

कृषि प्रतिष्ठान में उस दिन फिर गए। इन्टोमोलोजिस्ट सत्यसाधन मुखोपाध्याय और मकोलाजिस्ट श्री राय चौधरी ने बहुत अच्छी तरह बात चीत की, किन्तु परिभाषा के निर्माण में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। हां उन्होंने बतलाया, कि अमरिका में छपे परिभाषाओं के विशेष शब्दकोश मौजूद है। हमारा काम उससे कुछ हो सकता था, पर हम अपनी परिभाषाओं की कसौटी विशेषज्ञ विद्वानों को बनाना चाहते थे।

मेरठ—अब की साहित्य सम्मेलन मेरठ में हो रहा था जिसके सभापति सेठ गोविन्द दास हुए थे। मेरा काम काल बीत रहा था। ७ तारीख को मोटर से चलकर हम ६ बजे शाम को प्रो० धर्मेन्द्र शास्त्री के यहां पहुंचे जहां हम ठहरना था।

८ दिसम्बर को सवेरे गढ़मुक्तेश्वरवाली सड़क के ऊपर टहलने निकले। सड़क पर कण्डे बेचनेवाले शहर की ओर जा रहे थे। उनकी बातचीत मैं गौर से सुनने लगा। हिन्दी आखिर इन्हीं की भाषा है। जमुना के दोनों तरफ फैले कुरु और कुरुजांगल देश की वह जनभाषा है इसलिए कौरवी भाषा की जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक थी। कितने ही समय से मैं सोचता था,

प्रेमचन्द को कुरु देश में पैदा होना चाहिए था, ताकि वह अपनी अनमोल कृतियों द्वारा बोल-चाल की हिन्दी कैसी होती है इसके नमूने पेश करते। उपलेवाले एक दूसरे से बात कर रहे थे। मैंने पूछा— घर से उपले ला रहे हो? ' जवाब मिला— 'नहीं जी माल के जात हैं। पीछे टंकी में भूमिया यहाँ में बैठे एक दस वर्ष का लड़का क्या करते हो' पूछने पर बोला— 'रखवाली करूँ।' और दूसरा लड़का अपने बाप से बोल रहा था— ' लाइके जानर।

कौरवी बोली बड़ी मधुर और लचकीली है। यह जानकर अफसोस होता था कि जहाँ और भाषाओं के हजारों गीत और कहानियाँ जमा करके प्रकाशित कर दी गई हैं, वहाँ कौरवी के बारे में कौरव भी उदासीन हैं।

उस दिन कुमार आश्रम में आ गये। पहले वह किराये के बगीचे में था, जब कि मेरे मित्र श्री बल्देव चौबे ने उसे स्थापित किया था। अब वह अपनी भूमि में है, और उसमें कालेजों तथा स्कूलों में पढ़नेवाले ३० ३२ हरिजन विद्यार्थी रहते हैं।

३ बजे (८ दिसम्बर) स्थायी समिति की बैठक हुई। बहुत बुरा लगा, जब देखा कि सम्मेलन नियमावली के संशोधन के काम को टंडनजी ने फिर खटाई में डलवा दिया। अब अगले अधिवेशन तक संशोधन होना रहेगा। लेकिन १९४९ में भी यही ढीलम-ढाल तरीका रहेगा, इसमें संदेह लगी। सभी कामों में ढील हो जाती है, अगर संस्था के किसी एक काम में ढील पड़ती है। परिभाषा के काम में दिलोजान से पड़ा था, लेकिन अब हिचकिचाने लगा था कि इसे आगे बढ़ायें या नहीं। जिन विद्वानों से मैं परिभाषा-संग्रह का काम करने के लिए कह रहा था, आखिर उनका भी ख्याल होना मेरे लिए जरूरी था। सत्याग्रह के जमाने में टंडनजी का नाम लगा, न के फूजनदास रख दिया था। सचमुच ही किसी बात के बारे में यह समय पर निर्णय नहीं कर सकते। स्थायी समिति विषय निर्वाचिणी समिति के रूप में बदलकर रात के साढ़े ८ बजे बैठी। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने प्रस्ताव रखा कि हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम हिन्दी होनी चाहिए। यह

बड़ा अदूरदर्शितापूर्ण प्रस्ताव था। हिन्दी वाले अपने घर में बैठे नहीं समझ पाते कि दूसरे प्रदेशों की भाषा वाले लोगों को अपनी भाषा के साथ वैसा ही घनिष्ट प्रेम है, जैसा हमारा हिन्दी के साथ। धवजी भी उसी बाढ़ में बह गए, टंडनजी बोले नहीं लेकिन मन ही मन आशीर्वाद दे रहे थे। ये लोग समझते थे कि हिन्दी इस प्रकार देश के केन्द्रीकरण का भारी साधन हो जाएगा। लेकिन क्या कोई बंगाली कलकत्ता विश्वविद्यालय में बंगला निकालकर हिन्दी को बैठाने के लिए तैयार होगा? उत्कल विश्वविद्यालय में उड़िया नहीं हिन्दी के माध्यम बनने को क्या कोई उड़ियाभाषी पसन्द करेगा। तमिल, तलगू, मलयालम, कन्नड, मराठी आदि के क्षेत्रों में भी ऐसे किसी काम का घोर विरोध होगा, अशान्ति मच जाएगी। इस सबसे हिन्दी का ही अनिष्ट होगा, लोग हिन्दी के शत्रु बन जाएंगे। मैंने यही बातें कहते हुए प्रस्ताव का भारी विरोध किया। किन्तु वहां से वह पास हो गया।

१२ दिसम्बर तक सम्मेलन का अधिवेशन चलता रहा। टंडनजी सम्मेलन के संस्थापक और प्राण हैं किन्तु उसके भीतर कमजोरियों के आने का कारण भी उनकी दीर्घसूत्रता ही रही है। यदि पहले ही अनुकूल परिस्थिति में नई नियमावली बनकर सम्मेलन का नये तरह से संगठन हो गया होता तो शायद उसे वह दिन देखने नहीं पड़ते जो आज देखने पड़ रहे हैं। खुले अधिवेशन में जब विश्वविद्यालयों के हिन्दी माध्यम होने का प्रस्ताव आया तो मैंने उसका कड़ा विरोध किया, और अन्त में प्रस्ताव को लौटा लिया गया। यदि प्रस्ताव पास हो जाता तो मुझे उसी समय परिभाषा के काम से हट जाना पड़ता, क्योंकि अहिन्दीभाषियों से मैं कैसे सहयोग के लिए कह सकता था?

मेरठ-सम्मेलन में भोजन की बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। सारा काम स्त्रियों ने अपने हाथ में ले रखा था। भोजन के प्रबन्ध को देखकर तो अतिथि प्रशंसा करते नहीं थकते थे। सभी चीजें कायदे के साथ समय पर मिल जाती थीं। मेरठ कमिश्नरी युक्त प्रान्त में आर्य समाज का गढ़ थी। यहाँ सबसे पहले और सबसे ज्यादा आर्य समाज का प्रचार हुआ था, निसंक

कारण स्त्रियां में शिक्षा बढ़ी। आज भाषा तक सीमित रहनेवाली महिलाओं की लड़कियाँ हाई स्कूल तक पहुँची और कालियाँ कालेजों में चली गई। आज की तरुणी अपनी दादियों से बहुत आगे हैं, आधुनिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। उनकी माताओं ने कांग्रेस में भाग लिया और जनता के नेतृत्व की शिक्षा प्राप्त की। सम्मेलन के मण्डप का तिहाई भाग स्त्रियों से भरा रहता था।

अब के प्रधान मन्त्री प० सम्पूर्णानन्द मिश्र चुन गए, जिनके लिए मैंने भी अपना वोट दिया। उसी दिन (१२ दिसम्बर) की रात को कवि सम्मेलन हुआ। पिछली रात के कवि सम्मेलन में कुछ गड़बड़ी हो गई थी, इसलिए मुझे आज का सभापति बनाया गया। मैंने बिना पहले दर्जे की कविता पढ़ने की इजाजत नहीं दी। शान्तिपूर्वक सम्मेलन होकर ११-१२ बजे रात को समाप्त हो गया। 'अचल' और 'मुकुल' की कविताएँ बहुत पसन्द की गई। सभापति को ही श्रेय नहीं मिलना चाहिए, बल्कि जनता का विवेक भी इसमें सहायक हुआ, जो अनधिकारी का दुरागत करने के लिए तैयार थे।

रुड़की—परिभाषा की तलाश में फिर १३ दिसम्बर को मेरठ से रवाना हुए। बस पकड़ी। वह मुजफ्फरनगर में कुछ मिनटों के लिए खड़ी हुई। १९१६ या १९१७ में कुछ समय तक मैं मुजफ्फरनगर में रहा था। उस समय यह शहर नहीं एक कस्बा-सा मालूम होता था। लेकिन तब से अब ३२ वर्ष बीत चुके हैं, जिसका असर उत्तर प्रदेश के किसी शहर या कस्बे पर न पड़े, यह नहीं हो सकता था। पश्चिमी पंजाब से उजड़कर आए हमारे दस भाई ने पश्चिमी यू० पी० के सभी शहरों में बसने लगे हैं। मेरठ में वह कई हजार हैं, देहरादून में तो उनकी संख्या ५० हजार से भी ज्यादा है। मुजफ्फरनगर में भी हजारों की संख्या में बसे हैं, और इसके कारण नगरों की कायापलट हो गई है। इच्छा तो करती थी कि पुराने परिचित स्थानों की स्मृति फिर नई कर लूँ, लेकिन समय कहाँ था? अपने समय के व्यक्तियों से मिलने की संभावना भी नहीं थी।

सवा ११ बजे रुड़की पहुँच गए और ३ बजे वहाँ के इंजीनियरिंग कालेज के विद्वानों से मिलने गए। अब तो यह इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय है। टामसन इंजीनियरिंग कालेज के रूप में इसकी स्थापना १८४७ में—आज से १०१ वर्ष पहले—हुई थी। यहाँ अध्यापकों में मेरा कोई परिचित नहीं था। विद्यार्थियों में वासुदेव पांडे मिल गए। वासुदेव की स्मृति बड़ी दुःखद है। वह पढ़ने में हमेशा तेज रहे और अपनी कक्षा में प्रथम होते रहे। इलाहाबाद में एम० एस-सी० प्रीवियस शायद कर चुके थे, किन्तु उसमें अधिक उपयोगिता इंजीनियर की थी, इसलिए वह यहाँ दाखिल हो गए। अपने पिता श्री गणेश पांडे से साहित्य प्रेम उन्हें वरासत में मिला था। परिभाषा के काम में उन्होंने बड़ी तत्परता से भाग लेना शुरू किया था। इंजीनियर हो देश के लिए बड़ी बड़ी उमंगें लेकर कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट हुए, लेकिन जीप की दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया, और अपनी विद्या तथा योग्यता से देश का कोई उपकार नहीं कर सके। वह सामान्य इंजीनियर नहीं थे, न वैसा रहना चाहते थे। आज की स्थिति में योग्य व्यक्तियों को काम करने में कितनी अड़चन है, इसका तजर्बा उन्हें हो रहा था, लेकिन वह निराश नहीं थे।

वासुदेव ने हमारी बड़ी सहायता की। उनके द्वारा औरों से भी परिचय हुआ। प्रिन्सिपल नृपेन्द्रनाथ चक्रवर्ती से बातचीत हुई। उन्होंने हमारे काम से सहमति प्रकट की। अध्यापकों में उतना उत्साह तो नहीं देखा, लेकिन उम्मीद थी कि कुछ काम देख लेने पर वह भी हाथ बटाने के लिए तैयार होंगे। ६ बजे विद्यार्थियों के सामने मुझे बोलना पड़ा। मैंने बतलाया कि देश का आर्थिक उद्धार इंजीनियर, टेकनीशियन और साइंसवेत्ता ही कर सकते हैं, जिनमें भी इंजीनियरों की जिम्मेवारी सबसे अधिक है। इस समय वहाँ दो-सौ विद्यार्थी पढ़ रहे थे। मैं समझता था, कि नव निर्माण के लिए हमें हजारों नहीं लाखों इंजीनियरों की जरूरत होगी, जिनको पैदा करने में रुड़की को सबसे अधिक हाथ बटाना चाहिए। रुड़की में दो सौ नहीं हजार विद्यार्थी आसानी से पढ़ सकते हैं। इसकी प्रयोगशालाएँ और

यन्त्रशालाओं का और भी अधिक उपयोग किया जा सकता है। क्या नहीं यहाँ तीन शिफ्ट में पढ़ाई हो? इंजीनियरिंग कालेज में इमारत और प्रयोगशालाएँ सबसे अधिक व्ययसाध्य चीज हैं, जिनका तिगुना उपयोग उतने ही खर्च में हो सकता था। पर पीछे जब मुझे बतलाया गया कि इतना पास करनेवाले इंजीनियरों से भी कितनों को काम नहीं मिलता, तो मुझे धक्का लगा, और अपनी वकालत की गहराई पर अफसोस हुआ। हमारे यहाँ जब तक सभी आयोजना एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होंगी, तब तक प्रगति की यही स्थिति रहेगी, कहीं विशेषज्ञों की जरूरत होगी और कहीं वह बेकार रहेंगे। जरूरत के अनुसार समय पर उनको तैयार नहीं किया जाएगा, और योजनाएँ रुकी पड़ जाएँगी। रुड़की कालेज बड़े ही उपयुक्त स्थान पर है। यहाँ चार हजार विद्यार्थियों के रहने का स्थान बनाया जा सकता है। पहले किसी समय भारत का यह एकमात्र इंजीनियरिंग कालेज था, पर अब भारत में प्रायः हर बड़े प्रान्त में इंजीनियरिंग कालेज खुल गए हैं। यहाँ के विद्यार्थियों में सबसे अधिक हिन्दीभाषी थे, इसलिए हिन्दी के माध्यम द्वारा उनकी पढ़ाई आसानी से हो सकती थी।

अगले दिन (१४ दिसम्बर) को टहलने के लिए हम गंगा की महानहर के किनारे किनारे दूर तक गए। उस पुल को भी देखा जिसके नीचे सोलानी नदी और ऊपर नहर बहती है। आगे महिवड़ गाँव मिला। विचित्र नाम खटक रहा था। यह पुराने कुरुदेश का गाँव है—महिषवाट या मही वाट अथवा महावट हो सकता है। नाम से आकृष्ट हो आशा हुई कि यहाँ कोई पुरानी चीज मिलेगी। लेकिन जितनी अधिक पुरानी चीज है, वह उतनी ही अधिक पृथ्वी के नीचे होगी। गाँव में मुसलमान भी हैं और हिन्दू भी। स्यान राजपूत थे। मुसलमान मिठाई (मली) बना रहे थे।

आज कालेज के संग्रहालय और प्रयोगशालाओं को अच्छी तरह देखने का मौका मिला। प्रो० गर्ग ने बतलाया कि अध्यापक चाहिए, जिनके मिलने में कोई दिक्कत नहीं। हम एक हजार विद्यार्थियों को यहाँ पढ़ा सकते हैं। हाँ, योग्य अध्यापकों के मिलने में सुभीता तभी होगा, जबकि

वेतन का ग्रेड चार सौ से नौ सौ रुपया तक कर दिया जाय। वह और प्रो० जयकृष्णजी हमारी सहायता के लिए तैयार थे। उस दिन चाय पार्टी हुई और विद्यार्थियों ने निबंध और कविताएँ पढ़ी। सभी ग्रेजुएट थे यहा की तीन साल की पढ़ाई में कितने ही अंतिम कक्षा में थे। तरुणों में बहुत उत्साह देखा। शाम को डा० रूपरूप कुलश्रेष्ठ के यहाँ गए। उनसे कितनी ही देर तक बातचीत होती रही। उनकी सुशिक्षिता सुपुत्री ने कुलश्रेष्ठो की विवाह प्रथा के बारे में कुछ करने का विश्वास दिलाया था पर काम आगे नहीं बढ सका।

देहरादून—१५ दिसम्बर को डाक की बस पकड़ी और देहरादून चले। रुड़की सहारनपुर जिले में है, जिसकी उत्तरी सीमा पर सिवालिक पहाड़ है। सिवालिक के उस पार देहरादून शहर और उसका जिला है। सिवालिक सवा लाख सपादलक्ष का अपभ्रंश है। यह सवा लाख पहाड़ हिमालय की जड़ में है लेकिन आयु में उससे पुराना और प्रकृति में उससे भिन्न है। यहा वह हिमालय से काफी हटकर है, और दोनों पर्वत श्रेणियाँ दून (द्रोणि) बनाती है, जिसको ही देहरा शहर से जोड़कर देहरा दून कहा जाता है। सिवालिक की ऊँचाई बहुत ज्यादा नहीं है, लेकिन पर्वत पार तो करना ही पड़ता है। पहाड़ को जहा-तहा पार नहीं किया जा सकता। सहस्राब्दियों से देखते हुए आदमियों ने सुगम रास्ते निकाल लिए हैं जिनसे होकर लोग आवा-जाही करते हैं। सिवालिक में भी ऐसे रास्ते हैं। यहाँ की तरह सभी जगह हिमालय और सिवालिक का फासला दून नहीं बनाता। गंगा और जमुना के बीच इस सिवालिक की काइ चोटी तीन हजार फुट से ऊँची नहीं है, और मसूरी से देखने पर तो यह बिल्कुल कीड़े मकोड़े सा मालूम होता है। शायद इसीलिए पुराने समय में इसे कीटागिरि कहते थे। रुड़की और सहारनपुर से आनेवाली सड़क मोहंता डांडे से सिवालिक को पार करती है। रुड़की से देहरादून २५ मील है। पहाड़ी में राजा जी के नाम से एक रक्षित प्राणिखण्ड है जिसमें जानवर का शिकार करना मना है। किसी समय जब सिवालिक दोनों तरफ घने जगलों से ढँका था

ता यहाँ हाथी और बाघ रहा करते थे। पर अब तो बाघ ही कभी कभी दिखाई पड़ते हैं।

देहरादून में सैनिक स्कूल है। यहाँ इस आशा से आए थे कि सैनिक परिभाषाओं के संग्रह करने के लिए लोगों को कहूँ। यह तो मालूम ही था कि यह काम तब तक कोई सैनिक अफसर अपने हाथ में ले नहीं सकता जब तक सरकार की ओर से उसकी प्रेरणा न आए। और उसके लिए आजकल के दिल्ली के देवताओं से कोई आशा ही नहीं हो सकती थी। रामराय दरबार में गए। महन्त लक्ष्मणदास का नाम बहुत सुन रखा था। अब उनके उत्तराधिकारी महन्त श्री इन्द्रेशदास थे, जो इलाहाबाद विश्व विद्यालय के एम० ए० और श्री विद्यानिवास मिश्र के सहपाठी रह चुके थे। महन्तजी बड़े प्रेम से मिले। अपने साथ ले जाकर मिलिट्री एकाडमी, फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट सर्वे आफ इण्डिया के कार्यालयों को दिखलाया। अकाडमी में आजकल छुट्टियां थीं लेकिन मेजर ए० एम० चटर्जी ने सैनिक परिभाषाओं के बारे में कुछ आशा दिलाई। फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट में श्री जगदम्बाप्रसाद का नाम बतलाया गया पर वह वहाँ मौजूद नहीं थे। सर्वे में इस बात में किसी को दिलचस्पी नहीं थी। ऊपर से हुकुम आए तो चींटी की चाल से चलने के लिए तयार थे। नाम का प० गया प्रसाद शुक्ल और सन्त निहालसिंह से मिलने गए पर दोनों ही अनुपस्थित थे। देहरादून की यात्रा से कोई काम नहीं बना। हाँ आगे देहरादून के साथ जो घनिष्टता बढ़नेवाली थी उसका श्रीगणेश इस समय जरूर हो गया। देहरादून में पहले किसी समय १६ हजार मुसल्मान रहते थे, अब दो-तीन हजार भी मुश्किल से रह गए। कणपुरा सारा मुसलमानों का मोहल्ला था जिसमें एक या दो बूढ़े बच रहे थे। वह भाग नहीं सकते थे और लोगों ने भी उन पर दया दिखलाई इसलिए रह गए। अब कणपुरा पश्चिमोत्तर सीमा के हिन्दुओं का मोहल्ला है, वहाँ पश्चिमी पंजाबी बोली जाती है। शरणार्थियों की संख्या ४० हजार बतलाई जा रही थी। व्यापार और दूकानें उनके हाथ में थीं। पुराने व्यापारियों ने अपनी दूकानों को

मुँहमाँगा दाम मिलते देख लालच में बेच दिया, और अब हसरत से देखते हैं। जो बहुत तरह की अच्छी और सस्ती चीजें देने के लिए तैयार हो उस दूकान पर ग्राहक क्यों न जाएँगे ?

लखनऊ—१६ दिसम्बर की सवा ५ बजे की गाड़ी मे देहरादून से चले और अगले दिन सवेरे ७ बजे लखनऊ पहुँच गए। स्टेशन से सीधे महास्थविर बोधानन्द के पास रिसालदार बाग के विहार में पहुँचे। बहुत लट गए थे, लेकिन बोलते अब भी थे उसी तरह जीवट के साथ। उन पर पहुँचकर क्यो निराशा हो ? मृत्यु से क्या डरा जाए ? मृत्यु तो अभाव रूप है जीवन में प्रतिकूल परिस्थिति में डरने का कारण भी हो सकता है। लखनऊ में विशेष कर चिकित्सा-सम्बन्धी परिभाषाओं के लिए मेडिकल कालेज के अध्यापकों से मिलना था। *यहाँ के काम की जिम्मेवारी श्री पुत्तनलाल विद्यार्थी ने लेना स्वीकार किया।* वह रिटायर हो चुके थे, और हिन्दी प्रेम के कारण कुछ करना चाहते थे। उनके घर पर गये लेकिन विद्यार्थीजी मौजूद नहीं थे। नातिदूर मेडिकल कालेज था। वहाँ डा० सुरेशचन्द्र कपूर से भेंट हुई। वह कानपुर के श्री कैलाश कपूर के सुपुत्र हैं। तरुण और उत्साही हैं और परिभाषा के महत्व को भी समझते हैं। उनके साथ डा० मालवीय और डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त से मिले। डा० सुरेन्द्रनाथ गुप्त ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। पीछे मालवीयजी ने तो जीव रसायन का कोश तैयार करके दिया और वह प्रकाशित भी हो गया। एक डाक्टर सुनने के लिए तैयार नहीं थे कि मेडिकल साइंस की शिक्षा हिन्दी माध्यम से हो। वह झुंझलाकर बोले—कम-से-कम इस साइंस को बरबाद न कीजिये। उनके खयाल से *अंग्रेजी छोड़ दूसरी भाषा में मेडिकल साइन्स का पढ़ना उसे बरबाद करना* है। लेकिन क्या किया जाए ? दुनिया के बहुत से बड़े बड़े देश इस बरबादी के काम में लगे हुए हैं। जापान में अंग्रेजी में मेडिकल साइन्स नहीं पढ़ाया जाता। रूस, जर्मनी, फ्रांस इत्यादि भी साइंस को बरबाद करने को उतारू हैं। लखनऊ के मेडिकल कालेज के कई अध्यापक काम करने के लिए तैयार

थे, यदि वह कर नहीं सके, तो उसमें सम्मेलन का दोष है, जो उनसे काम नहीं ले सका।

मेडिकल कालेज से फिर विद्यार्थीजी के यहाँ गए और वह हमारी प्रतीक्षा हजरतगंज में कर रहे थे। उनसे मुलाकात हुई। अगले दिन १८ दिसम्बर को मार्ने ८ बजे ही उनके साथ निकले। डा० सुन्दरनाथ गुप्त ने डायबेटीज की बात सुनकर मेरे खून की परीक्षा की, पर उसमें खांडी नहीं मिली। उस दिन डा० र० न० मिश्र, डा० याज्ञिक और डा० माथुर से भी मिले। याज्ञिक और माथुर साहब ने अपने विषयों की परिभाषाओं का पूरा करने तक लेना स्वीकार कर लिया और तकाजा करने के लिए विद्यार्थीजी वहाँ मौजूद ही थे। लखनऊ के काम से बड़ी प्रसन्नता हुई।

उसी दिन रात को ट्रेन पकड़कर १६ को सवेरे ही प्रयाग पहुँच गए। डा० बदरीनाथ प्रसाद के यहाँ ठहरे। अभी उजाला नहीं हुआ था, इसलिए फाटक नहीं खुला था। मुझे बाहर ही कुछ देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। प्रयाग में सम्मेलन कार्यालय में जाकर काम का देख सुन लेना था। इतवार की छुट्टी थी, लेकिन प० भगवद्दत्त शर्मा अपने काम में लगे हुए थे। अगले दिन प्रधान मन्त्री प० बलभद्र मिश्र से मिले और उनसे काम के बारे में बातचीत हुई। अब कलकत्ता जाना था।

कलकत्ता—२० दिसम्बर को दिल्ली मेल को सवा ८ बजे पकड़ना था। सेकंड क्लास में वहाँ खड़े होने की भी जगह नहीं थी और रात भी बितानी थी। प्रथम श्रेणी का टिकट बदलवाया। साथी मुसाफिर एक फौजी डाक्टर थे। उनकी बदली हुई थी इसलिए सारे घर के सामान को लगेज के तौर पर कम्पार्टमेंट में भर लिए जा रहे थे पर उसके कारण हमारे सोने में कोई विघ्न नहीं हुआ। अगले दिन पौने १२ बजे दोपहर को हावड़ा स्टेशन पर पहुँचे। श्री मोहनसिंह सेंगर के साथ ५० विवेकानन्द स्ट्रीट के राम भवन में श्री रामस्वरूप टाटिया के यहाँ जाकर ठहरे। उस दिन कुछ मित्रों से मिलना जुलना भर रहा। अब ३० दिसम्बर तक के लिए यहीं ठहरना था। — — — — — बहुत दुर्लभ था लेकिन हम रोज सवेरे निकल के

मैदान में टहलने के लिए ले जाने वाली कार मिल जाती थी। विक्टोरिया स्मारक और उसके आस-पास चहलकदमी करते थे। एक वर्ष से ऊपर अंग्रेजों को गए हो गए थे, लेकिन उनकी सारी विरासत को लेने के लिए हमारे राष्ट्र कर्णधार तैयार थे। फोर्ट विलियम का पलासी गेट अब भी हमारी पलासी की पराजय को अक्षुण्ण रखे था। मैदान की मूर्तियां उसी तरह अपनी जगहों पर विराजमान थीं। दिल्ली के देवताओं को उनसे कोई ग्लानि नहीं थी, पर हमारी जनता पहले ही से उनमें से कितनों का नामकरण कर चुकी थी। औटरम उनके लिए सन् ५७ के विद्रोह के यशस्वी वीर कुंवरसिंह थे।

उस दिन १२ बजे सुनीति बाबू से जाकर मिले। हमारे परिभाषाओं के काम को उन्होंने देख लिया था। दो घंटे तक बातचीत होती रही। यद्यपि वह अपनी को कायम रखने के पक्ष में थे, पर तो भी अपनी भाषाओं के प्रति दया दिखाना चाहते। यही राय डा० सत्येन्द्र बोस की भी थी, जिनसे मैं अगले दिन मिला। वह हमारे देश के चोटी के साइन्सवेत्ताओं में से हैं, साइन्स के गम्भीर गवेषक भी हैं। लखनऊ के डा० चन्द्रशेखर तो साइन्स के लिए हिन्दी का नाम भी सुनना नहीं चाहते थे, डा० बोस मातृभाषाओं पर दया करने के लिए तैयार थे, क्योंकि उनके द्वारा विज्ञान का प्रचार साधारण लोगों में हो सकता है। इसके लिए बल्कि बंगला में ज्ञान विज्ञान पत्रिका निकाल रहे थे।

२२ तारीख को श्री वीरेन्द्रदास गुप्त से मिले। वह अपने साथ एक वृद्ध वृद्धा साहित्य प्रेमी दम्पती से मिलाने के लिए ले गए, और फिर यादवपुर के इंजीनियरिंग कालेज में भी गये। २८ तारीख को फिर उनसे मिलने का मौका व्यापारियों के सम्मेलन में मिला। वीरेन्द्र बाबू ने बंगालियों की कलमघिसाई की मनोवृत्ति को छोड़कर उद्योग धंधे में कदम रखा और उसमें जम गए थे। सांस्कृतिक प्रेम बंगाली शिक्षित में होना आवश्यक है इसलिए वह अपने को सिर्फ पैसा कमाने तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। उन्होंने उसी समय बतलाया था कि जापान के एक बौद्ध विहार में

नेताजी की अस्थियाँ मैंने देखी हैं और उनके निधन के बारे में मुझे संदेह नहीं है।

श्री सुरेन्द्रचन्द्र सेनगुप्त से पहले ही से पत्र द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो गया था, और वह प्रत्यक्षशारीर (अनाटामी) की परिभाषाओं के संग्रह में जुट गए थे। उन्होंने यह भी बतलाया कि यहाँ के बंगाली विद्वानों से सहायता प्राप्त करने में हमें कोई दिक्कत नहीं होगी। दरअसल परिभाषा का जो काम हम कर रहे थे, वह केवल हिन्दी भाषा का नहीं था। असमिया, बंगला, उड़िया, तेलगू, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती, पंजाबी, नेपाली ही नहीं, बल्कि सिंहली, बर्मी, स्यामी और कम्बोजी के लिए भी यह काम हो रहा था। इसलिए मालूम होने पर सभी जगह से सहायता मिलेगी, इसमें संदेह नहीं। मुझे विश्वास था, यदि हम आधे दर्जन अच्छे पारिभाषिक कोश प्रकाशित करके दिखला सकें, तो हमारे काम में सभी जगहों से सहायता मिलने लगेगी।

कलकत्ता बंगाल की राजनीतिक ही नहीं सांस्कृतिक राजधानी भी है। बंगभाषी सबसे पहले यूरोप और आधुनिक युग के सम्पर्क में आए, उन्होंने सबसे पहले जाना कि हमारे लिए मुक्ति और आगे बढ़ने का वही एक रास्ता है, जिसे यूरोप ने अपनाया है। यूरोपीय संस्कृति और ज्ञान विज्ञान का गम्भीर अध्ययन पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में ही यहाँ के मनीषियों ने करना शुरू किया, और उससे बहुत कुछ लिया, जबकि हिन्दीवाले पचास वर्ष से भी अधिक पिछड़े रह गए। इस बात का प्रभाव बंगभाषी समाज पर पड़ा है। साहित्य और संस्कृति के प्रति उनका अनुराग देखकर ईर्ष्या होती है। हमारे यहाँ आज भी अभी हिन्दी रंगमंच का कहीं पता नहीं है। बंगाल में वह दशाब्दियों से, बल्कि शताब्दी से अपनी जड़ जमा चुका है और ऐसा कि सिनेमा भी उसे उखाड़ नहीं सका। इस यात्रा में मुझे श्रीरंगम और स्टार के दो रंगमंचों में जाने का मौका मिला। २२ को शिशिर भादुड़ी द्वारा अभिनीत 'माइकेल मधुसूदन' नाटक देखने गया। दर्शकों की संख्या बतला रही थी, कि लोगों को नाटकों से प्रेम है। अभिनय भी अच्छा था। साधना

का कमी थी और आजकल ता उसकी कमी सभी देशा म देखा जाती है सिवाय सोवियत रूस के, जहाँ सरकार सहायता देन म ज़रा भी सकाच नही करती और जनता नाटको के देखने के लिए टूट पडती है। अगले दिन स्टार म 'गोलकुण्डा' नाटक देखा। कल क नाटक म गम्भीरता थी किन्तु गति की कमी। आज के नाटक म गति अधिक थी, किन्तु गम्भारता कम। इसीलिए इस नाटक मे मनारजन का अश भी अधिक था।

उस दिन बीकानेर क एक जोतिसी हस्त सामुद्रिक (हस्तरेखा) का चमत्कार दिखाने के लिए आये। बतला रहे थे कि आयुर्वेद से जो चीजें मालूम होती है वह हस्तरेखा से भी देखी जा सकती हैं। मेरे पास ऐसी फजूल बातो के लिए समय नही था नम्रता से किसी तरह पिंड छुड़ाया।

२५ तारीख को श्री सुरेशचन्द्र सेनगुप्त क घर भाजन करने के लिए ठाकुरिया जाना पडा। इसकी एक अलग छोटी सी नगरपालिका है। कलकत्ता क उपनगर म एसी और भी नगरपालिकाएँ हैं जिनको कलकत्ता म ही सम्मिलित हो जाना चाहिए। सुरेश बाबू चार भाइया म सबसे बडे हैं इसलिए घर क सरदार वही है। यद्यपि उन्होने रसायन म एम० एस सी० की लेकिन वह असाधारण रुचि के पुरुष हैं। उनके विषय स सस्कृत ग्रीक, लातिन, रूसी स क्या सम्बन्ध है और फलित जोतिस म माथापच्ची करना क्या पसन्द किया जब उससे पैसा नही कमाना है ? पर असाधारण प्रतिभाओ म कुछ बेतुकी बातें हुआ ही करती हैं। उनका पुस्तका का बहुत शौक है और अपनी कमाइ म से वह बराबर उन्ह खरीदते ही रहते है। कमी की भी बहुत-सी पुस्तकें उनके यहा देखीं। पिता नही है और माता क वह अनन्य भक्त हैं। अविवाहित रहत भी घर भर की आर्थिक चिन्ता वह अपने सिर पर ढोते हैं।

शान्तिनिकेतन— बौद्ध संस्कृति क लिखने के लिए कुछ समय शान्तिनिकेतन जाकर रहना था इसलिए २७ को हम वहा पहुँचे। प० हजारी प्रसाद द्विवेदी और शान्ति भिक्षु क साथ हिन्दी भवन म गये। भोजन के बाद चीना भवन देखा यहा काफी चीन-सम्बन्धी पुस्तकें थी। फिर विश्व

भारती के पुस्तकालय में गये, पौने दो लाख पुस्तकें हमारे यहाँ ही विश्वविद्यालय में हैं। बृहत्तर भारत तथा भारत के सम्बन्ध की पुस्तकों का भण्डार तो यहाँ बहुत विशाल है। बाईस साल पहले प्रथम बार लंका जाते हुए मैं यहाँ आया था। उस समय से अब भारी परिवर्तन हो गया है। रात को छोटी-सी गोष्ठी में भाषण देना पड़ा। अगले दिन सवेरे ६ बजे सवेरे की गाड़ी पर पहुँचाने के लिए द्विवेदीजी, शान्ति भिक्षु श्री प्रह्लाद प्रधान और रामकिंकरजी स्टेशन तक आये। इंटर में बैठे। डब्बों में बहुत जगह खाली पड़ी हुई थी।

११ बजे के बाद गाड़ी स्यालदह पहुँची। गंगा का पुल उस पार करना पड़ा अर्थात् उस रास्ते दिल्ली की ट्रेन स्यालदह पहुँच सकती है।

२८ तारीख को युगान्तर क्लब में मुरारकाजी और दूसरों के निमन्त्रण पर गये। अंग्रेजों के समय में यह भव्य भवन किसी अंग्रेज का था। उनके घर कारखानों को लेनेवाले मारवाड़ी धन-कुबेरों को अब इसे भी सम्भालना था। इमारत बहुत ही सुन्दर थी, और सफाई और व्यवस्था का क्या कहना? इस क्लब के मेम्बर वही हो सकते हैं जो पत्नी सहित आने के लिए तैयार हैं। मारवाड़ी सेठों के लिए इसमें एक पीढ़ी पहले बड़ी दिक्कत रहती, लेकिन अब तो यह मारवाड़ीपन ही मिटते जा रहे हैं। हाँ, भोजन सारा पक्का था, पर नफीस और अच्छे छुरी-काँटों तथा बर्तनों के साथ। एक पीढ़ी की देर है, फिर यहाँ वही वातावरण आ जायगा, जिसका अभ्यास इस भवन को एक पीढ़ी पहले था।

२९ दिसम्बर को बंगाल एशियाटिक सोसायटी के हाल में भारतीय संस्कृति पर भाषण देना था। आर्यावर्त संस्कृति संघवालों ने इसका प्रबन्ध किया था। मेरे विचार सभी मीठे कम हो सकते हैं। लोगों ने कड़वी बातों को भी धैर्य से सुना।

वहाँ से युगान्तर क्लब की ओर से दिये भोज में शामिल होने के लिए आज भी शाम ७ बजे नाम का हिन्दुस्तान क्लब में जाना पड़ा। आज वहाँ बहुत से भद्रपुरुष अपनी पत्नियों के साथ आये थे। पहले तल्ले में श्री मुरार

थाजी मारवाडी समाज के नेता हुए थे। उस समय उन्हें बहुत-सी दिक्कतें उठानी पडी थी, पर अब उन्हें चारो ओर सफलता दिखाई पड रही थी। मान में आधी दजन महिलाएँ थी।

३० दिसम्बर को सवेरे टहलने के लिए घुडदौड के मैदान में जाकर फिर टालीगंज में पचीसियाजी के यहाँ जलपान करने गये। पचीसियाजी श्री घनश्यामदास बिडला के साढू है, उनकी पत्नी और सौभाग्य दुहिता सरस्वती बहनें हैं। किसी ज्योतिषी ने भाख दिया था कि कन्या के भाग्य में सौभाग्य विरोधी दुष्ट ग्रह है। उसमें बचपन के लिए पिता ने एक बिलकुल साधारण सी स्थिति के लडके से अपनी पुत्री का ब्याह कर दिया, लेकिन करोडपति ससुरकुल दामाद का ऐसी स्थिति में कैसे रख सकता था। सर स्वनीजी लक्ष्मी का साथ लिए पतिकुल में आई। उनका सम्मान होना ही चाहिये। स्त्री जब आर्थिक तौर से स्वतन्त्र हो तो उसकी पूछ सब जगह होनी है। सरस्वतीजी के ब्याह के पद्रह साल बाद तक सन्तान नही हुई लेकिन यह बहाना दूसरा ब्याह करने के लिए पर्याप्त नही हो सका। अब उनका साढे तीन वर्ष का एक बहुत ही सुन्दर, स्वस्थ और समझदार पुत्र था। शहर से बाहर पचीसिया दम्पती का यह अपना बंगला था। कार होने पर दस-बारह मील की दूरी कोई चीज नही। बच्चे को एक अंग्रेज महिला डेढ घंटे तक सँभालती हैं। उसमें अपने दादा परदादा के पिछडेपन की कहीं गंध भी नही रह गई है। पचीसियाजी के पडोस में एक रूसी इंजीनियर कार्निलाफ—कार्नेली—रहते थे, जो जारशाही जेनरल कार्निलाफ के ही कोई सम्बन्धी थे, और बाल्शेविक क्रान्ति के समय भाग आये थे। जहाँ-तहाँ भटकते यहाँ अब जम गये थे और आर्थिक तौर से बहुत अच्छी हालत में थे। पचीसियाजी हमें उनसे मिलाने के लिए ले गये। इंजीनियर साहब के लिए बाल्शेविक शैतान थे, उनके राज्य में कोई गुण नहीं थे—इन्होंने लाखों बच्चों को मार डाला। हाल में ही पोलैण्ड से भागकर आये एक दूसरे सज्जन भी वहाँ मौजूद थे, जो हर बात में कार्नेली के समर्थक

थे। लोग सोवियत रूस को बदनाम करने के लिए सारी दुनिया के कोने कोने में प्रचार कर रहे हैं।

उस दिन रात के साढ़े ७ बजे बंगीय हिन्दी परिषद् में गोष्ठी थी। मैं भी बोला और उस्ताद अलाउद्दीन ने सितार सुनाकर मुग्ध किया। मुझे अफसोस था कि जल्दी अलग हावड़ा पहुँचकर पंजाब मेल पकड़ना है।

१९४८ की अंतिम तारीख लखनऊ में बीती। सेकंड क्लास में जगह काफी थी। और अब वही सेकंड क्लास फर्स्ट क्लास में बदलनेवाला था। फिर इंटर को सेकंड कहा जायगा।

१५

नये वर्ष का आरम्भ

लखनऊ—१ जनवरी को भी लखनऊ में रहे। उस दिन शाम को शहर में निकले, तो देखा पत्रों के विशेष संस्करण निकल रहे हैं। कश्मीर में पाकिस्तान के साथ छिपी हुई लड़ाई चल रही थी और डर था कि वह किसी समय खुली लड़ाई में न बदल जाए। अचानक आक्रमण करके पाकिस्तान ने काम बनाना चाहा था। भारत को अभी उसकी आशा नहीं थी। लेकिन जब भारतीय सेनाएँ कश्मीर में रक्षा के लिए पहुँच गई और जोजीला पार कर हमारे टैंकों ने असम्भव को सम्भव कर दिया, यही नहीं, बल्कि लद्दाख की तरफ से बढ़ती हुई हमारी सेना गिलगित की ओर धावा बोलने लगी तो पाकिस्तान और उसके मुरब्बियों को सुलह करने के लिए तैयार होने में ही खैरियत मालूम हुई। भारत और पाकिस्तान ने अब हथियार रोककर बात करना स्वीकार किया। यही बातें पत्रों के विशेष संस्करणों में छपी थीं, इसके अनुसार पुंछ, मीरपुर, मुजफ्फराबाद और गिलगित पाकिस्तान के हाथ में रहेंगे। संक्षेप में जो भूमि जिसके हाथ में है वह उसके हाथ में रह जाएगी।

लखनऊ के मित्रों ने बतलाया, कि पिछली बार जब मैं यहाँ से चला गया था तो खुफिया पुलिस के इन्सपेक्टर बड़ी सरगर्मी से मेरी खोज लगा रहे थे। भारत को स्वतन्त्र हुए एक साल से ऊपर हुए, पर सी०

आइ० डा० क पास मरी फाइल ता वैसा हो मौजूद है इसलिए उन्हें क्या नहीं परेशानी होती। अब ता य पुरानी फाइल गई रिपार्टों स और मोटी हाती जाएगी क्योंकि अंग्रेजों के जाने के बाद भी देश का जिस रास्ते ले जाया जा रहा है उससे हमारी जनता को जो दुख हो रहा है, उसे चुपचाप बर्दाश्त करना मरी शक्ति स बाहर है।

सीतापुर—सीतापुर म हिन्दी साहित्य का एक सम्मेलन हो रहा था। मुझसे उसम चलने का आग्रह हुआ और लखनऊ क प्रसिद्ध वैद्य तथा राष्ट्रकर्मी प० शिवरामजी अपनी मोटर म २ जनवरी को ले चले। वैद्य जी म प्राचीनता और नवीनता का विचित्र मिश्रण है। सफल वैद्य हैं स्वयं अपनी मोटर चलाते हैं। आज पचीसों वर्ष हो गए उन्होंने अपने शरीर का जल स अपवित्र नहीं किया। प्राकृतिक जीवन को उन्होंने अपने ऊपर लजवा लिया। पसीन और बदबू को शरीर स अलग करने क लिए जल के अतिरिक्त और भी उपाय हैं इसलिए उनके पास बैठने से यह नहीं मालूम होता था कि उनका शरीर चिरकाल से जल-स्पर्श विरत है। लखनऊ स सीतापुर ५२ मील है और सड़क अधिकतर सीमेंट की है। रास्ते म कमालपुर मिला वहाँ एक वृद्ध संस्कृत पण्डित से थोड़ी देर बातचीत होती रही। फिर चलकर पौने २ बजे हम सीतापुर पहुँच गए। बादशाही जमाने म हमारे जिलों को सरकार कहा जाता था। कभी सरकारों म स किसी किसी के अंग्रेजी काल म एक क दो जिले भी हो गए हैं। अकबर क प्रधानमन्त्री अबुल फजल रचित 'आइने अकबरी'' म मुगल-साम्राज्य की सरकारों का नाम दिया हुआ है। सीतापुर उस समय खैराबाद सरकार म था। अंग्रेजी जमाने म सीतापुर को जिला बना दिया गया और रेल आदि क सुभीते क कारण सीतापुर खैराबाद का पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया। शहर की आबादी ४० हजार के करीब है। लड़कियों का इंटर कालेज अब डिग्री कालेज होनेवाला था। उसम एक हजार लड़कियाँ (पाँचवें दर्जे तक एक हजार और आगे पाँच सौ) लड़कियाँ पढ़ रही थीं। यह कहता रहा था कि यहाँ क नाग

रिका मे स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान है। साहित्यिक रुचि भी यहा के लोगो मे है।

मुझे जिले के डिप्टी कलक्टर रा० न० चतुर्वेदी के पास ठहराया गया। चतुर्वेदी जी काव्य प्रेमी और स्वय भी कवि है और कट्टरता के पक्षपाती नही हैं यह तो इसीसे मालूम है, कि पुराने आई० सी० एस० सर जगदीश प्रसाद की कन्या इनसे ब्याही है।

उसी दिन नगर मे सभा के लिए जलूस निकला, जिसमे सभापति होने के कारण मुझे भी जाना पडा। ४ बजे सभा शुरू हुई। स्वागताध्यक्ष के भाषण के बाद मैं एक घटा बोला। भाषण लिखकर लाने का अवसर नही था क्योकि उसी दिन मुझे सभापति होने के लिए कहा गया था। रात को कवि सम्मेलन हुआ जिसमे वशीधर शुक्ल की चुभती और सुन्दर कविताओ का रसास्वादन बडे प्रेम से लोगो ने किया। वशीधर जी की अवधी कविताओ को दूसरे भाषा-क्षेत्र मे भी बहुत पसन्द किया जाता, और यहा तो अवधी का अपना क्षेत्र था। कही भी कवि-सम्मेलन मे जाने पर उनकी कविताओ को बार बार सुनाने का आग्रह होता है। वह बिलकुल स्वाभाविक कवि है और आज की विषमता मे जमी यातना लोग भोग रहे है उसके भुक्तभोगी और प्रत्यक्षदर्शी हैं। उनके कोमल हृदय को यह सहा नही जाता और वही वेदना उनके मुह से फूट निकलती है। शुक्ल जी की कविताएँ बहुत-सी बिखरी और लिखी पडी है, जिनका उनके सामने प्रकाशित हो जाना अत्यावश्यक है पर इस अधेर नगरी मे कौन पूछता है? कवि सम्मेलन मे चतुर्वेदी जी ने भी अपनी कविता सुनाई।

यही मेरे फुफेरे भाई रमेश के पुत्र चन्द्रभूषण पाडे से भेंट हुई। वह पुलिस मे कास्टेबल है। रमेश मेरी सगी बुआ के और मेरे प्रथम सस्कृत गुरु प० महादेव पाडेय के पुत्र हैं। उनकी स्वर्गीया प्रथम पत्नी चन्द्रभूषण को छोडकर मर गई थी। चन्द्रभूषण को अपने ननिहाल की जगह मिली थी। जो काफी थी। समझ मे नही आया, कि उसे छोडकर उन्हे नौकरी

की क्या फिकर पड़ी ? यह भी मालूम हुआ कि बाप बेटे म मेल नहीं है। समाज के बाहरी खाल के भीतर इस तरह की बात आजकल अधिकाधिक मिलें तो अचरज की बात नहीं है।

३ जनवरी को जलपान के बाद हरगाव गए। हरगाँव म बिड़ला की चीनी मिल है जिसम चीनी के साथ स्पिरिट, स्टाच भी बनाया जाता है। मिल बहुत विशाल है। मिल के प्रधान सचालक के यहाँ ही भोजन हुआ। बात के दौरान उन्होंने बतलाया कि हमने ऊख की खोई को कागज बनाने के लिए अपनी सबलपुरवाली मिल म भेजा था और कागज अच्छा बना था। पीछे बिड़ला के दूसरे अफसर ने बतलाया, कि कागज म थोड़ा-सा दोष रह जाता है, जिसके दूर करने का अभी कोई उपाय नहीं है। सबस बड़ी बात तो यह है कि सीतापुर से उड़ीसा के सबलपुर म कागज बनाने के लिए खाद भेजना बहुत व्ययसाध्य है। यदि यहा कागज बनाने की मिल खड़ी की जाए तो इस मिल की खोई से क्या बननेवाला है ? फिर खोई को बहुत से मिलवाले इधन की तरह खाक करते हैं यह भी एक दिक्कत है। अग्रेजों के जमाने म सिर्फ अग्रेजों की ही कुछ मिलों को अल्कोहल सप्लाई बनाने की आज्ञा थी। अब उसके लिए छूट कर दी गई है। चीनी स निकले बहुत-सा सीरा बेकार जाता था जो अल्कोहल बनकर चौथाई मात्रा म पट्रोल म मिलाकर मोटरों म इस्तेमाल किया जा सकता है। हमारा देश पेट्रोल म दरिद्र है इसलिए इस तरह एक चौथाई की बचत कम नहीं होती। मिल के स्वामी बिड़ला आने वाले थे। यहाँ की सभी संस्थाएँ उनसे दान माँगने की तयारी कर रही थीं।

हरगाँव म सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी की टूटी फूटी मूर्तियाँ मिलीं एक पाँच फण का नाग लाल पत्थर का था। क्या कुषाण-काल म भी यह स्थान विशेषता रखता था ? हरगाव क्या मौखरी हरिवर्मा स कोई सम्बन्ध रखता है।

कानपुर के कम्युनिस्ट नेता और मजदूरों म जिन्दगी लगा देनेवाले

बर्मी साथी सनसिंह यूसुफ यहाँ पर नजरबन्द हैं, जब यह मालूम हुआ, तो मैं उनसे मिलने गया। बात-बात में नजरबन्द करके स्वतन्त्रता का अपहरण करना आजकल के जमाने में अंग्रेजों के समय से भी आसान हो गया है। अंग्रेज अपने विरोधियों के साथ जो कड़ा बर्ताव करते थे, आज भी उसमें ढिलाई करने को सरकार बर्दाश्त नहीं करती। और बातों में चाहे चींटी की गति हो, लेकिन दमन में वह बड़ी चुस्त है।

नीमसार मिसरिख—भारत का एक परम पुनीत तीर्थ नैमिषारण्य सीतापुर जिले में ही है। इस स्थान पर पुरातात्त्विक अवशेष भी हो सकते हैं, यह सोचकर मेरी इच्छा वहाँ जाने की हुई। ४ जनवरी को पौने १० बजे चतुर्वेदी जी अपने साथ ले चले। मिसरिख पहले मिले। ३९ वर्ष पहले मैं नीमसार मिसरिख होते उत्तराखण्ड गया था। उस समय की स्मृति बहुत क्षीण रह गई थी। तो भी इतना याद था कि मिसरिख में एक तालाब है, जिसे बहुत पुनीत माना जाता है। तालाब अब भी था और सारे तीर्थ उसी के किनारे थे। पुरानी चीजों के ढूँढ़ने में ग्यारहवीं-बारहवीं सदी की मूर्तियाँ मिलीं, दो एक उससे पहले की भी। और भी मूर्तियाँ मिलतीं, लेकिन पिछले सौ साल में मूर्तियों को ढो ले जाने में लोग व्यस्त हैं, ऐसी चीजों के व्यापारियों ने तो पिछले पचास साल में गजब ढाया है। दधीचि मन्दिर के संस्थापक नाननाथ गिरि शाहजहाँपुर से आये थे। और भी बातें मालूम हो सकती थीं, जो सभी ऐतिहासिक महत्त्व की नहीं हो सकतीं, पर कुछ काम की भी होतीं हैं। चार-पाँच मील और आगे जाने पर नीमसार का चक्रतीर्थ मिला। चक्रतीर्थ गोल गहरा कूप है, जिससे थोड़ा-सा पानी ऊपर से बराबर निकलता रहता। इस बहनेवाले कुएँ की कमी नहीं है। सरायन नाम की छोटी-सी नदी इसी जिले के एक कुएँ पर निकली है। कथा है, कि एक चमार तरुणी ननदी जेठ के मजबूर करने पर तालाब में जल न पा कुएँ पर गई। उसके पास रस्सी नहीं थी। सारे गहनों को जोड़कर उसने पानी निकालना चाहा, लेकिन वह पानी तक पहुँच नहीं रहा था। दर

करते रूप जठ गया। लज्जा के मारे नरनी कुएं में कूद पड़ी। उसकी कुर्बानी से कुएँ का भी दिल पसीजा और उसके मुंह में पानी निकल कर बहने लगा। हिमालय की तराई में ऐसा बहुत जगहों पर देखा जाता है बरसात के महीनों में सोते जल का निकलना ही भाग कुओं के मुंह से बाहर निकलने लगता है।

लौटते समय रामकोट के बड़े डीह को देखा खण्डित मूर्तियां इसकी प्राचीनता को बतलाती थीं। बड़ी बड़ी ईंटें भी हैं पर उस दिन देखने में नहीं आईं।

शाम को जिले के अधिकारियों के साथ चाय पान और परिचय का मौका मिला और रात को कथा प्रदर्शन। ९ बजे तक चलता रहा। दर्शक १० हजार रहे होंगे अर्थात् नगर की जनता का चौथाई भाग इसमें दिलचस्पी ले रहा था।

६ जनवरी को सबेरे औडल जाना था। औडल पुराना स्थान और एक अच्छा कस्बा है। लेकिन मोटर आने में देर हो रास्ते में बिगड़ने वाली हुई इसलिए वहाँ जाने का ख्याल छोड़ना पड़ा। श्री रूपनारायण चतुर्वेदी अच्छे कवि और साहित्य प्रेमी हैं। पत्नी भी शिक्षिता हैं। तीन लड़के और तीन लड़कियाँ हैं। आजकल के मध्यवित्त परिवार में आधे दर्जन सन्तान अपने और माता पिता का कठिनाइयां पैदा करते हैं।

सीतापुर १३ लाख आबादी का जिला है, जिसमें चार तहसीलें हैं। खैराबाद कस्बा उजड़ा और सीतापुर कैसे बसा यह बतला चुके है। जिले में किसानों की आमदनी का नया रास्ता निकला। यहां मूंगफली बहुत पैदा होती है जो निर्यात का एक बड़ा साधन है। उनके सदुपयोग के लिए तो मिलें खड़ी हो गई लेकिन मूंगफली अभी प्राकृतिक रूप में ही बाहर जाती है किसी ने तेल निकालने के उद्योग की ओर अभी ध्यान नहीं दिया है।

पौने ५ बजे रेल से चले। पुराना इन्टर क्लास सेकंड बन चुका है, और फर्स्ट क्लास को तोड़कर सेकंड क्लास को फर्स्ट क्लास बना दिया

गया था। ट्रेन में बड़ी भीड़ थी, सैंकड़ों लोग पायदानों पर लटक रहे थे। ८ बजे लखनऊ पहुँचे। उम्मीद तो कम थी लेकिन प्रयाग वाली गाड़ी में ऊपर की सीट (सेकेन्ड क्लास) रिजर्व हो सकी इसलिए सोते हुए रात की यात्रा हुई। नींद ऐसी आई कि प्रयाग में जाकर ही खुली।

प्रयाग—पौ फटते ही मैं श्रीनिवासजी के घर पर पहुँचा और सवेरे घूमने के लिए त्रिवेणी तक गया। परिभाषा निर्माण के काम को कैसे आगे बढ़ाया जाय, इसकी बड़ी चिन्ता थी। दिल्ली से आने वाले तरुण न आ सके, और न उनका पत्र ही आया। डा० भट्ट अभी ह्विविया में थे। एक तरह अभी सहायक के आने का काम निश्चय नहीं था। इसी बीच मैंने बौद्ध संस्कृति" पर हिन्दुस्तानी एकेडमी में भाषण करना स्वीकार कर लिया था, जिसे पुस्तक के रूप में भी लिखना था। लिखने के लिए १५/१६ साल का मैट्रिक पास एक यादव तरुण (ललन) मिला। उसका अभी पढ़ने का समय था, उसे इस तरह काम में लगाकर आगे का रास्ता रोकना मुझे खटकना था। पर उसे कोई काम नहीं मिल रहा था इसलिए तब तक के लिए रख लेना ही मैंने पसन्द किया। इस साल और विशेषकर इन दिनों सर्दी बहुत बढ़ी हुई थी। दिल्ली में वह ३० डिग्री तक पहुँच गई थी। यहाँ जमने से चार ही डिग्री की तो कसर थी। मैं सोच रहा था यह सर्दी का तापमान भी कैसी बला है? अगर हमारे यहाँ का औसत तापमान चार ही पाँच डिग्री कम हो जाय, तो सबेरे तालाब जमे मिलेंगे नदियों के किनारे बर्फ की सफेद सगड़ी दिखाई पड़ेगी सारे वृक्ष पत्तों को गिराकर नंगे हो जाएँगे, खड़ी फसलें झुलस जाएगी और जाड़ा रोकने के प्रबन्ध में असमर्थ लाखों आदमी मर जाएंगे, पशुओं और पक्षियों की तो बात ही क्या? त्रिवेणी तट पर माघ मेला के यात्री थे। इस समय एक महीने के लिए यहाँ हर साल जंगल में मंगल हो जाता है। अगले दिन डा० उदयनारायण तिवारी और नागार्जुन जी के साथ फिर टहलने आए। मेले की तैयारी हो रही थी। अभी तक पेशाब-पाखाने की समस्या हमारे मेलों की हल नहीं हो सकी

करत दस जेठ आया। लज्जा के मारे नरैनो कुएँ में कूद पड़ी। उसकी कुरबानी से कुए का भी दिल पसीजा और उसके मुह से पानी निकल कर बहने लगा। हिमालय की तराई में ऐसा बहुत जगहों पर देखा जाता है बरसात के धरती में सोखे जल का जितना ही भाग कुओं के मुह से बाहर निकलने लगता है।

लौटते समय रामकोट के बड़े डीह को देखा खण्डित मूर्तियाँ इसकी प्राचीनता को बतलाती थी। बड़ी बड़ी इटें भी हैं पर उस दिन देखने में नहीं आई।

शाम को जिले के अधिकारियों के साथ चाय पान और परिचय का मौका मिला, और रात को कला प्रदर्शन। ११ बजे तक चलता रहा। दर्शक १० हजार रहे होंगे, अर्थात् नगर की जनता का चौथाई भाग इसमें दिलचस्पी ले रहा था।

६ जनवरी को सबेरे ओइल जाना था। ओइल पुराना स्थान और एक अच्छा कस्बा है। लेकिन मोटर आने में देर हो रास्ते में बिगड़ने वाली हुई इसलिए वहाँ जाने का ख्याल छोड़ना पड़ा। श्री रूपनारायण चतुर्वेदी अच्छे कवि और साहित्य प्रेमी हैं। पत्नी भी शिक्षिता हैं। तीन लड़के और तीन लड़कियाँ हैं। आजकल के मध्यवित्त परिवार में आधे दर्जन सन्तान अपने और माता पिता को कठिनाइयाँ पैदा करते हैं।

सीतापुर १३ लाख आबादी का जिला है, जिसमे चार तहसीलें हैं। खैराबाद कस उजड़ा और सीतापुर कसे बसा यह बतला चुके है। जिले में किसानों की आमदनी का नया रास्ता निकला। यहाँ मूँगफली बहुत पैदा होती है जो निर्यात का एक बड़ा साधन है। गन्ने के सदुपयोग के लिए तो मिलें खड़ी हो गई, लेकिन मूँगफली अभी प्राकृतिक रूप में ही बाहर जाती है, जिससे तेल निकालने के उद्योग की ओर अभी ध्यान नहीं दिया है।

पौने ५ बजे रेल से चले। पुराना इन्टर क्लास मेरे-इ बन चुका है और फस्ट क्लास को तोड़कर सेकण्ड क्लास को फस्ट क्लास बना दिया

गया था। ट्रेन में बड़ी भीड़ थी। सैकड़ों लोग पायदान पर लटक रहे थे। ८ बजे लखनऊ पहुँचे। उम्मीद तो कम थी, लेकिन प्रयाग वाली गाड़ी में ऊपर की सीट (सेकंड क्लास) रिज़र्व हो गयी, इसलिए आराम से रात की यात्रा हुई। नींद ऐसी आई कि प्रयाग में जाकर ही खुली।

प्रयाग—पौ फटते ही मैं श्रीनिवासजी के घर पर पहुँचा और सवेरे घूमने के लिए त्रिवेणी तक गया। परिभाषा निर्माण के काम का क्रम आगे बढ़ाया जाए, इसकी बड़ी चिन्ता थी। दिल्ली से आने वाले तरुण न आ सके, और न उनका पत्र ही आया। डा० भट्ट अभी दिल्ली में थे। इस तरह अभी सहायक के आने का बाद निश्चय नहीं था। इसी बीच मैंने 'बौद्ध-संस्कृति' पर हिन्दुस्तानी एकेडमी में भाषण करना स्वीकार कर लिया था, जिसे पुस्तक के रूप में भी लिखना था। लिखने के लिए १५ १६ साल का मैट्रिक पास एक योग्य तरुण (लेखक) मिला। उसका अभी पढ़ने का समय था, इस तरह काम में लगाकर आगे का रास्ता रोकना मुझे खटकता था। पर उसे कोई काम नहीं मिल रहा था, इसलिए सब तरह के लिए ऐसा ही मैंने पसन्द किया। इस साल और विशेषकर इन दिनों सर्दी बहुत कड़ी हुई थी। दिल्ली में ताप ३० डिग्री तक पहुँच गई थी। बर्फ जमने में चार ही डिग्री की कसर थी। मैं सोच रहा था, यह सर्दी का तापमान भी कैसा क्रूर है? अगर हमारे यहाँ का औसत तापमान चार ही पाँच डिग्री कम हो जाए, तो सबेरे तालाब जमे मिलेंगे, नदियों के किनारे बर्फ की सफेद सतहें दिखाई पड़ेंगी, सारे वृक्ष पत्तों को गिराकर नंगे हो जाएँगे, सारी फसल सूख जाएगी और अपने खाने के प्रबन्ध में असमर्थ लाखों आदमी मर जाएँगे, पशुओं और पक्षियों की तो बात ही क्या? त्रिवेणी-तट पर माघ मेले के यात्री थे। इस समय तक स्नान के लिए यहाँ एक साथ लाखों में भगदड़ हो जाना है। अगले दिन डा० उदयनारायण तिवारी और नागार्जुन जी के साथ फिर टहलने आए। मन का प्रयोग हो रहा था। अभी तक खाने-पीने की समस्या हमारे मन की दूर नहीं हो गयी

है। पहले तो ऐसी जगहों का यथेष्ट संख्या में प्रबन्ध नहीं किया जाता और फिर हमारे पवित्रता प्रेमी देश के लोगों की सार्वजनिक सफाई की ओर ध्यान ही नहीं है।

यद्यपि हमारे पास दो चार हजार रुपये से ज्यादा नहीं था, किन्तु बैंक में रखे रुपये के बारे में ख्याल आता था, कहीं रुपये का मूल्य बुरी तरह से न गिर जाय और संख्या में हजार रुपये का चौथाई भी मूल्य न रह जाए। आखिर लड़ाई के पहले का एक रुपया अब चवन्नी से भी कम का रह गया था।

सारनाथ—८ जनवरी को सबेरे ७ बजे छोटी लाइन की गाड़ी पकड़ा। छोटी लाइन में भी १ जनवरी से पुराने फर्स्ट क्लास को खतम करके बाकी को पहला दूसरा और तीसरा दर्जा बना दिया गया था। ट्रेन में बहुत भीड़ नहीं थी। स्टेशन हमारे डेरे से बहुत फासले पर था, लेकिन किसी कारण गाड़ी छूट गई। इधर अपने हाथ से लिखने का अभ्यास कम हो गया था और जो मैं लिखता था उसे लोगों के पढ़ने लायक भी नहीं होता था, इसलिए लिपिक की जरूरत थी। सारनाथ में जाकर बौद्ध संस्कृति लिखना था, इसलिए लिपिक के छूट जाने से चिन्ता हुई। १२ बजे सारनाथ पहुँच गया। यहाँ के अधिकारी भिक्षु सारिपुत्त मोग्गलान की धातुओं के स्वागत के लिए कलकत्ता चले गए थे। धर्मशाला के एक कमरे में ठहर गया। स्वामी सच्चिदानन्द भी आजकल तीन सप्ताह से यहीं ठहरे हुए थे। पहिले पहल १९३१ ई० में उनसे मिला था। वह संस्कृत के गम्भीर विद्वान् और उदार विचारों के थे। जीवन को निश्चिन्त रूप से रहने के लिए आत्मा को कुछ और कामों को भी हाथ में लेना होता है, नहीं तो खाली समय बिताए पहाड़ लगता है, विशेषकर जीवन की सन्ध्या में तो उसका वेग और भी बढ़ जाता है। स्वामी सच्चिदानन्द ने लिखने का काम सँभाला न पढ़ने का ही। इस समय उन्हें निराशा ही निराशा दिखलाई

पडती थी। कभी-कभी उत्तरकाशी म जाकर स्वामी रामतीर्थ का अनु करण करन की बात करन थ।

९ तारीख को सवेरे कुहरा पड रहा था जब कि रल के साथ साथ मैं टहलने गया। लौटकर देखा ल्ल्न आ गया था। ट्रेन छूट गई थी दूसरी ट्रेन पकड़ कर १० बजे रात को ही सारनाथ स्टेशन पहुँच गया था। खैर, आज स पुस्तक लिखवाना शुरू किया। उस समय निश्चय किया था कि दो सप्ताह यहीं रहकर लिखवाने का काम करूँ, और फिर एक मास के लिए शान्तिनिकेतन चला जाऊँ। अपेक्षित पुस्तकों की सुविधा वहा ज्यादा थी। ल्ल्लन धीरे धीरे लिखता था तो सुपाठय रहता जल्दी करन पर दुष्पाठय हो जाता।

१० तारीख को सवेरे टहलने लाट भैरव की तरफ गया। लाट भैरव बनारस के उत्तरी छोर पर आजकल मुसलमानी कब्रों और दर गाहों के रूप म परिवर्तित होकर मौजूद है। महमूद गजनवी ने ११वीं शताब्दी म जब बनारस को लूटा था, तो उस समय नगरी का मुख्य भाग यहीं था यह भैरव भी तभी का है। जमीन के ऊपर पुरानी चीजें क्या मिलेंगी किन्तु नीचे उनके मिलने की बहुत सम्भावना है। सारनाथ से सीधे लाट भैरव होकर चौक आने का रास्ता है जो उस समय अधिकतर कच्चा सडक के रूप म था। वरणा के किनारे पैगम्बरपुर गाव है। पुरान समय म का और नाम रहा होगा जिसे बदल कर मुसल मानी नाम दे दिया गया। यहा ७वीं ८वीं सदी की स्त्री और पुरुष मूर्तियां एवं सुदर प्रस्तर स्तम्भ पर खुदी देवी जो शिवालय के सामने खडा है। आगे वरणा म अस्थायी पुल है जिसके पास कभी स्थायी पुल था यह उसके ध्वंसावशेष म मालूम होता है। अब सारनाथ के साथ इस भू भाग का भाग्य फिर जग रहा है। बुद्ध जयन्ती की २५वीं शताब्दी मनाने के लिए जो तैयारी हुई, उसम वरणा पर पुल भी बना। इस पर से शहर से सीधी पक्की सडक सारनाथ जा रही है। रास्ता खुल जाने पर इधर नए मकान भी बनने लगेंगे। पर आजकल के जमाने म वही

शहर इतना के साथ आगे बढ़ सकता है जहाँ उद्योग धंधे बढ़ रहे हों बनारस में ऐसी कोई बात नहीं देखी जाती। पुराने धनी नागरिक शहर से बाहर बगीचे वाले मकानों और बंगलों के शौकीन थे लेकिन जमीदारी के उठ जाने तथा दूसरी कठिनाइयों—जैसे शहर से बाहर बंगलों में रहना अरक्षित होना—के कारण जिनके ऐसे बंगले हैं वह भी उन्हें बेचकर पिण्ड छुड़ाने के लिए तैयार हैं। तो भी इस सड़क के कारण शहर और सारनाथ मकानों की पंक्ति से मिल जाएँगे इसकी सम्भावना जरूर है। वरुणा में नीचे की ओर थोड़ी दूर पर रेल के पुल को देखकर कुछ कथा याद आई—उस समय ठेकेदारों ने सारनाथ में पत्थर की टूटी फूटी मूर्तियाँ और खम्भों का कुम्भ देखकर इक्कों में उठवा कर पुल की नींव में फेंकवा दिया था जो कितनी ही ऐतिहासिक बातों को अपने साथ लिए वहाँ पुल के पाँव के नीचे डूबी हुई हैं।

वरुणा पार हो हम एक पुराने तालाब पर पहुँचे जिसके किनारे एक मस्जिद के हाते में लाट भैरव हैं। हिन्दू अब भी जब-तब यहाँ पूजा के लिए आते हैं। पहले यह झगड़े की जड़ रहा। शायद इसीलिए उसके चारों तरफ लोहे का कटघरा बना दिया गया है। मस्जिद कब बनी यह कहना मुश्किल है पर मन्दिर तोड़कर बनाई गई थी यह उसकी दीवारों में जहाँ-तहाँ लगे अलंकृत उत्कीर्ण पत्थर बतला रहे थे। दीवारों और आँगन में पड़े पत्थरों में कुछ मूर्तियाँ भी जरूर मिलेंगी। पैगम्बरपुर से अलईपुर तक मुसल्मानों की बस्तियाँ हैं और जुलाहे हैं। सारे देश के लिए कपड़ा मुहैया करना जिस जाति का काम था उसकी संख्या बहुत अधिक हो इसमें क्या सन्देह ? और बनारस अपने सुन्दर कपड़ों के लिए युगों से प्रसिद्ध रहा है। बुद्ध के समय यहाँ के बारीक सूती कपड़ों की देश-देशान्तर में ख्याति थी और पीछे अपने रेशम और रेशम के लिए भारत से बाहर बाहर भी प्रसिद्ध हुआ। इन कपड़ों के बनाने वाले यही जुलाहे तो थे। मुसलमानी आक्रमण की पहली अर्द्ध शताब्दी में ही जान पड़ता है उत्तर भारत के सारे तन्तुवाय मुसल्मान

बनारस जुलाहा के नाम से प्रसिद्ध हो गए। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय सारनाथ से लेकर यहां तक का यह भाग बहुत घना बसा हुआ था और उस समय उजड़ने के बाद फिर इसके दिन नहीं लौटे। यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि यहां मुसल्मानों के साथ पंजाब का सा बर्ताव नहीं हुआ नहीं तो एक भी मुसलमान देखने के लिए आंखें तरसतीं।

११ तारीख को सवेरे की ६ मील की टहलाई गाजीपुर सड़क पर थी। इस भूमि में प्राचीन इतिहास की परिचायक सामग्री जगह-जगह अन्तर्हित है इसीलिए मैंने रास्ता बदल-बदल कर टहलना शुरू किया था। कुछ दूर जाने पर कई इनारे के भटके और कितने ही उद्यानगृह थे। धनिक काशीवासियों के उपवन उपनगर में होने ही चाहिए। प्राचीन काल में इसका और भी शौक था। मेरे विद्यार्थी जीवन के समय में लोग अक्सर उद्यान भोज करने के लिए अपनी या दूसरे की बगीचियों में चले जाया करते थे। दूधिया भंग छनती, कंडे पर गेहूं के आटे की बाटी पतली हंडिया में एक पानी में दाल पकती। पक कर तैयार हो गई बाटियों को घी में डुबा दिया जाता। फिर मित्र लोग बैठकर भोजन करते। अब जीवन उतना निश्चिन्त नहीं रहा इसलिए यदि उद्यानगृह श्रीहीन थे तो कोई ताज्जुब नहीं। हालांकि नगर में अब आने-जाने का और अधिक सुभीता है। मोटर में दस मील पहुंचना भी बीस पचीस मिनट का काम है। और आगे सड़क से दाहिने थोड़ा हटकर एक ऊंची जगह देखी। यहां कोई स्तूप रहा होगा, लेकिन विशेष जानने के लिए उसकी खुदाई की जरूरत थी।

सारनाथ में जाड़ों में दूर देशान्तरों के बौद्ध यात्री आया करते हैं। लंका और तिब्बत के यात्रियों से मिलने की मेरी आकांक्षा रहा करती थी। पुरानी मधुर स्मृतियों को इस तरह जागृत किया जा सकता था। हमारे यहां की गर्मियां और बरसात भी दुस्सह होते हैं, इसलिए दूसरे देशों के यात्री वैशाख पूर्णिमा के महापर्व का लोभ होने पर भी नहीं आते।

आज चारों ओर जो स्थिति मैं देख रहा था उसमें बुद्ध का उपदेश

आदीप्त पर्याय" याद आ रहा था। सभी चीजें आदीप्त है, जल रही हैं। पुराना ढांचा जलकर ढह रहा है यह बुरा नहीं, पर नए की नींव पड़ती नहीं दिखलाई देती यह चिंता की बात थी। १० तारीख को मालूम हुआ, आज से पन्द्रह दिन के लिए महाबोधि हाई स्कूल बन्द कर दिया गया। ग्राम पंचायतों के चुनाव कराने के लिए वोटरों की सूची पटवारियों ने जो तैयार की थी उनके संशोधन का काम अध्यापकों को दिया गया है। १० से ४ बजे तक रोज वह इस काम के लिए गाँवों में जाया करते थे। मुझे यह सुनकर अचरज होता था, १० से ४ बजे का तो वह समय है जब किसान घर से अनुपस्थित रह अपने खेतों में काम करते हैं। तो क्या सनो मन की रस्म ही पूरी होगी। आजकल रबी की सिंचाई का समय था, जिसमें जरा सा चूक होने पर किसान को साल भर पछताना पड़ता है। बनारस के पास होने से गाँव के बहुत से लोग दूध नहीं बड़ा या दूसरी चीजें बेचने खरीदने के लिए शहर चले जाते है। इसी समय यह भी पता लगा कि डाल्डा से घी बनाने का उद्योग यहाँ के गाँवों में बड़े जोर शोर से चल रहा है। डाल्डा का वह भस के दूध में डाल देते हैं, फिर कुछ उससे घी और मक्खन तैयार होकर बनारस बिकने जाता है। डाल्डा खान से परहेज करके डालडा को घी के नाम पर खाने वाले लोगों की बुद्धि पर मुझे तरस आता था। उनकी बुद्धि पर और भी, जो डाल्डा बन्द करवाने के लिए कानून बनवाना चाहते हैं। डालडा में विटामिन की कमी हो सकती है, लेकिन वह जहर नहीं है। आदमी के लिए स्निग्ध वस्तु की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति इससे होती है विटामिन की कमी टमाटर या दूसरी चीजें खाकर पूरी की जा सकती है। यदि घी डाल्डा के भाव होता, तो कौन उसे नहीं खाता। घी से आधे दाम में मिलने वाली यह वस्तु मध्य वर्ग के लोगों की बड़ी सहायता कर रही है। आज जिस तरह चाय अतिथि सत्कार का एक सस्ता और सुन्दर साधन है उसी तरह डाल्डा भी है।

पटवारियों ने जैसा मन में आया वैसी वोटर सूची बनाकर तैयार कर दी थी। स्त्रियों के वोट का कोई महत्व नहीं था इसलिए उनके नाम के

दर्ज करने में बड़ी गड़बड़ी की गई थी। गड़बड़ी तो बड़ी जात वालों की धांधली से भी हुई थी। शिक्षा उन्हीं में कुछ है और वही पचायत के महत्व को कुछ जानते भी हैं। वह जानते थे, कि गांव में कहीं कहीं दो तिहाई तक छोटी जाति के लोग बसते हैं। पचायतों में यदि वह अपनी सख्या के अनुसार चुनकर आए तो बड़ी जाति वालों की युगों से स्थापित तानाशाही चली जाएगी। पटवारी भी बड़ी जाति—ब्राह्मण, क्षत्री, लाला—के थे। नाम क्या लिखाया जा रहा है, इसका अर्थ ऐसा उलटा समझाया गया कि लोगों में आशका उठ खड़ी हुई। कोई कहता, कण्ट्रोल में कपड़ा मिलने के लिए नाम लिखा जा रहा है तो बिचारे कहते—"बड़े लोग कट्रोल का कपड़ा पाएँगे, हमें क्या मिलेगा।" यद्यपि मास्टर लोग पचायत के कुछ गुणों को समझाने की कोशिश करते थे लेकिन लोगों की उदासी हटती नहीं थी। अब कुछ छोटी जाति के पढ़े लिखे पचायत के महत्व का समझाने लगे थे, वह भी घूमकर समझाने लगे। कुछ दिनों बाद हवा का रुख पलटा और छोटी जात वाले भी पचायत के लिए खड़े होने लगे। उस समय पचायत के निर्वाचन होने तक ऐसी हवा बदल गई थी, जैसी उससे पहले कभी नहीं देखी गई। बड़ी और छोटी जातियां के सीधे दो दल हो गए थे। बड़ी जाति में ब्राह्मण, क्षत्री लाला (बनिया या कायस्थ) और भूमिहार थे और छोटी जातियों में छूत अछूत सारे लोग। शताब्दियों बाद पहले पहल समाज में इस तरह की स्पष्ट दरार आखो के सामने दिखाई पड़ने लगी। एक तरफ धन अधिकार के स्वामी—शोषक—थे, और दूसरी तरफ उनसे वचित शोषित। आज भी यह दरार मिटी नहीं है, लेकिन जिनके पास धन और प्रभुता है वह भिन्न भिन्न तरह से लोगों की आँखों में धूल झोंकते हैं और शोषितों के नेताओं को खरीदकर अपना काम बनाते हैं। आखिर बहुजन के अपने ही लोग तो शोषकों के सैनिक बनकर अपने भाइयों को हजारों वर्षों से गुलाम रखते आए हैं।

सागर—सागर विश्वविद्यालय से साहित्यिक समारोह में आने के लिए निमत्रण आया। बस होता, तो काम छोड़कर एक सप्ताह का खून करने के

लिए मैं तैयार न हुआ। पर विश्वविद्यालय के अध्यापकों से परिभाषा-निर्माण में सहायता की आशा थी, इसलिए मैंने स्वीकार कर लिया। मैं पहर बाद की छोटी लाइन से प्रयाग पहुँचा। फिर वहाँ से साने के लालच से सागर के लिए प्रथम श्रेणी का टिकट कटवाया। ट्रेनों में मकर मकरांति के लिए गंगा की भीड़ थी। रात भर चलकर ५ बजे सवेरे कटनी पहुँचा। आगे जाने वाली ट्रेन दस ही थी, पौने ११ बजे तक यहीं प्रतीक्षा करनी थी। स्टेशन से बाहर देखा सड़क के दोनों तरफ शरणार्थियों ने चाय मिठाई और दूसरी दूकानें खोल रखी हैं। लल्लन भी साथ था, लेकिन अभी वह माँ के आँचल से बंधा लड़का था। इधर उधर गया नहीं था, यात्रा में कच्चा था। खैर बीना की ट्रेन मिली और हम उससे रवाना होकर पौने ४ बजे सागर पहुँचे। सागर कस्बा है, विश्वविद्यालय स्टेशन से तीन मील पर है। युद्ध के समय अंग्रेजों न सेना के लिए यहाँ बहुत से अस्थायी बरकें बनवाई थीं, उनके लोभ के कारण भी विश्वविद्यालय वहाँ स्थापित किया गया। लेकिन, ये मकान कितने दिनों तक ठहरेंगे और यदि इसी लोभ के कारण और भी मकान वहीं बनाने लगें तो इसका अर्थ है जगह पसन्द करने में बुद्धि से काम नहीं लिया गया। विश्वविद्यालय में उस समय सात सौ छात्र छात्राएँ पढ़ रहे थे। छात्रावास का प्रबन्ध नहीं था, इसलिए बाहर से विद्यार्थी यहाँ कैसे आ सकते थे? हम प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी जी के यहाँ ठहरे।

१४ जनवरी को सवेरे तीन मील उस जगह तक जबलपुर वाली सड़क पर टहलने गए, जहाँ से कानपुर और दमोह की सड़कें अलग होती हैं। पहले ही चालीस घरों का एक छोटा सा गाँव बटेरिया मिला। बजरंग (महावीर) के स्थान पर १०वीं शताब्दी की एक छोटी सी पत्थर की मूर्ति मिली। वहाँ छोटा सा शिवलिंग और कुछ बड़ा सा नादिया भी मौजूद था। पत्थर की मूर्ति द्विभुज थी, और उसका कटि से ऊपर का ही भाग बचा था। एक हथेली छाती पर और दूसरा खड्गधारी की तरह ऊपर उठी थी। शायद यह पुरुषमूर्ति ध्यान मुद्रा में हो। लेख भी था, जिसमें केवल स पढ़ा

जाना था। इसका अर्थ हुआ, बहरिया गांव कम से कम दसवीं सदी में मौजूद था।

ढाई बजे हिंदी परिषद् का और रात को साढ़े ७ बजे छात्र संघ का भी उद्घाटन करते हुए मुझे भाषण देना पड़ा।

उस दिन शाम को सागर की बस्ती की ओर गए। कचहरी के पास विशाल सरोवर है जिसके ही नाम पर बस्ती का नाम सागर पड़ा। इस सागर को किसने खुदवाया, इसका पता नहीं। इसे अपौरुषेय मानना चाहिए। सरोवर काफी पुराना है और किनारे पर मिट्टी पड़ने से पानी सूखता गया है। तापखाना अफसरों के भोजनालय के बगल के हाल में चार नये बने स्तूपों में चिपकाई गई पत्थर की मूर्तियां देखीं। इसमें शक (ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी) से बारहवीं शताब्दी तक की मूर्तियां थीं। सागर दक्षिण के केन्द्र में अवस्थित है। समुद्रतल से दो हजार फुट से भी ऊँचा होने के कारण यहां की गर्मी असह्य नहीं होती। यहाँ लू नहीं चलती। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह स्थान बहुत अच्छा है। विश्वविद्यालय को यहां अभी अस्थायी तौर से ही रखा गया है। उसे पथरिया पहाड़ी पर ले जाना चाहते हैं, जहां प्राकृतिक सौन्दर्य भी अच्छा है और पानी की चिंता भी नहीं है।

उस दिन विश्वविद्यालय के वनस्पति उद्यान, भूगर्भशास्त्रीय प्रयोगशाला और दूसरी चीजें देखीं। नया नया विश्वविद्यालय खुला था जिसके लिए श्री हरिसिंह गौड़ ने अपनी कई करोड़ की सम्पत्ति दी थी। अपनी कमाई का इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता था? हरिसिंह का जन्म यहीं हुआ था, इसलिए उनकी आकांक्षा थी, कि वह विश्वविद्यालय उनकी जन्मभूमि में हो बने। सागर विश्वविद्यालय केवल शिक्षालय ही नहीं है बल्कि मध्य प्रदेश के हिंदीभाषी भाग की शिक्षा संस्थाओं का परीक्षालय भी है। १५ तारीख को समावर्तन संस्कार हुआ, जिसमें भाषण के लिए केन्द्रीय मन्त्री श्री जयरामदास दौलतराम आए। बिल्कुल अंग्रेजी बाना बरत था, लेकिन जयरामदास हिंदी में बोले। अंग्रेजी को जरा भी नीचे उतारना बूढ़े हरिसिंह का बर्दाश्त नहीं हो सकता था लेकिन, करें क्या?

विश्वविद्यालय वाले भी इतने बडे दाता को नाराज करना नही चाहते थे। जयरामदास जी के भाषण में इस अंचल में जूट की (पाट) खेती के लिए प्रसन्नता और उनकी उन्नति के लिए सुझाव बतलाये गए। श्रोता इसे आश्चर्य से सुन रहे थे। सागर ऐसी जगह है जहाँ न जूट की खेती होती है, और न उसके विकास की कोई गुंजाइश है। लेकिन मन्त्री को इसका दोष क्या दिया जाए? बराबर ही उन्हे कही न कही सभाओ में उद्घाटन, समावर्तन संस्कार या किसी दूसरे समारोहो में बोलने के लिए कहा जाता है। वह अपने देह को वहाँ किसी तरह पहुँचा सकते है लेकिन सभी जगह के लिए भाषण तयार करने लगे तब तो हो गया। किसी ने भाषण तैयार कर दे दिया होगा, और वह वहाँ पढ दिया गया। और भी मन्त्रियों को ऐसा करते देखा गया है। उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री ने तो एक बार हमीरपुर के भाषण को झाँसी में और झाँसी के भाषण को हमीरपुर में पढ़ दिया जिसे सुनकर लोगो को बडा आश्चर्य हुआ। उसी दिन शाम को नगर में एक सार्वजनिक सभा में बोलना पड़ा और हिन्दी परिषद् ने मुझे और प० रविशंकर शुक्ल को मान पत्र दिए।

इधर से दो ही ट्रेनें जाती हैं इसलिए बड़ी मुश्किल से भाग दौड़कर रात साढे ११ बजे की ट्रेन पकडी। रास्ते में तीन घटे लेट थी, इसलिए प्रयाग जाने वाली ट्रेन के मिलने से निराश हो गए। १६ तारीख को ६ बजे हम कटनी पहुँचे। सारे दिन के लिए कटनी में पडे रहने के सिवा और कोई चारा नही था। कटनी हमारे देश के अद्भुत इतिहासवेत्ता और पुरातत्वज्ञ डा० हीरालाल की जन्मभूमि है। उन्होने कितनी ही बार मुझे यहा आने के लिए निमंत्रित किया था। डा० जायसवाल और डा० हीरालाल समाधर्मा थे। संयोग था जो दोनो एक ही बिरादरी के रत्न थे। उनके जीवन में मैं उनके घर नहीं जा सका। अब इस अवसर से लाभ उठाकर मैंने वहाँ जाना जरूरी समझा। कल्चुरी इतिहास के वह अद्भुत मर्मज्ञ थे। अफसोस कि वह अपनी ज्ञानराशि को कागज पर उतार नही सके। उनका पुस्तकालय देखा। हीरालाल जी के भतीजे अब उसके स्वामी हैं। वह भी सोच रहे थे

और मैंने भी जोर दिया, कि इन पुस्तकों को सागर विश्वविद्यालय में जाना चाहिए, जहां इनका सदुपयोग हो सकता है और जहां ही इनकी और इनके संग्राहक के नाम की रक्षा हो सकती है। लोगों को मालूम हुआ तो साहित्य प्रेमियों की गोष्ठी जमा हो गई, जिसमें बोलना पड़ा। अन्त में रात को सार्वजनिक सभा में बोला। कितनी बार कटनी से गुजरा लेकिन कटनी शहर को देखने का अबकी बार ही मौका मिला। यहां पास में सीमेंट के कारखाने थे, और भी औद्योगिक सम्भावनाएं हैं। बीना प्रयाग जबलपुर बिलासपुर की रेल्वे लाइनों का जंक्शन होने से इसे यातायात के बहुत सुभीते प्राप्त हैं।

१७ जनवरी को सवेरे ६ बजे पहुंचकर श्रीनिवासजी के यहां गए। आज ही सारनाथ चला जाना था। कल स्थायी समिति की बैठक हुई। सम्मेलन में दल बन्दी कुछ उग्र रूप ले रही थी, अधिकारारूढ़ दल पैसे से लाभ उठाना चाहता था। प० बल्भद्र मिश्र बड़े खरे और बड़े आदमी थे बस उन पर ही आशा थी। परिभाषा कोश के काम में भी अड़चन की संभावना थी, लेकिन भावी का ख्याल करके अभी से हाथ पर छोड़ देना मैंने पसन्द नहीं किया, और निश्चय किया, कि जब तक काम चल सकता है तब तक निभाएंगे।

शाम की ६ बजे की गाड़ी पकड़ी। नाटककार प० लक्ष्मीनारायण मिश्र भी उसी ट्रेन से चल रहे थे। उनका महाकाव्य 'सेनापति कर्ण' और आगे बढ़ा था। ट्रेन में उसके कितने ही स्थल उन्होंने सुनाए। बहुत अच्छे लगे। शिकायत थी तो यही कि क्यों मिश्रजी जल्दी समाप्त क्यों नहीं कर देते। सारनाथ ११ बजे रात को पहुंचा। इस समय सामान ले जाने वाला आदमी कहाँ से मिलता? अपने सामान को उठाकर धर्मशाला तक पहुंचाना आसान नहीं था। किसी तरह रास्ते की छावनी के दरवाजे तक पहुंचे, वहीं चबूतरे के बाहर सो गये। १८ को सवेरे लल्लन को भेजकर आदमी बुलवाया, तब सामान लेकर टूरिस्ट बंगले पर पहुंचे। लल्लन को चिट्ठी मिली मां बीमार थी, वह चला गया। जब फिर लिपिक की समस्या उठ खड़ी हुई।

श्री अवधविहारीसिंह सुमन ने आने की इच्छा प्रकट की थी, उन्हें भी आने के लिए चिट्ठी लिख दी। इस बीच में महाकवि सभा के पुस्तकालय से अपेक्षित पुस्तकें लेकर देखते रहे। स्वामी सच्चिदानन्दजी से भी बात होती रहती। उनके निराशावाद को जवानी हटाया नहीं जा सकता था, लेकिन तो भी कोशिश करता था। वह अपने से भी अधिक दुनिया से निराश थे। कह रहे थे धर्म पर अब किसी की श्रद्धा नहीं है सबसे भारी वचना देखी जाती है। उन्हें फिकर थी, कैसे जल्दी जीवन समाप्त हो जाए। मैं नासमझता हूँ, फिक्र होना चाहिए जीवन की जीवन समाप्ति की क्या फिक्र? अबकी ग्राम पंचायतों के चुनाव के बारे में जो बातें सुनने में आईं, उनसे मालूम हुआ, कि हवा पलटी हुई है। कम से कम शहर के पास वाले इन गाँवों में पिछड़े लोगों में कुछ आरम्भ चेतना आ गई है। एक गाँव में ११ पंचों में ४ अछूतों में से थे (अछूतों के लिए पहले ही से सीट रिजर्व थी) बाकी सात में से भी छूत-अछूत दोनों शोषित एक जैसी श्रेणी वाले रहे थे।

२० जनवरी को सबेरे सुमन जी आ गए। लिखने का काम फिर शुरू हो गया और पहले से भी अच्छी तरह।

बक्सर—बक्सर में जिला हिंदी सम्मेलन हो रहा था, जिसका सभापति बनकर मुझे जाना था। २१ तारीख को एक्स्प्रेस से चलकर बनारस छावनी में २ बजे दिन की ट्रेन पकड़ी और हम शाम साढ़े ६ बजे के करीब बक्सर पहुँच गए। सुमनजी इसी जिले के रहने वाले थे। मैं बक्सर में एक बार अपनी जल यात्रा के सम्बन्ध में आया था जिसको २६ वर्ष हो चुके थे। उस समय रेलों की यात्रा सुगम नहीं थी, खासकर तीसरे दर्जे की। पहले दर्जे में भी एक पुराने सेठ सफर कर रहे थे जो सारा घर लादकर चल रहे थे। सामान के मारे वहाँ हिलने डोलने का अवकाश नहीं था। हम सम्मेलन से एक दिन पहले पहुँचे थे। अभी पण्डाल भी तैयार नहीं हुआ था। २६ वर्ष पहले टूट गया आश्रम की याद आने लगी। वहाँ भी पण्डाल बनने में ऐसी ही ढिलाई हुई थी और एक बार तो लगा था शायद मंच का चबूतरा बन ही न पाए। महाराजकुमार शुभाकर सिंह सम्मेलन के कर्ता

घता थे, उनका पता ही नही था। हमे उसी दिन आना चाहिए था। खैर, जाकर डाकबगले म ठहर गय। बक्सर म भी एक गिरा पडा पुराना दुग है, जिसके पास दूर तक पुरानी आबादी के अवशेष है। साथ म सुमन जी और दूसरे भी थे। पुराने अवशेष म जगह जगह कुछ मन्दिर और कुछ ढहत से मकान थे। चरित्रवन क्या नाम पडा लोग इसे चितरथवन (स्वर्गोद्यान) बतलाते है। इधर आचारिया के भी कुछ स्थान है। उत्तर को तो वरागियो ने सभाला था, फिर यह रामानुजी आचारी कहा स आ धमके ? सूयपुरा के राजा और डोमाराय के मन्दिर जमीदारी उठने के पहले ही ढहने लगे थे अभी न जाने किन किन को ढहना होगा। गगा के किनारे किनारे नाव से चले। जगह-जगह एक मेखला वाली कुइयो को दिखलाकर हमारे साथी बतला रहे थे विश्वामित्र ऋषि के जिस यज्ञ की रक्षा के लिए राम लक्ष्मण आए थ उस यज्ञ के यही कुण्ड हैं। मेरे लिए हँसी रोकना मुश्किल हो गया था। इतनो कुइयो की यज्ञ के लिए क्या आवश्यकता थी ? मैंने बतलाया कि यह यज्ञ-कूप नही, गूथकूप हैं। उस समय के लोग हमसे ज्यादा सफाईपसन्द थे, इसलिए पास पडोस को गन्दा न कर अपन घर के भीतर इन्ही सडासो मे पाखाना फिरा करते थे। श्रोता बडे हताश हुए। विश्वामित्र के यज्ञ की बडी मेहनत से तैयार की गई निशानी दूसरी ही साबित हुई।

२२ तारीख को टहलते दो मील पूर्वोत्तर कतकौलिया गए। यही पर अग्रेज कम्पनी न पलासी के युद्ध क सात वप बाद दूसरा निर्णायक युद्ध जीता था जिसका स्मारक यहाँ खडा था। स्मारक पर लिखा था—"अवध नवाब वजीर शुजाउद्दौला के ऊपर मेजर हक्टर मनरो के बक्सर के युद्ध मे विजय का स्मारक, जो कि इस मदान म २३ अक्तूबर १७६४ को लडी गई, और जिसके द्वारा अग्रेजो ने अन्तत बगाल बिहार और उडीसा की दीवानी प्राप्त की।" (To commemorate the victory of Major Hector Munrow over Shuza u-daulo Nawab Wazir of Oudh in the battle of Buxar fought on this field on 23rd October 1764 A D by which the Diwani of Bengal, Bihar and Orissa was finally won for the British)

स्मारक के चारों ओर अंग्रेजी, हिन्दी उर्दू और बंगला में यह लेख लिखा हुआ है। इस स्मारक पर १५ अगस्त १९४७ को अंग्रेजों के जाने, जनता के युद्ध और कुंवरसिंह के पराक्रम की बातें लिखी जा सकती हैं। हमारे ठहरने के बंगले के नातिदूर अंग्रेजों का पुराना कब्रस्तान था, जिनमें १७८४ ई० तक की पुरानी कब्रें थीं। चौकीदार को ४२ रुपया महीना मिलता था मुर्दों की रखवाली के लिए कितने दिनों तक चौकीदार यहाँ रखा जाएगा?

३ बजे से सम्मेलन आरम्भ हुआ। बाबू दुर्गाशंकर जी ने अध्यक्षीय भाषण दिया और मैंने सभापति का मौखिक भाषण। रात को संगीत-मंडली का आयोजन था। बनारस के प्रख्यात तबलावादक कंठे महाराज का तबला सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उस्तादी कलाबाजियों से मुझे चिढ़ है इसलिए उसका रस नहीं ले सका। बक्सर में बानरों के मारे लोगों का नाक में दम था। कई साल पहले किसी सबडिवीजनल अफसर ने कहा था कि बानरों को यहाँ से हटाना चाहिए। उस समय धर्म धुरंधरों ने हनुमानजी की सेना के साथ ऐसे अत्याचार के होने को पसन्द नहीं किया और विरोध के डर से अफसर ने ख्याल छोड़ दिया। तब से सूद दर सूद के साथ बानरों की संख्या बढ़ी है। अब बक्सर शहर से उनकी आबादी कम नहीं है। खपड़ैलें सारी बन्दरों के मारे टूट चुकी हैं। पहले रात को बन्दर पेड़ पर दुबक के सोए रहते थे, अब वह रात को भोजन की खोज में निकलते हैं। जरा सी गफलत हुई कि गूँधा आटा या जो भी हाथ लगा उसे ले भागते हैं। कई छोटे बच्चों को उठा ले भागे भी हैं। पास-पड़ोस के गाँव वाले किसानों की फसल की खैरियत नहीं थी। कितने ही खेतों के बीज को ही वह चुनकर खा जाते और जमने पर हनुमानजी की सारी पल्टन वहाँ डेरा डाल देती। मैंने अपने भाषण में वानर यज्ञ करने की बात की। इन्हें सिर्फ एक जगह से दूसरी जगह छोड़ने से काम नहीं चलेगा, बल्कि पूरा वानरमेध ही बचने का एक मात्र रास्ता है। जान पड़ता है, पुराने धर्म धुरंधरों का कोई नामलेवा भी नहीं रह गया है नहीं तो वानर-यज्ञ के विरोध में आवाज तो उठती।

सवेरे के वक्त किरतपुरा की ओर टहलने गए। सुमनजी भी साथ थे। सुमनजी राजनीतिक कर्मी और भोजपुरी के ग्रंथकार हैं। किरतपुरा में सकरवार भूमिहार रहते हैं, वह अपने को फतेहाबाद से आया बतलाते हैं। भूमिहार एक ऐतिहासिक जाति है, इनकी परम्पराओं से इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। लेकिन यहाँ तो किसी के जीवन भर का काम है। एक एक गाँव में जाकर उनके उद्गम-स्थान और पुरानी मौखिक परम्पराओं को जमा करना पड़ेगा, और हजारों पृष्ठ लिख जाने पर कुछ ऐतिहासिक तत्व निकलेंगे।

२३ जनवरी इतवार का दिन सम्मेलनों की धूम का था। कहानी-सम्मेलन, राजनीति इतिहास सम्मेलन शाहाबाद भोजपुरी-सम्मेलन, कवि-सम्मेलन सभी होते रहे। भोजपुरी सम्मेलन का उद्घाटन मुझे करना पड़ा, और सभापति परमहंसराय थे। डा० उदयनारायण तिवारी भी थे। कवियों में बाहर से आने वाले थी बच्चनजी और बिस्मिल इलाहाबादी विशेष तौर से उल्लेखनीय थे। दूसरे कवियों ने अपनी कविताएँ पढ़ीं, चार घंटे तक सम्मेलन रहा। बच्चनजी की कविताओं का मैं बहुत प्रशंसक हूँ सर्वग्राह्य भाषा में कविता करना जानते हैं। वह संस्कृत से लदी हुई भाषा के मोह में नहीं पड़े, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। संस्कृत लादने और तुक जोड़ने से अच्छी कविता नहीं होती। बिस्मिलजी के शेर बड़े फड़कते हुए थे, और उनके कहने का ढंग और भी अच्छा था। मुझे तो उसमें ईरानियों के अपने फारसी गजलों के पढ़ने का ढंग भासित होता था—बिस्मिल शायद कभी फारसी के मुशायरे में शामिल नहीं हुए होंगे, ईरान जाने की तो बात ही क्या। बिस्मिलजी का निमंत्रण अब भी इंतजार कर रहा है। निरालाजी ने अपने मांस पाचन की कला का एक से अधिक बार प्रयोग मेरे लिए किया था। बिस्मिलजी जब तारीफ करते थे तो मुंह में पानी भर आता था। सभी खाने वाले मांस की पहचान नहीं रखते। बकरे का मांस खास-खास जगह का विशेष महत्व रखता है, फिर उसके पकाने में भी विशेष विधान है। बिस्मिलजी ने कहा कि एक दिन आइए मैं गोश्त बनाकर

खिलाऊँगा। तब से इलाहाबाद पच्चीसा मतबे गया, महीना रहा लेकिन कभी नदिया-नाव संयोग नहीं बना, कि मैं बिस्मिल के हाथ का गोश्त खाता।

बक्सर के सम्मेलन पर कम पसा नहीं खर्च किया गया था, लेकिन कहा कोई व्यवस्था नही थी। भोजन समय पर नही मिलता था, जो मिलता था, वह भी ऐसा ही वसा। अन्त म ता हद कर दी गई। १२ बजे तक कवि सम्मेलन होता रहा। अतिथियो को स्टेशन पर जाकर गाड़ी पकडनी थी लेकिन कोई खोज खबर लेने वाला नही था। यह ऐसी उपेक्षा थी, कि उनम से कोई फिर बक्सर आने का नाम नही ले रहा था। दिन म छुट्टी होती तो एक्का भी खोजने पर मिल जाता सामान ले जाने वाले आदमी भी मिल जाते लेकिन आधी रात को क्या किया जा सकता था। मैं इसकी तुलना मरठ से कर रहा था। भोजन का कितना सुन्दर प्रबन्ध महिलाओ ने किया था। बिस्मिल ने अपने गुरु नूह नारवी की बात दोहराते हुए कहा —कि सात आदमियो की अन्त म बुरी गति होती है जिनम कविता पढ चुके कवि और विदा हुए बराती भी शामिल हैं। लेकिन मैं समझता हूँ, कि उस दिन के कारण बक्सर के प्रति यह भाव नही रखना चाहिए। आखिर बक्सर की वही पीढी सदा नही रहेगी। क्या हरेक पीढी पहली के पीढी क दुगुणा को ढोती है ?

सारनाथ— रात को सभी कवि और दूसरे अतिथि स्टेशन पर बडे ट्रेन की प्रतीक्षा करते घटटे मिटठे या दो मे बक्सर सम्मेलन की आलोचना कर रहे थे। इसी समय रात हा का ट्रेन मिल गई। बनारस छावनी म रिक्शा किया और सुमनजी के साथ मैं ६ बजे से पहले ही सारनाथ पहुँच गया। पढ्ना और लिखना ही काम था। सुमनजी बडे मुस्तद थ। हर वक्त काम म जुटने के लिए तयार थे लिखत भी साफ थे और हिदी की योग्यता के कारण गल्ती करन क लिए बहुत गुजाइश नही थी। मैं अब 'बौद्ध सस्कृति' के पूरा करन के लिए निश्चित था।

इस समय चीन म जो घटनाएँ घट रही थी उसके बार म सभी जगह

भारी चर्चा थी। चीन में कम्युनिस्ट च्याग काई शेक को भगाने में सफल हो चुके थे। साफ मालूम हो रहा था, चीन भी रूस के रास्ते पर जाने वाला है। उस समय तक जनसंख्या ४० ४५ करोड बतलाई जाती थी, जो सुव्यवस्थित जनगणना के बाद ६० करोड सिद्ध हुई। इतनी विशाल जनता कम्युनिज्म के पथ पर जाए, इससे दुनिया भर के प्रतिगामियों की नींद हराम न हो यह कैसे हो सकता था? कितने ही समझते हैं—कि कम्युनिज्म (साम्यवाद) को छोड मुक्ति का और कोई रास्ता नहीं है। वह मेरी तरह नवीन चीन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। जो अपने स्वार्थों के कारण विरोधी थे, वे हर तरफ हाथ पैर मारते प्रवाह को रोकना चाहते थे, लेकिन क्या टिड्डी गिरते आसमान को अपने पैरों पर रोक सकती है? इन दोनों के बाद एक तीसरा लग रहा था—इडोचीन और बर्मा को भी अधिक दिनों तक कम्युनिस्ट बनने से नहीं रोका जा सकता। फिर भारत के भाग्य में भी वही है। भारत के कर्णधार अन्तराष्ट्रीय राजनीति की फिकर में डूबे हैं, और राष्ट्र के भीतर उनके पास सिर्फ दमन एकमात्र हथियार है। हैदराबाद में हजारों किसानों के लड़कों के खून से वे हाथ रंग रहे थे। देश की आर्थिक समस्याओं के सामने, मालूम होता है उन्हें लकवा मार गया था। हरेक नेता अपने और अपने बन्धु मित्रों का घर भरने में लगा हुआ था। सेठ इस लूट में सबसे आगे हैं, जिनको हर तरह से खुश रखने की कोशिश हमारे नेता कर रहे थे। इस लूट का परिणाम आर्थिक संकट के भयंकर भँवर में जनता को पड़ना ही था। वह मूक रह अपने असन्ताप के खून के आँसुओं को पी रही थी। अनाज की समस्या सबसे कड़ी थी किसी जगह जाने पर पहले इसकी ओर ध्यान जाता था और किसी का महमान बनना रुचिकर नहीं मालूम होता था। क्या अन्न की समस्या को हल नहीं किया जा सकता? आज सात वर्ष बाद भी वह समस्या हल हुई नहीं कही जा सकती। बाहर से अन्न अब नाममात्र का मँगाया जाता है, पर उसका मतलब यह नहीं है, कि सबको शरीर यात्रा के लिए आवश्यक अन्न मिल रहा है। हमारे आधे लोग आधा पेट खाने और भूखा रहने के लिए तैयार हैं,

खिलाऊँगा। तब से इलाहाबाद पच्चीसो मतव गया महोना रहा, लेकिन कभी नदिया-नाव सयाग नहीं बना, कि मैं बिस्मिल के हाथ का गो त खाता।

बक्सर के सम्मेलन पर कम पसा नही खच किया गया था, लेकिन वहाँ कोई व्यवस्था नही था। भोजन समय पर नही मिलता था, जो मिलता था वह भी ऐसा ही वैसा। अन्त म तो हद कर दी गई। १२ बजे तक कवि सम्मेलन होता रहा। अतिथियो को स्टेशन पर जाकर गाडी पकडनी थी लेकिन कोई खोज खबर लेने वाला नही था। यह ऐसी उपेक्षा थी, कि उनम से कोई फिर बक्सर आने का नाम नही ले रहा था। दिन म छुट्टी होती, तो एक्का भी खोजने पर मिल जाता सामान ले जाने वाले आदमी भी मिल जाते, लेकिन आधी रात को क्या किया जा सकता था। मैं इसकी तुलना मेरठ से कर रहा था। भोजन का कितना सुन्दर प्रबन्ध महिलाओ ने किया था। बिस्मिल ने अपने गुरु नूह नारवी की बात दोहराते हुए कहा—कि सात आदमियो की अन्त म बुरी गति होती है जिनम कविता पढ चुके कवि और बिदा हुए बराती भी शामिल हैं। लेकिन मैं समझता हूँ, कि उस दिन के कारण बक्सर के प्रति यह भाव नही रखना चाहिए। आखिर बक्सर की वही पीढी सदा नही रहगी। क्या हरेक पीढी पहली के पीढी के दुगुणा कने होती है?

सारनाथ—रात को सभी कवि और दूसरे अतिथि स्टेशन पर बठ ट्रेन की प्रतीक्षा करते खटटे मिटठे ना दा मे बक्सर सम्मेलन की आलोचना कर रहे थे। इसी समय रात ही को ट्रेन मिल गई। बनारस छावनी म रिक्शा किया और सुमनजी के साथ मैं ६ बजे से पहले ही सारनाथ पहुँच गया। पढना और लिखना ही काम था। सुमनजी बडे मुस्तद थे। हर वक्त काम म जुटने के लिए तैयार थे लिखत भी साफ थे और हिन्दी की योग्यता के कारण गल्ती करने के लिए बहुत गुंजाइश नही थी। मैं अब बौद्ध संस्कृति' के पूरा करने के लिए निश्चिन्त था।

इस समय चीन म जो घटनाएँ घट रही थी, उसके बारे म सभी जगह

भारी चर्चा थी। चीन में कम्युनिस्ट च्याग काई शेक को भगाने में सफल हो चुके थे। साफ मालूम हो रहा था चीन भी रूस के रास्ते पर जाने वाला है। उस समय तक जनसंख्या ४० ४५ करोड़ बतलाई जाती थी, जो सुव्यवस्थित जनगणना के बाद ६० करोड़ सिद्ध हुई। इतनी विशाल जनता कम्युनिज्म के पथ पर जाए, इससे दुनिया भर के प्रतिगामियों की नींद हराम न हो यह कैसे हो सकता था ? कितने ही समझते हैं—कि कम्युनिज्म (साम्यवाद) को छोड़ मुक्ति का और कोई रास्ता नहीं है। वह मेरी तरह नवीन चीन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। जो अपने स्वार्थों के कारण विरोधी थे, वे हर तरफ हाथ-पैर मारते प्रवाह को रोकना चाहते थे, लेकिन क्या टिड्डी गिरते आसमान को अपने पैरों पर रोक सकती है ? इन दोनों के बाद एक तीसरा वर्ग रहा था—इंडोचीन और बर्मा को भी अधिक दिनों तक कम्युनिस्ट बनने से नहीं रोका जा सकता। फिर भारत के भाग्य में भी वही है। भारत के कर्णधार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की फिक्र में दुबले हैं और राष्ट्र के भीतर इनके पास सिर्फ दमन एकमात्र हथियार है। हैदराबाद में हजारों किसानों के लड़कों के खून से वे हाथ रंग रहे थे। देश की आर्थिक समस्याओं के सामने मालूम होता है उन्हें लकवा मार गया था। हरेक नेता अपने और अपने बंधु मित्रों का घर भरने में लगा हुआ था। सेठ इस लूट में सबसे आगे हैं, जिनका हर तरह से खुश रखने की कोशिश हमारे नेता कर रहे थे। इस लूट का परिणाम आर्थिक संकट के भयंकर भँवर में जनता का पड़ना ही था। वह मूक रह अपने असंताप के खून के आँसुओं को पी रही थी। अनाज की समस्या सबसे बड़ी थी किसी जगह जाने पर पहले इसकी ओर ध्यान जाता था और किसी का महमान बनना रुचिकर नहीं मालूम होता था। क्या अन्न की समस्या को हल नहीं किया जा सकता ? आज सात वर्ष बाद भी वह समस्या हल हुई नहीं कही जा सकती। बाहर से अन्न अब नाममात्र का मँगाया जाता है, पर उसका मतलब यह नहीं है, कि सबको शरीर यात्रा के लिए आवश्यक अन्न मिल रहा है। हमारे आधे लोग आधा पेट खाने और भूखा रहने के लिए तैयार हैं,

इसीलिए यह झूठी 'अन्न में स्वावलम्बन की बात है।"

२६ जनवरी को १६ १७ वर्ष बाद सिंहल भिक्षु भदन्त देवानन्द स्थविर मिले। अब बहुत वृद्ध हो गए थे। वह मुझसे संस्कृत पढ़ने वाले उन विद्यार्थियों में थे जो नियमपूर्वक समय देते थे, अपने पढ़ने में भी और मुझे पालि पढ़ाने में भी। भारत की तीर्थयात्रा के लिए अकेले निकले थे। अपनी मातृभाषा सिंहली, पालि और संस्कृत के अतिरिक्त बहुत थोड़े से हिन्दी के शब्द जानते थे, उन्हीं के सहारे कलकत्ता से सारनाथ पहुंच गए। सिंहल में यद्यपि लाखों भारतीय रहते हैं, लेकिन सभी तमिल भाषाभाषी हैं इसलिए उनके सम्पर्क से हिन्दी जानने का सुभीता नहीं है। उत्तरी भारत के मजूर कलकत्ता बम्बई तक छाए हुए हैं, द्वीपान्तरों में भी लाखों की संख्या में चले गए हैं, पर पड़ोस के मद्रास के सस्ते तमिलभाषी मजदूर सैकड़ों वर्षों से वहाँ आते रहे इसलिए उत्तरभारतीयों की गति वहां नहीं हुई।

२७ जनवरी को सबेरे टहलने के लिए हम लमही-लल्लाम की ओर गए जो सारनाथ से दो ढाई मील पश्चिम है। लालों (कायस्थों) की बस्ती होने से इसको लमहे-लल्लान भी कहते हैं। अमर कथाकार प्रेमचन्द की यह जन्मभूमि है। यद्यपि काम के सुभीते के लिए वह बनारस में रहते थे, लेकिन अपनी लमही से उनका बड़ा प्रेम था। इसलिए दोमंजिला मकान बनवाया था। अब छठे छमाहे कभी कभी शिवरानी देवी आ जाती हैं। अमृत और श्रीपति के बारे में तो लोग शिकायत करते थे कि वह कभी नहीं आते। गाँवों में पैदा हुए योग्य पुरुष इसी तरह अपने गांवों का त्याग कर चले जाते हैं लेकिन करें क्या। हमारे गाँवों में सांस्कृतिक जीवन बिताने का कोई साधन नहीं है, और नगरों में उस प्रकार का सुभीता है। प्रेमचन्द जी के दोनों पुत्रों का जब बनारस से भी काम नहीं चला तो प्रकाशन की आसानी देखकर वे प्रयाग चले गए। शिवरानी जी अब भी बनारस ही में रहती हैं। लमही पुराना गाँव मालूम होता है, यह उसके विचित्र नाम से भी पता चलता है और वहाँ पर १०वीं ११वीं शताब्दी

की एक छोटी सी खण्डित स्त्री मूर्ति का सिर भी इसी को बतला रहा था, जो कि अब पटना म्यूजियम में है लौटते वक्त बडहरवा बाबा के नाम से खडी एक गुप्तकालीन छोटी सी बुद्ध मूर्ति देखी। सारनाथ के आसपास सौ वर्ष पहले सैकडो मूर्तियाँ रही होगी। अब कही कही उनमे से कुछ बच रही है। इन्ही के पास मढवा गाव है, यह भी अपने नाम से प्राचीनता को बतलाता है।

उसी दिन ल्हासा के जेनरल नोगाङ अपनी पत्नी पुत्र, बहिन भाजे और परिचारको के साथ सारनाथ आए। चीन मे चाङ काई शेक का सफाया हो रहा था। यह निश्चित ही था, कि तिब्बत भी चीनी गणराज्य का अभिन्न अग बनेगा। चाङ काई शेक के रहते यदि चीन ऐसा करता, तो पश्चिमी साम्राज्यवादियो को कोई उज्र न होता। लेकिन, कम्युनिस्ट चीन आ जाए इसे अमेरिका और इगलैड बर्दाश्त करने के लिए तैयार नही थे। उन्होने अपने आदमी अब भी वहा बठा रखे थे, जो अब भारत के भीतर से ही हाकर जा सकते थे। तिब्बत के भी जागीरदार और धनिक कम्युनिज्म के साथ रहने के लिए तैयार नही थे, इसलिए वहा के कुछ प्रभावशाली लोगो का प्रतिनिधि मण्डल अमेरिका और इगलैड दोहाई देने के लिए गया था। जेनरल नोगाङ इसी प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य थे। अमेरिका, इगलैड फ्रास होकर जब वे बम्बई मे उतरे, तो उनके स्वागत के लिए सारा घर गया हुआ था। नोगाङ-परिवार तिब्बत का सबसे धनी और सबसे पुराना सामत परिवार है। उनके पिता अब भी जीवित थे यद्यपि स्वच्छाचार को रखकर बाद मे पत्नी ने घर से दूध की मक्खी की तरह निकाल दिया था। जेनरल नोगाङ् का बडा भाइ ल्हासा सरकार के चार मत्रियो मे सबसे प्रभावशाली मत्री था, सबसे छोटा भाई भिक्षु था। ल्हासा की यात्राओ मे यह परिवार हमेशा मेरी सहायता के लिए तैयार रहता यह कहने की जरूरत नही, कि इस परिवार से मेरी घनिष्ठता थी। ल्हासा शहर के केन्द्र मे उनका लम्बा चौडा और बहुत ऊचा प्रासाद है। ल्हासा निवास मे स्नान के लिए मैं प्रति सप्ताह उनके यहाँ जाया करता था। पन्द्रह वर्ष बाद मैं

उनसे मिल रहा था बहुत-सी बातें जाननी सुननी थी।

पश्चिमी साम्राज्यवादी बहुत चिन्तित थे, और चाहते थे कि किसी तरह तिब्बत चीन में विलीन न हो। पर चाहने से क्या होता है? चाहने मात्र से चीनी मुक्ति सेना का तिब्बत में आना रुक थोड़े ही सकता था? तिब्बत के पास न कोई निश्चित सेना थी, न गिनने लायक हथियार और न पैसे ही। पश्चिमी साम्राज्यवादी पैसा और हथियार देने के लिए तैयार थे लेकिन उनको इस्तेमाल कौन करता? और यह सहायता भी तिब्बत तभी पहुँच सकती थी, जब भारत सहमत होता। पश्चिमी साम्राज्यवादी विशेषकर इंग्लैंड अब भी समझता था कि भारत हमारे प्रभाव में है, वह हमारी बात मानेगा। इसलिए हमारे नेताओं को बहुत ऊँचा नीचा समझाता रहा— तिब्बत में जो विशेषाधिकार हमने प्राप्त किए हैं उन्हें हमने तुम्हें दे दिया है। यह दो सौ वर्षों की कमाई है इसे आसानी से कम्युनिस्टों के हाथ में न जाने दो। तुम्हारे ऊपर कोई आर्थिक बोझा नहीं पड़ेगा। पैसे और हथियार हम देते हैं आदमी तुम दो। लेकिन भारतीय नेता क्या भाँग खाए हुए थे कि आधे आसमान पर इस इलाके देश में अपने आदमियों को भेजकर कटवाते। जितनी सेना भेजते उसमें दून तिगुन मजदूरों को सामान ढोने में लगाना पड़ता। दस बीस हजार सेना से वहाँ कुछ काम भी नहीं बनता। चाऊ-आई-तव की लाखों की सेना जिसके सामने धूप में मक्खन की तरह विला गई वहाँ थोड़ी सी भारतीय सेना क्या कर पाती? इस बार में भारत की बरगी में तिब्बती प्रतिनिधि मण्डल को बहुत शिकायत थी, पर जनरल नागा भारत की स्थिति को अच्छी तरह समझते थे।

मेरे मित्र गेन् धमवर्धन के बारे में मैं समझता था कि वह अपने प्रगतिशील विचारों के लिए अब भी ल्हासा के जेल में पड़े हैं। जेनरल ने बतलाया— वह अब जेल से बाहर हैं। हाँ उन्हें ल्हासा से बाहर जाने की आज्ञा नहीं है। वह तिब्बत का इतिहास लिखने में लगे हुए हैं। मैंने जेनरल को समझाया कि वह साहित्यकार चित्रकार और दार्शनिक अद्भुत विद्वान् हैं। ऐसा जमा इस समय तिब्बत में दूसरा नहीं है।

कम्युनिस्ट तिब्बत म आए बिना नही रहगे और यह अपने विचारा के कारण मुखिया म होगा। इसलिए अपने स्वाथ के ख्याल से भी इसके साथ आप लागो को अच्छा बताव करना चाहिए।

आज के चीन म कम्युनिस्टा के नानकिंग के चार मील पर पहुँचने की बात मालूम हुई और यह भी चाड काइ शेक के कोमिंताग के भगोडे का तन म पहुँच रहे हैं। चीन की भूमि पर अब चाड काइ शेक के दिन इने-गिने रह गए थे। अमरिका न पानी की तरह करोडो नही अरबा डालर बहाए डालर ही नही अपन जेनरल भी दिए। अब स्वय मदान म कूदने के सिवा चाड् काइ शेक को बचाने का कोई रास्ता नही था। और उसके लिए अमेरिका तैयार नहीं था। दुनिया की जोको के यह सरताज यह कह कर अपन मन को समझाते थे—चीनी कम्युनिस्ट मास्को के हाथ म नही नाचेंगे हो सकता है दोना म भारी वैमनस्य पदा हो जाय।

अगले दिन जेनरल नागाड से कहने लगे—"चीन म कम्युनिस्टा की सफलता से न हम चिन्ता है, न देपुङ के भिक्षुआ को।' चिन्ता न हो, यह बात नही हो सकती लेकिन वह भवितव्यता के सामन सिर झुकान क लिए तैयार थ।

उसी दिन सिंहल के मेरे सुपरिचित डा० अधिकारम् आए। बडे मेधावी पालि के तरुण विद्वान् थे। लन्दन युनिवर्सिटी स डाक्टर होकर सीलान के किसी कालेज म प्रिंसिपल थ। अच्छे विद्वान् थे लेकिन बुद्धिवादी न होकर भावुकता म बह जानेवाले आदर्शवादी पुरुष थे। लन्दन म रहते एक बार हालण्ड म एनी बसेंट के बनाए जगद्गुरु कृष्णमूर्ति के सम्मेलन म गए और कृष्ण जी के उपदेशा म बडे प्रभावित हुए थे। सत्रह वष बाद आज भी कृष्ण म वसी ही श्रद्धा देखकर मैं तो कहने लगा—"धय है यह श्रद्धा क्या सालह साला म दाना की वद्धि एक ही समान हुई।" डा० अधिकारम् अब पढाने का भी नाम छोड चुक थ, उन्होंने अपनी भाषा (सिंहली) म साइन्स पर पुस्तक लिखने का काम हाथ म लिया था। इसस मैं पूरी तौर से सहमत था। हम हिंदी म सारे ज्ञान विज्ञान को लाना चाहते हैं, ताकि

हमारी जनता उससे आसानी से और जल्दी परिचित हो, उसी तरह सिंहल में सिंहली भाषा में भी काम करने की जरूरत है। मेरे समय में तो भारत से भी अधिक वहाँ अंग्रेजी का बोलबाला था, लेकिन जिस समय (२१ फरवरी १९५६) मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ उस समय वहाँ का शासक दल सिंहली को ही श्री लंका में सर्वेसर्वा भाषा बनाने के लिए तुला हुआ है। डा० अधिकारम् को अपने काम के लिए अब अधिक सुभीता होगा, इसमें शक नहीं। सिंहल में रहते भी अधिकारम् से मेरी मुलाकात होती रहती थी, और लन्दन में १९३२ में रहते वक्त तो हम एक ही मकान में रहते थे।

इसी दिन एक शिक्षित पागल आ गया। पहले उसकी बात प्रकृतिस्थ जैसी मालूम होती थी। उसने एक रुपया माँगा, दे दिया, वह फिर ऐसी बातें करने लगा जिससे मालूम हो गया कि दिमाग हाथ से बेहाथ हो गया है। हटने का नाम नहीं लेता था। सचमुच एक आदमी दिमाग के विकृत होने से कितना विद्रूप हो जाता है, उसका मूल्य कितना तुच्छ और वह लोगों पर कितना भार हो जाता है। बैलों भैंसों की नाक में नाथ डालकर काबू करते हैं, घोड़े के मुँह में लगाम उसे काबू रखने में सहायक होती है। विशालकाय हाथी के लिए भी महावत के हाथ में अंकुश होता है, पर, आदमी के लिए अपनी बुद्धि छोड़कर नियंत्रण का कोई दूसरा साधन नहीं है।

३१ जनवरी तक मैं सारनाथ में रहा। रोज सवेरे भिन्न भिन्न दिशाओं में ६ मील टहलने के लिए चला जाता था। एक दिन पहाड़िया की ओर घूमने गए। इसे आढाधार भी कहते हैं, अर्थात् असुरों ने बड़े बड़े टोकरों में किसी काम के लिए मिट्टी ढोई, एक ओड़ा (टोकरा) कहीं पर झाड़ दिया, जिससे इतना विशाल टीला बन गया। यहाँ नीचे के खेतों में कुषाण काल की ईंटें दीख पड़ीं।

अन्तिम दिन महेशजी आए। उनसे पहले ही से पत्र-व्यवहार था। और वह मेरे साथ रह कर लिखने के साथ कुछ सीखना चाहते थे। सुमनजी के

जाने से पहले आए होते, तो रह जाते। जब तक वह स्वयं न हटें, तब तक मैं उन्हें हटाना पसन्द नहीं करता था। महेश घर न लौटने की कुछ प्रतिज्ञा सी कर आए थे। क्या करना चाहिए यह पूछने पर मैंने कहा, या तो कमा के खाते हुए अपना अध्ययन जारी रक्खो। यदि इससे बचना चाहते हो तो साधु हो जाओ। कठिनाइयों की परीक्षाओं की भट्टी में जो नहीं तपा, वह पक्का नहीं हो सकता। महेश के लिए बनारस वाले मित्रों के पास कुछ परिचय पत्र लिख दिए। उस समय तो वह साधु बनने के लिए भी कुछ कुछ तैयार हो गए थे लेकिन पीछे वह रास्ता उन्हें अच्छा नहीं मालूम हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सारनाथ के आसपास के गाँव पक्के कोठों और ईंट के मकानों वाले हो गए थे। यहाँ की रेशमी साड़ियों और जरी के काम की बड़ी माँग थी। देश में भी युद्ध के कारण आई पैसे की बाढ़ ने हमारी ललनाओं के लिए इनकी अत्यन्त पैदा की थी, और विदेशी भी कुतूहलवश उनकी माँग करते थे। काम करनेवालों को मुँह माँगा दाम मिल रहा था। कोइरियों ने साग-सब्जी बोना छोड़ा और बुनाई स्वीकार की। जिसके पास थोड़ी भी पूँजी थी, उसने कुछ दिनों शहर में सीखकर अपने घर में करघे बैठा दिए। दस बारह वर्ष के लड़के काम सीखने और डोरा उठाने के लिए बनारस के कारीगरों के पास चले जाते, जो उन्हें १४ १५ रुपया मासिक दे दिया करते। अब वह रोजगार ठंडा पड़ गया था, और नये बने कोठों की खैरियत नहीं थी।

सारनाथ में रहते 'बौद्ध संस्कृति'' का प्राय दो तिहाई मैंने लिख डाला, बाकी एक तिहाई को शान्तिनिकेतन में लिखना था। उस समय यही मालूम था, लेकिन शान्तिनिकेतन जाने पर पुस्तक और बढ़ गई।

१ फरवरी की शाम को हम प्रयाग पहुँचे। तीसरे दिन वसन्त पंचमी थी, संगम स्नान के लिए लोगों की भारी भीड़ थी। रेलों में बहुत से बेटिकट यात्रा करनेवाले पकड़े जाते थे। अब टिकट कलक्टरों की संख्या बढ़ा दी गई और साथ में पकड़कर सजा देने के लिए मजिस्ट्रेट भी घूमते थे। अगर

यह प्रबन्ध नहीं हुआ होता तो पहले दर्जे में भी शायद जगह न मिलती। इधर एक और भी भार सिर पर आ गया था। जीवन-यात्रा का दूसरा भाग प्रेस में था, और उसके काफी पन्ने मुद्रक या प्रकाशक की कृपा से लुप्त हो गए थे। लुप्त ग्रन्थ को फिर से लिखना लेखक के लिए सबसे बड़ी मुसीबत की बात है। लेकिन, क्या करता?

डा० बदरीनाथ प्रसाद के यहाँ सीवान डी० ए० वी० स्कूल के संस्थापक और हेडमास्टर दाढ़ी बाबा मिले। उनका जीवन सचमुच त्याग और तपस्या का जीवन रहा। उन्हीं के अदम्य उत्साह से सीवान (छपरा) में दयानन्द स्कूल खुला और बढ़ते हुए डिग्री कालेज बन गया।

फोटोग्राफी काम की चीज भी है और बड़ा खर्चीला शौक भी। आज को फ्लेक्स हम खरीद चुके थे। रूस से लाया लायका' (फेंट) खो गया था, इसलिए उसी तरह के कैमरे का ख्याल दिमाग में चक्कर काटा करता था। श्री कृष्ण प्रसाद दर ने जब कहा कि कौडक्का लायका हमारे पास है यदि लेना चाहें तो ले लीजिए, मैं और कीमती कैमरा लेना चाहता हूँ। मैंने पाँच सौ रुपये में उसे खरीद लिया। सात वर्ष मेरे पास रहते हो गया लेकिन उसका बहुत कम ही इस्तमाल मैंने किया। खरीदने के बाद जब इलाहाबाद में ढूँढने पर भी उसके लिए फिल्म नहीं मिली और यही बात पटने में हुई तो मुझे अपनी गलती मालूम होने लगी।

३ फरवरी को डा० बदरीनाथ प्रसाद की बड़ी लड़की इन्दुप्रभा का ब्याह था। इसीलिए मैं विशेष तौर से प्रयाग में आकर ठहरा था। डा० बदरीनाथ प्रसाद आजमगढ़ जिले के कस्बा मुहम्मदाबाद के रहने वाले हैं। मेरा भी पितृग्राम मुहम्मदाबाद तहसील ही में है इसलिए हमारा घर का सा सम्बन्ध था। बारात में १८ आदमी थे। वर मरठ का रहनेवाला एक होनहार मेधावी तरुण का विद्यार्थी था। उस समय भी वह एम० एस सी० हो चुका था और आगे उसने नुक्लियर (नाभिकरणीय) भौतिकशास्त्र में डाक्टर की उपाधि ले अपने विषय में अनुसन्धान का काम किया। घरानियों से घरानियों का अधिक होना स्वाभाविक था, मुहम्मदाबाद के तो

सारे परिवार के लोग चले आये थे। पहली लड़की का ब्याह था इसलिए उसे बड़े उत्साह के साथ किया गया। आगन म मण्डप सजा कर उसे सजाया गया था। दोनो ओर के परिवार आर्यसमाज से प्रभावित थे, लेकिन सुधारक समाजो म कला पक्ष की बड़ी अवहेलना होती है। उसी की पूर्ति के लिए कर्मकाण्ड म कुछ बाते बढ़ा दी गई थी।

पटना—४ फरवरी को सम्मेलन भवन म जाकर परिभाषा निर्माण की गतिविधि देखी। डा० रघुवीर ने दर्शन परिभाषा का काम करीब करीब समाप्त कर चुके थे और अंग्रेजी शब्दों के कितने ही प्रतिशब्द भी बना लिए थे। उसी दिन प्रयाग से पटना क लिए रवाना हुए। सुमनजी साथ थ। पानी बरस रहा था। हम भीगते भीगते गाडी बदलनी पडी। ५ तारीख को ५ बजे सबेरे भी वर्षा हो रही थी। १० बजे हम पटना पहुँचे। रिक्शा लेकर दाना बीरेन्द्र बाबू का ढूढ़ने निकले, लेकिन वह घर पर नही थ। सयोग से पास ही म प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा का घर निकल आया। सारे कपडे करीब-करीब भीग चुके थे। देवेन्द्र जी के यहाँ हम ठहरे। देवेन्द्र छपरा के रहनेवाले, वहा के एक बहुत बड़े सस्कृत पण्डित के पुत्र तथा मेरे घनिष्ट मित्र प० गोरखनाथ त्रिवेदी के दामाद थे। वह अपने पिता के योग्य पुत्र थे। सस्कृत के साहित्याचार्य तथा साहित्य म विशेष योग्यता रखनेवाले थे। सभी सस्कृत के पण्डित जानते थे, कि आजकल इज्जत पैसे म है, और पैसा कमाना हो तो लड़का को अंग्रेजी पढानी चाहिए। देवेन्द्रजी ने अपने कुछ रेडियो-नाटक सुनाए। कादम्बरी की "पारिजात मजरी" लेकर उन्होने बहुत सुन्दर एकाकी लिखा था, जिसम बाण के काव्य-सौंदर्य की बहुत अच्छी तरह रक्षा की गई थी। शाहजादा सलीम (जहागीर) द्वारा "अबुल फजल-वध" भी बहुत मार्मिक नाटक था। उनकी लेखनी म शक्ति है शब्दो के मूल्याकन म सूक्ष्म निर्णय की प्रतिभा असाधारण है। सस्कृत के विद्वान् होने से वह सस्कृत के शब्दो का अनुचित मूल्याकन करने के लिए नहीं करते।

शाम के वक्त पटना के कवि और साहित्यकार केसरी, नवलकिशोर

और नलिनजी से बातचीत होती रही। ६ तारीख को पटना शहर के गांधी सरोवर पर बिहार हितैषी सभा की ओर से नगर-साहित्य सम्मेलन का वार्षिकोत्सव हुआ। उत्सव का उद्घाटन मुझे करना पड़ा। इसमें कवियों ने कविता, कहानीकारों ने कहानियाँ पढ़ीं। पटना एकान्तत हिन्दी की नगरी है, इसलिए यदि वहाँ के तरुणों में इतना उत्साह देखा जाए तो स्वाभाविक ही है। नगर के धनी धोरी भी इस बारे में चुस्त हैं। अभी अंग्रेजों का गए डेढ़ वर्ष भी नहीं हुए हैं कि उन्होंने सड़कों के अंग्रेजी नाम हटाकर उनकी जगह भारतीय नाम रख दिए। पटना की प्रधान सड़क अब अशोक राजपथ है, जो गंगा के समानान्तर और समीप पटना शहर से बांकीपुर के छोर तक चली गई है। मंगल रोड अब गुरु गोविन्द पथ है। सिक्खों के दशम गुरु गुरु गोविन्द पटना में ही पैदा हुए थे इसलिए पटना को अपने सुपुत्र का सम्मान करना ही चाहिए। अगले दिन १० बजे सीनेट हाल में एम० ए० के छात्रों के सामने राजनीति पर भाषण दिया। विद्यार्थियों की स्वच्छन्दता से बूढ़े और सरकार असन्तुष्ट हैं। पटना के कालेजों को तो इसके लिए बन्द कर दिया गया था और सरक्षकों से यह लिखकर देने के लिए कह रहे थे कि लड़के अनुशासन को मानेंगे। अंग्रेजों के समय की बातें इतनी जल्दी दोहराई जाएँगी इसकी आशा नहीं थी।

७ फरवरी को ६ बजे शाम को हमने दिल्ली स्याल्दह एक्सप्रेस पकड़ी। हमारे पहले दर्जे के कम्पार्टमेंट में मैं ही अकेला था। सुमनजी दूसरे डब्बे में बैठे थे। रात भर की यात्रा थी। ट्रेन हावड़ा से स्याल्दह पहुँचती थी और इसी लाइन पर शान्तिनिकेतन का स्टेशन बोलपुर पड़ता था, इसलि हमारे लिए यह ट्रेन अनुकूल था। अगले दिन साढ़े ७ बजे गाड़ी बोल्‌ पहुँच गई।

१६

शान्तिनिकेतन में

स्टेशन से हम सीधे शान्तिनिकेतन पहुँचे, और पहले काम की फिकर में पड़े। शान्तिनिकेतन में बृहत्तर भारत के सम्बन्ध में जितनी पुस्तकें हैं, उतनी कलकत्ता यूनिवर्सिटी को छोड़कर भारत में और कहीं नहीं मिलेंगी। तो भी इन पुस्तकों को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अब हम २५ तारीख तक के लिए पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अतिथि थे। द्विवेदीजी के साथ इतनी घनिष्ठता के साथ रहने का यह पहला अवसर था, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मेरी इससे पहले उनके साथ कम घनिष्ठता थी। मैं उनकी विद्या, लेखनी और निर्णय शक्ति का भारी प्रशंसक हूँ। कहा करता था हिन्दी के साहित्यकार जब ऐसी गम्भीरता प्राप्त करेंगे, तब हिन्दी तेजी से आगे बढ़ेगी। द्विवेदीजी के परिवार के सभी लड़के-लड़कियाँ मेरे मनोरंजन और सहायता के लिए तैयार रहते थे। द्विवेदी स्वयं सरजूपारी कुलकलंक हैं बाँह उठा उठा कर जिनके लिए ऋषियों ने कहा, 'तुम्हें मछली मांस खाना चाहिए,'' और वह आज ऋषि वाक्य के विरुद्ध जाएँ, यह कोई अच्छी बात है? पर अगली पीढ़ी फिर ऋषियों के रास्ते पर चली आई है, यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। 'नामांसो मधुपर्को भवति'' (बिना मांस के पूज्य अतिथि की सेवा नहीं की जा सकती) ऋषियों की इस बात से द्विवेदीजी सहमत थे। बंगाल में मांस से ज्यादा बंगाली ढंग से बनाई मछली

अच्छी लगता है। मैं वहाँ उसी को तर्जीह दे रहा था। ऐसे समानधर्मा बन्धुओं के साथ इतना कम रहने का मौका क्यों मिलता है, मुझे तो यही शिकायत थी।

गर्मियों के आने में अब बहुत देर नहीं थी। दिमाग में यही बात चक्कर काटती थी कि अब के साल किधर जाएँ। डा० भगवानसिंह का निमन्त्रण अनी के लिए था। बंगाल के एक अचल में होने के कारण कलिम्पोंग भी अपनी ओर खींचने लगा था। ६ तारीख की डायरी में मैंने लिखा था—गर्मियों में कलिम्पोंग जाया जाय। कलिम्पोंग बिना पाकिस्तान जाए भी जा सकते हैं। वहाँ शायद नगरवासियों को भी समय देना पड़े किन्तु लाभ होगा—घरजारी होने के पाप से बच जाएँगे। धर्मोदय सभा का मकान है।—अनी में रहने पर मिट्टी के तेल, नौकर चाकर तथा पुस्तकों की रक्षा की चिन्ता से भी मुक्त हो जाएँगे। तिब्बती-संस्कृत का भी कुछ काम होगा। अनी में जो एक जगह घर बनाकर बसने को मैंने घरजारी होना कहा था, लेकिन असली अर्थ में यह बात कलिम्पोंग में ही हुई।

उस समय मिट्टी का तेल एक समस्या थी, वह दुर्लभ था। शान्ति निकेतन में उसकी आवश्यकता नहीं थी। यदि १२ बजे रात के बाद पढ़ने लिखने का काम न हो। अब टहलने का नियम रोज सवेरे पूरा होने लगा। हम पाँच छ मील चले जाया करते थे। १० तारीख को श्रीनिकेतन से एक मील और आगे तक गए। सुमनजी साथ रहते थे, कभी-कभी दूसरे विद्यार्थी भी साथ हो जाते थे। १६ फरवरी को अजय नदी की ओर गए। एक शताब्दी पहले यह नदी बहुत गहरी थी, और छोटी-छोटी नावें इसमें होकर आती थीं। समुद्र के पास बालू मिट्टी के भर जाने से नदी का मुँह बन्द हो गया, और फिर सारी धार पट गई। नदी भी अब सिर्फ हो गई, जिसके कारण जहाँ एक ओर यातायात का एक सस्ता साधन हाथ से जाता रहा, वहाँ मलेरिया का प्रकोप भी बढ़ गया।

सोचा था कि दस घण्टे लिखा और छ घण्टा पुस्तकों को पढ़कर सामग्री एकत्रित करने का काम किया जाए। १० तारीख को मालूम हुआ,

गाधीजी के हत्यारे गौडसे को फासी की सजा हुई, और दूसरे कितनो को कडी सजाएँ हुईं। गौडस तो वस्तुत दूसरो के हाथ का हथियार बना था। वह दूसरो की पेशवा बनने की आकाक्षा का बलिदान बना। पेशवा जब डेढ सौ साल पहले भारत की समस्या को हल करने म सफल नही हुए और और इसी के कारण रसातल गए तो क्या अब पेशवा का पुन स्थापित किया जा सकता है ? हिन्दीभाषी क्षेत्र मे शहर के उच्च जाति के लोगो मे बहुत जगह जो प्रसार हुआ है उसका कारण पहले तो मुस्लिम लीग के बढते हुए प्रभाव के विरोध के कारण था और अब काग्रेस के प्रति असतोष ही उसका सबल रह गया है।

१२ फरवरी की रात को भोजन प्रा० तान्यूशान के यहा हुआ। वह वर्षों से विश्वभारती म चीनी पढाते हैं और चीन तथा भारत के प्राचीन सम्बन्ध को दृढ करने का व्रत लिये हुए हैं। उनका परिवार इस समय चीन गया हुआ था जिसे लाने के लिए वह जाने वाले थे। चीना भवन म चीनी और चीन सम्बन्धी दूसरी भाषाओ की पुस्तको का बहुत अच्छा सग्रह है। प्रा० तान्यू के प्रयत्न से बहुत अधिक लोग चीनी साहित्य म प्रगति नही कर सके, इसका कारण चीनी अक्षरो की कठिनाइ है। जिस भाषा की पुस्तको के पढने के लिए पाँच-छ हजार अक्षरो का जानना अत्यावश्यक हो, उसमे कैसे आदमी की रुचि और प्रगति हो सकती है ? मैंने स्वय चार पाच सौ अक्षरो का सीखने-सीखते हिम्मत हार दी थी। सम्भव है यदि चीन म रहता तो आगे बढ जाता। लेकिन चीन की इस वर्णमाला म एक बडा लाभ यह है कि यदि हम अक्षरो के अर्थ को सस्कृत म समझते हो तो बहुत कुछ उसी तरह पढ सकते हैं जसे अका के सकता से श्री शान्ति भिक्षु ने तिब्बती और चीनी म काफी प्रगति की है। यह खुशी की बात थी। मैं अपने नियम के अनुसार इतवार का छुट्टा मनाया करता था, जो शान्तिनिकेतन म बुधवार का होती थी, इसलिए अब मुझे भी वही के नियम का पालन करना चाहिए था। गर्मी बढ गई और उसके साथ-साथ मच्छरो की भरमार हो गई। मसहरी के भीतर लिखना-पढना आसान काम नहीं है पर

किसी तरह गुजारा करना पड़ता था। एक दिन अपने और मुमनजा के लिए कुरत, चादर तौलिया के कपडे लिए। दर्जी ने कुर्तों को चार दिन म मीकर देन के लिए कह दिया। मँहगा हान पर भी हमारा देश दूसरे देशा स अब भी सस्ता है।

१५ फरवरी का प० हजारीप्रसाद द्विवेदी के लखनऊ से डाक्टर उपाधि पान के उपलक्ष म सभा हुई। शान्तिनिकेतन की इस सभा से मैं बहुत प्रभावित हुआ। उसे न आधुनिक कहना चाहिए और न प्राचीन अथवा वह दोना की कितनी ही बेकार की रूढिया से मुक्त थी। एक कलापूण ढग स सुदर चौक पूरा गया था जिस पर आम्रमजरी के साथ मिट्टी का सुदर कलश रक्खा गया था। उसमे जरा-सा हटकर एक पतला लम्बा सा तख्त पडा था, जिसके ऊपर पुराधा (सभापति) और दो एक और व्यक्ति बठे थे। सभा का आरम्भ और समाप्ति शखनाद स हुई। आचाय क्षितिसेन पुराधा थे। बीच बीच म भाषण के साथ-साथ मधुर सगीत भी होता था। इस एक सभा मे ही रवीद्र की महत्ता साफ दिखाई पडती थी। सर्वतोमुखीन सास्कृतिक प्रगति कस की जा सकती है इसका उदाहरण उन्होने विश्वभारती के रूप म रक्खा था। मुझे इस बात का अफसोस रहा कि निमत्रित होने पर भी महाकवि के जीवन म मैं यहा नहीं आ सका। और न अवसर मिलने पर भी उनके दर्शन कर पाया।

शान्तिनिकेतन की चादनी मुझे बहुत प्रखर और सुदर मालूम होती थी। शायद वहाँ के वातावरण स बहुत प्रभावित होन के कारण तथा महाकवि के सामने उपस्थित न होन के अपराध के ख्याल म यह बात थी। रात भर पक्षियों के मनोहारी कलरव के बारे म क्या कहा जाए? कोयलों ने तो अखण्ड व्रत ले रक्खा था। यह सद मुल्क की चिडिया यहाँ गर्मी म मरन क्या आती है? आम्रकानन म इस वक्त चारो ओर मजरी ही मजरी दिखाई दती थी जिसके पास जान स उसकी मधुर गध सचमुच ही मन को मस्त कर दती थी।

मैं बौद्ध-संस्कृति के लिखने म तन्मय था। पुस्तकाध्यक्ष तथा

बृहत्तर भारत के गम्भीर विद्वान् श्री प्रभातकुमार मुखोपाध्याय मेरी हर तरह की सहायता करने के लिए तयार थे। तो भी परिभाषा निर्माण की ओर से मेरा ध्यान हटा नहीं था। बनारस युनिवर्सिटी के प्रोफेसर राम चरणजी ने जब अपने पत्र में बतलाया कि काय सम्बन्धी (प्लाम टक्नालाजी के) पारिभाषिक शब्द जमा हो गए, तो बड़ी खुशी हुई।

प्रयाग और पटना में अभी जाड़ा खतम नहीं हुआ था लेकिन यहां तो आने के साथ ही वह विदा हो चुका था। शान्तिनिकेतन के वातावरण में "बौद्ध-संस्कृति" लिखने के समय मुझे ख्याल आया अब हमारे चार धाम बनने चाहिएं, जिसमें उत्तर में तुनह्वांग, पूर्व में अंकोरवाट दक्षिण में बोरोबुदुर और पश्चिम में बामियान हों। फिर ६८ तीर्थ भी बनाने होंगे, जो सभी भारतीय संस्कृति से प्रभावित देशों में बिखर रहें। श्रद्धालु भारतीय इन तीर्थों और धामों के दरस-परस के लिए जाएँ।

हम मलेरिया की भूमि के नजदीक थे, मच्छरों का प्रहार चल ही रहा था, इसलिए २२ फरवरी को यदि बुखार भाकने के लिए आया, तो अन होनी बात नहीं थी। मैंने कुनैन की दो टिकिया उसे थमा दीं, सोचा, देखें वह इतने से तृप्त हो जाता है या कल फिर आता है। दरअसल उस वक्त बुखार या किसी चीज का स्वागत का समय नहीं था। ८ बजे सवेरे से लेकर १२ बजे रात तक बीच के दो घण्टे छोड़कर १६ घण्टा जुता हुआ था। मुझे सुमनजी को भी बहुत धन्यवाद देना चाहिए, जो कन्धे-से-कन्धा मिला कर डटे हुए थे। बैल की जोड़ी में यदि एक गरियार निकल जाए, तो काम नहीं बनता। लिखी हुई कापियों को शान्तिजी दोहराते भाषा के दुबारा भाजन और हैडिंग आदि का सुझाव देते जाते थे।

२३ तारीख को कला भवन के नए घर में बने भित्तिचित्रों को देखने गए। कविगुरु का आश्रम कविता और कला के लिए विशेष तौर से महत्त्व रखता है। कला का प्रेम मेरा शायद गम्भीर नहीं था, इसीलिए इस पवित्र स्थान के देवता रुष्ट हो गए थे। एक चित्र को देखने के लिए मैं मेज पर चढ़ा, उतरने लगा, तो देवताओं ने धीरे से स्टूल को टेढ़ा कर दिया और मैं

लिए दिए जमान पर गिर पडा। पर, देवता अपने रोष को केवल मजाक से ही पूरा करना चाहते थे, इसलिए सिर्फ तीन चार जगह चमडा छिला और दो जगह खून की बूंदें टपकी। सचमुच वह स्थान इतना सकरा था, और नीचे जमी चीजें थी, उसमे अचानक गिरने पर मेरा सिर फूट सकता था, हड्डी भी टूट सकती थी। कविगुरु के सम्पर्क मे आकर यहाँ के देवता इतने क्रूर नही हो सकते थे। नहीं तो उनमे कवि ने मानवता का प्रचार किया था, फिर इसका फल क्या न होता? शान्तिनिकेतन में रहते जिस तरह मै अपने काम मे व्यस्त था, उसके कारण दिल खोलकर सभी चीजों को देखना मुश्किल था। पर मैंने उधर से अपनी आँखें मूंद नही रखी थी। प्रभात बाबू के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मैंने कहा, यह पुस्तक आपको ही अर्पित करूँगा। प्रभात बाबू ने अपने अमुद्रित बहुत से लेख मुझे इस्तेमाल करने के लिए दिए, जिनसे मध्य एसिया के बारे मे बहुत सी जानकारी प्राप्त की।

२४ फरवरी की शाम को आद्यश्रेणी (१२ वर्ष तक के बच्चो) की सभा देखी। इसमे भाषण, निबन्ध, कहानी, स्वरचित पररचित कविता का पाठ हुआ। काफी बडी भ्रातृ-मण्डली थी। बच्चो ने गीत भी गाए, नृत्य भी किए। हर्ष प्रकट करने के लिए ताली पीटने की जगह शान्तिनिकेतन मे 'साधु साधु' कहा जाता। प्राचीनकाल मे भी ऐसा ही किया जाता था, इसीसे साधुवाद शब्द हमारे यहाँ चला। धन्यवाद भी प्राचीनकाल मे हर्ष और कृतज्ञता प्रकट करने के लिए 'धन्य धन्य' के भावोद्रेक का ही परिचायक था, जिसके अर्थ को हम पूरी तरह न समझकर "धन्य धन्य" कहने की जगह धन्यवाद कहते हैं। शान्तिनिकेतन में चतुरस्र मानवता की शिक्षा देने का प्रयत्न हो रहा है। यहाँ प्राचीनता है, पर मूढता नहीं, नवीनता है, किन्तु छिछोरापन नही, कला है, किन्तु कामुकता नहीं, स्वतन्त्रता है, किन्तु उच्छृङ्खलता नहीं। इन्ही भावो को लेकर मैं २५ फरवरी को वहाँ से विदा हुआ।

वर्धा—उस दिन सात बजे सवेरे बोलपुर स्टेशन गया। रवीन्द्र के एक

मेरे पुत्र रथीन्द्र बाबू भी उसी ट्रेन में जाने वाले थे। वे देर से पहुँचे और सामान न चढ़ पाया। रेल्वे के एक साधारण नौकर ने कहा— जिसके कारण सब कुछ है, उसका सामान छूट कैसे जायगा? सचमुच ही गाड़ी खड़ी रही। बोलपुर की महिमा रवीन्द्र के पिता ने ही तो स्थापित की थी, फिर उनके लिए क्या इतना भी नहीं किया जाता। उसी डिब्बे में रथीन्द्र बाबू अपनी पत्नी प्रतिमादेवी के साथ चले। शान्तिनिकेतन में रहते भी मैं उनसे मिलने नहीं जा सका था, इसके लिए खेद प्रकट करना जरूरी था। मैं रवीन्द्र के ही वृद्ध पिता के दर्शन को आया था, जब उनके पुत्र और वधू को भी वृद्ध देख रहा था। कैसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी का चुपचाप पदानुसरण करती है? मुझे उस समय ख्याल आता था, विश्व भारती में रथीन्द्र, कलकत्ता विश्वविद्यालय में श्यामाप्रसाद मुकर्जी, हिन्दू विश्वविद्यालय में गोविन्द मालवीय इस तरह पिता के स्थान पर पुत्र का स्थान ग्रहण करना क्या हो रहा है? क्या हमारे देश की अपनी यह कोई बीमारी है। साधुओं के यहाँ विशेषकर प्राचीनकाल के नालन्दा, विक्रमशिला आदि के विद्यापीठों में योग्य गुरु के स्थान पर योग्य शिष्य बैठते थे और यह संभव भी था। किन्तु योग्य पिता का पुत्र भी योग्य हो यह कोई नियम नहीं है। मैं यह नहीं कहता, कि तीनों अपने पिता की योग्य सन्तान नहीं हैं, पर यह प्रथा मुझे खटकती थी। कलकत्ता पहुँचकर फिर हावड़ा में वर्धा के लिए ट्रेन पकड़नी थी। भीड़ बहुत थी। सुमनजी को भी जगह मिल गई और ४ बजे शाम को हम वहाँ से रवाना हुए। २६ के सबेरे गाड़ी बिलासपुर में खड़ी थी। और मैं समझ रहा था, बिलासपुर से रायपुर पहले आ गया। फिर छत्तीसगढ़ की हरी भरी पहाड़ी भूमि से होते हम पश्चिम की ओर बढ़ने लगे। ४ बजे नागपुर और ६ बजे वर्धा पहुँच गए। राष्ट्र भाषा प्रचार समिति का सम्मेलन हो रहा था, जिसके ही लिए आनंद जी के आग्रह पर मैं आया था। हिन्दी नगर में पहुँचने पर देखा मेला लग रहा है। विनोबा नागरी के पक्ष में बोले और सम्मेलन के [illegible] को लेना भी वह अच्छा समझते थे। मशरूवाला गांधीजी के दार्शनिक हैं। दार्शनिक की बात

यदि स्पष्ट हो तो वह दार्शनिक ही क्या? हिंदी हिंदुस्तानी, नागरी उर्दू के सम्बन्ध में उनका कहना था हम नेहरू को मध्यस्थ मान लें। मुझे भला कैसे पसन्द आता, जिस बात में नेहरू का ज्ञान नहीं के बराबर है और जिस विषय में उनका निर्णय पहले ही से मालूम है उसे यह काम कैसे सौंपा जाए? हाल में नेहरू और राजेन्द्र बाबू के कुछ लेख प्रकाशित हुए थे जिससे लिपि और भाषा सम्बन्धी मतभेद के कम होने का सकेत मिल रहा था। वस्तुतः अब संविधान में हिंदी को मान्यता देने की बात तय सी हो गई थी जिसके कारण भी कुछ विचारों में परिवर्तन होना ही चाहिए था। सम्मेलन में २५० प्रतिनिधि आए थे जिनमें इम्फाल (मणिपुर) से भाव नगर (सौराष्ट्र) तक के राष्ट्रभाषा के कार्यकर्ता भी थे। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति प्रतिवर्ष आगे बढ़ती जा रही है। देखा और भी कितने ही नए मकान बन गए हैं। १३ एकड़ भूमि समिति के पास है एक दोमंजिला और कितने ही एकमंजिला मकान तैयार हो गए हैं। प्रेस भी बढ़ा है किन्तु उतने से मुझे संतोष नहीं था। मैं तो समझता था आगे चलकर प्रकाशन और प्रचार को मुख्य स्थान देना होगा। समिति प्रान्तीय साहित्य और विश्व साहित्य के अनमोल ग्रन्थों को हिन्दी में लाकर बहुत बड़ा काम कर सकती है।

प्रयाग—२८ को ही ट्रेन पकड़ी। अगले दिन १ मार्च को सबेरे वह इटारसी में थी। हम उसी पसिंजर में साढ़े ११ बजे जबलपुर पहुंचे। कल कुछ हल्का-सा ज्वर था किन्तु आज बिल्कुल नहीं था। दाँत में दर्द हो रहा था शायद उसके कारण बुखार आया। बनारस से ली दाँत की दवा बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। दाँत के दर्द में भोजन के लिए मन क्यों करता? रेस्तोरां कार में भारतीय भोजन केवल निरामिष मिलता था।

रात के १० बजे कलकत्ता मेल प्रयाग पहुंचा और साढ़े १० बजे हम डा० बद्रीनाथ प्रसाद के यहाँ पहुँच गए। प्रयाग में अब २ अप्रैल तक के लिए अर्थात् एक महीना तक जमकर परिभाषा का काम देखना और बौद्ध संस्कृति को दोहराना उसके कितने ही अंगों को हिन्दुस्तानी एकेडमी की सभाओं में पढ़ना था।

२ तारीख को टहलने गए तो देखा किले का झंडा झुका हुआ है। मालूम हुआ सरोजिनी देवी का देहान्त हो गया। सरोजिनी ने देश की सेवा की, स्वतन्त्रता का स्वप्न देखा और अब स्वतन्त्र भारत में मरीं।

इन्कम-टैक्स अफसर ने सिरदर्द पैदा कर दिया। हमारे जैसों की आमदनी ही कितनी थी और उनको भी उतना ही परेशान किया जाता है, जितना चोरबाजारी करोड़पति सेठों को। सबसे बड़ी समस्या थी इसमें अपने प्रवास के समय की आमदनी पर टैक्स देना।

डा० बदरीनाथ प्रसाद इधर कुछ दिनों से प्रयाग विश्वविद्यालय से असन्तुष्ट थे। गणित में वह भारत के आधे दर्जन सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में से हैं, जब योग्यता में उनसे कम लोग तिकड़म के बल पर आगे बढ़ा दिए जाएँ, तो मन में विरक्ति आनी स्वाभाविक थी। पटना विश्वविद्यालय ने उन्हें बुलाया और वह वहाँ जाने के लिए अब तैयार थे। यद्यपि वहाँ सर्वोच्च स्थान मिला था, लेकिन दरबारी वातावरण था। मन्त्रियों और दूसरों के दरबार में हाजिरी देना बदरी बाबू के बस की बात नहीं थी, इसी कारण पीछे वह वहाँ ठहर नहीं सके, और फिर प्रयाग लौट आए।

कलिम्पोंग जाना ही निश्चय हुआ। अबकी जाने के ख्याल से हम शिमला में अपनी कितनी ही चीजें छोड़ आए थे, उन्हें अब नागार्जुन जी को भेजकर मँगाना था।

पंचायतों का चुनाव—उत्तर प्रदेश में बालिग मताधिकार के अनुसार ग्राम-पंचायतों का चुनाव हुआ था। पूर्वी जिलों में चहल-पहल नहीं, बल्कि कहना चाहिए बड़ी जाति वाले बड़े संकट में पड़ गए। श्री रामनाथ त्रिवेदी ने अपने गाँव दुमौरी (गाजीपुर) के तीन गाँवों के चुनाव के बारे में कह रहे थे—३६ मेम्बरों में ४ ब्राह्मण और १ भूमिहार केवल ५ ही बड़ी जाति के आ पाए, बाकी सभी नीची जाति के हैं। घोड़ा रखनेवाला कानू भुलई साहु सभापति बन गया, भूमिहार उनके नीचे उप-सभापति भर बन ? महीने भर समझौता करने की कोशिश होती रही। वोटरों की संख्या मालूम हो थी। वोटदान का क्या परिणाम होगा, यह भी स्पष्ट था। बड़ी जात

वाला के पास पैसा था और नाहा के पास उसका अभाव। हरेक पंच को जमानत जमा करनी थी, बेचारे कहां से लाएं। कानून बनानेवाले जान-बूझकर इस तिकड़म को रक्खे हुए थे। भुलाई साहु ने १६ के लिए ६० रुपया जमा कर दिए। बड़ी जात वाले धमकी देने लगे—तुमसे हम खेत नहीं कटवाएंगे, हल नहीं जुतवाएंगे तुम्हें खलिहान रखने के लिए जमीन नहीं देंगे। तुम किस रास्ते चलोगे हम अपने रास्ते में चलने नहीं देंगे। उप सभापति वासुदेव राय चुने गए, जो कि बहुजन के पक्ष में थे। अदालती पंचों में एक ब्राह्मण और एक भूमिहार बाकी तीन नाहू जाति के चुने गए। उनके पड़ोस के नेटावर गांव में बड़ी जात वालों ने गुस्से में आकर चुनाव का बायकाट कर दिया। पं० गणेश पांडे ने अपने बलिया जिले की बात बड़े करुण शब्दों में बतलाई— नाहू जाति बारहू जतिया वज नेवहा सब जगह उठ खड़े हुए थे। ग्राम सभाओं के चुनाव में उन्हीं की जीत हुई। डा० उदयनारायण तिवारी अपने गांव की खबर उतनी नाक-पूर्ण नहीं बतला रहे थे। वहां उनके अनुज तथा हाई स्कूल के अध्यापक विश्वनाथ तिवारी ग्राम-सभा के सभापति बने शायद अदालती सरपंच भी वही बने। गणेश पांडे को बड़ा मुश्किल से अपने यहां के राजपूत सूबेदार मेजर को सभापति बनाने में सफलता मिली। बड़ी जात वालों को चार हजार वर्ष से भगवान् की ओर से अधिकार पट्टा मिला था। मैंने कहा—अब यह अधिकार पट्टा जाली साबित हो रहा है। इस तरह से असफल होने के बाद अब बड़ी जात वाले और तरह के तिकड़म रचने में लगे हुए थे। कभी कहते थे सरकार पंचायती कानून को तोड़ डालने वाली है। कभी कहते कलक्टर और जिला-बोर्ड के सभापति सेक्रेटरी नियुक्त करेंगे इस लिए अब भी हमारी बात रहेगी। यह भी मालूम हुआ कि लोगों ने बूढ़ों को नहीं, बल्कि तरुणों को अधिक पंच चुना। मैंने गणेश पांडे जी से पूछा—बड़ी जाति की स्त्रियों ने तो पर्दे से निकलकर वोट नहीं दिया होगा। उन्होंने कहा—लाकर वोट न दिलवाते, तो क्या करते? नाहू जातवाला

म तो पर्दा नहीं था, वह खुले मुह आकर बाट दे देता, फिर तो रही-सही आशा भी चली जाती।

परिभाषा के काम में श्री सेनगुप्त का आना निश्चित सा था। ६ मार्च को डा० भट्ट का भी पत्र आया। दिल्ली म उनक कोई प्रबंध नहीं हुआ, इसलिए वह आने को तयार हैं।

१० मार्च को मेरे अनुज श्यामलाल अपन वृद्ध मित्र ठीका क बाबू पलकधारी सिंह के साथ आए। पलकधारी बाबू उस इलाके के ७५ साल के एक सम्मानित पुरुष। पुराने जमाने को उन्होंने देखा था और नए जमाने को भी देख रहे थे। पोती की शादी करनी थी। लड़का यहीं यूनिवर्सिटी म पढ़ रहा था उसे ही देखने के लिए आए थे। श्यामलाल से आजमगढ़ जिले की पचायतों के बारे म कुछ मालूम हुआ। वह बहुत वर्षों स सरपच होते आए थ। पुराने युग क लिए वह योग्य व्यक्ति थ। मिडल पास थे और मुकदमेबाजी म नाम भी निकला हुआ था। अब नए चुनाव म सभापति गाव का ही भर तरुण हुआ। मैंने उनसे एक बार कहा था—अपने मजदूरों को भूखा न रहने देने क लिए गर्मी म परती पड़े खेतो को मुफ्त बीजा बोने क लिए दे दो। पर यह तो नानजर्बेकार आदर्शवादी की बात थी। सिचाई क लिए उन्होंने लोहे का रहट लगवाया था—बाप ने पहले पहल गाव म बिजली लगाई थी। पहले-पहल पत्थर कोल्हू की जगह पर लोहे का कोल्हू लाए, फिर बड़ा अगर रहट सा नई चीज लाए, तो अचरज की बात नहीं। पर बाद अब अबरे समृद्ध होने की आशा कर तो उसका मार्ग अकटक नहीं रह सकता। आखिर सिचाई क लिए रहट गाव स दूर क कुए पर लगाया गया था जरा सा वहाँ स हटने से लोग रहट को बिगाड़ देते। उनके यहा ३५ पचो म सिर्फ ७ बड़ी जात के चुने गए थे। बाबू पलकधारी सिंह कह रहे थे नीच जाति के पास राज-काज चलाने क लिए बुध कहा से आएगी? श्यामलाल जो राय न रख रहे थे—छोटी जात वाले शासन-यन्त्र को खतम कर देंगे।

यह तो बिचार गाँव क लोग थे। डा० अमरनाथ झा जैसे जानकार

लोग भी जब वयस्क मताधिकार खतरे की चीज बतला रहे थे, तो कहना पड़ेगा—"हे मान त्याग तम (वर्ग-स्वार्थ, तेरा बड़ा गर्व हो) ।

१०, २० और २१ तारीखों को तीन दिन "बौद्ध संस्कृति" पर मैंने भाषण दिए । उस समय एक तरह का दिमाग में खुमार-सा मालूम होता था, जो कि डायबटीज के कारण ही था पर मैं इसे अभी पूरी तौर से समझ नहीं पाया था । मतलब था रोज नियमपूर्वक इंसुलिन लेना ।

अबके साल की भी होली (१६ माघ) यहीं पड़ी । रंग डालने का काम लड़कों ने एक दिन पहले ही से शुरू कर दिया था । सेनगुप्त की भी चिट्ठी आ गई कि मैं १८ तारीख को प्रयाग पहुंच रहा हूँ । सम्मेलन अभी इसके बारे में २० तारीख को फैसला करने वाला था । सुमनजी आगे काम करने में असमर्थ थे । महन्तजी काशी में साधु बनने के बारे में सोच रहे थे, इस लिए उन्हें आने के लिए लिख दिया । १६ तारीख को शिमला से सामान लेने के लिए नागार्जुनजी चले गए । २० को स्थाई समिति की बैठक में परिभाषा-कोश के सम्बन्ध में बातें हुई, और मुख्य सहायकों को तीन सौ रुपया मासिक सफर में सेकंड क्लास का टिकट और दस रुपया रोज भत्ता देने का निश्चय हुआ । डा० भट्ट का पत्र कहीं गुम हो गया इसलिए उनका पता नहीं मालूम था, कि सूचित कर सकूं । उनके पत्र आने की उत्सुकता में रहा ।

२२ को नागार्जुनजी शिमला से सामान ले आए । कलिम्पांग से भिक्षु महानाम और श्री मणि हर्ष ज्योति ने लिख दिया कि हम ३ अप्रैल को यहां से चल रहे हैं । कलिम्पांग रवाना होने से कानपुर और लखनऊ में जो काम दे आए थे, उनके बारे में जानने के लिए सेनगुप्त जी को २५ को भेज दिया । श्री मणि हर्ष ज्योति के पत्र से मालूम हुआ कि उनके पिता साहु भाजुरत्न और भिक्षु महानाम कलिम्पांग में हैं, कटिहार से गाड़ी नक्सलवारी तक ही जाती है । अभी आसाम को जाने वाली लाइन तैयार नहीं है । लेकिन नक्सलवारी में सामान के लिए उनकी मोटर खड़ी रहेगी । डा० भट्ट की भी चिट्ठी आ गई वह आने के लिए तैयार थे ।

२८ तारीख को अनुज से भी बढ़कर मेरे प्रिय योगेन्द्रदत्त पांडे आए। छ ही वर्ष पहले उन्हें मैंने अपनी जन्मभूमि में देखा था। मुझसे कुछ महीने छोटे थे, लेकिन अब बूढ़े और दुबले पतले हो गए थे। कहाँ वह बचपन और तरुणाई का शरीर और कहाँ यह ढीला-ढाला ढाँचा। बहुत देर तक बातें होती रहीं। पंचायत के चुनाव में छोटी जातियों के आगे बढ़ने से वह भी निराश थे। उनके गाँव बछवल में भी "नान्हों" का ही बोलबाला था। उनमें शिक्षा नहीं है, लूट पाट की आदत है। कैसे बेड़ा पार होगा। उनके अपने घर में चचेरे भाई विभूति अपने सगे भाइयों से न पटने के कारण इनके साथ रहते थे। हमारे यहाँ हल में भैंसा जोतना बुरा समझा जाता था—"भैंसा जोते लोहिया खाय" लक्ष्मी के भागने का सीधा उपाय माना जाता था, लेकिन अब बैल बड़े मँहगे हो गए, इसलिए भैंसा जोता जाने लगा। कह रहे थे, अब ब्राह्मणों को हल भी जोतने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

२९ को सेनगुप्त आए। सबसे अच्छा काम कानपुर में कौशल जी ने किया था। कौशलजी को उसकी लगन भी थी। लखनऊ में थोड़ा-सा काम हुआ था। उसी दिन महेशनारायण भी चले आए। १ अप्रैल को डा० भट्ट भी पहुँच गए। अब हमारे तीनों साथी प्रयाग में थे। परिभाषा-संबंधी पुस्तकों का सम्मेलन पुस्तकालय से और दूसरी जगहों से जमा किया जाने लगा। छोटे-बड़े १६ ट्रंक हमारे साथ थे। २ अप्रैल को ६ बक्सों को बुक करा आए, ३ अप्रैल को हम कलिम्पोंग जाने के लिए तैयार थे। मुझे गर्मी परेशान कर रही थी, और डायबटीज से मिलकर वह दिन में एक तरह का खुमार पैदा किए रहती थी।

१७

कालिम्पोंग में

३ अप्रैल को श्री लक्ष्मीदेवी ने चारों मूर्तियों का जलपान कराया और हम अपने सामान के साथ रुदे पर रामबाग स्टेशन पर छोटी लाइन पर चल गए। सामान लद गया। मोटर रिजर्व थी इसलिए उनकी दिक्कत नहीं थी। मन्तू से मिल मिलन आए। दारागंज स्टेशन पर डा० सत्यनारायण तिवारी आ गए। गाड़ी चली। बनारस में भोजन कर लिया, बलिया से आगे बकुल्हा स्टेशन में अँधेरा हो गया। पहले ही से मालूम था इसलिए छपरा स्टेशन पर भूपनाथ जी भोजन के साथ आए, कुछ देर तक बातचीत होती रही। वह रह थे अब सारे परिवार को साथ रखना मुश्किल हो गया। संयुक्त परिवार में गुण भी हैं और दोष भी। गुण यही है कि जिसको काम न मिले उसका भी गुजारा हो जाता है, पर यदि सभी पैर से पैर मिलाकर चलने के लिए तैयार न हों तो अनबन भी हो जाती है। उसका चलना मुश्किल भी है। वह साम्यवाद चाहता है जब कि आधुनिक सामाजिक व्यवस्था हरेक व्यक्ति को दूसरे को छोड़कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। पुराने समय से चला आया कानून भी असल में संयुक्त परिवार का पक्षपाती नहीं है अगर ऐसा होता तो उसे चाहिए था कि एक परिवार में पैदा होने वाले सभी बच्चों को बाप के सम्बन्ध का ख्याल न करके घर की सम्पत्ति में बराबर का हक दिलवाता है। एक भाई के पांच लड़के और

दूसरे का एक होना है, एक की माँ समझने लगती है कि मेरा तो आधे का हक है, और यह पाँच उसमें से खा रहे हैं।

बहुत दिनों तक इनके परिवार में एक साथ काम चला आया था। रघुनाथ जी के चचेरे भाई और घर के मुखिया बाबू देवनारायण सिंह घर भर के बच्चों पर एक-सी दृष्टि रखते थे, रघुनाथ जी का भी वैसा ही ख्याल था, और उनके और भाइयों का भी। पर अगली पीढ़ी का निभना मुश्किल था।

१२ बजे के आसपास हमारी ट्रेन मुजफ्फरपुर पहुँची। यहाँ से धरम हल्ला शुरू हो गया। शायद नेहरू जी आए थे। फिर क्या? आसपास के कई मील के दर्शनार्थी मुफ्त में रेल में चढ़कर आए थे, अब वह लौट रहे थे। किराया नहीं देना है, तो जैसा हो पहला दर्जा वैसा हो तीसरा दर्जा। हमारे डब्बे भी भर गए और मुश्किल से अपने बैठने भर की जगह हमारे पास रही। डर लग रहा था, सामान में से किसी चीज को उठाए भाई चल न पड़ें। सचमुच ही एक आदमी चप्पल पहनकर चलने लगा। नजर पड़ गई, टोक दिया, नहीं तो वह चला ही गया था। सिर्फ डब्बे के भीतर ही लोग भर नहीं थे, बल्कि छत पर भी लदे हुए थे। आखिर टिकट देखने वालों के लिए चारा नहीं था। आगे जाकर उसने जवाब दे दिया और गाड़ी बड़ी मुश्किल से समस्तीपुर पहुँच सकी। कम्बख्त हमारे ही डब्बे का ऐसा हाल था, उसे काट लिया गया। सामान निकालकर प्लेटफार्म पर बैठ गए। सोचा था प्रयाग से चलकर आराम से सीधे कटिहार पहुँच जाएँगे, लेकिन नाहक मझधार में फँस गए। ४ अप्रैल का सवेरा हुआ। जल्दी ही लोगों का पता लग गया, और कितने ही परिचित आ मिले। रेल के दरोगा बाबू रामावतार नारायण ने घर चलने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन हमारे कहने पर वहीं उन्होंने आतिथ्य किया। इसमें शक नहीं कि अगर उन्होंने सहायता न की होती, तो भागलपुर के एक्सप्रेस के पहले दर्जे में भी जगह न मिलती, भीड़ बहुत ज्यादा थी। बरौनी में कुछ भीड़ कम हुई, बेगूसराय में वह छँट गई। यहाँ कटिहार निवासी श्री महावीरप्रसाद साव-

डिया और श्री विश्वनाथ नामा वकील हमारे डब्बे म आए। परिचय हुआ, कटिहार भी अज्ञात स्थान नहीं रह गया। मावडियाजी अपने घर ले गए। आगे की गाडी १० बजे रात को मिलने वाली थी। मावडिया जी के यहाँ भोजन हुआ और कुछ देर तक गाष्ठी भी। उनकी तेल और आटे की जमना मिल है। मकान भी पास ही म है। मारवाड छोडकर मनस्वी मारवाड़ी लोग यहाँ वहाँ तक फल गए हैं और वर्तमान पीढ़ी का तो मार वाड भी परदेश मालूम होता है।

रात को ट्रेन पकडने पहुँचे। कटिहार मे ता मालूम होता है, बारहा महीने ही भीड रहा करती है। पहले दर्जे म भी जगह मिल जाने पर हम अपने भाग्य को सराहना पड़ा। रेलो की व्यवस्था अभी बहुत गडबड थी। डब्बे पुराने हो गए थे, और लोग भी रेलवे की सम्पत्ति का बरबाद करने म आनन्द अनुभव करते हैं। बिजली के लट्टू और स्विच गायब कर देते हैं। हमारे डब्बे म अधेरा घुप्प था। किशनगज म ३ बजे रात को हमारी ट्रेन पहुँची। किशनगज अच्छा बडा व्यापारिक कस्बा, और पूर्णिया जिले के पूर्वी भाग का सदर मुकाम है इसी को बगाल म मिलाने पर लोगो म भारी उत्तेजना फली थी। भीड कुछ कम हुई। रात को वर्षा हो रही थी जिससे जमीन भीग गई थी। किशनगज से नक्सलबाडी की लाइन वस्तुत दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे की थी जिसको ही काम लायक बना दिया गया था। कटिहार से आसाम जाने वाली रेल पाकिस्तान म पड गई थी, इसलिए उधर से रेल का यातायात रुक गया था। आसाम से जोडने के लिए सिलिगुडी होकर रेल बन रही थी, जिसे कुछ महीने बाद हमने लौटते वक्त इस्तेमाल किया। गाडी भी धीमा धीमी चल रही थी, ५ अप्रल को हम वहाँ पौने ११ बजे पहुँचे।

भिक्षु अनिरुद्ध स्टेशन पर मोटर लिए मौजूद थे। कलिम्पाग पहुँचने के लिए हम निश्चिन्त थे। अब म रखवाए छ बक्सा म एक बक्सा तोड दिया गया था। रेलवे वाले किसी चीज की क्यो पर्वाह करने लगे और रेलवे कम्पनी कोई गारटी देने के लिए तैयार नहीं। मोटर पर सामान

रखवाया, हम चारो आदमी बठ गए। रास्ते मे रेल्वे सडक पर काम होते देखा। बागडोगरा का हवाई अड्डा सडक से दाहिनी ओर छूटा, जहा रोज कलकत्ता और आसाम से विमान आते जाते रहते हैं। रेल की सडक बनाने वाले ये पजाबी मिस्त्री काफी सख्या म थे। सिलिगुडी पहुँचते पहुँचते अब चाय के बडे बडे बगीचे आ गए। मदान म भी चाय होती है और परिमाण मे प्रति एकड बहुत अधिक, पर मूल्य उसका उतना नही मिलता, जितना दार्जिलिंग के पहाडो की चाय का।

सिलिगुडी मे पौने पाच रुपए म चारो आदमियो का भोजन हुआ जिनमसे एक ही निरामिष भोजी थे। इसे सस्ता ही कहना चाहिए। इस शहर को तिब्बत जाते आते कई बार मैं देख चुका था। अब की ११ वर्ष बाद आया था। देश के विभाजन के कारण शरणार्थियो का रेल भी आ गया, फिर सिलिगुडी की जनसख्या क्या न बढ जाए? कलिम्पोग जाने वाली सडक पर दूर दूर तक दूकानें, मोटर मरम्मत के मिस्त्रीखाने और छोटी मोटी फक्टरिया बन गई थी। पहले सिलिगुडी नाम का बैठते थे, और सोय सोय सवेरे कलकत्ता पहुँच जाते थे। अब सिलिगुडी से कुछ ही मील पर पाकिस्तान की सीमा थी इसलिए इस लाइन से जाना विदेश से होकर जाना था, तो भी अभी जाने आने म रुकावट नहीं थी।

कलिम्पोग—पौने ४ बजे हम कलिम्पोग पहुँच गए। वही पहाडी पक्की सडक थी, जिसे कई बार हमने देखा था, और उसम कोई परिवतन नही था। बाजार से पहले ही धर्मोदय विहार आया। यहाँ के श्रद्धालु बौद्धो—जिनम श्री मणिहर्ष ज्योति का विशेष हाथ था—ने एक बगले को खरीदकर उसे विहार का रूप दे दिया। यहा हमारे रहने का प्रबन्ध था। तीन चार भिक्षु पहले स रहते थे, और अब हम चार और अभ्यागत आ गए। बकस सभाल लिए गए, किताबें उपयोग के लायक सजा दी गईं। अपने काम म अगले ही दिन से लग गए। अगले दिन से ही टहलने का भी हमने नियम पूरा करना शुरू किया, और उस दिन दूरबीन तक प्राय पाच मील की चहलकदमी हुई। सडक पर मोटरो के आने का निषेध नहीं है

लेकिन आबादी के विरल होने के कारण वे कम आती हैं। उस दिन हम दोनों ने रसायन की परिभाषाओं के निर्माण पर बातचीत की, और तत्वों तथा प्रत्ययों के बारे में कुछ निश्चय किए।

उसी दिन बुधवार को कलिम्पोङ की हाट थी। शनीचर को भी वह लगा करती है। दार्जिलिंग और कलिम्पोङ में हाटों का यह रिवाज किसानों और खरीदारों दोनों की दृष्टि से अच्छा है। जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ बिचवई किसानों से मिट्टी के मोल साग सब्जी खरीदकर मनमाने दाम पर ग्राहकों को बेचते हैं। शाम को कुछ बूँदाबाँदी हुई। बंगाल की खाड़ी नजदीक है, इसलिए वर्षा ने यहाँ छुट्टी सी नहीं की थी। दार्जिलिंग अंग्रेजों के हाथ में आने से पहले सिक्किम वालों के हाथ से गोरखों के हाथ में चला गया था। गोरखों को हराकर ही नेपाल से पूर्व में यह इलाका और नेपाल से पश्चिम अल्मोड़ा जिले से लेकर सतलुज तक की हिमालय भूमि को अंग्रेजों ने लिया। उस समय दार्जिलिंग जिले की आबादी बहुत कम थी। किरात जाति से सम्बन्ध रखने वाले लेप्चा लोग यहाँ के निवासी थे। नेपाल में जनसंख्या का दबाव अधिक था, इसलिए वहाँ के मेहनती लोग पड़ोस के इन पहाड़ों की ओर बढ़ने लगे, जिसमें अंग्रेजों ने भी प्रोत्साहन दिया। ऐसा क्यों न करते, क्योंकि नेपालियों की वीरता को देखकर वह उनके सामरिक महत्व को समझने लगे थे और समय बीतते-बीतते अंग्रेजों की भाड़े की सेना में नेपालियों की काफी संख्या हो गई। पिछली शताब्दी के अन्त में ही दार्जिलिंग नेपालीभाषी हो गया था, आज तो भाषा और जाति के तौर पर उसे नेपाल का एक टुकड़ा कहना चाहिए। पहले सभी नेपाली जनपद कुली या किसान थे, अब उनमें भी कुछ शिक्षित हो गए हैं। देर की निद्रा के बाद जाग करके जब वे देखते हैं, तो मालूम होता है, अपनी अर्जित भूमि में उन्हें कुली किसान से आगे बढ़ने का रास्ता नहीं है। पहले ही से शिक्षा में आगे बढ़े हुए बंगाली हैं, वह सभी नौकरियों को सम्हाले हुए हैं और चाय के बगीचे अंग्रेजों के हाथ में हैं। आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी हुई जातियाँ जब अपनी अवस्था से असंतुष्ट होकर उसे बेहतर

बनाने के लिए जद्दोजहद करता है तो इसे उनके प्रतिद्वंद्वी नीच दर्जे की प्रान्तीयता, भाषीयता, जातीयता, संकीर्णता आदि नाम देकर बदनाम करते हैं। लेकिन जिस भावना का आधार ठोस आर्थिक होता है, वह प्रचार के फूंक से नहीं उड़ाई जा सकती। विशेषकर आजकल जब कि लोगों को कुछ जनतांत्रिक अधिकार प्राप्त हैं और वह अपने असंतोष को निकाला करते हैं। दार्जिलिंग की कांग्रेस कमेटी बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की शाखा है, और वह उसी के इशारे पर चलती है। जब कुर्बानी करने का जमाना था, तब वैमनस्य होने की गुंजाइश नहीं थी, किन्तु अब कांग्रेस स्वतंत्र भारत के लाभ की भागीदार है, इसलिए अपने स्वार्थों के लिए लोगों में छीना-झपटी होनी स्वाभाविक थी। दार्जिलिंग की नेपाली जनता—जनसाधारण—का विश्वास कांग्रेस पर नहीं था, और अंग्रेजों ने पहले ही से राष्ट्रीयता के विरुद्ध गोरखा-लीग को प्रोत्साहन देना शुरू किया था। अब गोरखा-लीग और कांग्रेस का यहां द्वंद्व था। अभी-अभी एसेम्बली का चुनाव हुआ था, जिसमें कांग्रेसी उम्मीदवारों को हराकर गोरखा-लीग का आदमी चुन लिया गया।

कलिम्पाङ में टहलना दुरबीन की ओर ही अच्छा मालूम होता था, क्योंकि उधर सड़क प्रायः सूनी रहती। साथ में कोई एक दो आदमी जरूर रहते। कभी महेन्द्र होते, कभी अनिरुद्ध और कभी छपरा जिले का कोई तरुण या प्रौढ़। कलिम्पाङ अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्प्रान्तीय नगर है। नगर की बुनियाद १९०४ में पड़ी, जब कि ल्हासा भेजी गई अंग्रेजी सेना के लिए रसद भेजने का यह अड्डा बना। उसी समय रसद के लिए कमिसरियट में काम करने वाले ठेकेदार-दूकानदार यहाँ पहुँचे। उनका सम्बन्ध भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता से था, इसलिए मारवाड़ियों का पहले पहुँच जाना स्वाभाविक था। आज बड़ी-बड़ी दूकानें मारवाड़ियों के हाथ में हैं। उनके बाद के दूकानदार नेपाल से आए नेवार हैं, जिनमें से कुछ की शाखाएँ तिब्बत में भी हैं। उनके बाद दूसरे नेपाली दूकानदार आते हैं। कुछ तिब्बती और चीनी दूकानदार भी हैं, पर अधिकतर वह खान-पीन की

दूकानें करते हैं। उनके व्यापारी दो-तीन तिब्बती सेठ भी है। इनके अति-
रिक्त काफी संख्या भोजपुरिया की है जो छपरा बलिया और आरा जिला
के रहने वाले हैं। इनमें से कुछ छोटी छोटी दुकानें करते हैं पान बीड़ी
वाले भी इन्हीं में से है दो चार ने सस्ते जेवरों की दूकानें भी खोल रक्खी
हैं और एकाध ही ऐसे हैं जो प्रथम श्रेणी के व्यापारियों की पंक्ति में पहुंच
चुके हैं। मेरे लिए भोजपुरी अपने ही थे। उनमें से कोई न कोई सबेर को
चहलकदमी में शामिल रहता।

प्रत्यक्ष शारीर (अनाटामी) के नौ हजार शब्द सेनगुप्त जमा कर लाए
थे। दूसरे विषयों के भी बहुत से शब्द जमा थे, या उनके कोश मौजूद थे।
शब्दों को अकारादि क्रम में लगाने के लिए उन्हें कार्डों पर लिखना आवश्यक
था इसलिए हमें कितने ही लिपिकों की आवश्यकता थी। कलिम्पोंग
हिमालय में ईसाई धर्म प्रचार करने का बड़ा अड्डा था और मिशनरियों
ने इन्टर-कालेज लड़कियों का हाई स्कूल ... गारे और अधगोरे लड़कों की
शिक्षा के लिए छात्रालय सहित यहोम्स होम्स और कान्वेंट कायम कर
रक्खे हैं। इनके कारण शिक्षा का यहाँ काफी प्रचार हुआ है। पर दर्जनों
मैट्रिक पास लड़के-लड़कियां बेकार हैं लड़के-लड़कियां प्रायः सभी नेपाली
भाषाभाषी थे पर इससे हमें अड़चन नहीं थी। नेपाली भाषा हिन्दी से
बहुत नजदीक है वह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है और सभी शिक्षित
नेपाली हिन्दी समझ लेते हैं। हमने कुछ लड़के लड़कियों को इस काम में
लगा दिया।

६ अप्रैल को हम दूरबीन की परिक्रमा करते जरा एक तरफ बढ़
गए। वहाँ एक सुन्दर छोटा-सा बंगला— कुन्नर विला —मिला। पता
लगा किसी अंग्रेज ने इसे अपने लिए बनवाया था और अब दार्जिलिंग के
अधिकांश बंगलों की तरह यह बिककर किसी मारवाड़ी सेठ के हाथ में
चला गया है। इस बंगले पर मैं तो मुग्ध हो गया। सीमेंट की छोटी छत
के नीचे लम्बी पाँती में कई कमरे थे। पीछे की ओर भी कोठरियों की एक
... थी। कमरे बहुत साफ थे और फर्नीचर भी साफ सुथरा तथा बहुत

अधिक न थे। सचमुच आदमी में कितना अहं है। यहां भीतर जाकर आदमी खो नहीं जाता है, उसका अपना व्यक्तित्व अधिक बड़ा मालूम होता है। शायद यह भी कारण था इस बंगले की मनोहारिता का। बस बंगला भी ऐसी जगह था जहां से सुंदर हिमालय और उसके नीचे की हरी भरी पर्वत श्रेणियां दिखाई देती थीं। कहा जा रहा था, ३० ३५ हजार का बिका है। और उस समय अभी मालिक इस दाम से नीचे उतरनेवाले नहीं थे। इस लिए इस रुचिर भी यहां रहने का सवाल नहीं हो सकता था।

आज मेरा ५६ वां साल पूरा हुआ ५७ वें में मैंने कदम रखा। पिता और पितामह में कोई इस उमर तक नहीं पहुंचा था इस विषय में मैं अपनी दो पीढ़ियों से आगे था। माता यद्यपि और भी कम उमर में मरीं लेकिन नानी कुल दीर्घजीविया की थीं।

१० तारीख को टहलते वक्त एक पूरी जमात साथ चल रही थी। बात शम्भू के पास के अंग्रेजों के बंगलों पर हो रही थी। अंग्रेजों ने जाने से पहले ही अपने बंगलों को बेच डाला, जिन्होंने नहीं बेचा पीछे मिट्टी के मोल बेचकर पछताए। बंगले के खरीदनेवाले अधिकतर मारवाड़ी सेठ हैं। किराए पर आजकल वह लग नहीं रहे थे और मालिक साल में एक-दो महीने से अधिक यहां आकर नहीं रहते। एक बंगले को दिखलाकर बतलाया गया कि पिछले साल साहब इसका दाम तीन लाख मांगता था और अब को साल डेढ़ लाख पाकर भी संतोष के साथ चला गया। अंग्रेजों में से अब बहुत कम ही रह गए थे।

उस दिन दोपहर का भोजन साहु मानुरत्न के यहां था। पूरा भोज हो गया था, जिसमें तिब्बती सेठ, नेपाली व्यापारी और तिब्बती सरकार के विदेश में भेजे गए कमीशन के सदस्य भी थे। कमीशन के मुखिया तिब्बती सरकार के अध्यक्ष—रिजेंट के भतीजे नगापा भी थे। सबसे बड़े तिब्बती व्यापारी पनदा छांग और भूटान की रानी दार्जे अपने पुत्र-पुत्रियों और बधुओं के साथ भोज में आई थीं। भोज के पहले और भोज के बाद भी देर तक बातें होती रहीं, साहु मानुरत्न ने इस कोठी को ३० हजार में खरीदा

था। कोठी बहुत बड़ी है, उसके पास नारंगियों का एक सुन्दर बगीचा भी है। फसल के वक्त केवल फूल और स्थान की सुषमा देखकर ही आँख और मन तृप्त होते हैं, बल्कि मधुर नारंगियाँ भी मुँह मीठा कराने के लिए तैयार रहती हैं।

अगले दिन दोपहर को शाकापा हमारे निवास पर आए। यूरोप, अमेरिका और भारत की खाक छान आए थे। चीनी कम्युनिस्टों से घबराये हुए थे। आशा थी अमेरिका, इंगलैंड सहायता करेंगे, पर उन्होंने निराश किया। नेहरू ने भी आशा नहीं दिलाई। अब क्या करना चाहिए, यही प्रश्न था। मैंने कहा—तिब्बत में अब भी प्रचलित बंधदासता वहाँ के लिए सबसे खतरे की चीज है। उससे चिपके रहना सबसे बड़ा अनिष्ट का हेतु है। चीन का तिब्बत से पहले भी सम्बन्ध रहा है। अंग्रेजों ने बीच में पड़कर उसमें बाधा डाली। क्या चीन फिर अपने पुराने सम्बन्ध को स्थापित करना चाहेगा। चीनी कम्युनिस्टों को तिब्बत में चीनी सैनिक भेजने की जरूरत नहीं है। आपके पड़ोस में अम्दो, खम और सामाङ के तिब्बती भाषा भाषी लोग चीन की सीमा के भीतर हैं। वे नये रास्ते को अपनाकर अपने तिब्बती भाइयों को अधःपतनता के गड्ढे के साथ पिसने नहीं देंगे। साधारण जनता अपने प्रभुओं के खिलाफ हो जाएगी, इसमें सन्देह नहीं। क्या आप गाँवों में तुरन्त स्कूल खुलवा सकते हैं और तिब्बत को आगे बढ़ने में जो रुकावटें हैं उनको दूर कर सकते हैं? तिब्बत में आधुनिक ढंग की शिक्षा की जरूरत है, उसे खनिज विशेषज्ञों की, सड़क और नहर के इंजीनियरों की और खनिज विशेषज्ञों की भी जरूरत है। यूरोप और अमेरिका वालों से सावधान रहें, वह बनी बात को भी बिगाड़ने के लिए हाथ डालेंगे। उस दिन थोड़े दिन के लिए जेनरल शासाट भी आए, पर अधिकतर बात शाकापा के साथ हुई। पहले तिब्बत में लार्ड मस्कन की पुस्तकों पर बात शुरू हुई, लेकिन फिर वह राजनीति की तरफ मुड़ गई।

१३ तारीख को लदाखी हाजी व्यापारी का लड़का मिलने आया। वह पाँच छः साल से ल्हासा में रहता है और कलिम्पोंग में भी उसका

दुकान है। ल्दाख से तिब्बत के भीतर भीतर ल्हासा जाने का रास्ता है, किन्तु वह दो-तीन महीने का तथा चारा और लूट-मार की कठिनाइयों से भरा है इसलिए उधर जाने की अपेक्षा ल्दाखी व्यापारी कश्मीर (श्रीनगर) तक पैदल या घोड़े पर आकर फिर मोटर और रेल द्वारा कलिम्पोंग पहुंचते हैं, और यहां से तीन चार हफ्ते में ल्हासा पहुँच जाते हैं। तरुण बतला रहा था, कि ल्हासा वाले डर रहे हैं। सोच रहे हैं—यदि चीनी कम्युनिस्ट ल्हासा पहुचे तो हमारा क्या होगा? अगर गड़बड़ी हुई तो व्यापारी लूटे जायेंगे। मैंने उन्हें बतलाया कि तिब्बत के बड़े व्यापारी और तुम एक ही नाव पर हो और चीनी कम्युनिस्ट गड़बड़ी नहीं होने देंगे। हां उनके आने से पहले यदि गड़बड़ी हुई, तो दूसरी बात है। उनसे यह भी मालूम हुआ, कि अब शासन में ल्दाखियों को अधिकार मिला है। मेरे परिचित और सहायक नोनो छेरतन् पुन् छोग अब तहसीलदार हैं और नायब-तहसील-दार भी ल्दाखी हैं। नोनो बड़े श्रद्धालु बौद्ध थे पीछे व्याह करके इसाई बन गए। अंग्रेजों के जमाने में इससे कुछ लाभ भी था, लेकिन अब तो वह घाटे का सौदा था, क्योंकि ल्दाख के बहुजन बुद्ध भक्त हैं और वह उनको तरफ नफरत की दृष्टि से देखते हैं।

१२ अप्रैल को पता लगा भारतीय संविधान के मसौदे के अनुवाद के लिए राष्ट्रपति ने एक समिति बना दी है जिसमें मेरा भी नाम है। समिति के अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त और सदस्यों में सुनीति बाबू श्री जय चन्द्र विद्यालंकार मेरे परिचित थे। इस काम के लिए अब दिल्ली जाने की जरूरत थी और मैं दिल्ली से सबसे दूर की पहाड़ी पर था।

कलिम्पोंग के अपने कुछ गुण हैं जिनसे वह मुझे अच्छा लगा। यहां भी दूसरी पहाड़ी शीतल पुरियों की तरह ही पसीने की नौबत नहीं आती कम पानी नहीं बरसता और तिब्बत का प्रवेश द्वार होने से यहां तिब्बती विद्वानों के समागम का भी सुभीता है।

प्राय चार वर्षों से दिमाग में 'मधुर स्वप्न' चक्कर काट रहा था। उसकी सामग्री मैंने तेहरान और स्तालिनाबाद में जमा की थी। अब मन

कर रहा था, उसे कागज पर उतारा जाए। पिछले साल से ही दिमाग में यह बात समा गई, कि अब कहीं एक जगह बैठकर काम किया जाए। यात्रा करना डायबटीज के कारण सुखद नहीं है। रहने की जगह ऐसी होनी चाहिए जहाँ बारहो महीने काम किया जा सके। ऐसी जगह पहाड़ ही पर हो सकती थी। कई जगहों पर मैंने नजर दौड़ाई और अब कलिम्पोंग पर भी मन जा रहा था। मेरे नये प्रकाशक अग्रिम रुपया देने के लिए तैयार थे, इसलिए उसकी कठिनाई नहीं थी। मित्रों ने कई जगह दिखलाई। महाप्रज्ञा प्रधानजी ने एक घर दिखलाया, जो बिजली के क्षेत्र से बाहर था। जगह भी गन्दी थी। उसमें खेत अधिक थे। पर खेत लेकर हम क्या करना था? दाम १५ हजार बतलाया जाता था, जो उस पुराने मकान के लिए बहुत अधिक था। यह तो हम जानते थे, कि इतने से कम में अनुकूल मकान नहीं मिल सकता। वहाँ से लौटते समय रोमन कैथलिक फादर्स का कान्वेंट मिला। यूरोपियन मिशनरी अपने कितने ही मकानों को बेचकर जा रहे थे। उस समय उनकी बड़ी संस्थाओं की भी हालत डावाँडोल थी। लेकिन कैथलिक शायद ही कहीं अपनी इमारतों को बेचने या अपने मिशन को बन्द कर रहे थे। दूसरे ईसाई मिशनरियों से उनका सबसे बड़ा सुभीता यह है, कि उनके कार्यकर्ता परिवार मुक्त आजन्म सेवक साधु-साधुनियाँ थे।

अप्रैल के मध्य में पता लगा, मोहन शम्शेर भी अब दिन गिन रहे हैं। उनके अनुज बबर शम्शेर का कहना है, "शमशेर से हमने राज्य जीता है, और उसी शमशेर के बल पर हम उसे रक्खेंगे।" भारत सरकार भी अभी नेपाल के बारे में कोई निश्चय नहीं कर पाई थी, बल्कि राणाशाही ने यूनो की सदस्यता के लिए जब इच्छा की, तो भारत सरकार उसमें सहायता देने के लिए तैयार थी।

स्थायी निवास बनाने के ख्याल से एक बार सिक्किम के अंतिम गाँव लाछेन की ओर भी मन खींचा। तिब्बत से लौटते वक्त दो बार मैं इस गाँव से गुजरा था। इधर सेना के लिए वह कोटगढ और कुल्लू बन गया है। एक ब्रिटिश मिशनरी महिला ने इस शताब्दी के आरम्भ में वहाँ अपना

अड्डा जमाया। सोचा, और मिर्दारियों की तरह शायद वह भी अपने बंगले को बेचे उसे ही क्यों न ले लिया जाए। न बचे, तब भी देवदारों की सुन्दर छाया में सारे इस भूमि में मकान बनाने के लिए जगह मिल सकती है।

२२ अप्रैल को हाम्म की ओर टहलने गये। उसके एक छोर पर एक एग्लो इंडियन का मकान था जिसके साथ एक एकड़ से कुछ अधिक जमीन थी। खास महल से बाहर की भूमि सिर्फ नेपाली ही खरीद सकते थे। मकान बहुत पुराना था और फर्नीचर भी बहुत घिसा टूटा। दाम २८ हजार बतलाया गया। उसी दिन पता लगा, कि डा० जार्ज रोयरिक यहीं हैं। उनके यहां आने का पता पहले ही पत्र से मालूम हो चुका था। शाम को उनके निवास "कुवेटी" में गए। मां अब अस्वस्थ थी, इसलिए उनसे नहीं मिल सके। तीन घंटे तक हमारी बातचीत होती रही। १९४७ में कुल्लू में जो खराबी हुई उसके कारण उनके परिवार का मन उखड़ गया। वह अपने पिता और अनुज की तरह चित्रकार-कलाकार नहीं हैं उनका विषय भारत तिब्बत मंगोलिया के इतिहास का अनुसंधान है। युरोप में उनके इतना बड़ा तिब्बती और मंगोल भाषा का विद्वान् शायद ही कोई हो। कलिम्पोंग में रहने पर तिब्बत के विद्वानों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सुभीता था इसलिए भी उन्हें यह स्थान पसन्द आया। उन्होंने तिब्बती इतिहास के एक बहुत बड़े ग्रंथ देब्-थेर् डानपो (नील पुस्तक) का अनुवाद अँग्रेजी में किया, जो आजकल बंगाल एशियाटिक सोसायटी से छप रहा था। पिछले ही साल कलिम्पोंग में उनकी माता का देहान्त हो गया। जार्ज अपनी साहित्यिक साधना में लगे हुए हैं।

२० अप्रैल को टहलते समय भिक्षु अनिरुद्ध साथ में थे। भिक्षु अनिरुद्ध श्रद्धालु नेवार बौद्ध पिता के पुत्र हैं, पिता भी धर्मालोक के नाम से भिक्षु बन गए, और चाहा अपने दोनों पुत्रों को भी भिक्षु बनाकर आगे की परम्परा ही तोड़ दें। लेकिन छोटा लड़का इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उसकी बात सुनकर हँसी आती थी। वह भिक्षु बनने के लिए ही सिंहल गया था। पर कहता था — मेरे दो ब्याह लिखे हैं, इसलिए मैं भिक्षु नहीं बनूँगा। वह भिक्षु न

बनकर सिल्क का व्यापारी बन गया। बड़े भाई ने सिंहल में श्रामणेर दीक्षा ली और अब भिक्षु होकर श्री अनिरुद्ध के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। बर्मा में थे उसी समय महायुद्ध छिड़ा और बर्मा जापान के हाथ में चला गया। चार युद्ध भर वहीं रहे। जापानी भाषा बोलने भर के लिए तो सीख ली, लेकिन उनका मन किसी भाषा के पढ़ने में नहीं लगता। उनके भीतर अब भी बचपन अधिक था, लेकिन स्वभाव से अच्छे थे।

दिल्ली—संविधान के मसौदे का अनुवाद करना था, इसलिए उसकी परिभाषाओं के बारे में मैंने इधर कुछ तैयारी की। ढाई हजार की गाड़ी में खूब परेशान हो चुके थे, इसलिए इस बार फिर से दिल्ली जाने की हिम्मत नहीं हुई। तै किया कि बागडोगरा से कलकत्ता और कलकत्ता से दिल्ली विमान से जाएँ। कलिम्पोंग के एक मारवाड़ी मित्र ने टिकट खरीदने का भी प्रबन्ध कर दिया। भोजन का प्रबन्ध महन्तजी ने संभाल लिया था। हमारे दोनों मित्र परिभाषा के काम में लग गये थे। २३ अप्रैल को मोटर से हम रवाना हुए। सिलिगुड़ी ८२ और वहाँ से ८ मील चलकर १० बजे बागडोगरा पहुँच गए। यात्रा में तीन घंटे लगे। हवाई अड्डा अस्थायी-सा था। खाली पड़ी जमीन पर लोहे की जालियाँ बिछा करके अवतरण भूमि तैयार की गई थी और आफिस के लिए लकड़ी के झोपड़े थे। थावे काटियान राव (छपरा) के श्री रघुवंश प्रसाद भी साथ चल रहे थे। पहले-पहल विमान में चढ़ना था, इसलिए बहुत डर रहे थे। हमने हँसते हुए कहा—

'रघुवंश बाबू, डरने की जरूरत नहीं। यदि कभी ऐसा होता भी है, तो विमानवालों को यात्रियों की मौत मिलती है। बस कुछ ही मिनटों में आदमी इस पार से उस पार पहुँच जाता है।' लेकिन यात्रियों की मौत मरने के लिए तो कितने तैयार होंगे। आजकल तो जब से डाक्टरों ने इस हृदय की गति बन्द होना (हार्टफेल) का रोग कहना शुरू किया है, तब से आन-पन और भी कम हो गया है। मगर मैं भी चढ़ रहा था, इसलिए रघुवंश बाबू को कुछ साहस आया। हम ९ बजकर २० मिनट पर अड्डे पर पहुँचे थे और एक घंटे बाद विमान उड़नेवाला था। सामान तौला गया और

शरीर भी। सामान २० सेर से अधिक होता, तो किराया देना पड़ता, लेकिन शरीर का वजन इस ख्याल से लिया जाता है, ताकि उतना ही बोझ रखा जाये, जितना कि लोह का गरुड़ उठा सकता है।

विमान दौड़कर आसमान में उड़ चला। कान में शोर की आवाज आ रही थी, पर वह उतनी कष्टकर नहीं मालूम हुई, जितनी कि तेहरान से मास्को जाने वाले विमान पर। यह था भी बोझा ढोने वाला विमान। बस सवारी न मिलने पर यह भी नारंगियाँ और दूसरी चीजें लादकर छकड़ा ही बन जाता था। पहाड़ पीछे छूटा, आगे नीचे सब मैदानी जमीन थी। विमान दक्षिण की ओर जा रहा था। भूमि में छोटी छोटी बहुत सी नदियाँ हैं, और ज्यादा वर्षा होने के कारण वह बिल्कुल सूखती नहीं। देखने में साँप सी टेढ़ी मेढ़ी मालूम होती थीं। गाँव मकानों के नहीं घरौंदे के पुंज मालूम पड़ते थे, और वृक्ष घास। जगह जगह चरते ढोर चींटियों से दिखाई पड़ते थे। विमान पाँच और छ हजार फुट की ऊँचाई पर उड़ रहा था। कहीं कहीं बादलों के कुछ टुकड़े उसके नीचे से भागते जान पड़ते थे। ५ बजे के करीब जो चिट मिली, उससे पता लगा कि हम हजार फुट ऊपर उड़ रहे हैं, और गति है १६५ मील प्रतिघंटा। ४ बजकर ५७ मिनट पर विमान इंगलिश बाजार के ऊपर उड़ रहा था। कोसी तो आने पहले ही सहस्र धारा बन गई थी और गंगा इतनी पतली थी कि हम पार करते भी पता नहीं लगा। समझ ही नहीं पाए किस वक्त बिहार की सीमा पार कर हम बंगाल में चले आए। विमान की सोलह सीटों में एक तिहाई खाली थीं। भारत में यह पहली बार विमान-यात्रा का मौका मिला था। पुष्पक विमान का ख्याल आता था। चाहे कल्पित हो हो, लेकिन कवियों ने आसमान से पृथ्वी कैसे दीखती है, इसकी ओर कल्पना दौड़ाई थी। वह कल्पना इतनी आकर्षक नहीं हो सकती थी, जैसी कि हमारे देश की यह पूर्वी भूमि दीख पड़ रही थी।

६ बजे शाम को दमदम हवाई-अड्डे पर उतरकर टैक्सी में हम मणि-बाबू के घर ४ नम्बर रामजाणा जनिया लेन पहुँचे। यात्रा के बाद और

विशेषकर रात को स्नान करने की मेरी आदत सी है। गद गुबार के कारण रेल यात्रा म तो यह आवश्यक भी है पर विमान म कोई वैसी बात नही थी। पर अब गर्मी आ गई थी इसलिए स्नान आनन्दकर था।

२४ तारीख का सवेरे ६ बजे ही फिर हवाई अड्ड पर पहुचा। बाग डोगरा से कलकत्ता तक किराया ७४ रुपया था और दिल्ली तक का २०३ रुपये था। इडियन नेशनल एयरवेज का विमान "मतलुब' हमे मिला जिसम २४ सीटें थी, और सभी पर मुसाफिर बैठे हुए थे। यह विमान अधिक स्वच्छ और सजा मालूम होता था। था भी यह अन्तर्राष्ट्रीय विमान पथ पर चलने वाला। इसकी चाल दो सौ मील से अधिक थी, और उड रहा था छ हजार फुट पर। कलकत्ता से ७ बजकर ४० मिनट पर हम रवाना हुए और दिल्ली पहुँचने म चार घटा २० मिनट लगे। यातायात के नवीन साधन दूरियो को कितना कम कर रहे हैं? इस विमान म ४४ पौंड पर किराया नही था चार पौंड अधिक होने का चार रुपया और देना पडा। कलकत्ता से दिल्ली तक का सारा नक्शा हमारे पैरो के नीचे पडा था। कही कही धुध अधिक थी जिससे साफ नही दिखाई देता था। अच्छी तरह देखने के लिए दूरबीन की आवश्यकता थी। हवाई जहाज से फोटो लेना मना है। नदिया नीचे मद गति से चल रही थी। जगल बाग गाँव और शहर जगह जगह छूटत जा रहे थे। मकानो की ऊँचाई किसी गिनती ही म नही थी। कितनी ही दूर तक गगा फिर सोन आई फिर कुछ दूर चल गगा का पार हो यामता के सहारे चल। फिर यमुना और गगा पार होने जमुना आई और विमान दिल्ली म पालम के अड्डे पर १२ बजे उतर गया। अड्डे से टैक्सी ले कुछ ही मिनटो म १३ फिरोजशाह रोड पर श्री चन्द्र गुप्त विद्यालकार के यहाँ पहुँच गए। कलिम्पोग से दिल्ली पहुचने का यह रास्ता बहुत टेढ़ा मेढा था। यदि बागडोगरा से सीधे दिल्ली की विमान व्यवस्था होती, तो कल ही हम कलिम्पोग से दिल्ली पहुँच गए होते।

कलिम्पोग म ठहरने पर भी डायबटीज की शिकायत कम नही हुई। यहाँ वह कुछ कम हो गया थी। शायद चावल और सर्द जगह के कारण हो,

लेकिन यह दिल बहलाने का ही ख्याल था। वजन अब भी १७२ पौंड अधिक मालूम होता था। दिल्ली में १०३ गर्मी थी, परेशानी तो होनी ही चाहिए। २८ तारीख को शाम के समय पार्लियामेंट भवन के उस कमरे में गए, जहा हमे काम करना था। सातो विशपन—जयचद्रजी, सुनीति बाबू दात घनश्यामसिंह गुप्त, प्रा० मुजीब सत्यनारायण जी और मैं—वहा मौजूद थे। अभी हम पहली बार मिले थे इसलिए भाषा और परिभाषा के बारे में विचार विनिमय हुए। प्रो० मुजीब को छोड सभी ने अपने विचार प्रकट किए। प्रो० मुजीब तो तभी बोल सकते थे जब उर्दू परिभाषाओं के लिए भी कोई गुजाइश हो। लेकिन परिभाषा के सम्बन्ध में भारत की बाकी सारी भाषाएँ एक तरफ थी, क्योकि सभी सस्कृत के शब्दों को लेने के लिए तैयार थी जबकि उर्दू की परम्परा उसे अरबी से जोडे हुए थी। इन बात मे सभी सहमत हुए, कि अनुवाद की भाषा सुगम होनी चाहिए, अनात और कठिन शब्दो से बचना चाहिए। परिभाषाएँ भारत की दसो भाषाओ में एक सी होनी चाहिए, और निर्माण मे सबकी सहायता लेनी चाहिए। मुझे यह जानकर भी बडी प्रसन्नता हुई, कि हमारे सचिव बालकृष्ण भाषा और परिभाषा के सम्बन्ध में बडे ही योग्य व्यक्ति थे। वहा से उठकर श्री गुप्त जी और बालकृष्णजी के साथ हम ठेकेदार नारायणदास के घर पर पहुँचे। हम तीनो का अनुवाद करके अगले दिन लाने का काम सौंपा गया था। बहुत रात तक हम काम करते रहे।

२६ अप्रल को फिर समिति की बैठक हुई, और कल जिन अनुच्छेदो का अनुवाद हमने किया था, वे स्वीकार कर लिए गए। यह भी निश्चय किया गया कि मैं और प्रा० बालकृष्ण अनुवाद करें, और अगली बैठक म १० मई को उसे पेश करें। उस दिन भी रात के ११ बजे तक हम दोनो अनुवाद करते रहे। हमने जो रास्ता अपनाया था उसम छ सदस्यो म किसी का भी मतभेद नही था यह जानकर बहुत सतोष हुआ।

२७ अप्रल को डा० भारद्वाज से मिले। उनसे मेडिकल परिभाषाओ के काम के बारे मे बात हुई। यह जानकर आश्चर्य होना ही चाहिए कि

इनके जैसे आधुनिक ढंग के सुशिक्षित दम्पति विधवा विवाह के विरुद्ध थे। उस समय हिन्दू विवाह व्यवस्था में स्त्रियों को तलाक के लिए भी अधिकार मिलनेवाला था। वह उन लोगों में से थे जो समझते थे, कि तलाक की छूट होने पर स्त्रियाँ धड़ाधड़ा अदालतों की ओर दौड़ पड़ेंगी। यह ख्याल नहीं था, कि पुरुष ने चाँदी के धागों से स्त्री को बाँध रखा है। जब तक स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं है तब तक वह पुरुष की सब तरह की गुलामी करने के लिए तैयार रहेगी। उस दिन ९ बजे रात तक का सारा समय बालकृष्णजी के साथ मिलकर अनुवाद करने में लगा। रघुवीर नाहो ने एक विचित्र क्लिष्ट तथा नई भाषा तयार की थी जिससे पिण्ड छुड़ाना जरूरी था। श्री सत्यनारायण जी हिन्दुस्तानी के पक्षपाती थे लेकिन वह भी हमारे अनुवाद से सन्तुष्ट थे।

दिल्ली में रात तो अच्छी थी, पर दिन में पंखा ही जीवनाधार था।

२८ तारीख को मध्याह्न भोजन श्री सत्यनारायण जी के यहाँ किया पुन जाने के ख्याल से गद्दे मसहरी को यहीं छोड़ १२ बजे डालमिया की इंडियन नेशनल एयरवेज के आफिस में गये। लू चल रही थी टिकट लिया १ बजे विमान उड़ा। यहाँ धरती पर गर्मी के मारे खोपड़ी भन्ना रही थी, और वहाँ ६५०० फुट पर दो सौ मील की चाल चलते विमान पर मौसम बड़ा सुहावना था। बनारस पर उन्नत समय वहाँ की गर्मियाँ याद आने लगी और उसी के ८००० फुट ऊपर ऐसा सुखद मौसम। पौने पाँच बजे हम कलकत्ता के दमदम अड्डे पर पहुँचे और १८ आना टैक्सी को दे ६ बजे मणिहप जी के घर पर पहुँच गये। उस समय कम्युनिस्टों का उच्छिन्न करने पर सरकार तुली हुई थी। उस दिन कम्युनिस्टों की भूख हड़ताल के समर्थन में जुलूस निकाला था जिस पर गोली चलाई गई।

कलिम्पोंग—२६ अप्रैल को सवेरे दमदम के अड्डे से पहुँचकर ६ बजकर १० मिनट पर हम उड़े। रास्ते में बादल था, विमान उसके ऊपर उठा और अधिक समय तक भूमि दिखलाई नहीं पड़ी। एक तरह आँख मूँदकर अन्दाज से चलना था। विमान में मुसाफिर कम और माल अधिक

भरा था। एक मारवाड़ी सहयात्री शंकित हृदय से बैठे थे और दूसरे वमन में व्यस्त। विमान अधिक हिलता डोलता नहीं था न पेट की चीज हिल सकती थी, फिर वमन क्या ? मनोवैज्ञानिक कारणों से ही ? बादलों के कारण हिमालय का दृश्य नहीं सके। दो घंटे उड़ान के बाद बागडोगरा पहुँचे। फिर विमान कम्पनी की मोटर बस ने हमें सिलिगुड़ी स्टेशन पर पहुँचा दिया। मुस्लिम होटल का मालिक भोजन कराते बतला रहा था—यहाँ दोनों ओर की भूमि भारत की है किन्तु रेलवे लाइन पाकिस्तान की है। बंगाल के गवर्नर डा० काटजू आने वाले थे उनके स्वागत के लिए लोग जमा थे। १० रुपए में मोटर की अगली सीट मिली और साढ़े १२ बजे धर्मोदय पहुँच गए। आनन्दजी मौजूद मिले। वैशाख पूर्णिमा की तैयारी हो रही थी। दिल्ली से लौटने के बाद घर रहने का उत्साह कुछ मन्द हो गया। सोचने लगे, मधवस्ति से दूसरे के घर में रहना ही ठीक है क्या घर में बैठें और क्या रुपयों के तरद्दुद में पड़ें ? दिल्ली फिर जाना था। और इस खबर को सुनकर प्रसन्नता हुई, कि दिल्ली से सीधे बागडोगरा आने का प्रबन्ध किया जा रहा है। लेकिन मेरे समय यह नहीं हो सका। दिल्ली में वर्षा नहीं थी अब दिन और रात झड़ी लग गई थी।

टहलने का नियम फिर पाला जाने लगा। बोलने समय बराबर बोलते रहना पड़ता था। सोचा एक घंटा मौन रखा जाए ताकि 'मधुर स्वप्न' के बारे में खाका बनाया जा सके। उपन्यास मैं एक छोड़कर ऐतिहासिक ही लिखता आया हूँ और आगे यदि लिखना होगा, तो ऐतिहासिक ही लिखूँगा। इसमें काफी मेहनत पड़ती है। देश-काल पात्र-सम्बन्धी कोई अनौचित्य न हो, इसके लिए सभी तरह की प्राप्य सामग्री का अध्ययन करके नोट कर लेना पड़ता है। अध्याय के अनुसार उपन्यास का ढाँचा तैयार करना फिर उसमें सामग्री को यथास्थान रखना। इनके बाद बड़ी बड़ी घटनाओं का भी सन्निवेश करना। फिर कहानी सामने आती है जो कितनी ही जगह लम्बा की इच्छा के न रहने भी दूर खींच ले जाती है। "मधुर स्वप्न" का कुछ अंश लिखा दिया गया था। महेश लिखने का काम

कर रहे थे। ५ मई का आठवाँ अध्याय लिखवाया। उसी दिन शाम को दार्जिलिंग के डिप्टी कमिश्नर श्री निमल्जी आए। वह सनगुप्त के सह पाठी भी थे। देर तक देश की स्थिति पर बातचीत होती रही। अगले दिन शाम को धर्मोदय के नीचे श्रीमती स्काट के अंध विद्यालय में गए, जिसमें २४ लड़के शिक्षा पा रहे थे। उनका सारा प्रबंध श्रीमती स्काट करती हैं, इस तरह के निरवलम्ब आदमियों को स्वावलम्बी बनाना बड़ा काम है। उनसे पता लगा कि लद्दाख की मिशनरी बुढ़िया मर गई है लेकिन फिन लण्ड मिशन ने वहाँ अपना काम छोड़ा नहीं है।

७ मई को मलेरिया रानी ने सूचना भेजी — यह मेरा भूमि है, मैं आपसे मिलना चाहती हूँ।' भला यह उनके स्वागत का समय था। परों में सुरसुराहट हुई, पेट में कुछ गड़बड़ी मालूम हुई। मैंने कुनन की दो गोलियाँ देकर छुट्टी लेनी चाही। अगले दिन टहलना रुक गया। भख भी नहीं थी पर ज्वर का अभी स्पष्ट पता नहीं था। उस दिन भी दो टिकियाँ थमाई। मसहरी दिल्ली में छोड़ आने का पछतावा होने लगा, क्योंकि अब मच्छर बन गए थे।

प्रत्यक्ष शारीर की परिभाषाओं को अंतिम रूप देने में हम लोग लगे हुए थे।

११ मई को अब की बशाख पूर्णिमा पड़ी। कलिम्पांग में काफी बौद्ध हैं, और उनके एक से अधिक मंदिर भी हैं। धर्मोदय विहार में सवेरे बुद्ध पूजा हुई, दोपहर को भिक्षुओं का भोजन कराया गया। काफी स्त्री-पुरुष आए। विहार को अच्छी तरह सजाया गया था। डेढ़ बजे आनंदजी के सभापतित्व में सभा हुई। एस० डी० ओ० श्री प्रधान ने धर्मोदय सभा के पुस्तकालय का उद्घाटन किया। बादल उमड़ घुमड़कर आ रहे थे लेकिन उन्होंने यन्त्र में बाधा नहीं डाली। [मैं भी बोला। डा० भट्ट अपनी भाषा (कन्नड़) में बोल नहीं सकते थे अंग्रेजी और जर्मन पर उनका पूरा अधिकार था, लेकिन वह संस्कृत में बोले। उनका स्वाभाविक संस्कृत का मैं पहले भी प्रशंसक था। अब इतने वर्षों बाद भी वह उसी तरह अधिकार

रख सकते हैं, इसकी कम आशा थी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी में इस समय तिब्बती के अध्यापक एक बुयत मगोल भिक्षु भी वहां आए। उनसे बात चीत होती रही।

तिब्बत में पाच विषयों—दर्शन, तर्कशास्त्र, विनय महायानसूत्र और माध्यमिक शास्त्र—के पाँच ग्रंथ पढ़ाए जाते हैं —अभिधर्मकोश, प्रमाण वार्तिक, विनयसूत्र, अभिसमयालंकार और मध्यमकावतार। इनमें अन्तिम को छोड़कर सभी संस्कृत में प्राप्य हैं। पहले दोनों को मैं सम्पादित करके प्रकाशित कर चुका हूँ, तीसरा सम्पादित होकर छप चुका है लेकिन प्रका शन अचार बनाने में लगे हुए हैं। चौथी पुस्तक रूस से छप चुकी है, और अन्तिम अभी तिब्बती भाषा में ही उपलब्ध है। मैं सोच रहा था यदि संस्कृत और तिब्बती अनुवाद को आमने सामने रखकर प्रकाशित किया जाए, तो इससे दोनों भाषाओं के जानने वालों को लाभ होगा। पहली पुस्तक के मुद्रण के व्यय का जिम्मा मेरे मित्र श्री त्रिरत्नमान ने ले भी लिया, लेकिन सबसे बड़ी दिक्कत तिब्बती टाइप की हुई। कलकत्ता में एक प्रेस का चार्ज चौगुना पचगुना था, दूसरा प्रेस मैनेजर रखने वाला था उसके ही कारण महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित असंग की "योगचर्या भूमि" अभी तक नहीं निकल सकी और सम्पादक बिल्कुल निराश हो चुके हैं। कलिम्पोंग में श्री थर्चिन का प्रेस काम कर सकता था, लेकिन वह भी पर्वाह नहीं रखते। इन्हीं दिक्कतों से यह काम रह गया, नहीं तो दो-चार पुस्तकें तो जरूर निकल गई होतीं।

अगले दिन (१२ मई को) टाउन हाल में बुद्ध जयन्ती मेरे सभा पतित्व में मनाई गई जिसमें बगाली, भारतीय, तिब्बती नेपाली, स्विस और रूसी श्रद्धालु वाले थे। बौद्ध धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय रूप यहाँ आँखों के सामने था।

तिब्बत के भविष्य के बारे में मैं निश्चिन्त और प्रसन्न था। लेकिन, एक बात को चिन्ता मुझे जरूर होती थी, कि तिब्बती भाषा के प्रकाण्ड पण्डित वहीं सुनी-सुनाई बातों को सुनकर देश से भागने के लिए तैयार न हो जाएँ

और उनकी विद्या का काई माल न रह जाए। १३ मई को एक ऐसे ही मगाल पडित आए। अपने देश से आकर मेरा विहार म वर्षों रहकर पढते रहे। अब ५५ साल के हो गए थे। कुछ चित्रकला भी बनाना जानते थे। कलिम्पोग म आए साल भर हो गया और चित्र ही स कुछ जीविका कमा रहे थे। बहुत कष्ट म थे। उनकी विद्या का यहा काई उपयाग नही हुआ। मैं जानता था पाँच रुपया देकर मैं अपनी पीडा दूर कर रहा हूँ उनकी पीडा दूर करने का रास्ता तो यही था कि वह तिब्बत लौट जाते। और कुछ दिनो बाद उन्हे पढाने लिखाने का काम जरूर मिल जाएगा।

तिब्बत म उत्तर ल्हाम हा उपत्यका म तुगन (चीनी मुसल्मान) लोगो का आर कम्युनिस्ट मुक्ति सेना लड रही थी। वहा के मुस्लिम नेता अपने लोगो के सर्वेसर्वा होकर शाहाना ठाठ से रहते थे। वह क्या कम्युनिस्टो के स्वागत के लिए तैयार होते? पर हारकर उन्हे भागना जरूर था। मुझे इस बात की चिन्ता थी कि कही वह भारत भागने का सीधा रास्ता न पकडे और ल्हासा होते कलिम्पोग म आए। ऐसा होने पर उनकी लूट पाट म रेडिङ ल्हासा आदि के प्राचीन बौद्ध विहार नष्ट हो जाते जिनके साथ हमारी सहस्रो अनमोल सास्कृतिक निधिया भी ध्वस्त हो जाती। मैंने इस खतरे के बारे म राष्ट्रपति को लिखा, और विश्व दर्शन म एक लेख भी लिखा। राष्ट्रपति ने चीन स्थित अपने राजदूत को इसकी सूचना दी और इन निधियो की ओर चीन सरकार का ध्यान दिलाने के लिए कहा। सौभाग्य स तुगन हारकर इस रास्ते नही भागे, वे और पश्चिम की तरफ हटते गए और अन्त उनके नेता सिडक्याग स कश्मीर म चले आए।

कलिम्पोग म और सब ठीक हो गया था लेकिन अभी भोजन का अच्छा प्रबन्ध नही हुआ था। भोजन म भिन्न भिन्न रुचि रखने वाले लोग थे तो भी हम नही थे कि वह उसम हेर फेर करना न पसन्द करते। पर कोई अच्छा रसोइया नही मिल रहा था। कई रसोइया बदलने पडे थे।

धर्मोदय की ऊपरी मजिल को करीब करीब हमने दखल कर लिया

था। बहुत अच्छी जगह थी—शहर से बाहर भी और समीप भी। नीचे से कलिम्पोंग जाने वाली सड़क जाती थी। यहां गर्मी का भय नहीं था, लेकिन परिचितों की संख्या कम नहीं थी, इसलिए मिलने जुलने के कारण समय बहुत बरबाद होता था। पर यह अवस्था शुरू में ही रही, जब लोगों को मालूम हो गया, कि रविवार को आने में हमें सुभीता है, तो वह उस दिन आने लगे। उस समय मैं सबेरे साढे ५ बजे उठता १५ मिनट में हाथ मुंह धोकर छुट्टी लेता, डेढ दो घंटा टहलने के लिए निकल जाता। ८ बजे के बाद कभी नाश्ता करता, फिर लिखने या काम में काम में लग जाता, साढे ८ साढे ९ के बीच कभी आध घंटे के लिए सो भी जाता फिर काम में लगकर मध्याह्न भोजन करके दैनिक पत्र को कुछ मिनट देकर साढे ७ बजे रात तक कोश का काम करता। रात्रि भोजन के बाद साथियों के साथ कुछ देर वार्तालाप होता फिर दो घंटे "मधुर स्वप्न" को लिखवाता। इसके बाद कोई हल्की चीज पढ़ना, और फिर डा० भट्ट के साथ काफी बात करके सो जाना।

डा० भट्ट का १८ वर्ष का जर्मनी का प्रवास बडी मनोरंजक आपबीतियों से भरा था। वह संस्कृत के पुराने पंडित थे जब जर्मनी के लिए रवाना हुए अंग्रेजी जानना भी उनके लिए मुश्किल था। पण्डिताऊ दृष्टिकोण साथ गया था। जर्मनी में पहुँचने के बाद उनके पास मुश्किल से सौ रुपये रह गए होंगे। मेरे लिखने पर टूबिंगन विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर ने काम के बदले उन्हें कुछ आर्थिक सहायता देने के लिए कहा, और दी भी। पर वह सहायता इतनी कम थी, कि बड़ी मुश्किल से काम चला सकते थे। मैंने मंत्र बतला दिया—आदमी को छलांग मारना चाहिए। आखिर वह जहां भी छलांग मारेगा, वहां मानव समुद्र ही रहेगा और मानवता हर जगह मनुष्य की रक्षा के लिए तैयार है। अज्ञात-अपरिचित स्थान में भी आदमी के मित्र बन जाते हैं फिर गाड़ी चल पड़ती है। छलांग मारने वाला में हजार में एक हो डूबता है और हम ९९९ छांटकर एक की श्रेणी में नाम लिखाने की क्या जरूरत? डा० भट्ट ने संस्कृत

किसी विषय को लेकर तुबिंगन में पी एच० डी० की। फिर उन्हें प्राचीन विद्या से संतोष नहीं हुआ अर्थशास्त्र राजनीति लेकर बर्लिन यूनिवर्सिटी से डा० बने। उनकी विद्या और प्रतिभा ने सहायता की, और बर्लिन यूनिवर्सिटी में वह प्रोफेसर बन गए। कलम के भी धनी होकर भारत के बारे में लिखते रहे। पीछे भारत सम्बन्धी आँकड़ों के सहित उनका परिचय ग्रंथ इतना अच्छा था, कि उसका लाखों का संस्करण निकला। पुस्तकों और लेखों की रायल्टी भी मिलने लगी।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। डा० भट्ट अपने देश की आजादी के लिए अधीर थे, और उसके लिए काम कर रहे थे। जब नेताजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने जर्मन अंग्रेजी में पत्र निकालना चाहा—तो उसके मुख्य सम्पादक के लिए उनकी नजर डा० भट्ट के ऊपर पड़ी। फिर वह नेताजी के दाहिने हाथ के तौर पर तब तक काम करते रहे जब तक कि नेताजी वहाँ से अलग होकर पूर्व में पहुँच नहीं गए। उसके बाद भी भट्टजी अपने काम में डटे रहे।

जर्मनी की पराजय हुई। मित्र शक्तियाँ उनका किस तरह स्वागत करती, यह उन्हें मालूम ही था। इसलिए दक्षिणी जर्मनी के एक देहात में चले गए और किसी किसान के यहाँ खेती और सूअरों के पालन में सहायता देने लगे। जर्मन भाषा पर अधिकार था, पर अपने को जर्मन कैसे कह सकते थे, जब कि उनका रंग हमारे यहाँ के ख्याल से भी पूरा गोरा नहीं था। उन्होंने इस कमी को अपने को पूर्वी यूरोप का रोमनी (जिप्सी) कह कर पूरा किया। तीन वर्ष तक इसी तरह उन्होंने अपना समय काटा यह बौद्धिक मृत्यु का समय था। अभी वह जर्मनी जल्दी छोड़ने के लिए मजबूर नहीं थे। इसी बीच उन्हें हृदय का रोग हो गया। दवाइयाँ मिलनी मुश्किल थीं। इसके साथ जन्मभूमि और उसकी आजादी ने अपनी ओर खींचा। किसी तरह चुपचाप वह जर्मनी की सीमा पार कर स्विट्जर्लैण्ड में जाने में सफल हुए। हमारा दूतावास मौजूद था जिसकी सहायता से बड़ी-बड़ी उमंगें लेकर वह अपनी जन्मभूमि में आए। पर यहाँ अभी गुणों के ग्राहक कहाँ थे?

डा० रोयरिक चाहते थे, कि भारतीय और तिब्बती भाषाओ और संस्कृति के अनुसंधान के लिए एक प्रतिष्ठान कायम किया जाए। इसके लिए कलिम्पोग सबसे उपयुक्त स्थान था, पर प्रतिष्ठान के लिए रुपया की आवश्यकता होती। प्रकाशन के लिए ही नही, बल्कि तिब्बती मगोल या भारतीय विद्वानो के लिए भी खर्च की जरूरत थी। सिक्किम के महाराज से अब्बल तो आशा नहीं हो सकती थी, क्योकि वह इसके वैज्ञानिक महत्व को समझने मे असमर्थ थे। और सहायता देने पर गताव मे रखने का आग्रह करते। चन्दा और धमा जमा करना मैंने सीखा नही, इसलिए उसके बारे मे कोई भी सहायता नही कर सकता था। हा प्रतिष्ठान मे मैं अपनी लेखनी से योग देने के लिए तैयार था।

२८ मई को हम टहलते-टहलते चीनी स्कूल की तरफ गए। कुछ सालो पहले चीनी लडको के पढाने के लिए यह स्कूल खोला गया था। उसके पास एक एकड जमीन मे एक लकडी की झोपडी थी। मैं उसको भी देखने गया था। वह पाँच हजार मे मिल रही थी लेकिन अभी खूँटे से बधना मैं नही चाहता था। बडे-बडे मकान मिट्टी के मोल बिक रहे थे पर मैं तो उनके बारे मे सोच भी नही सकता था। डा० रायरिक जिस बँगले मे रहते थे उसके पास ही किसी अँग्रेज का बहुत विशाल बँगला था। लडाई के दिनो मे उसके सात लाख मिल रहे थे, और अब सूरजमल-नागरमल ने पौने दो लाख मे खरीद लिया।

प्रत्यक्ष शारीर की परिभाषाओ का काम समाप्त हो गया था, और अब दूसरे कामो मे हाथ लगा था।

दिल्ली—२५ मई को फिर हम १० बजे मोटर से बागडोगरा के हवाई अड्डे पर पहुँचे। कलिम्पोग मे बतलाया गया था कि टिकट तैयार है, पर यहाँ आने पर मालूम हुआ कोई टिकट नही लिया गया। खैर जगह खाली थी, टिकट मिल गया और ? बजे रवाना होकर साढे चार बजे के कुछ बाद कलकत्ता पहुँच गया। मणिलालजी के यहाँ रात को ठहरा। तिब्बती-संस्कृत पुस्तक छापने की धुन था, इसलिए प्रेसो से बात करने

गए। आरियन्टल प्रेस छापने के लिए तयार था, पर उसके पास साधन कम था। उसका टाइप भी बहुत घना था, जिसके कारण 'अभिधम कोश' १६ फाम म छप पाता। बाप्टिस्ट मिशन अपने छोटे टाइपो म सात फाम छाप सकता था, किन्तु बहुत बड़े चाज पर भी उसके काम करने म सन्देह था।

२६ मई को साढ़े ७ बजे दमदम से विमान पर चलकर ठीक १२ बजे दिल्ली पहुँच गया। नीचे जमीन पर उतरते ही घूप से खोपड़ी भन्नाने लगी। आज पत्रो म यह हृदयदायक समाचार मिला, कि शघाई को बिना लड़े ही कम्युनिस्टो ने ले लिया। उस विशाल नगर का बहुत ध्वस होता यदि लड़ाई नगर के भीतर हुई होती।

श्री सत्यनारायणजी के घर म ताला बन्द था इसलिए श्रीमती कमला चौधरी के मकान १३ फारोजशाह रोड म श्री जयचन्द्रजी के पास ठहरे। आने पर पता लगा कि बठक १ तारीख के लिए मुलतवी हो गई अर्थात् मैं पाँच दिन पहले आ गया। लेकिन, इस बीच म श्री बालकृष्ण के साथ मिलकर कुछ काम कर सकते थे, चाहे उसके लिए हम पास से दाकर ही काम करना पड़ता। २७ मई को ६ बजे कौंसिल चेम्बर म जा १६ नम्बर के कमरे म बालकृष्णजी के साथ बठे। कमरा वायु नियन्त्रित है इसलिए इसम न गर्मी का डर था न सर्दी का। सविधान-सभा ने अब तक सविधान के ६२ अनुच्छेद पास कर लिए थे, उन्हे हमने देखा। अनुवाद का काम करने लगा। इस बीच बालकृष्णजी बहुत सा अनुवाद कर चुके थे। मालूम हुआ प्रोफेसर मुजीब ने इस्तीफा दे दिया। आखिर उर्दू की तो भाई बात यहा सुनी नहीं जा रही थी इसलिए वह अपना रहना बेकार समझते थे। उर्दू की तरफ इस बरखाई के लिए अनुवाद समिति की शिकायत नेहरूजी के पास पहुची और उन्होंने इसके खिलाफ एक पत्र राजेन्द्र बाबू को लिखा। लेकिन, यह समिति के सदस्यो का दोष नहीं था जो कि वह परिभाषाओ के निर्माण और भाषा के प्रयोग म एक ही रास्ता ले रहे थे। हिन्दी की उर्दू से वमनस्य की बात कही जा सकती है लेकिन मराठी

कन्नड़, मलयालम, तेलुगु, बंगला के ऊपर तो यह लांछन नहीं लगाया जा सकता। अगर परिभाषाओं के निर्माण की दो हजार वर्ष की परम्परा सारे देश में एक सी है, तो इसका दोष समिति के सदस्यों पर नहीं लगाया जा सकता। पर नेहरूजी और उनके जैसे लोगों को समझाया कैसे जाए?

क्या मुझे नगर से अधिक ग्राम, मैदान से अधिक पहाड़ पसन्द आता है? यह तो नहीं कहता, कि नगर और मैदान काट खाने के लिए दौड़ते हैं। कलिम्पोंग ग्राम नहीं है, लेकिन वह मुझे पसन्द है। हाँ, उससे भी अधिक पसन्द होता। भारत की सीमान्त का अन्तिम गाँव लाछेन्, क्योंकि वहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य बहुत है, विश्व के सबसे सुन्दर वृक्ष देवदार की बहुतायत है और साथ ही मेरे लिए भारी आकर्षण तिब्बत की सीमा नजदीक है, वहाँ की भाषा बोलने वाले लोग भी वहाँ मिलते हैं, जो मूलतः किरात जाति से सम्बन्ध रखते हैं। शायद दिल्ली के १०८ डिग्री के ताप में झुलसते हुए मुझे ठण्डे स्थानों की ज्यादा याद आती थी।

१ जून से अनुवाद समिति की बैठक होने लगी और २ बजे से साढ़े ५ बजे तक हम उसके काम में लगे रहते। संविधान-सभा संविधान के जितने अनुच्छेदों को पास करती जाती, उनका ही हम अनुवाद करना था। गाड़ी घर मिली थी, इसलिए न कोई दिक्कत होती थी न देर। इन दिनों बैठे-बैठे 'मधुर स्वप्न' की प्रेस-कापी तैयार करता रहा। यदाकदा गायत्रीजी अपने पिता श्री हरभगवानजी के साथ आतीं, उनको पालि पढ़ा देता। अनुवाद के काम में श्री घनश्यामसिंहजी सबसे अधिक मेहनत करते थे। वह वकील भी थे और अंग्रेजी संविधान का अक्षरशः मिलाने का परिश्रम उठाने के लिए तैयार थे।

दिल्ली के लिए कहना चाहिए तीन लोक से मथुरा न्यारी। वैसे सभी नगर देहात से अलग अलग रहने का भाव रखते हैं, पर दिल्ली तो मालूम होता था, भारत की भूमि पर है ही नहीं। यहाँ के श्रेष्ठ लोग जो आचरण करते, उसी पर इतर लोग भी आँख मूँदकर चलने की कोशिश करते थे। दिल्ली कहने से यहाँ के गरीब आदमियों को नहीं लिया जा सकता। वह

सा वहाँ के दरोगीवारा वहाँ की सड़को और नालियो की तरह बहुत कुछ निर्जीव से थे। उन्हे यहा का नागरिक नही कहा जा सकता था और काफी तादाद का नाम मतदाताओ के रजिस्टर मे भी नही था। दिल्ली भारत की सर्वोपरि विलासपुरी है। यहा की हरेक बात पर पाश्चात्य प्रभाव है—अचकन और चूड़ीदार पायजामा नाम के लिए ही भारतीय है। वेशभूषा और साज सज्जा पर पेट काट करके भी लोग खर्च करने के लिए तयार है। जब तक कार न हो तब तक समाज मे कोई पूछ नही हो सकती थी, और न दूर दूर पर होने वाले समारोहो मे उपस्थित हुआ जा सकता। इसलिए चाहे कर्ज करना हो या रिश्वत लेनी पड़े, इस सर्वविश्वस चीज़ को अपने पास रखना ही था। न रखने पर खतरा भी था। हरेक तरुणी सुन्दरी केवल पौडर और लिपिस्टक के बल पर सम्मानित नही हो सकती और अपने घर मे कार न हुई तो दूसरे की सहायता लेने के लिए मजबूर है। पढा सुना करते थे कि बसन्त मे लन्दन मे कुमारियो का जमा वडा इसलिए होता था कि वह वहाँ के नाच और पान-गोष्ठियो मे सम्मिलित होकर अपने लिए वर तलाश करें। अब पेन्शन पाने वाले या दूसरे नगरो मे बसने वाले माता पिता अपनी तरुण पुत्रियो को इसी के लिए दिल्ली मे लाने लगे हैं। क्या दुनिया मे हर जगह का गुजरा इतिहास हमारे यहाँ भी दोहराया जायगा।

इसी समय श्री नवीनजी के ब्याह की चर्चा थी। बाल सफेद होने पर ब्याह करने की तमादी नही लग जाती यह मैं मानता हूँ फिर डा० प्राणनाथजी वधू के गुण और रूप की प्रशसा करते नही थकते थे। नवीनजी भी कवि है उनकी दृष्टि धोखा नही खा सकती।

६ जून तक हमारा अनुवाद का काम रहा ७ को यहाँ से चलना निश्चित हो गया था। भारतीय सविधान मे हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के प्रश्न पर विचार होने वाला था, अहिन्दी भाषाभाषियो को हिन्दी विरोधिया ने पूरी तौर से भड़काने की कोशिश की थी, इसलिए उसके बारे मे भी हिन्दी वालों को कुछ काम करना था। ५ तारीख को फीरोजशाह रोड

पर अवस्थित दीवानचन्द हाल म नाम को उसी सम्बन्ध मे सभा हुई। प्रो० क्षेनेशचन्द्र चट्टोपाध्याय और प० जयचन्द्र विद्यालकार दो दो घटे बोले। मैंने भी आध घटा हिन्दी का समर्थन किया। बाहर निकलने पर एक आन्ध्र तरुण मिला, जिसका जोर था कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाया जाए। गोया संस्कृत को राष्ट्रभाषा के आसन पर बठाने म हिन्दी से कम दिक्कत का सामना करना पडता। फिर अप्रचलित भाषा को भारत की बडी जनता को सिखलाया कसे जा सकता है? कितने हा मिलने वाले आए, डा० किरणकुमारी गुप्ता से यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि वह अग्रवाल विवाह प्रथा पर सामग्री जुटाने मे लगी हुई हैं।

६ जून को शरणार्थियो की जगह देखने गया। डेढ वर्ष से ऊपर हो गया लेकिन अभी भी वह उसी तरह की बेसरो सामानी की जिन्दगी बिता रहे हैं। कपडे फटे मले, झोपडियाँ गन्दी, पखाने पाखाने का उचित प्रबन्ध नही, जिसके कारण उनकी बस्तियां भी गन्दी। जिस तरह वे रह रहे थे, उसमे यदि बच्चे मोटर के नीचे चले आएँ, तो क्या ताज्जुब। जिन्होंने अपने परो पर खडे होने की कोशिश की उनकी हालत कुछ बेहतर हो गई, पर शत प्रतिशत लोगो से यह आशा नही की जा सकती थी। नई दिल्ली म कई जगह फुटपाथो पर से उन्हे हटा दिया गया। हटाकर किसी रहने लायक स्थान पर पहुँचाया होता। यह नही, खुले आसमान म वर्षा और धूप मे मरने के लिए उन्हे छोड दिया गया। उसी दिल्ली म वायसराय (राष्ट्रपति) का इस्टेट है, सैकडो सजे हुए विशाल कमरे ही नही, बल्कि विस्तृत गोशालाएँ और भसशालाएँ हैं, साग तरकारी के खेत और मेवो के बाग लगे हुए हैं। मन्त्रियो और दूसरो के भवन-वभव को देखकर इन्द्र को ईर्ष्या हो सकती है, लेकिन वहीं ये नगे भूखे लोग अपने घरो से निर्वासित नरक की जिन्दगी बिता रहे थे।

ता वहाँ के दरोदीवारो, वहा की सडका और नालिया की तरह वहुत कुछ
निर्जीव स थे। उन्ह वहा का नागरिक नही कहा जा सकता था और
काफी तादाद का नाम मतदाताओ के रजिस्टर म भी नही था। दिल्ली
भारत की सर्वोपरि विलासपुरी है। यहा की हरेक बात पर पाश्चात्य
प्रभाव है—अचकन और चूडीदार पायजामा नाम के लिए ही भारतीय
है। वेशभूषा और साज सज्जा पर पेट काट करके भी लोग खच करने के
लिए तयार है। जब तक कार न हो तब तक समाज मे कोई पूछ नही हो
सकती थी और न दूर दूर पर होने वाले समाराहो मे उपस्थित हुआ जा
सकता। इसलिए चाहे कज करना हो या रिश्वत लेनी पडे, इस सर्वावश्यक
चीज को अपने पास रखना ही था। न रखने पर खतरा भी था। हरेक
तरुणी सुन्दरी केवल पौडर और लिपिस्टिक के बल पर सम्मानित नही हो
सकती और अपने घर म कार न हुई तो दूसरे की सहायता लेने के लिए
मजबूर है। पढा सुना करते थे कि वसन्त म लन्दन मे कुमारियो का जमा
वडा इसलिए होता था, कि वह वहाँ के नाच और पान-गोष्ठियो म सम्मि
लित होकर अपने लिए वर तलाश कर। अब पेन्शन पाने वाले या दूसरे
नगरो म बसने वाले माता पिता अपनी तरुण पुत्रियो को इसी के लिए
दिल्ली म लाने लग है। क्या दुनिया मे हर जगह का गुजरा इतिहास हमारे
हाँ भी दोहराया जायगा।

इसी समय श्री नवीनजी के ब्याह की चर्चा थी। बाल सफेद होने पर
ब्याह करने की तमादी नही लग जाती यह मैं मानता हूँ फिर डा० प्राण
नाथजी वधू के गुण और रूप की प्रशसा करते नही थकते थे। नवीनजी
भी कवि हैं उनकी दृष्टि धोखा नही खा सकती।

६ जून तक हमारा अनुवाद का काम रहा ७ को यहाँ से चलना
निश्चित हो गया था। भारतीय सविधान म हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के
प्रश्न पर विचार होने वाला था, अहिन्दी भाषाभाषियो को हिन्दी विरो
धियो ने पूरी तौर स भडकाने की कोशिश की थी इसलिए उसके बारे म
भी हिन्दी वालो को कुछ काम करना था। ५ तारीख को फीरोजशाह रोड

पर अवस्थित दीवानचन्द हाल में शाम को उसी सम्बन्ध में सभा हुई। प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय और पं० जयचन्द्र विद्यालंकार दो-दो घंटे बोले। मैंने भी आध घंटा हिन्दी का समर्थन किया। बाहर निकलने पर एक आन्ध्र तरुण मिला, जिसका जोर था कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाया जाए। गोया संस्कृत को राष्ट्रभाषा के आसन पर बैठाने में हिन्दी से कम दिक्कत का सामना करना पड़ता। फिर अप्रचलित भाषा को भारत की बड़ी जनता को सिखलाया कैसे जा सकता है? कितने ही मिलने वाले आए, डा० किरणकुमारी गुप्ता से यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह अग्रवाल विवाह प्रथा पर सामग्री जुटाने में लगी हुई हैं।

६ जून को शरणार्थियों की जगह देखने गया। डेढ़ वर्ष से ऊपर हो गया, लेकिन अभी भी वह उसी तरह की बेसरो-सामानी की जिन्दगी बिता रहे हैं। कपड़े फटे मैले, चारपाइयाँ गन्दी, पाखाने-पेशाब का उचित प्रबन्ध नहीं, जिसके कारण उनकी बस्तियाँ भी गन्दी। जिस तरह वे रह रहे थे, उसमें यदि बच्चे मोटर के नीचे चले आएँ, तो क्या ताज्जुब। जिन्होंने अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश की, उनकी हालत कुछ बेहतर हो गई, पर सब प्रतिष्ठित लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती थी। नई दिल्ली में कई जगह फुटपाथों पर से उन्हें हटा दिया गया। हटाकर किसी रहने लायक स्थान पर पहुँचाया होता। यह नहीं, खुले आसमान में वर्षा और धूप में मरने के लिए उन्हें छोड़ दिया गया। उसी दिल्ली में वायसराय (राष्ट्रपति) का इस्टेट है, सैकड़ों सजे हुए विशाल कमरे ही नहीं, बल्कि विस्तृत गोशालाएँ और भैंसशालाएँ हैं, साग-तरकारी के खेत और मेवा के बाग लगे हुए हैं। मंत्रियों और दूसरों के भवन-वैभव को देखकर इन्द्र को ईर्ष्या हो सकती है लेकिन वहीं ये नंगे भूखे लोग अपने घरों से निर्वासित नर्क की जिन्दगी बिता रहे थे।

१८

कालिम्पोंग में शेष काम

७ जून को सवा १२ बजे पालम के हवाई अड्डे पर गया। घंटे बाद विमान से धरती छोड़ी। आज आधी सीटें खाली थीं। विमान साढ़े ग्यारह हजार फुट की ऊँचाई पर उड़ रहा था। गर्मी के यौवन का दिन था, और हम उत्तर प्रदेश के भिन्न भिन्न शहरों—बनारस आदि के ऊपर से उड़ रहे थे। जब मैंने अपने साथियों को परों पर कम्बल रखते देखा तो नीचे धरती पर झुलसते आदमियों का ख्याल आने लगा। मुझे इतनी सर्दी नहीं मालूम हो रही थी कि कम्बल लेता। यह वाइकिंग विमान था। शायद इतने ऊपर उठने के कारण ही धुंध ज्यादा थी और चीजें बिल्कुल साफ नहीं दिखाई देती थीं। सोन पार कर लेने पर तूफान की सूचना मिली। रोशनी से संकेत हुआ और सब लोगों ने अपनी कमर में कुर्सी में बाँधने वाली बेल्ट बाँध ली जिससे तूफान में विमान के उछलने से आदमी लुढ़क न जाए। चार घंटे में सारी यात्रा पूरी करके हम सवा ५ बजे कलकत्ता के हवाई-अड्डे पर उतरे, और वैमानिक कम्पनी की टैक्सी पर मणि बाबू के घर पहुँच गए।

८ जून को भी कलकत्ता में रह जाना था। पत्रों में देखा सिक्किम के शासन को प्रजा के प्रतिनिधियों से भारत सरकार ने ले लिया। राजा के निरंकुश शासन से तंग आकर प्रजा ने अपना प्रजामण्डल बना संघर्ष शुरू

किया, जिससे मजबूर होकर राजा ने उनका मन्त्रिमण्डल बना शासन के कितने ही कामों को मन्त्रियों के हाथ में दे दिया था। राजा अब भी बाज नहीं आता था। जब मन्त्री बाबू से नहीं आए तो उसने भारत सरकार पर प्रभाव डाला, और मन्त्रिमण्डल भंग करके सरकार से प्रबंध के लिए एक दीवान मांग लिया। भारत सरकार ने राजा पर अनुग्रह दिखाया। यद्यपि सिक्किम भी भारत की दूसरी सैकडो रियासतो की तरह ही एक रियासत था, जो स्थिति बाकी रियासतो की हुई, वही सिक्किम की भी होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में उसे दार्जिलिंग जिले के साथ मिला देना चाहिए था, जिसके ही निवासियों के भाईबन्द सिक्किम भी रहते है। पर यह नहीं किया गया, सिक्किम को भारत-संघ से बाहर रक्खा गया। उसे भूटान और नेपाल की तरह अलग राज्य माना गया। इस प्रकार एक ओर राजा को अब प्रजा को अंगूठा दिखाने का मौका दिया गया, दूसरी तरफ भारतीय नौकरशाही का निरंकुश शासन वहाँ पर स्थापित कर दिया गया। किसी ने इधर ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी, यदि भारत की भूमि में वह बाहर का राज्य है तो उत्तर के पड़ोसी भी उससे स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित करना चाहेंगे। वस्तुतः वर्तमान शताब्दी के आरम्भ होने तक सिक्किम और भूटान तिब्बत के अधीन माने भी जाते थे।

कलिम्पोंग—९ तारीख को सवा १० बजे विमान उड़ा और १२ बजे से पहले ही हम बागडोगरा पहुँचे। आसमान साफ था इसलिए हिमालय का दृश्य बड़ा सुन्दर दिखाई पड़ रहा था। चोमालुङमा (एवरेस्ट) की छटा निराली थी। पीछे इन पर्वतमालाओं और आगे की ओर हरे भरे पहाड़ थे। बागडोगरा में मणि बाबू की मोटर मिली और थोड़ी देर सिलिगुड़ी में ठहरकर हम ३ बजे धर्मोदय पहुँच गए।

दोपहर के वक्त कुछ गर्मी भी मालूम हो रही थी। कलिम्पोंग ४००० फुट ऊँचा है। गर्मी से बिल्कुल बचने के लिए ६००० फुट की ऊँचाई चाहिए जहाँ जाड़ो में बर्फ भी पड़ जाती है। "मधुर स्वप्न" समाप्त हो गया था। ११ जून से "आज की राजनीति" लिखाना शुरू किया। जून के

घ्य म वर्षा भी पूरी तौर से आरभ हो गई थी और बाहर सवेरे घूमने जाना तभी हो सकता था जब आसमान साफ हो।

कलिम्पोग आए डेढ महीना हो गया था। आने के साथ जितने ग्रन्थ को लिखवाना था उन्हें तरुण तरुणियाँ लिख चुके थे। हम जब-तब जमा होने वाले ग्रन्थ के लिखान के लिए एक ही की आवश्यकता थी। श्री परमहंस मिश्र १९३० से ही मेरे परिचित थे। वह यहाँ मिशन स्कूल म अध्यापक थे। लिखने वाले लडके-लडकियो का प्रबन्ध उन्होने ही किया था। मैंने उनसे कहा—कि कोई सबसे चतुर लिखने समझने वाले लडके या लडकी को भेजे। काम किए हुए लडकियो म कमला परियार भी थी। परमहंस जी ने उसकी ही सिफारिश की और वह १४ जून से आकर काम करने लगी। उसके अक्षर भी साफ थे। मेट्रिक पास होने से अंग्रेजी भी ठीक, और हिन्दी का भी ज्ञान अच्छा था। मेट्रिक पास लडके-लडकियो को काम मिलना आसान नही था। कमला शरीर से बहुत दुबल और बेकारी से चिंतित थी उसकी पढने की इच्छा बहुत थी लेकिन गरीबी की मार आगे कम बढने देती? वह हमारे यहाँ से पुस्तकें ले जाकर पढा करती।

१४ जून को शाम के वक्त टहलते हुए हम चन्द्रालोक म गए। आरा के श्री निर्मलकुमार जैन ने बडी साध से अपने लिए यह मकान एस स्थान पर बनवाया था जहाँ दूरबीन से पहाडो की दोनो तरफ की भूमि दूर तक दिखाई पडती है। जब तक सम्पर्क म न आये तब तक आदमी के बारे म क्या पता लगता है, विशेषकर उसका जो लेखनी का धनी नही हो। हमारी कई पुस्तकें उन्होंने पढी थी और सबसे पीछे निकली 'जो दास थे' को भी। इसलिए अपने बारे म परिचय देने की आवश्यकता नही थी। मुझे वह बडे ही अध्ययनशील और सुसंस्कृत पुरुष मालूम हुए। सांस्कृतिक वातावरण उनके सारे परिवार म था। उद्योग धंधे के लिए बडे-बडे स्वप्न देखे। चीनी की मिलें ही नहीं स्थापित की बल्कि अल्मोनियम पत्तर बनाने के लिए सबसे पहला कारखाना उन्होंने ही स्थापित किया। पर आखिर म सभी चीजो पर सन्गेरी सेठो का अधिकार हो गया। वह आर्थिक शान्ति का नाश की दृष्टि

से नहीं देखन थे। दाना भाई आजकल यहा थे। कितनी ही देर बातचीत करने के बाद रात का साढे ६ बजे हम धर्मोदय लौट आय।

१५ तारीख म 'घुमक्कड शास्त्र' लिखना शुरू किया। महानारायण लिखने म चुस्त और अक्षर भी उनक साफ बनन थे। घुमक्कड होन स सैकडा तरुण मुझसे घुमक्कडी के बारे म पूछत रहन और जानना चाहते कि उन्हें उस पथ पर कसे आरूढ होना चाहिए। घुमक्कड होने की जिज्ञासा को इतनी बडी-चढी देखकर मुझे प्रसन्नता भी हुई और साथ-साथ मैं यह भी अनुभव करन लगा कि चिट्ठिया म उत्तर देन या ज्यादा से ज्यादा बात करन पर भी जिज्ञासा पूरी नहीं हो सकती, इसलिए इस पर एक पुस्तक लिखनी चाहिए। पुस्तक लिखने वक्त मुझे यह विश्वास नहीं था, कि उसके कदरदान तरुणा से बाहर भी काफी मिलेंगे। सबस पहले श्री कन्हैयालाल मुन्शी के मुह स हम सातवें शास्त्र की तारीफ सुनी। उसके बाद बिहार के दाना विश्वविद्यालया न अपनी पाठय पुस्तका म उसके कुछ अशा को स्थान दिया। मेरा तो बल्कि इसमे माथा ठनका। यह तो "आ बैल मुझे मार" जैसी बात थी। तरुण तो घर छोडकर भागन के लिए तैयार बैठे रहते हैं। पाठय पुस्तक म यदि उसी के लिए उत्तेजना दी गई तो यह विद्यार्थिया के माता पिताओ के भले की बात नहीं हो सकती।

इसी समय दक्षिणी कलकत्ता म पार्लियामेन्ट की एक सीट का पुन-निर्वाचन हुआ। श्री शरतचन्द्र बोस श्री यून आटा से काग्रेस उम्मीदवार को हराकर चुन लिए गय। काग्रेस वाले कभी आशा नहीं कर सकत थे कि नेता जी के अग्रज और स्वय भी देश के एक बडे राष्ट्रीय नेता को वह हरा सकेंगे। फिर भी अपनी भद कराने के लिए उन्होंने काग्रेसी उम्मीदवार खडा करा ही दिया।

इस वक्त मधुर स्वप्न और 'घुमक्कड शास्त्र' दाना की साथ साथ लिखाई हो रही थी, कभी कभी 'आज की राजनीति' पर भी लिखा जाता था।

महानारायण अभी नवतरुण थे। पढन की उनम तीव्र इच्छा थी और

गक्ति भी रखते थे। वह सिर्फ हिंदी जानते थे। आगे चलकर संस्कृत या अंग्रेजी न जानने के लिए उन्हें अफसोस होता। यह सोचकर मैं उनसे कहता, आगे पढ़ो। वह भी इसे पसन्द करते थे लेकिन साथ में रहते इतने काम थे कि इच्छा होने पर भी काफी समय नहीं दे सकते थे। पहले भी मैंने कहा था यदि निर्द्वन्द्व होकर पढ़ना चाहते हो तो साधु बन जाओ। साधु बनने का अर्थ महेशजी के जैसे लोग यह लगाते हैं कि एक मनुष्य उस जाल मे पड़ा, तो फिर निकल नहीं जा सकता। लेकिन, यदि जाल इतना पक्का दे जा जाए तो निकलने की जरूरत ही क्या ? मैं इतना था साधु होकर आदमी विद्या के लिए आजीवन विद्यार्थी रह सकता है। कपड़े कौड़ी के घुमक्कड़ी करने का उससे बढ़कर कोई रास्ता नहीं। महेशजी को कभी कभी बात पसन्द आती और कभी बिदक जाते। विवाहित भी थे, और पत्नी से प्रेम भी था। शायद यही मार्ग में बाधा थी। वह जब पांच छ वर्ष घर छोड़कर चले गए, तो पिता निराश होकर उनकी पत्नी के लिए एक दिन मद्रास पहुँच गए, और द्विपाद महाराज को चतुष्पाद बना दिया। खैर उनमें हिचकिचाहट थी। मैंने इच्छा प्रकट करने पर एक बार अपने मित्र स्वामी सत्यस्वरूप जी को उनके बारे में लिख दिया। यह भी निश्चय हो गया कि दो-तीन मास के खर्च का कोई प्रबन्ध हो जाएगा। १८ जून को यह निश्चय कर लिया कि जुलाई मे महेशजी बनारस जाएँ।

पुस्तकों के लिखने का सवाल था। यह समस्या डेढ़ साल से सामने थी। कभी अनुकूल लिपिक नहीं मिलता। अनुकूल मिलता तो वह अधिक दिनों तक साथ रहने के लिए तैयार नहीं होता या हम ही उसके भविष्य का ख्याल करके मामूली कलमघिसाई में उसके तरुण जीवन को बेकार करना पसन्द नहीं आता। महेशजी के जाने पर फिर वही परेशानी उपस्थित हुई। आखिर लिपिकों के बल पर ही भारत लौटने के बाद आधे दर्जन से ऊपर (कुछ काफी बड़ी बड़ी) पुस्तकें मैंने लिखी। लिपिक के अतिरिक्त डायबटीज भी एक समस्या थी। यद्यपि अब उसके छूटने की आशा बहुत कम रह गई थी और यह भी हो गया था, कि इसका परेशानी

से बचने के लिए हम रोज इन्सुलिन लेना चाहिए। पर अभी तक उससे मैं बचता आया था। बहुत दिनों तक बचा जाएगा, इसकी आशा नहीं थी। इसी समय हमारे यहां कमला भी काम कर रही थी। महेशजी के बाद लिखने का काम वह अच्छी तरह कर लेगी, और टाइप करना भी सीख लेगी, जिससे हरेक पुस्तक की दो दो कापियां तैयार हो जाएँगी। इस तरफ से अब निश्चिन्तता हो गई।

धर्मोदय में जिस मकान में हम रहते थे, वह बहुत ही स्वच्छ और रहने के अनुकूल भी था। पर शहर के नजदीक होने से कितना ही करने पर भी लोगों का आना-जाना होता रहता था, जिसके कारण समय बर्बाद होता था। वैसे रविवार का मैं सारा समय भेंट मुलाकात के लिए देने को तैयार था। हम ढूंढ रहे थे, कि कोई एकांत अनुकूल मकान मिले।

१६ जून को रविवार था। सबेरे डा० रोयरिक के पास गया। किसी शायर का कहना ठीक ही है—"खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।" हम दोनों एक ही मर्ज के मरीज थे। तिब्बत के सम्बन्ध में हमारी तृष्णा होने वाली जिज्ञासा थी, और उसी के लिए काम करना चाहते थे। डा० रोयरिक के साथ तै हुआ, कि धर्मकीर्ति के महान ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' का अंग्रेजी में अनुवाद किया जाए। उस समय यह काम पूरा नहीं हो सका। निश्चय हुआ डा० रोयरिक तिब्बती अनुवाद से अंग्रेजी में करें और पीछे मैं संस्कृत से उसका मिलाऊं। एक परिच्छेद का कुछ अनुवाद कर भी चुके थे और तीन परिच्छेद रह गए थे। किसी को भी इस महान ग्रन्थ का अनुवाद करना ही होगा।

शाम को श्रीमती ज्योत्स्ना चटर्जी आई। वह विदुषी महिला कितनी ही बातों की जिज्ञासा रखती थीं। उनकी मामी श्रीमती बुल्चुर प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापिका हैं, उनको भी कितनी ही जिज्ञासाएँ थीं। आज की गोष्ठी में तो बल्कि ननद अधिकतर बोलती रहीं। उस समय अभी यह मालूम नहीं था, कि हम ज्योत्स्ना जी के बँगले को ही किराये पर लेना पड़ेगा।

उसी दिन स्वामी सत्यस्वरूप जी की चिट्ठी मिली, और उन्होंने महेश जी का प्रबंध कर देने के लिए लिखा था। महेश जी के जाने से हम कुछ हिचकिचाहट भी होती थी, क्योंकि कमला मुस्तैद थी लेकिन बहुत अस्वस्थ-सी दुबली पतली। इतने काम को सभाल भी सकेगी इसमे सन्देह था। महेश जी भोजनशाला की व्यवस्था और चीजो के खरीद फरोख्त का हिसाब भी रखते थे। इसी समय श्री रामेश्वरसिंह भी हमारे परिभाषा निर्माण के काम म सहायता देने के लिए चले आए थे। जिसको आदमी बचपन म देखे रहता है बड़े होने पर भी उसका बचपन का रूप ही सामने आता है। रामेश्वर जी छपरा जिले म स्टेशन से दूर पोखरपुर गाँव के एक बड़े भद्र और सुसंस्कृत परिवार म पैदा हुए है। यह केवल शिष्टाचार के लिए मैं नहीं कह रहा हूँ। उनके पहले की पीढ़ी ने अपने जीवन शिक्षा और खेतीबारी म इतना परिवर्तन किया था जितनी उस गाँव म आशा नहीं हो सकती थी। नागरिक-रुचि उनके परिवार म देखी जाती थी। परिवार ने लड़को ही नहीं लड़कियों तक को उच्च शिक्षा दिलाई। यद्यपि वह सामाजिक तौर से उतनी आगे नहीं बढ़ा लेकिन शिक्षित और संस्कृत बना देने पर अगली पीढ़ी अपने आप रास्ता निकाल लेती है। अगर पहली पीढ़ी छूत छात श्राद्ध मूर्तिपूजा से मुक्त हुई तो अगली पीढ़ी जात पात से भी मुक्त हो जाए इसमे आश्चर्य या क्षोभ प्रकट करने की जरूरत क्या? इस परिवार की एक लड़की ने पिछले ही साल अपनी राजपूत बिरादरी छोड़कर दूसरे कुल की परवाह न करके ब्याह किया। रामेश्वर जी बड़े ही योग्य तथा आदर्शवादी तरुण हैं। सबसे मुश्किल यह है कि वह बनासपत्ती हैं, किसी एक जगह दो चार महीने से अधिक रहना उनके लिए मुश्किल है। पर, अभी वह भारत से बाहर नहीं गए। महेश जी के जाने पर रामेश्वर जी और सतगुप्त भी कुछ काम सँभाल लेंगे इसका भरोसा था।

२१ जून को पटना से वीरेन्द्रजी आए। अब और कामो के साथ हम नए घर की तलाश म भी थे। पर्मोन्य म साल बिताने म कोई दिक्कत नहीं होती। उस समय तो मालूम होता था कई साल यहीं रहकर काम करना

पड़ेगा। वहीं रह हान, ता काम के बारे मे ता नहीं कह मकते, पर डा० भटट का बुरी तौर स राग म फँसने की गायद नौबत न आती। २२ तारीख को हम घर की तलाग म उस तरफ गए जहा कवीन्द्र रवीन्द्र बगला 'चित्रभानु' है। महाकवि नामा क चुनने म भी कितनी पनी सूझ और सुरुचि रखते थ, यह इस बगले के नाम से स्पष्ट है। उसक पाम ही श्री अवनी मित्र का एक घर था। घर छाटा था किन्तु बुरा नही था, और हम चार-पाँच आदमिया का गुजारा चल सकता था। लौटन समय किमी न बतलाया और हम श्रीमती ज्यात्स्ना चटर्जी क 'पावती बगले' को दखने चल गए। किराया १५० रुपया मासिक था, जा उस समय अधिक नहीं मालूम होता था। यह शहर स दूर भी था और बहुत साफ-सुथरा भी। पड़ोस म भी अच्छे लोग थे, इसलिए यह मन म बस गया।

वीरन्द्र जी से प्रकाशन के बारे म बात हुई। उसकी तरफ ज्यादा ध्यान देन की जरूरत थी, क्योंकि मुझे अपना सारा खच पुस्तका की रायल्टी से ही चलाना था और खच पाँच सौ रुपए महीने से कम था नहीं। साहित्य सम्मेलन म एक पैसा लेने का ख्याल भी नहीं कर सकता था। वैसा करना होता ता काम म हाथ उठा लेना। यदि पहिले की पुस्तका के नए सस्करण निकलत रहे और नई पुस्तकें छपती जाएँ, ता आर्थिक कठिनाइया का सामना करन की जरूरत नहीं थी। हमारी पुस्तका क पढ़न वाले दशभर में काफी थे उन्हें यह पता लग जाना चाहिए कि कौन सी नई पुस्तक निकली है ता वह उनक लिए तैयार थे। कहावत है 'नामी चार मारा जाय, नामा बनिया कमा खाय।' निश्चित आमदनी होनी चाहिए। मैंने जब निश्चय किया कि सारे सस्करण की रायल्टी का आधा रुपया अग्रिम मिले। वीरेन्द्र जी न मेरी कई पुस्तकें प्रकाशित कीं, लेकिन उनके साथ इस नियम का पालन दोनों ओर की ढिलाई के कारण नहीं हुआ। २५ तारीख को किताब महल की रायल्टी का हिसाब आया, जिसस मालूम हुआ कि पाँच हजार रुपया रायल्टी से मिलने वाला है।

'सुबह होती है शाम होती है। उम्र यो ही तमाम होती है।' यह

बात तो मैं दोहरा नहीं सकता था, क्योंकि मेरी उमर या ही खतम नहीं हो रही थी। हफ्ते में सातों दिन काम में जुटा रहता था, और इसके कारण ही पता नहीं लगता था कि कब सुबह हुई कब शाम और कब हफ्ता समाप्त हो गया? हाँ जिन्दगी के आखिरी सालों में तो यह खर्च खाते में जमा हो जाते थे। २७ जून को मैंने दार्शनिक उड़ान भरते हुए लिखा था— आदमी को शक्ति की सीमा समझ कर उसी के अनुसार काय अपने सामने रखना चाहिए, और उतनी ही की चिन्ता करनी चाहिए। लोग खींचना चाहते हैं, किन्तु खिंचाव में नहीं आना चाहिए।"

२८ को 'आज की राजनीति" के प्रथम अध्याय को कमला ने टाइप कर लिया। दूसरे की लेखनी की सहायता से लेखक को कितना सुभीता होता है, इसका अनुभव मेरा कई वर्षों का है। अब यह एक कदम और आगे था। यदि पुस्तक टाइप हो तो उससे प्रेसवाले को भी आराम रहता है और कार्बन से एक कापी कराकर अपने साथ भी रखी जा सकती है। मेरी जीवन-यात्रा के पचास पृष्ठ खोकर प्रेसवाले ने सिखला दिया था कि प्रेस कापी की एक नकल अपने पास जरूर रहनी चाहिए। मैं कभी रेकार्डर पर बोल कर डिक्टेट करने की बात सोचता था। पर अब देखा, रिकार्डर फिर उसी गति से ही दोहराता है जिसका अर्थ है कि उसे द्रुतलिपि में ही लिखा जा सकता है और इसके बाद टाइप करने की नौबत आती है। यह अपने बस की बात नहीं मालूम हुई। अभी लिखकर टाइप कराने की ही बात सोच रहा था पर आगे तजर्बे ने बतला दिया कि टाइपराइटर पर बोल कर लिखाने में और भी सुभीता है। इसलिए पीछे उसीको अपनाया। ३० जून को 'घुमक्कड़ शास्त्र' समाप्त हो गया फिर "आज की राजनीति" नियमपूर्वक लिखना शुरू किया। १ जुलाई को फिर 'पार्वती' देखने गए। उसी दिन मैं अब कमला को साहित्य-सहायिका के तौर पर रखने का निश्चय कर लिया। २ तारीख को 'पार्वती' के देखने पर मालूम हुआ कि हम पाँचो आदमी यहाँ रह सकते हैं। फर्नीचर कम थे और मकान भी उतना अच्छा नहीं है। श्री निर्मलकुमार जी का एक मकान

इससे बेहतर मिल रहा था, लेकिन उसका किराया दो सौ रुपया मासिक था। हमने अन्त मे छ महीने के लिए पावती को ही लेने का निश्चय किया और उसके लिए लिखा पढी कर ली।

"पावती"—३ जुलाई को सामान बाध बूधकर १२ बजे हम नए मकान म पहुच गए। अब उसके दोष भी मालूम होने लगे। वस्तुत एक ओर सोने क लिए एक बडा कमरा और एक कोठरिया थी। दूसरी तरफ दो कमरे भोजन और बठक क लिए थे। इनके अतिरिक्त एक छोटी-सी बराडे वाली कोठरी थी, दो छोट-छोटे गुसलखाने भी। रसोईघर और भण्डारघर की कोठरिया एक साथ अलग थी। बगला कलिम्पोग के क्षेत्र म पडता था, जहा हरेक मकान के लिए फ्लशवाला पाखाना होना अनिवाय था। आसपास चारो तरफ छोटी सी फुलवारी थी। खुली जगह थी। हमने बठक के कमरे को काम करने का कमरा बना दिया। भोजन की मेज खुले बराडे म लगा दी और उसके कमर को शयनकक्ष मे बदल दिया। बडे कमरे मे भदन्त और सेनगुप्त का आसन लगा, अद्धे कमरे म मैंने अपना आसन लगाया, उसकी बगल की बराडेवाली कोठरी महेश ने दखल की। रामेश्वर जी अभी आए नही थे, पर, उनका आना निश्चय हो गया था। उस समय उनको कहा रखा जाए इसके लिए भी सोच लिया था—फोल्डिंग चारपाई भोजनशाला म बिछा देंगे। कुछ दिनो के लिए श्री निधा निवास जी आने वाले थे, दूसरे भी आ सकते थे। उनके लिए भोजनशाला की कोठरी तयार थी। पहले दिन के तजर्बे से यह तो मालूम हो गया कि वहाँ स्थान हमारे लिए पर्याप्त नही है। मकान लेने पर अब अधिक अनुकूल बगले भी मिलने लगे थे लेकिन अब तो छ महीने के लिये 'पावती' म हम जम जाने के लिए मजबूर थे। 'पावती" से थोडा हा हटकर थोडी-सी चौरस कराई जमीन थी। सेठ जालान ने उसे सावजनिक उपयोग के लिए बना दिया था, इसीलिए मैंने उसका नामकरण जालान-स्थल" रख दिया। वह इतना छोटा था कि उसे मदान नही कहा जा सकता था, और फल इतने नगण्य कि उसे फुल-

वारी भी नही वह सकते थे। मेरे लिए वह बडा ही उपयुक्त स्थान था। वरसात के कारण दूर टहलने के लिए नही जा सकता था, यहाँ उतने ही म सौ पचास फेरे करके टहलने का काम पूरा कर लेता था। वहाँ से आसमान साफ रहने पर दूर हिमालय की हिमशिखर पक्तियाँ दिखाई पडती थी, रगित और तिस्ता नदियों की हरी भरी उपत्यका का नयनाभिराम दृश्य सामने पडता था।

रसोइया एक लेप्चा ईसाई प्रौढ मिल गया, जिसे हमने बिना भोजन के ३५ रुपए पर रख लिया। उसका काम इतना सतोषजनक रहा कि हम कलिम्पोग छोडते समय उसे साथ लाना चाहते थे, लेकिन वह अपना घर छोडने के लिए तयार नही था। खैर भोजन की किच किच हमारे लिए खतम हो गई। भटट जी हृदय की बीमारी से जमनी म ही पीडित थे। यहाँ हर वक्त दवाई खाते रहते। ४ जुलाई की रात को उनकी तबीयत बहुत खराब हो गई हम लोग बडी चिन्ता म पड गए। शहर से दूर रहना हमेशा नफे का सौदा नही रहता। शहर के पास रहे होते तो डाक्टर को आसानी से बुला सकते थे। अब यहाँ से मील डेढ मील जा आधी रात को कसे डाक्टर को बुलाया जाता। वर्षा जोर शोर की होने लगी थी। क्या जाने उसका प्रभाव डा० भटट के स्वास्थ्य पर पडा हो।

६ जुलाई को श्री विद्यानिवास जी अपने भाई के साथ दस ग्यारह दिन के लिए आए। परिभाषा के काम करते हुए उन्हें सम्मेलन का वेतनभोगी कार्यकर्ता रहना पडता, जिसे उन्होने पसन्द नही किया, क्योंकि वह सम्मेलन का सरगम सदस्य रहना ज्यादा अच्छा समझते थे। इसी समय रेडियो से शब्दकोश बनाने का काम मिल गया था। वह शायद ज्यादा स्थाई होता, इसलिए उन्होने उसे स्वीकार कर लिया था। पुस्तको के लिखने से इतना उत्साह बढ गया था कि मैं सोच रहा था 'मेरी जीवन यात्रा'' की तीसरी पोथी भी लिख डालूँ। पर उसे लिखने का मौका अब सात वर्ष बाद मिला है। पावनी 'आने का यह लाभ तो अब जरूर मिल रहा था कि मिलने जुलने वालो के कारण समय अधिक बरबाद नही होता था। १० जुलाई

`

सोमवार को भी पाच ही सात आदमी आ सके थे। ११ तारीख को रामेश्वर जी भी आ गए। उन्होने फार्मेसी विज्ञान लेकर हिंदू युनिवर्सिटी से बी० एस्-सी० किया था। वह उसी की परिभाषाओ मे लग गए। उसके लिए वह कितनी ही पुस्तकें भी साथ लेते आए थे। महेश जी को कुछ दिनो के लिए और रोक लिया, उनके जाने से काम की अडचन मालूम होती थी। कमला लिखने का काम कर रही थी। टाइप पहले तो बकायदा ही काफी सीख लिया था, पीछे वाराणसी सीखकर उन्होने अपनी गति भी बढा ली। लेकिन स्वास्थ्य बहुत दुर्बल था, आखो के सामने अधेरा छा जाता था। वजन बिल्कुल कम (९२ पौंड) था, और जब तक वजन न बढे तब तक शरीर मे काम करने की पूरी शक्ति नही आ सकती थी। वैसे बुद्धि बहुत अच्छी थी। स्वास्थ्य पर सबसे अधिक ध्यान रखने की जरूरत थी किंतु उनकी तरफ से वह बेपर्वाह थी। स्वभावत वह अस्वस्थ नही थी। घर की भीषण गरीबी ने बेचारी को ऐसा बना दिया था। ऐसी दरिद्रता की मार शायद ही किसी शिक्षिता तरुणी को खानी पडी होगी।

१२ जुलाई को तिब्बत के सबसे बडे व्यापारी पन्-दा छाग आए। यह उनके परिवार और घर का नाम है। वयक्तिक नाम याद रखने का और लोग अधिक ख्याल नही रखते। देर तक उनसे बात होती रही। उनकी कोठिया तिब्बत के कई शहरो और कलिम्पोग ही मे नहीं हैं बल्कि पूर्वी तिब्बत (खम् प्रदेश) और चीन मे भी कई शाखाएँ हैं। चाग-काई शक और कुमिन्ताग के शासन का उनको वयक्तिक अनुभव था। वह नहीं चाहते थे, कि कुमिन्ताग चीन मे और रहे। चीन से चाग-काइ शेक का पतन कट ही गया था। पूछ रहे थे—तिब्बत को क्या करना चाहिए? मैंने कहा—बाहर की सहायता की आशा रखना बेकार है, चीन हो तिब्बत का अपना है और सदा से रहा है। चाग-काई शेक का राहु अब सिर से उतर गया है। कम्युनिस्ट तिब्बत की भलाई के लिए सब कुछ करेंगे। पुरानी व्यवस्था अब चल नही सकती। बाहर भागने का भी ख्याल छोडकर आप लोगो को अपने देश मे रहना चाहिए। आपकी योग्यता देश की सेवा के लिए आवश्यक है

है। (पीछे नाना का प्रेम पूर्ववत् स्थापित हो गया) श्रीमती राय ने खुशी से काम को स्वीकार कर लिया किंतु पारिश्रमिक स्वीकार कराने में हमें काफी कठिनाई पडी। वह जब टाइप करती तो खटपट की आवाज इतनी जल्दी जल्दी आती कि विश्वास नहीं होता था, इतनी तेज गति में टाइप पर अगुलिया चल सकती हैं। उनके आने से कमला को भी एक बडा लाभ हुआ। कमला हिन्दी टाइप करने लगी थी लेकिन उन्होंने टाइप करने की विधि को बाकायदा सीखा नहीं था। आइरिन जैसा गुरु उन्हें दूसरा कहा से मिलता? उन्होंने बडे प्रेम से कमला को टाइप करना सिखाया, यद्यपि यह नागरी टाइपराइटर था लेकिन टाइपराइटरों की कुजियां और उन पर अगुली रखने की विधि तो एक ही तरह की है। कुछ दिनों में कमला उसे सीख गई और उसकी टाइप करने की गति भी बढ़ गई।

२८ जुलाई को कालिम्पोग रेडियो से पता लगा ल्हासा में कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ गया है और हमारे प्रतिनिधि को निकाला जा रहा है। विरोधियों के नेता सुर खड धाड से हैं। सुर खड धाड से हमारे परिचित जेनरल के बड़े भाई थे। उस दिन मध्याह्न का भोजन मैंने उनके ही साथ किया था। अब ल्हासा में यह सोचा जा रहा था कि कालिम्पोग के आदमियों को उत्तर में लुगना के इलाके में या भारत में भेज दिया जाय।

तीसरी बार दिल्ली—२५ को फिर अनुवाद समिति के काम के लिए बागडोगरा जाकर ११ बजे का विमान पकडा। मालूम हुआ कि चश्मा भूल आए। चश्मे के बिना दिल्ली में जाकर क्या करता? पढने के लिए वर्षों से उसकी अनिवार्य आवश्यकता थी। दोपहर बाद कलकत्ता पहुच पहले ही चिन्ता हुई कि एक चश्मा लिया जाय। धर्मतल्ला में एक चश्मेवाले दुकान पर गए। पर वह विधि विधान बतलाने लगे—पहले आँख में दवाई डालेंगे फिर जाच करके नम्बर का पता लगाया जायेगा, तब चश्मा देंगे। मैं 'नौ मन तेल' की शर्त मानने के लिए तैयार कैसे हो सकता था? अगले ही दिन मुझे दिल्ली पहुँचना था। मैंने कहा जो चश्मा मेरे आँख में लगता है, तड़ाक पडाक उसे मुझे दे दीजिए। ५० रुपये पर

चश्मा खरीद लिया। बड़ी दूकान थी नहीं तो दूसरी जगह वह इससे चौथाई दाम पर भी मिल जाता। सेनगुप्त कुछ दिनों के लिए छुट्टी पर घर गये थे। वह भी मिले और सेंगरजी भी। कलकत्ता पहुचने पर सगर जी के साथ रहने का घंटों अवसर न मिले यह हो नहीं सकता था। २६ जुलाई को ■ बजे सवेरे रवाना होने वाला विमान जाकर पकड़ा। यह बिड़ला कम्पनी का था, जो पटना बनारस, लखनऊ में रुकता साढ़े छ घंटे में दिल्ली पहुचने वाला था। छोटा विमान पांच हजार फुट ही तक ऊपर उड़ते हैं धरती के नजदीक उड़ने के कारण विमान के भीतर गर्मी मालूम हो रही थी। डेढ़ बजे मैं दिल्ली पहुँचा। उसी दिन ३ बजे अनुवाद समिति में उपस्थित हुआ वह काम रोज चलता रहा।

२६ जुलाई को मेरे सबसे छोटे अनुज श्रीनाथ अपने दोनों पुत्रों ओम प्रकाश और जयप्रकाश को साथ ले आये। अभी भी वह किसी मिठाई की दूकान से मिठाइयां लेकर फेरी करते थे। दस बारह वर्ष दिल्ली में रहते हो गए लेकिन वह फेरी में ही लगे रहे। यदि खानदानी बनिए होते, तो इतने समय में दूकान खड़ी कर लिए होते। कह रहे थे अगर रुपये होते, तो हम अपनी दूकान इस वक्त खड़ी कर सकते थे। मैंने २१०० रुपये उन्हें इसके लिए दिये भी परन्तु व्यवसाय की बुद्धि कुछ दूसरी ही होती है। वह फिर फेरीवाले ही बने रहे। हां शहर में रहने से उनके लड़कों को कुछ पढ़ने का सुभीता था पर वह तो घर के दूसरे लड़कों को भी हो रहा था।

दिल्ली में चारों ओर अंग्रेजी का वातावरण है। २६ तारीख को एक महिला को अपने कुत्ते के साथ अंग्रेजी में बात करते सुना। सुना भी था कुत्ते अंग्रेजी ही में बोलने पर समझते हैं। मेरा विश्वास ऐसा नहीं है। मसूरी आने पर मैंने चार रुपये के भूतनाथ को अपने पास रक्खा। वह पांच बरस का हो गया है लेकिन अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं समझता। इस वक्त संविधान-सभा में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले या न ले इस पर विवाद छिड़ा हुआ था। जिन नौकरशाहों की रोटी अंग्रेजी पर चल रही थी अपनी जिन्दगी भर उसमें मुस्तहकम होने की गारंटी देने पर भी वह हिन्दी को आगे

बढ़ने देना नहीं चाहते थे। दिल्ली के सभी कार्यालयों में केवल अंग्रेजी के बल पर जो लोग छाये हुए हैं वह हिन्दी के सख्त विरोधी हैं, और अफसोस तो यह कि नेहरू का भी बल उनको प्राप्त था। आजकल अंग्रेजी और भाई भतीजा भांजा या बहिन भतीजी भाजी यह दो योग्यताएँ ही आदमी को ऊँचे दर्जों पर पहुंचा सकती हैं। यह पक्षपात अत्यन्त भयंकर है। लोग बड़ी आलोचनाएँ करते हैं उनके दिलों में आग जल रही है। हमारे एक महापुरुष की बहिन के समधी की लड़की एक विभाग में ऊँची नौकरी पर थी। ब्याह होने के बाद उसे नौकरी से अलग कर देना चाहिए था। लेकिन जब देवातिदेव के सम्बन्ध की बात हो तो उसे हटाने की कौन हिम्मत कर सकता है? ऊपर एक जगह यदि ऐसा अन्याय हो रहा हो तो नीचेवालों को उससे क्या न प्रोत्साहन मिले?

घुमक्कड़ शास्त्र के लिए राजकमल वालों ने एक हजार रुपया अग्रिम भी दे दिया। अब के उसके तीन फार्म छपे भी मिले। शास्त्र १९४९ में ही छप गया था लेकिन उसकी तीन हजार कापियां १९५६ में समाप्त हुई। यह बतलाता है कि हिन्दी पुस्तकों की खपत कैसी है? इसी यात्रा में हिन्दी के लिए अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया गया था, उसमें भी भाग लेना था। सेठ गोविन्ददास जी ने सुझाव दिया था—वही सम्मेलन के सभापति थे—कि भारत के सभी प्रान्तों के विद्वानों का सम्मेलन करके उसमें हिन्दी के पक्ष का समर्थन कराया जाए, तो उसका असर पार्लियामेंट के ऊपर बहुत पड़ेगा। सम्मेलन ने इसके लिए बीस-पच्चीस हजार रुपये खर्च किये लेकिन वहाँ जैसी मूर्तियाँ आई थीं उनमें से कितनों को देखकर निराशा होती थी। डा० नीलकंठ शास्त्री हिन्दी और उर्दू दोनों को राष्ट्र भाषा बनाने के पक्षपाती थे, क्योंकि दोनों के काले अक्षर उनके लिए भैंस बराबर थे। इसके साथ ही वह यह भी जानते थे कि शिक्षा विभाग के देव आजाद और भारत सरकार के महादेव उर्दू के समर्थक हैं। उर्दू हिन्दी भाड़ में जायें, उन्हें तो दवों महादेवों की कृपा कटाक्ष की आकांक्षा थी। विश्व विद्यालयों और कार्यालयों में तो वह अनन्तकाल तक के लिए अंग्रेजी को

चाहते हैं। सुनीति बाबू हिंदी भाषा और देवनागरी को स्वतंत्र देश के लिए अलंकार की चीज रखना चाहते थे। दूसरे देशों के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने में इनका मर्यादित व्यवहार होना चाहिए लेकिन सरकार और विश्वविद्यालयों का माध्यम अंग्रेजी ही रहे। डा० खाडे का विचार बहुत सुधरा हुआ था और वह संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी जानते थे कि हिंदी ही हमारे देश की सम्मिलित भाषा हो सकती है। डा० कुन्हन राजा संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनी देखना चाहते थे।

६ अगस्त को सवेरे ८ बजे इम्पीरियल होटल में भिन्न भिन्न प्रदेशों से आये विद्वानों की एक बड़ी गोष्ठी हुई। ६ बजे से साढ़े ११ बजे तक लोगों ने अपने विचार प्रकट किए। अधिकतर लोग हिंदी के पक्ष में थे और दस-पन्द्रह साल की अवधि के भीतर अंग्रेजी को पूरी तौर से हटा देने के पक्षपाती थे। लोगों ने अंग्रेजी में भाषण दिए। मैं देख रहा था सभी प्रांतों से आये हुए विद्वान् संस्कृत जाननेवाले थे इसलिए मैंने अपने विचारों को संस्कृत के माध्यम से रखा, जिसे लोगों ने पसन्द भी किया। खैर इस गोष्ठी से हवा का रुख क्या है इसका पता लग गया। दोपहर बाद कान्स्टि-ट्यूशन भवन में विद्वद् परिषद् की बैठक हुई। डा० काणे आ नहीं सके थे सुनीति बाबू अंग्रेजी की ओर ज्यादा खिसक गये थे, इसलिए डा० गान्वाल को सभापति चुना गया। डा० राघवन, डा० नीलकंठ शास्त्री तमिलनाड के मलाबार के महाकवि वल्लनाड और चन्द्रहासन कन्नड के नागप्पा और इसी तरह दूसरे विद्वानों ने भी भाषण दिये। मुझे संस्कृत में बोलने का आग्रह किया गया, मैं उसमें हां बोला। फिर महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा ने वहां राहुलजी ने रास्ता दिखला दिया इसलिए मैं भी संस्कृत में ही अपने विचारों को प्रकट करता हूँ। उस परिषद् में कितने ही ऐसे विद्वान् थे जो हिन्दी नहीं समझते थे। परिषद् ६ बजे तक रही। बहुत अधिक संख्या में लोगों ने हिन्दी का समर्थन किया। अगले दिन फिर परिषद् हुई जिसमें प्रस्ताव पास हुए—भारत की राष्ट्रभाषा नागरी लिपि में हिन्दी होनी चाहिये अन्तर्राष्ट्रीय कामों के लिए हिन्दी तुरन्त अपनाई जानी चाहिए

अन्तर्प्रान्तीय तथा केन्द्र के कामों में दस साल के भीतर हिन्दी को हो जाना चाहिए, सभी विद्यार्थियों को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी और हिन्दी भाषियों को कोई एक दूसरी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ाई जानी चाहिए। आदर्श वाक्यों के लिए संस्कृत भाषा का भी इस्तेमाल करना चाहिए। शाम को दो बजे से साढ़े ७ बजे तक की परिषद् में उक्त प्रस्ताव एक मत से पास किये गए।

उस दिन रात को श्री शिवनलाल सक्सेना से बहुत देर तक बात होती रही। उस समय रूस में देर तक रहकर लौटनेवाले भारतीय कम ही थे। सक्सेना जी ने मुझसे रूस के बारे में बहुत सी बातें जाननी चाहीं। उसके बाद उन्हें कम्युनिस्ट चीन और कम्युनिस्ट रूस को अपनी आंखों अच्छी तरह देखने का मौका मिला, और समझ गये कि वहाँ कितनी शीघ्रता से परिवर्तन हुआ है, लोगों की हालत बेहतर होती जा रही है। उसी दिन श्री महेश प्रसाद श्रीवास्तव भी आ गए। उनके साथ तो आधी रात के बाद तक बात चलती रही। मैं श्रोता ज्यादा था और वक्ता महेश प्रसाद जी थे। वह कांग्रेस में भाग लेने कई बार जेल गये थे। उसी समय से विजय-लक्ष्मी और दूसरे नेताओं के सम्पर्क में आये थे। रहनेवाले रायबरेली के किसी गाँव के हैं। जब विजयलक्ष्मी जी भारत की राजदूत बनकर रूस जाने लगी तो महेश प्रसाद जी के कहने पर उन्हें चपरासी बनाकर ले गईं। श्रीवास्तव साल भर उनके साथ मास्को में रहे। हिन्दी अच्छी जानते थे और हिन्दी टाइप करना भी जानते थे। वह चपरासी बनकर गए लेकिन मास्को में जाने पर उनको अवसर मिला जब कि सोवियत सरकार के रुख को देख-कर भारतीय दूतावास को अपनी लिखा पढ़ी में हिन्दी को अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा। वहाँ जो आइ० सी० एस० और दूसरे मन्त्रालयों के शाह गये थे, वह सभी अंग्रेजी का दूध बचपन से पिये हुए थे। हिन्दी से उनका कोई वास्ता नहीं था। एक रूसी महायिका श्रीवास्तव से पूछ रही थी—अमुक महाशय अपने छोटे छोटे बच्चों से अंग्रेजी में क्या बोलते हैं? यह बात उस अल्पशिक्षित रूसी महिला के दिमाग में उठ सकती थी लेकिन

हमार इदा आशियन ताको की ममय म आने की यह बात नही थी। गम ता तब आय जब आत्मी कुछ समय पाय। श्रीवास्तव न उनसे कहा—वह भाषा का अभ्यास करा रहे हैं। यह गलत बात थी। अभ्यास नही करा रहे थे बल्कि अपन साहबजाद और साहबजादियों का आभिजात्य वग म रखन क लिए यह जरूरी है कि अपनी भाषा का तिरस्कार किया जाय और अंग्रेजी का अपनाया जाए। विजयलक्ष्मी जी क साथ एक हरिजन रसोइया भी प्रयाग से गया था। हमारे देशी साहब ग्रम यूरोपीय पकवाना को भी खा लेते हैं लेकिन बचपन की मसालेदार चटपटी चीजें उनके मुह स नही छूटती इसलिए भारतीय रसोइये की भी जरूरत पडी। हमारे देश म काम करनेवाले नौकर चाकरा के ऊपर यदि मालिक की बडी दया हुई तो वह कभी कभी कुछ मीठी बातें बोल देते है। वह आदमी होने के नाते बराबर मान जाए इसकी तो कल्पना भी नही हो सकती। वहा रूसी विदेश विभाग का कोई बडा अफसर आता और यदि अवसर होता तो रसोइये क साथ मेज पर बैठ के चाय पीता, और दिल खोलकर बातें भी करता। रसोइया क्स स खुश क्या न होता ? एक बार तो किसी अभद्र बर्ताव स असतुष्ट होकर वह सोचने लगा था कि वही का हो जाय। भारतीय दूतावास क सभी छोटे नौकर रूस से खुश थे क्योकि वहा के बडे आदमी भी उनके साथ समानता का बर्ताव करते थे, पर छुट नौकर शाह रूसियो की हर बात पर नाक भौं सिकोडते थे। वह रूसियो स मिलते भी नही थ। भाषा की दिक्कत थी, लेकिन उस वह काफी दूर कर सकते थे। उनका उठना बठना ज्यादातर इंग्लण्ड और अमरिका क दूतावासियो से होता था, जिन्हे रूसी वह सन्देह की दृष्टि स देखते थे। विजयलक्ष्मी अपने सारे काल म रूस का भारत के नजदीक नहीं ला सकी, इसका यही कारण था।

प्रयाग—६ अगस्त को अनुवाद समिति का काम करक उसी दिन रात को प्रयाग की ट्रेन पकडी। शिक्षा की इतनी दौड धूप गर्मियो म हो रही थी। यद्यपि हम अधिकतर कलिम्पोग म रहते थे, लेकिन पहाड से नीचे

उतरने म राओ गिर जाता था। अब सोचता था अच्छा हो यदि फिर जाडो स पहले दिल्ली आने की जरूरत न पडे। १० अगस्त को साढे ६ बजे प्रयाग पहुँच गए। स्टेशन पर सनगुप्तजी मिले। श्रीनिवासजी के यहाँ भोजन करके सम्मेलन कार्यालय म पहुँचे। 'प्रत्यभिशारीर' और दूसरे भी कई ग्रन्थ अब प्रेस क लिए तयार थे। यहाँ देखा छापने की गति अत्यन्त मन्द है। यह बडी निराशाजनक बात थी क्योंकि कम स कम आधे दजन ग्रन्थो के प्रकाशित होने पर ही हमारी गाडी तेजी स चल सकती थी।

कलिम्पोग—१२ अगस्त को सवेरे रामबाग म कटिहार जाने वाली छोटी लाइन की ट्रेन पकडी। ट्रेन म पहले दर्जे का डब्बा नही था, इसलिए दूसरे दर्जे का टिकट बदलवाना पडा। १३ तारीख के सवेरे गाडी बरौनी से आगे बढी और साढे ११ बजे कटिहार पहुँची। समय नही था इसलिए उतर कर मित्रो स नही मिल सका। आगे जाने की गाडी तुरन्त तयार थी, धीमी धीमी चलती १० बजे रात को नक्सलबाडी पहुँची। यहाँ स एक रुपया द बस पर चढ सिलिगोडी स्टेशन पहुँचा। एक टक्सी स बात कर उसी म रात को सो गए। जल्दी थी इसलिए मनमाना किराया देना मजूर किया। २८ रुपया दो आदमियो का भी बहुत होता था टक्सी भी बहुत पुरानी थी और डर लगने लगा रास्ते म ही कही बठ न जाए। खर किसी तरह ८ बजे हम 'पार्वती' पहुँच गए।

कमला न टाइप करन म बडी प्रगति कर ली थी। अपने मन म हिन्दी की पुस्तकें पढ भी रही थी। हमने सोचा कि इसी साल सम्मेलन की विशारद परीक्षा द दें लेकिन कलिम्पोग या पास म उसका केन्द्र नही था इसलिए उस साल वह नही हो सका। श्री सेनगुप्त लखनऊ म डा० मालवीय और दूसरी जगह के विद्वानो स परिभाषाएँ लेने क लिए रह गए थे। पार्वती डा० भट्ट और रामेश्वरजी काम म लगे हुए थ। एक दिन बारिश मे कमला बहुत भीग गई इसलिए १८ अगस्त म उन्हे भी यही रहने का इन्तजाम करके परीक्षा की तैयारी करने क लिए कह दिया। कमला के पिता मर गए थे, और पाँच भाई-बहिनो क परिवार म बडा भाई मुश्किल

से अपने खर्च के लिए कमा पाता था। माँ दर्जी का काम करती थी लेकिन उसके पास किराये की मशीन थी। मैंने कमला से कहा — एक मशीन खरीदकर अपनी माँ को दे दो। वह दे आई। बेटे ने जो नहीं किया, वह बेटी ने किया, इससे माँ को खुशी होनी ही चाहिए थी।

कमला अब बहुत नजदीक आ गई थी। कह चुका हूँ कि डायबटीज में इन्जेक्शन और लिखने के काम में सहायता की। इधर कितने ही समय से मुझे बड़ी चिन्ता थी कोई स्थायी व्यवस्था करनी आवश्यक थी। यह कमला कर सकती थी। फिर उनके स्वभाव को देखा। पढ़ने की लगन तथा तीव्र बुद्धि थी, इसलिए घनिष्ठ होना स्वाभाविक था। श्रीमती राम ने अब टाइप करने में उन्हें पण्डित बना दिया था और दो घण्टे में एक लेख टाइप कर डालना उनके लिए आसान था।

चीन में कम्युनिस्ट मुक्ति सेना ने ल्वाङ शहर को २४ सितम्बर तक तुंगन के नादिरशाह की राजधानी सिलिंग को भी ले लिया था। पेकिंग रेडियो ने घोषणा की, तिब्बती भाइयों को भी हम प्रतिगामियों के हाथ में नहीं छोड़ सकते। यह भी पता लगा कि ४० गदहों पर सामान लादकर दो अमेरिकन ल्हासा जा रहे हैं। वह किसलिए? चीन मुक्ति सेना को ल्हासा में आना वह कैसे पसन्द कर सकते थे? वह चारों तरफ हाथ-पैर मार रहे थे। लेकिन, इसका अन्त में कोई फल होगा, इसकी संभावना उस वक्त भी नहीं मालूम होती थी। मैं तो एक तरह वैसे ही खुफिया पुलिस की दृष्टि में खतरनाक आदमी था। अब कलिम्पोंग में आकर तिब्बत की सीमा के पास बैठ गया था। इंगलैण्ड के किसी पत्र ने इसका उल्लेख भी किया था, लेकिन खाना के सिवा मेरा और किसी काम में कोई सम्बन्ध नहीं था। मेरी पूरी सहानुभूति चीन के साथ थी। मैं जानता था, तिब्बत की भलाई चीन के साथ रहने में ही है, और वह छोड़कर उसके लिए कोई रास्ता भी नहीं है। इस बात को छिपा छिपाकर कहता या सोचता था यह बात नहीं थी। मैंने इसके सम्बन्ध में नवीन चीन स्वागतम् आदि लेख भी लिखे थे। जो आदमी अपनी सब बातों को साफ खोलकर रखता है, उसके

ऊपर खुफिया को रखकर हजारों रुपये खर्च करने की क्या जरूरत ? इस प्रश्न का जवाब तो दिल्ली के देवता ही दे सकते हैं।

१० सितम्बर को श्री सनगुप्त का जन्म दिवस था। घर भर की एक पार्टी हुई। आसपास के कई पड़ोसी सद्पुरुष और महिलाएँ भी शामिल हुई। वर्ष के आरम्भ ही से सनगुप्तजी अपने ज्योतिष के बल पर घोषित कर रहे थे कि इस साल तो मुझे मर जाना है। श्री विद्यानिवास जी भी फलित ज्योतिष के विद्वान् हैं। यह मैं मानूँगा कि सेनगुप्त इस विद्या में उनसे कम पागल नहीं थे। जब विद्यानिवास जी ने यह बात सुनी, तो कहने लगे—भारी बेवकूफी है, ज्योतिष के ग्रहों को अपने ऊपर थोड़े ही घटाया जाता है। मैंने सेनगुप्त से वर्ष के आरम्भ ही में कह दिया था, इस साल ग्रहों से बचाने की जिम्मेवारी मैं ले रहा हूँ। लेकिन, अब फिर तुम अपने ज्योतिष के नाम को अपने ऊपर मत लगाना। और सेनगुप्त जी अब स्वस्थ और प्रसन्न हैं। उस साल तो बड़े ही निराशावादी थे स्वास्थ्य भी उनका अच्छा नहीं था। पेनिसिलिन की दादी स्ट्रेप्टोमेसिन अभी दुर्लभ थी, लेकिन उसके भी इन्जेक्शन वह ले रहे थे। ऊपर से शंका का भूत सवार था।

रामेश्वरजी बड़े कर्मठ तरुण थे। काम में जुट जाना उनके स्वभाव में था। लेकिन लकवा का असर उनकी एक आँख पर था जिसके कारण देर तक पुस्तकें देखने पर उनकी आँखों से पानी बहने लगता और दर्द शुरू हो जाता। घंटा भर भी पुस्तक देखना उनके लिए मुश्किल था। ऐसी अवस्था में काम में उनका मन नहीं लग रहा था। ऐसे तरुण का खोना हमारे लिए अफसोस की बात थी। धीरे धीरे यह भी पता लग रहा था कि शायद परिभाषा का काम हम ज्यादा दिनों तक न कर सकेंगे। जब तक पं० बलभद्र मिश्र सम्मेलन के प्रधानमंत्री थे तब तक हम हर तरह की सहायता मिल सकती थी तैयार परिभाषा-कोषों के छपाने के बारे में वह भी विशेष नहीं कर सके थे। अब तो सम्मेलन के अपने प्रेस में मोनो टाइप भी आ गया था लेकिन तब भी श्री सोनाराम गुठे जैसा कोई प्रबन्धक नहीं मिला था,

जिसके कारण सारे साधनों के रहते भी काम आगे नहीं बढ़ सकता था। सोचता हूँ, यदि इस ने मुस्तैदी से काम करना शुरू किया होता तो हम परिभाषा के काम को आगे बढ़ा सकते थे। सम्मेलन की भीतरी राजनीति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। मैं सभी दलों को साथ लेकर चल सकता था। पर परिस्थितियाँ बतला रही थीं, कि अब ज्यादा आशा नहीं रखनी चाहिए।

परिभाषा के काम के ही लिए अनुकूल ठण्डी जगह ढूँढकर हम कलिम्पोंग में आये थे। यहाँ से हटने पर मुझे किसी दूसरे स्थान की तलाश भी करनी थी। कोटगढ़ से डा० भगवानसिंह अब भी पत्र लिख रहे थे। उन्होंने एक अच्छा-सा बंगला भी ठीक किया था, पर वहाँ बिजली पानी का करीब करीब अकाल पड़ जाता था और मिलना और भी मुश्किल था।

१८ सितम्बर के एक पत्र से मालूम हुआ कि संविधान सभा ने हिन्दी और देवनागरी लिपि को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि स्वीकार कर लिया हाँ अंग्रेजी अंकों के साथ। आजाद खुलकर और उनके साथ नेहरू भी पहले जी जान से कोशिश करते रहे, कि हिन्दी को स्वीकृति मिले ही नहीं। पर लोग उनके साथ नहीं थे इसलिए चलते चलते खिसियानी बिल्ली की तरह उन्हें अंग्रेजी अंकों को मनवाने में सफलता हुई। हरेक लिपि के लिखने की अपनी विशेष कलम होती है। उसी से अक्षर भी लिखे जाते हैं और उसी से अंक भी। कोई सुलेखक हिन्दी लिखने की कलम से अंग्रेजी अंकों के लिखने में असमर्थता दिखा सकता है? हिन्दी के मंजूर होने पर आजाद ने वह विलाप शुरू किया, जो मन्दोदरी ने भी रावण के मरने पर नहीं किया होगा। और लारी साहब ने तो मेम्बरी से इस्तीफा ही दे दिया। और अन्त में पाकिस्तान हाई-कोर्ट की जजी सम्भालने चले गए। संविधान ने पन्द्रह साल तक के लिए अंग्रेजी की नींव मजबूत कर दी, संविधान के निर्माताओं को उस समय भी विश्वास था कि पन्द्रह साल बीतने के बाद हमारी जिन्दगी बरकरार रहे हम दूसरे पन्द्रह साल की अवधि बढ़वा लेंगे।

एक दिन हम सब कई और मित्रों के साथ पिकनिक के लिए दूरबीन डांडे पर गये। डांडे का यह सबसे ऊंचा स्थान ऐसी जगह पर है, जहां से नीचे दूर मदानी भूमि भी दिखाई देती है तिस्ता और उसके साथ मिलने वाली दूसरी नदी की घाटी भी। डा० रोयरिक श्रीमती क्रिप्स, श्रीमती आयरनि राय और दूसरी भी कितनी ही महिलाएं और पुरुष साथ थे। यद्यपि हम कलिम्पोंग छोडने का विचार कर रहे थे लेकिन यह तो मानना पडेगा, कि वहां कुछ व्यक्तियों से नहीं बल्कि सकडो परिवारों से ऐसी आत्मीयता मिली थी, जिससे उसका आकर्षण कम नहीं था।

कभी-कभी आदमी कैसी बुरी तरह फँस जाता है एसी घटना सितम्बर मे घटी। शहरों म कई तरह के लोग होते हैं जो भिन्न भिन्न तरह से अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। अच्छे छपे हुए लैटर पेपर पर किसी लम्बे-चौडे नाम वाली सस्था का निमत्रण-पत्र आए, तो आदमी उस पर क्या शका की दृष्टि डाल सकता है। मैं आने-जाने स बहुत बचता था, और किसी सभा या अधिवेशन मे मजबूरी होने पर ही जाता था। कलकत्ता के एक सज्जन न अपनी जेबी सस्था के अधिवेशन के लिए निमत्रणो का तांता बांध दिया। मुझे भी न जाने क्या ख्याल आया कि अत म उसे स्वीकार कर लिया।

कलकत्ता—अब की मैंने रेल से ही कलकत्ता जाने का निश्चय कर लिया। पाकिस्तान बनने के बाद इस रास्ते मैं नही गया था। उस समय कलकत्ता स सिलीगुडी सीधी ट्रेन आया करती थी। २८ सितम्बर को ६ बजे मैं सिलीगुडी पहुँचा। दार्जिलिंग की ट्रेन के आने पर ही यह ट्रेन खुलती थी इसके कारण ट्रेन एक घंटा लेट हुई। स्टेशन पर ही पाकिस्तान के कस्टम का आफिस था जहाँ मे एक सर्टिफिकेट ले लिया। उसके मिलने म कोई दिक्कत नहीं हुई। अभी पासपोर्ट आदि का झझट नहीं था। सेकण्ड क्लास म सोने स काफी अधिक जगह मिल गई। हमार साथ कलकत्ता जाने वाल श्री कपूरियाजी भी थे। वैसे तो वह लखनऊ के कश्मीरी पण्डित थे, लेकिन अब वर्षों स कलकत्ता म रह रहे थे। वृद्ध थे और उर्दू ही नहीं

हिन्दी की भी कविता करते थे। परिचय होते ही कण्ठ खुल गया। हमने गद्य में कुछ बातें कीं और उन्होंने अपने पद्य के नमूने सुनाए। कितने ही घंटे तक हमारा सत्संग चलता रहा। वह दार्जिलिंग से आ रहे थे। होती होगी कुछ सस्ती चाय अच्छी किस्म की चाय वहाँ पैदा करने के दर्जन से बगीचे दार्जिलिंग में हैं। कपूरियानी ने अपने सारे होल्डाल को चाय के डब्बों से भर रखा था। पाकिस्तान के रास्ते जाना था। लेकिन वह पाकिस्तान की चीज तो नहीं थी, तो भी डर तो था ही। मैं तो कभी ऐसा खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हो सकता था। पाकिस्तान सरकार ने ऐसा नियम बना लिया था, कि कोई यात्री पचास रुपये से अधिक पैसा नहीं ले जा सकता था। यह नियम कहाँ तक पालन होता था, इसे मैं नहीं कह सकता। शायद मेरे पास भी पचास रुपये थे। रात भर तो हमने नहीं देखा, पाकिस्तान के स्टेशन लोग और भूमि कैसी है। सवेरे ट्रेन ठाआडागार स्टेशन में खड़ी थी, और तीन घंटे लेट थी। स्टेशनों पर अधिकांश मुसलमान ही दिखाई पड़ते थे, यद्यपि हिन्दुओं का अभाव नहीं था। पूर्वी बंगाल के बड़े-बड़े जमींदार प्राय सभी हिन्दू थे और किसान मुसलमान। इसलिए जमींदारों के वास्ते कोई रोने वाला नहीं था। हमारे डब्बे में कोई हिन्दू थे। उनसे वहाँ की बातें मालूम हुईं। बतला रहे थे — हिन्दू व्यापारी खूब मौज से अपना व्यापार कर रहे हैं, बस उन्हें इतना ही करना पड़ता है, कि अपने नफे में पाकिस्तानी अफसरों को शामिल करना पड़ता है। घूसखोरी और चोरबाजारी का दौर दौरा है, उससे कहीं अधिक जितना कि भारत में हम देखते हैं। हिन्दू तरुणियों के अरक्षित रहने की भी बात बतलाई गई।

जिस समय पौंड-स्टर्लिंग के दाम गिरने पर हिन्दुस्तान ने अपने रुपया का दाम गिरा दिया था, उस समय पाकिस्तान ने अपने रुपये के मूल्य को पहले ही के बराबर रखा। लेकिन, वैसा करने से जूट के दाम को आधा गिरने से रोका नहीं जा सका। पाकिस्तान में बड़े-बड़े सैनिक या असैनिक अफसर अधिकतर पंजाबी थे इसके कारण अब वहाँ पंजाबी और

पड़ोसिन श्रीमती मित्रा के यहाँ चायपार्टी थी। कितने ही मेहमान आए थे, जिनमें एक डाक्टर भी थे। उन्होंने बतलाया, चाय में चीनी बिल्कुल छोड़ने की आवश्यकता नहीं, उसे कुछ लेना चाहिए। उन्होंने बतलाया—आलू, चावल, मीठा फल आदि नहीं खाना चाहिए, खीरा, टमाटर, प्याज और नींबू खूब खाने चाहिए। भोजन की मात्रा कम रखनी चाहिए। मुर्गी या चिड़िया का मांस ज्यादा लाभदायक है। हल्की चहल-कदमी भी करनी चाहिए और पेट सदा साफ रखना चाहिए। लेकिन, हमारे लंदन मार्ग के तजर्बे से तो यही मालूम हुआ कि बिना किसी से पूछे-ताछे रोज खाने से पहिले इन्सुलिन ले लेना चाहिए, खाने में किसी चीज का परहेज नहीं करना चाहिए और मात्रा को काबू में रखने के लिए रात का भोजन छोड़ देना चाहिए।

आयरिश महिला श्रीमती स्मिथ भी हमारे घनिष्ठ परिचितों में से थीं। डा० भट्ट का स्वर 'काबुल गए मुगल होइ आए बोलें मुगली बानी। आब आब कहि पुनऊ मरिगे, खटिया तर धरा पानी।' यह लोकोक्ति मुझे बराबर याद आती थी। वह बिल्कुल ही यूरोपीय मनोवृत्ति के हो गए थे। व्यावसाय जीवन में वह पानी में मछली की तरह तैरते थे। इससे उदासी होती। हम हर तरह से उनकी मुस्कान की कोशिश करते। स्वस्थ होते तो सफलता मिलती, पर बेचारे हृदय के रोग में बुरी तौर से फँसे थे। पीने में अति तो नहीं करते थे, लेकिन मदिरा उन्हें चाहिए जरूर थी। हमारे यहाँ कोई उसमें हाथ लगाने वाला नहीं था, पर उनके पीने में कोई बाधा भी देना नहीं चाहता था। मुझे उन्हें देखकर अफसोस आता था। उनके ऐसा अंग्रेजी, जर्मन, संस्कृत पर अपनी मातृभाषा कन्नड़ के समान ही अधिकार रखने वाला परिवार के बोझ से मुक्त प्रतिभाशाली व्यक्ति क्या जीवन की चिन्ता करे? लेकिन उनकी चिन्ता का कारण यही था, कि लंदन मार्ग बाद भारत में लौटने पर वह अपने को पानी से बाहर फेंकी मछली-सा समझते थे। अंग्रेजी लेख कभी-कभी वह पत्र-पत्रिकाओं में लिख भेजते थे। उन्हें मेरे कहने पर भी उत्साह नहीं होता था, कि कन्नड़ लेख लिखें। यदि वह अपने जर्मनी के

वहान ही से उन्हें चन्दा मिल सकता था। अखबारों में मेरे सभापति होने की बात सुनकर और भी कितने ही आ फँसे। झाँसी के कवि डा० आनंदजी बेचारे उतनी दूर से आए थे। उन्हें भी अब वरंग लौटना था। उस दिन एक करोड़पति के यहाँ मध्याह्न भोजन करना पड़ा।—'महल तो बन गया किन्तु हाथ धोने का नलका नदारद' और थालियाँ तथा दूसरी चीज मली। २ अक्तूबर को उच्चतर क्लब के वन भोज में गए। इस क्लब के छहेरवाँ साहसी पुरुष थे जिन्होंने मारवाड़ी स्त्रियों में पर्दे के खिलाफ जहाद बोला था। वनभोज में स्त्रियाँ भी थीं। भोज मारवाड़ी ढंग का था। चूरमा और रायता अच्छा बना था। मुझे भी वहाँ कुछ बोलना पड़ा।

कलिम्पोग—३ को [illegible] बजे सवेरे विमान उड़ा और [illegible] बजकर ५० मिनट पर बोगडोगरा में उतर गया। ११ बजे सिलीगुड़ी पहुँच गए। कभी-कभी सिलीगुड़ी स्टेशन पर टक्सी बड़ी आसानी से मिल जाती है, और चार पाँच रुपये से अधिक एक सीट का देना नहीं होता लेकिन जब आदमी गरजू हो और टक्सियाँ कम हों तो वे मनमाना किराया वसूल करते हैं। एक और तिब्बती तरुण सहयात्री मिल गया। हम दोनों ने चौदह चौदह रुपये पर ड्राइवर को राजी किया। दो बार तो उसने सामने से आती लारी से टक्कर सा लिया था। बड़ी बेपर्वाही से हाँक रहा था। ३ बजे हम पावती पहुँच गए। ४ तारीख से श्रीमती आदरन राय का टाइप का काम जारी था। वह बहुत ही शुद्ध और बड़ी शीघ्रता से टाइप करती थीं। १८० रुपया पारिश्रमिक देते हुए हम बहुत हिचक रहे थे। यदि परिभाषा का काम वहीं रहकर करना पड़ता तो वह हमें इस टाइप कराने की चिंता से मुक्त कर सकती थीं।

डायबटीज तो बराबर के लिए साथ थी। कभी मुँह सूखता पेशाब कभी कम हो जाता और कभी ज्यादा। पेशाब ज्यादा होने पर ध्यान उधर जाता। चावल को सिर्फ हफ्ते में दो दिन के लिए रखा क्योंकि दो दिन हमारे यहाँ मांस बनता था जिसके साथ चावल अच्छा लगता। केला भी छोड़ दिया, लेकिन आलू अभी विचाराधीन था। ६ अक्तूबर को हमारी

पड़ोसिन श्रीमती मित्रा के यहाँ चायपार्टी थी। कितने ही मेहमान आए थे, जिनमें एक डाक्टर भी थे। उन्होंने बतलाया चाय में चीनी बिल्कुल छोड़ने की आवश्यकता नहीं, उसे कुछ लेना चाहिये। उन्होंने बतलाया—आलू, चावल, मीठे फल आदि नहीं खाना चाहिए, साग, टमाटर, प्याज और नींबू खूब खाने चाहिए। भोजन की मात्रा कम रखनी चाहिए। मुर्गी या मछलियों का मांस ज्यादा लाभदायक है। इसको बहुत-ज्यादा कसरत भी करनी चाहिए और पेट सदा साफ रखना चाहिए। लेकिन हमारे स्वतन्त्र मार्ग के तजर्बे से तो यही मालूम हुआ कि बिना किसी से पूछे-ताछे रोज स्नान से पहिले इन्सुलिन ले लेना चाहिए, खान में किसी चीज का परहेज नहीं करना चाहिए और मात्रा को काबू में रखने के लिए रात का खाना छोड़ देना चाहिए।

आयरिश महिला श्रीमती किन्स भी हमारे घनिष्ट परिचितों में से थीं। डा० भट्ट का लड़का काबुल गए मुसलमान होकर आए, वहाँ मुगली बीबी। आज कहीं पुनः मार्गिनी खम्पिया लग पता पाती। यह लड़की मुझे बड़ा प्यार करती थी। वह बिल्कुल ही यूरोपीय मनोवृत्ति के हो गए थे। भारतीय जीवन में वह पानी से बाहर मछली की तरह बेचैन थे। उन्हें उदासी होती। हम हर तरह से उनका मनबहलाव की कोशिश करते। स्वस्थ होते तो मस्ती मिलती, पर बेचारे हृदय के रोग में बुरी तौर से फँसे थे। पीने में अति तो नहीं करते थे, लेकिन मदिरा उन्हें चाहिए जरूर थी। हमारे यहाँ कोई उसमें हाथ लगाने वाला नहीं था, पर उनके पीने में कोई बाधा भी देना नहीं चाहता था। मुझे उन्हें देखकर अचरज आता था। उनके ऐसा अंग्रेजी, जर्मन, संस्कृत पर अपनी भाषा बंगला के समान ही अधिकार रखने वाला परिवार के बोझ से मुक्त प्रतिभाशाली व्यक्ति क्या जीवन की चिन्ता करे? लेकिन उनकी चिन्ता का कारण यही था, कि इतने साल बाद भारत में लौटने पर वह अपने को पानी से बाहर फेंकी मछली-सा समझते थे। अंग्रेजी लेख कभी-कभी वह पत्र-पत्रिकाओं के लिए भेजते थे। उन्हें मेरे कहने पर भी उत्साह नहीं होता था, कि कुछ लेख लिखें। यदि वह अपने जमाने के

अनुभव को हो धारावाहिक रूप से किसी कन्नड पत्रिका में लिख डालते, तो कर्णाटक के लोग उन्हें हाथोंहाथ उठा लेते। इनके ऐसा योग्य विद्वान् वहाँ कौन था? श्रीमती त्रिम्प और उनके परिवार के साथ वह अधिक आत्मीयता अनुभव करते थे और कभी कभी दो चार दिन के लिए वहाँ घर भी जाते थे।

कलिम्पोंग के हमारे सहृदय भद्रजनों में वहाँ के सब डिविजनल आफिसर श्री मानीचन्द प्रधान भी थे। जब तब उनसे मुलाकात हो जाती थी। वह हमारे परिभाषा के काम में भी दिलचस्पी रखते थे। ६ तारीख को दर्शन के अध्यापक श्रीगुप्त जी से अनामी में मिलने गए। दर्शन के संबंध में बात होती रही। हम इस उद्देश्य से गए थे कि मनोविज्ञान की परिभाषाओं के संग्रह का यह काम उनसे लें। वह तैयार थे पर थे अस्वस्थ। एक आपरेशन हो चुका था और दूसरा होने वाला था, इसलिए निश्चयपूर्वक क्या कह सकते थे। बंगाली परिवार सांस्कृतिक परिवार होता है। हमारे यहाँ अभी संस्कृति ऊपर ऊपर का फुवारा है और बहुत कम परिवारों में वह भीतरी स्तर तक घुस आई है। इसके निदर्शन मुखर्जी महाशय की तीनों पुत्रियाँ थीं जो संगीत-कला में निपुण थीं। अंजली ने लखनऊ के मैरिस कालेज में संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी और वहाँ रेडियो पर कभी-कभी गाया भी करती थी।

परिभाषा निर्माण विभाग के लिए कभी आशावान् होना पड़ता और कभी निराश। १० अक्तूबर को पता लगा कि सम्मेलन ने मार्च १९५० के लिए १३ हजार रुपया मंजूर किया है। ६० हजार शब्दराशि आगे बनने चाहिए। हम सोचने लगे मार्च तक काम करके छोड़ देना चाहिए पर डा० भट्ट के लिए सबसे अधिक चिन्ता थी।

कमला अब काम करने में बहुत आगे जा चुकी थी। टाइप कर लेती थी सारा प्रबन्ध का काम भी सँभाल हुई थी लेकिन उनके स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हो रहा था जिसके हो कारण बराबर सिरदर्द बना रहता था। मैंने १४ अक्तूबर को ही मान लिया था— कमला बहुत समझदार है, साधा-

रण बातो ही मे नही, विद्या की बाता मे भी। लेखन साधना का भी पूरा ध्यान रखती है।" ऐसी होनहार लडकी गरीबी के कारण आगे पढ न सके न अपने आन्तरिक गुणो को विकसित कर सके यह बडे खेद की बात होगी। खासकर जब कि मैं उनसे पूरी तौर से परिचित हो गया था। भीतर ही भीतर मैंने निश्चय कर लिया कि उन्हे आगे बढाना होगा। टाइप करने मे कितनी प्रगति हुई थी, यह इसीसे मालूम होगा कि १८ अक्तूबर को उन्होने फुल्स्केप के १४ पष्ठ टाइप किए। बहुत सी तालिकाए भी टाइप करनी थी। नही तो और भी कर सकती थी। १६ को उनकी आखें दुख रही थी तब भी वह टाइप करने मे लगी थी। मना करने पर भी नही मानती थी, शायद समझती होगी, चुप बठे रहना अच्छा नही है।

देश विदेश की खबरो की जानकारी के लिए थी सेनगुप्त भी उतने ही व्यग्र थे जितना मैं। उन्होने २६ अक्तूबर को खबर दी, कि तुगन (चीनी मुसल्मान) कम्युनिस्ट सेना के दबाव के कारण तिब्बत की सीमा पर पहुच गए है और तिब्बती सेना के साथ उनका युद्ध हो रहा है। मेरे लिए बडी चिन्ता की बात थी, क्योकि तुगनो के इधर बढने पर तिब्बत की सास्कृतिक निधियो का विनाश निश्चय था। यह बडी ही भयानक घटना होती। अगले दिन खबर मिली, कि डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति होगे। बडी प्रसन्नता की बात थी, विशेषकर यह ख्याल करके, कि राजेन्द्र बाबू हमेशा जनता के आदमी रहे हैं, और उन्हे शहर की अपेक्षा किसानो की भीड मे अधिक आत्मीयता मालूम होती है।

१९

कलिम्पोंग के अन्तिम मास

अनुवाद समिति के काम के लिए फिर मुझे दिल्ली जाने की जरूरत पड़ी। २४ अक्तूबर को ढाई बजे चलकर साढ़े ५ बजे सिलीगुड़ी पहुँच गया। कटिहार में सिक्ख पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव में भी सम्मिलित होना था, इसलिए कलकत्ता का रास्ता नहीं ले सकता था। सिलिगुड़ी से लोगों से भरी बस में जगह मिली। ६ बजे नक्सलबाड़ी पहुँचे। बड़ी मुश्किल से पहले दर्जे में जगह मिली। कम्पार्टमेन्ट सैनिकों के लिए रिजर्व था। मैं और एक और सहयात्री उसमें डरते डरते बैठ गये थे और सचमुच ही मेरे साथी को कर्नल के आने पर जगह छोड़नी पड़ी। रेलों के लिए अभी यह कोई असाधारण बात नहीं थी, फिर यह लाइन तो बहुत ज्यादा चलती थी। पहाड़ के लोग नौकरी की तलाश में कलकत्ता जाते, और फिर वहाँ से लौटते। २५ अक्तूबर को पूर्वाह्न में ही कटिहार पहुँच गया। कटिहार जूट के कारखाना का केन्द्र है, आबादी भी ६० हजार है। पर यहाँ के दर्गो दीवारों से गाँव की दरिद्रता बरस रही थी। म्युनिसिपलिटी भी दरिद्र है। जो कर दे सकते हैं वह न देने में समर्थ हैं, जो दरिद्र हैं वह क्या देंगे? मावंडिया जी के यहाँ ठहरे, जो मूलतः शेखावाटी में उदयपुर के रहने वाले हैं। सिक्ख पुस्तकालय के अधिवेशन में शामिल होने पर सबसे बड़ी प्रसन्नता हुई बड़े सीधे-सादे किन्तु मेधावी पं० सूर्यनारायण चौधरी से मिलकर।

उपन्यास के बाद ग्रंथों का सुंदर अनुवाद करके उन्होंने हिंदी की बड़ी सेवा की है। उनके 'हर्षचरित' के हिंदी अनुवाद को भी देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

वैसे तो उस समय रेल की यात्रा का नाम सुनकर भी तबीयत घबरा उठती थी। यह छोटी लाइन तो सामने देश में सबसे बढ़ चढ़ कर थी। अब उसमें हम प्रयाग तक जाना था। २६ अक्तूबर को प्रयागवाली ट्रेन पर बैठे। यहीं वह कुछ लेट हो गई। छपरा २७ के सबेरे पहुंचे। पहले से खबर नहीं दे सके थे। दो-एक परिचित चेहरे स्टेशन पर दिखाई पड़े पर पुराने चेहरे तो कम होते जा रहे थे और नए आ रहे थे इसलिए परिचित चेहरे वहां से अधिक होते। श्री नर्मदा प्रसाद वकील का नौजवान लड़का दिखाई पड़ा। जब वह बूढ़ा हो गया था। कितनी जल्दी परिवर्तन हो गया। आदि यार पहुंचे तो वहां बाबू गया प्रसाद सिंह के मकान मिल गए। छोटी लाइन में उनके का रास्ता चलते हैं। उन्होंने आग्रह करके भोजन कराया। बनारस तक वह साथ चले। यहां तक छोटी लाइन में आना तो आ गया था। यद्यपि छोटी लाइन का टिकट प्रयाग तक का था किन्तु मैंने यहीं दिल्ली जाने वाली बड़ी लाइन की ट्रेन पकड़ी। प्रयाग होकर जाने में देरी ट्रेन को पकड़ना था इसलिए उसके लिए उतर गए। टिकट लिया जब पहले दर्जे के डब्बे में बैठा तो सचमुच ही मालूम हुआ कि मैं नरक से स्वर्ग में आ गया। कम्पार्टमेंट की चार सीटों में एक खाली थी। दो पर कप्तान महाशय अपनी पत्नी के साथ थे और एक पर मैं। वहां छोटी लाइन में न खाने का नाम था न रहने का। भर गंदगी और अस्वच्छता दिखाई पड़ती थी, वहां इस कम्पार्टमेंट में सभी चीजें स्वच्छ मौजूद थीं।

२८ अक्तूबर को सवेरे ही दिल्ली पहुंचे। सीधा श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के घर पर गया। दफ्तर में किसी काम से बाहर गए हुए थे। संविधान का अनुवाद पूरा हो चला था और साथ ही संविधान की स्वीकृत परिभाषा सभी प्रान्तीय भाषाओं में निकालने की परिषद में उसका अन्तिम रूप देना था। सभापति श्री घनश्याम सिंह गुप्त पहले ही से मौजूद थे। काम

कैसे चालू किया जाए इस पर बातचीत हुई। मैंने कहा—परिषद् में पहले तो भिन्न भिन्न भाषाओं के प्रतिनिधियों के अपने विचारों को रखने का अवसर दिया जाय, और फिर वह समिति का रूप ले ले, और एक एक परिभाषा पर विचार किया जाय। ८०० से ऊपर परिभाषाएं थीं अभी मालूम नहीं था कि बहस में कितना समय लगेगा।

२६ तारीख को पौने १० बजे पार्लियामेंट के राज्य सभा भवन में परिषद् जुटी। राजेन्द्र बाबू ने सभापतित्व किया। भिन्न भिन्न प्रदेशों से ३७ विद्वान् आए। पाँच घंटे तक भाषण और विचार विनिमय होते रहे। तीन प्रस्ताव पास हुए—१ परिषद् २ नवम्बर तक लगातार बैठे, आवश्यकता होने पर आगे भी समय बढ़ा दिया जाए। २ प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद के लिए विज्ञपना की नियुक्ति प्रधान द्वारा बनाई समिति करेगी। यही संविधान के संस्कृत में अनुवाद करने के लिए भी एक समिति बना दी गई जिसमें मेरा भी नाम था।

इसी समय कलिम्पोंग की कमाई 'आज की राजनीति' का प्रथम संस्करण राजकमल की ओर से छप रहा था।

परिभाषाओं पर काम होने लगा। ३० तारीख को दिन भर में ४० शब्द स्वीकार किए जा सके। गति मन्द थी इससे तीन सप्ताह लग जाते। लेकिन हमें विश्वास था आगे चलकर हरेक शब्द पर इतनी बहस की जरूरत नहीं होगी। हमने जिस सिद्धान्त के अनुसार शब्दों को बनाया था उसमें मतभेद की गुंजाइश कम थी। कुछ तो परिषद में ऐसे आदमी रख लिए गए थे, जिन्हें न संस्कृत का ज्ञान था और न परिभाषा के निर्माण की परम्परा का। वह ऐसे सुझाव रख देते थे जिनके बारे में न वह युक्ति दे सकते थे, और न वह साधारण तौर से देखने पर भी विचार करने लायक होते थे। पहले एक दो दिन उन्हें भी अवसर दिया गया। पीछे उन्होंने स्वयं देखा कि मुखावा को रखकर वह सदस्यों के मनोरंजन के पात्र बन रहे हैं। उर्दू वाले विज्ञपन पहले दिन की सवेरे वाली बैठक में आए उसके बाद फिर नहीं आए। कपी साहब भी सदस्य नियुक्त किए गए थे

लेकिन वह सभा आए ही नहीं। २१ तारीख की बैठक में हमने सौ शब्द ठीक किये। वही शब्द लिए जा रहे थे जिन्हें हमने रखा था। एक विद्वान् काफी मेहनत से संस्कृत की स्मृतियां आदि में से चुनकर लाए, लेकिन हरेक शब्द अपने विशेष स्थान पर ही अर्थद्योतक होता है। स्मृतियों में एक ही चीज के लिए ग्रंथकारों ने मनमाने शब्द भी रखे हैं, ऐसे शब्दों को अपनाकर हम भ्रम नहीं फैला सकते थे। यह बात नहीं थी, कि मैं परिषद् में अधिक बोलने के लिए उत्सुक था, पर गुप्तजी का भी आग्रह होता और परिभाषाओं के बारे में जो भी प्रश्न उठाये जाते, उसका जवाब देने के लिए मुझे बोलना पड़ता। एक दिन मुसलमान बोल उठे आप अपने ही शब्दों को रख देते हैं हमारे शब्दों को नहीं स्वीकार करते। हम उपयुक्त शब्दों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, यह बात नहीं थी। पर शब्दों को स्वीकार करने के लिए यहाँ सभी भाषाओं के योग्य विद्वान् आए हुए थे उनमें शायद ही कोई हो जो संस्कृत की अच्छी योग्यता न रखता हो और पारिभाषिक शब्दों के मर्म को न समझता हो। हमारे संस्कृत के वह विद्वान् जो एक प्रदेश तक ही ज्यादा सम्बन्ध रखते हैं, दूसरे प्रदेशवालों के बारे में नहीं जानते, भाषा की नब्ज को पूरी तरह पहचान नहीं सकते। मुझे अपनी शिक्षा के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रदेशों के संस्कृतज्ञों के घनिष्ट सम्पर्क में आने का मौका मिला था इसलिए मैं जानता था संस्कृत के भी कितने ही शब्द वस्तुतः एक ही अर्थ में हमारे सभी प्रदेशों में इस्तेमाल नहीं किए जाते। उपयाम उत्तर में नावल को कहते हैं और दक्षिण में भाषण को।

कलकत्ता—३ नवम्बर को रात की गाड़ी पकड़कर प्रयाग के लिए रवाना हुआ। सीट पहले ही से रिजर्व थी, इसलिए मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। सामने बर्थ पर बाबू लक्ष्मीनारायण बैठे थे। मुजफ्फरपुर के इस तरुण ने अपना सारा जीवन यात्रा के काम के लिए लगा दिया। असहयोग की आँधी में कालेज की परीक्षा खतम कर चुके थे, लेकिन व्यवसाय कोई नहीं अपनाया था। उसी समय वह देश के काम में लग गए, और आज

तक बराबर उसी में हैं। किसी बैठक में दिल्ली आए थे, और अब बिहार लौट रहे थे। उनका सारा सामान सीधा सादा और खादी का था। उनके अधनंगे और कुछ मलिन से वस्त्रों को भी देखकर कम्पार्टमेंट में अंग्रेज पत्नी-सहित बैठे भारतीय कभी समझ सकते थे, कि यह आदमी पूरी तौर से शिक्षित सुसंस्कृत है साथ ही उसका सारा जीवन अखंड तपस्या का रहा है। बहुत वर्षों बाद मौका मिला था। देर तक हमारी बातचीत होती रही।

४ तारीख को सवेरे कानपुर आया। हाल में वर्षा हो गई थी इसलिए जहाँ-तहाँ कुछ पानी दिखाई पड़ता था। रास्ते में मैंने देखा, खपड़ैल की छतें सरसाठी (जिला इलाहाबाद) से शुरू होती हैं। उससे पश्चिमी मिट्टी या छतें यूरोप की सीमा पर अवस्थित उराल पर्वतमाला तक चली गई हैं। जहाँ वर्षा अधिक हो, वहाँ कच्ची मिट्टी की छतें अनुकूल नहीं हो सकती।

प्रयाग में पहुँचकर श्री माचवेजी के यहाँ गया। उस समय वहीं के रेडियो स्टेशन में वह काम कर रहे थे। उसी बंगले में अज्ञेयजी भी रहते थे। सम्मेलन-कार्यालय में जा वहाँ कोश के बारे में कुछ देखभाल और पूछ ताछ की। आजकल सारनाथ में वार्षिकोत्सव का समय था। इसलिए वहाँ जाने का निश्चय कर लिया। गाड़ी पकड़ कर आधी रात को सारनाथ स्टेशन पहुँचा। सारनाथ में इस समय आने का एक लाभ था भिन्न भिन्न जगहों से आये मित्रों से मिलने का। आनन्दजी भी वहाँ मिल गए और काश्यप जी भी। सबसे अपूर्व दर्शन चीना बाबा का हुआ। मुनि शान्ति सागर से भी उनकी पुरातात्त्विक स्थानों की खोजों के बारे में बातचीत होती रही। चीना पूता (छोटा पूता) भी मिले और उनको देखते ही बोध गया के चीना पूती और बड़े पूतो की मनोरंजक विवादों की बात याद आने लगी। बड़ा पूता अब इस संसार में नहीं रहे। वह चीनी थे और चीना पूता माँ की ओर से तिब्बती और बाप की ओर से चीनी। दोनों बोध गया के धर्मशाला में वर्षों से रह रहे थे। उनमें प्रतिद्वंद्विता भी थी। वर्षों रहने पर भी बड़े पूती हिन्दी नहीं के बराबर ही सीख सके। वह छोटे पूतो की निंदा —'चीना पूती काना पग-पसी, पूना तारा-तारा।' अर्थात्

लोग पूरी कमा-कमी खाना खाते हैं और पूरा काम करते हैं। और अपने लिए कहते हैं—'करो पूरी खाना तोरा-तोरा पूरा पसी-पसी।' दोपहर तक मारवाड़ में रहकर मित्रों से मिल लिया, फिर छोटी लाइन की गाड़ी पकड़कर सवा ८ बजे शाम को प्रयाग लौट गया। अपनी पुस्तकों के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ बात करनी थी। वस्तुतः अब पुस्तकें इतनी अधिक हो गई थीं कि उन्हें कोई एक प्रकाशक प्रकाशित भी नहीं कर सकता था। वहां से ८ बजकर १० मिनट पर दिल्ली मेल पकड़ा और कलकत्ता के लिए रवाना हो गया। ७ तारीख को ११ बजे हावड़ा पहुंचा और पौन घंटे बाद श्री मणिरूप जी के मकान पर। टैक्सी नहीं मिली, घोड़ा गाड़ी ली। रास्ते में बड़ा बाजार की सड़क पर इतनी भीड़ थी, कि देर तक रुकना पड़ा। उन दिनों कलकत्ता में यह आम शिकायत थी, और किसी किसी समय एक सड़क से सिर्फ एक ओर जाने का नियम लागू किया जाता था। अब की प्रयाग में अदरनी ने अपनी पुस्तक 'लो मारा' दे दी थी। पढ़ गया। इसमें अदरनी और नवल पनी कौशल्या माता की कहानियां व चमत्कार अलग-अलग लिए हुए थे। मुझे तो कौशल्या पति का पछाड़ कर आगे नहीं मालूम हुई। उनकी रचना में स्वाभाविकता तथा प्रसादगुण अधिक था। हो सकता है भाषा संवारने में अन्यों ने कुछ सहायता की हो। लेकिन दोनों की रचना का भेद स्पष्ट मालूम होता था।

कलकत्ता में अब मठों का नए मनोवृत्तियां आ रही थीं। जितन

तब बराबर उसी में हैं। किसी बैठक में दिल्ली आए थे, और अब बिहार लौट रहे थे। उनका सारा सामान मोटा सादा और खादी का था। उनके अधनंगे और कुछ मलिन से वस्त्रों को भी देखकर कम्पार्टमेंट में अंग्रेज पत्नी सहित बैठे भारतीय कैसे समझ सकते थे, कि यह आदमी पूरी तौर से शिक्षित सुसंस्कृत है साथ ही उसका सारा जीवन अडिग तपस्या का रहा है। बहुत वर्षों बाद मौका मिला था। देर तक हमारी बातचीत होती रही।

४ तारीख को सबेरे कानपुर आया। ट्रेन में वर्षा हो गई थी, इसलिए जहाँ-तहाँ कुछ पानी दिखाई पड़ता था। यात्रा में मैंने देखा खपड़ैल की छत भरवारी (जिला इलाहाबाद) से शुरू होती है। उससे पश्चिमी मिट्टी की छत यूरोप की सीमा पर अवस्थित उराल पर्वतमाला तक चली गई है। जहाँ वर्षा अधिक हो, वहाँ कच्ची मिट्टी की छतें अनुकूल नहीं हो सकतीं।

प्रयाग में पहुँचकर श्री माचवेजी के यहाँ गया। उस समय वहीं के रेडियो स्टेशन में वह काम कर रहे थे। उसी बगल में अज्ञेयजी भी रहते थे। सम्मेलन-कार्यालय में जा वहाँ कोश के बारे में कुछ देखभाल और पूछताछ की। आजकल सारनाथ में वार्षिकोत्सव का समय था। इसलिए वहाँ जाने का निश्चय कर लिया। गाड़ी पकड़ कर आधी रात को सारनाथ स्टेशन पहुँचा। सारनाथ में इस समय आने का एक लाभ था भिन्न भिन्न जगहों से आये मित्रों से मिलने का। आनन्दजी भी वहाँ मिल गए और काश्यप जी भी। सबसे अपूर्व दर्शन चाचा बाबा का हुआ। मुनि कान्ति सागर से भी उनकी पुरातात्विक स्थानों की खोजों के बारे में बातचीत होती रही। चाचा फूचा (छोटा फूची) भी मिले और उनको देखते ही बोधगया में चाचा फूची और बड़ा फूची की मनोरंजक विवादों की बातें याद आने लगीं। बड़ा फूची अब इस संसार में नहीं रहे। वह चीनी थे और चाचा फूची माँ की ओर से तिब्बती और बाप की ओर से चीनी। दोनों बोधगया के धर्मशाला में वर्षों से रह रहे थे। उनमें प्रतिद्वन्द्विता भी थी। वर्षों रहने पर भी बड़े फूची हिन्दी नहीं के बराबर ही सीख सके। वह छोटे फूची की निन्दा करते कहते थे—'चाचा पूची काना पस-पसा, पूचा तारा-तारा।'' अर्थात्

छोटा पूर्वी क्या उसी खाना खाता है और पूजा कम करता है। और अपने लिए कहते थे—'उरा पूर्वी खाना तारा-तारा पूजा पमी-पसो।' दोपहर तक सारनाथ में रहकर मित्रों से मिल लिया, फिर छोटी लाइन की गाड़ी पकड़कर मऊ ८ बजे शाम को प्रयाग लौट गया। अपनी पुस्तकों के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ बात करनी थी। वस्तुतः अब पुस्तकें इतना अधिक हो गई थीं कि कोई एक प्रकाशक प्रकाशित भी नहीं कर सकता था। बारह में ८ बजकर १० मिनट पर दिल्ली मेल पकड़ा और कलकत्ता के लिए रवाना हो गया। ७ तारीख को ११ बजे कलकत्ता पहुँचा और पौन घंटे बाद श्री मणिहर्ष जी के मकान पर। टैक्सी नहीं मिली, घोड़ागाड़ी ली। रास्ते में बड़ा बाजार की सड़क पर इतनी भीड़ थी कि कुछ देर रुकना पड़ा। उन दिनों कलकत्ता में यह आम शिकायत थी, और किसी किसी समय एक सड़क पर सिर्फ एक ओर जाने का नियम लागू किया जाता था। अब की प्रयाग में अश्कजी ने अपनी पुस्तक 'दो धारा' दे दी थी। पढ़ गया। इसमें अश्क जी और उनकी पत्नी कौशल्या दोनों की कहानियाँ व एकांकी अलग-अलग दिए हुए थे। मुझे तो कौशल्या जी का पलड़ा भारी मालूम हुआ। उनकी रचनाओं में स्वाभाविकता तथा प्रभावोत्पादकता अधिक था। हो सकता है भाषा सँवारने में अश्क जी ने कुछ सहायता की हो। लेकिन दोनों की रचना का भेद स्पष्ट मालूम होता था।

कलकत्ता में अब मारवाड़ियों की नई मनोवृत्तियाँ भी देखी जाती थीं। कितने ही करोड़पतियों ने खादी का पल्ला पकड़ा था। सभी यहाँ एक समान सुधार नहीं हो सकते थे, इसलिए भी कुछ दूसरे दरवाजे खोजने थे, और कुछ पद और सम्मान खोजते, कि शासन में जो भ्रष्टाचार फैला है उसके कारण उनके ज्यादा दिनों तक आशा नहीं रखी जा सकती। इसीलिए जब वह सात-आठ वर्ष के गांधी बनने लगे। मारवाड़ियों में भी एक करोड़पति सेठ का पुत्र रहता था। उनमें कोई ऐसा आत्मत्याग की भावना थी, जिसकी प्रेरणा में वह तपस्वी जयप्रकाश नारायण के चरणों में बैठने के लिए उत्सुक था। वह मानते थे, कि समाजवाद का समाजवाद द्वारा हो

भारत में आने से रोका जा सकता है। वह भली भांति जानते थे, कि समाजवाद के असली वाहक कम्युनिस्ट ही होंगे। इसलिए उनसे बचना जरूरी समझते थे।

पश्चिमी पाकिस्तान से हिंदुओं का निष्कासन तड़ाके पड़ाके और बड़ी क्रूरता के साथ हुआ। उनके पुनर्वास का काम यद्यपि अभी समाप्त नहीं हो पाया था, लेकिन बहुत कुछ अपने पैरों पर खड़ा होकर उन्होंने समस्या को कठिन नहीं बनने दिया। उनके लिए एक सुभीता यह भी हुआ कि पूर्वी पंजाब के मुसलमान भारत छोड़कर चले गए जिनके मकान और खेत नवागत शरणार्थियों को दिए जा सके। पूर्वी पाकिस्तान में ऐसा नहीं हुआ। अव्वल तो पश्चिमी बंगाल से बहुत ही कम मुसलमान पाकिस्तान गए, जिसके कारण खेत और मकान खाली मिलने वाले नहीं थे। और दूसरे पूर्वी पाकिस्तान से हिंदुओं का निष्कासन जल्दी नहीं हुआ, वह तांता अब भी लगा हुआ है। अंदाज तो ऐसा लगता है कि वहां बहुत कम ही हिंदू रह पाएँगे। इनके पुनर्वास की समस्या अब (१९५६ में) भी उसी तरह बड़ी चिंताजनक है। १९४९ में कलकत्ता में एक और दृश्य दिखाई दिया। सरकार शरणार्थियों को अपने ढंग से बसाना चाहती थी परन्तु यह नहीं ख्याल करती थी, कि जंगल के महल को लेकर शरणार्थी चाट नहीं सकते। उन्हें ऐसी जगह चाहिए जहाँ वह हाथ पर हिलाकर या दिमाग चलाकर रोजी जमा सकें। यह संभावना शहर के पास ही रहती है इसलिए यदि शरणार्थियों में से बहुत से कलकत्ता के आसपास बसना चाहते थे, तो यह स्वाभाविक ही था। कलकत्ता के आसपास जितनी भी जमीन थी, वहाँ तेजी से बढ़ती हुई महानगरी जल्दी पहुँच जाने वाली थी। इन सब जमीनों को सेठों ने खरीद लिया था। मारवाड़ी सेठों के पास ही रुपया था इसलिए ये जमीनें उन्हीं के हाथ में थीं। टालीगंज के रिजेंट पार्क के समीप मैं एक ऐसी जगह को देखने गया जहाँ पूर्वी बंगाल से आये शरणार्थियों ने अपना अड्डा जमा लिया था। जमीन किसी सेठ ने ले रखा थी। वैयक्तिक सम्पत्ति हमारी सरकार के लिए परमपवित्र है, इसलिए उस शरणार्थियों

के अनुकूल स्थान पर बसाने से भी अधिक वयक्तिक सम्पत्ति और उस पर कानूनी अधिकार रखने वाले व्यक्तियों के स्वार्थ का देखना जरूरी था। शरणार्थियों ने खुली जगह देखकर वहां अपनी झोपड़ियां खड़ी कर दीं। श्री शरत बोस जैसे जननेताओं ने भी उनका समर्थन किया। सेठों में इतनी शक्ति नहीं थी कि शरणार्थियों और उनके पीछे सारी जनता के मुकाबले में अपनी जमीन पर कब्जा रखते। सरकार ने झट से वहाँ पल्टन भेज दी, जिसमें वहाँ मकान न बनने पाएँ। शरणार्थियों ने चटाई की दीवारें खड़ी कर उन पर फूस की छत डाल दी थी। सेठ कह रहे थे—"हमको हुकुम है कि नई झोपड़ियों को नहीं बनाने दें।" शरणार्थी अपनी भूमि का किराया देने फिरते से दाम भी चुकाने के लिए तैयार थे। इससे बढ़कर और क्या उचित हो सकता था। लेकिन, सरकार निहित स्वार्थों को जरा भी क्षति होने देना नहीं चाहती थी। उसके पिट्ठू कहते फिरते थे, शरत बोस अपना नेतृत्व कायम रखने के लिए प्रान्तीयता के युद्ध को उत्तेजित करना चाहते हैं। दुर्भाग्य से कलकत्ता के धनकुबेर अबंगाली हैं किन्तु क्या प्रान्तीयता का डर समझ कर बंगाली अपनी उचित माँगों को छोड़ दें?

कलिम्पोंग—१० नवम्बर को ८ बजे विमान से उड़कर दो घंटे में मैं बागडोगरा पहुँच गया। आकाश स्वच्छ था, सर्दी नहीं मालूम हो रही थी, यद्यपि यह नवम्बर का दूसरा हफ्ता था। हवाई अड्डे से सिलीगुड़ी पहुँच कर १६ रुपये में टैक्सी में जगह मिली और ढाई बजे "पावनी" पहुँचा। भट्ट, सेनगुप्त और कमला सभी अच्छी तरह काम में लगे हुए थे। हमारा परिभाषा का काम चलने लगा। इसी समय डा० रोयरिक के साथ प्रमाण वार्तिक के अंग्रेजी अनुवाद का भी काम शुरू हुआ। अब की कलकत्ता में श्री परमानन्द पोद्दार से बातचीत हुई। उन्होंने २१ हजार रुपया अग्रिम देते मेरी कितनी ही पुस्तकों को छापने की बात तय की। कलिम्पोंग रहते ही उसकी लिखा-पढ़ी भी हो गई।

दार्जिलिंग—कलिम्पोंग में रहने के समय का अंत आ रहा था। दार्जिलिंग भी देख आने का निश्चय करके १६ नवम्बर को सवेरे ८ बजे के बाद हम

मणिहृप जी की जजी आर्गिटन पर निकले। ड्राइवर के साथ में बठा था और पिछली सीट पर सनगुप्त कमला और कमला की चचेरी वहिन तथा बाबू राधामोहन की पत्नी जमुनादेवी बैठी थी। रास्ता तिस्ता-उपत्यका से चढ़ाव चढ़ के जाता है जिसकी सड़क उतनी अच्छी नहीं है और भारी गाड़ियों के लिए अनुकूल नहीं समझी जाती। तिस्ता पुल से दार्जिलिंग २८ मील पर है और पुल कलिम्पोंग से १० मील। ३८ मील की यात्रा हमने डेढ़ घंटे में पूरी की। उपत्यका छोड़ने पर सरल चढ़ाई चलते पेशोक चाय बगान के पास पहुँचे। आगे कितनी ही दूर तक भी कुछ चढ़ाई रही, कहना चाहिए चढ़ाई तो घूम तक थी। रास्ते में लेब्चू छमार जार-बंगाल, घूम बावथ्याड़ा पड़े। सिलीगुड़ी से दार्जिलिंग आने वाली सड़क घूम में मिल गई। रास्ता सारा चायबगानों या हरे भरे जंगलों का था। हरियाली मनमोहक थी। चाय के बगीचे बाहर की लक्ष्मी के आवाहन के सबसे बड़े साधन थे। चाय यद्यपि सौ ही वर्ष पहले इस भूमि में आई थी, लेकिन आज दार्जिलिंग की चाय दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। चार-पांच हजार फुट ऊँची ठण्डी जगहों की पत्तियों में विशेष गुण होते हैं। यद्यपि सिलीगुड़ी में चाय यहाँ से दूनी और अधिक भी उपजती है पर महंगाई के कारण यहाँ के बगान ज्यादा नफे में रहते हैं। जैसा कि पहले कहा दार्जिलिंग अब नपालीभाषियों का है। पर यह बगानों में कुली ही भर बन सकते हैं। पहले सारे बगीचे अंग्रेजों के हाथ में थे अब उनमें से कितने ही हमारे सेठों के हाथ में चले आये हैं और जो बचे हैं वह भी पके आम की तरह उनकी गोद में गिरने के लिए तैयार हैं।

रास्ते में जगह जगह दूकानें और छोटे छोटे बाजार थे। चाय और सिगरेट तो प्रायः दो-दो मील पर बिक रहे थे। बीड़ी सिगरेट अब और जगहों में भी बहुत प्रिय जान है इन पहाड़ों में तो स्त्रियों को भी उसके पीये बिना काम नहीं चलता। घूम से जोग प्राय बस्ती ही बस्ती चली गई थी। दूर से ही हम पर्वत पृष्ठ पर बसा दार्जिलिंग नगर को देख रहे थे। नीले गुम्बद वाले राज्यपाल भवन और बर्दवानराज वाली इमारत की दृष्टि का

अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रह सकती थी। आजकल नवम्बर का तीसरा हफ्ता था। यह सैलानियों के आने का समय नहीं था तब भी दार्जिलिंग केवल सैलानियों का नगर नहीं है, बल्कि वहां अपने स्थायी वासिन्दे भी बहुत काफी हैं जिले का वाणिज्य का केन्द्र है। इसलिए यह जाड़ा में वैसा सूना नहीं हो जाता, जैसा नैनीताल या मसूरी। सेंट्रल होटल में हम ठहर गये, जो मध्यम के होटलों में से एक था। कमरे का किराया दस रुपया प्रतिदिन था। भोजन यहां का ठीक नहीं था, लेकिन उस समय किसी एक की ऐसी शिकायत करना उचित नहीं था।

उसी दिन हम महाकाल देखने गए। बौद्ध अपने विहारों या मंदिरों का स्थान चुनने में सभी देशों और कालों में कमाल करते हैं। यहाँ पर सबसे ऊँची जगह पर उन्होंने अपना मंदिर स्थापित किया था जहाँ बुद्ध की भी मूर्ति रही होगी, लेकिन साथ ही धर्मपाल महाकाल भी स्थापित थे। हिन्दुओं के लिए भी यह नाम परिचित है, इसलिए हिन्दू और बौद्ध महाकाल में एक हो गए। जब अंग्रेज यहाँ पहुँचे, तो उन्हें यह देखकर बुरा लगा कि सबसे उच्च स्थान पर काफिरों का मन्दिर हो, और उनके गिर्जे का मस्तक उससे हेठा रहे। उन्होंने महाकाल को वहाँ से हटवाया और पास में अपना गिर्जा खड़ा किया।

दार्जिलिंग में हिन्दी भाषी भी काफी हैं। मारवाड़ी तो सेठ और छोटे दूकानदार हैं। उनसे भी अधिक संख्या बिहार और उत्तर प्रदेश के भोजपुरियों की है जो अधिकतर छोटी मोटी दूकानें करते हैं। प० रामलाल सहाय यहाँ के हाई स्कूल में अध्यापक थे। श्री जगबहादुर प्रधान भी हिन्दी के उत्साही कार्यकर्ता थे। इनके प्रयत्न से कई साल पहले यहाँ हिमाचल हिन्दी भवन स्थापित हुआ। लोग धूप करने पर अनुकूल भूमि भी मिल गई और उस पर लकड़ी का मकान खड़ा कर दिया गया जिसमें आजकल मिडिल स्कूल चल रहा था। मकान और जमीन के लिए ३० हजार रुपया भी जमा हो गया था लेकिन जरूरत थी ५० हजार की। हिन्दी भवन दार्जिलिंग के हिन्दी भाषियों के साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र है।

२० नवम्बर भी दार्जिलिंग म ही बिताना था। जल्पान करके ८ बजे निकले ता भाजन क लिए दा बजे ही लौटकर आये। वनस्पति उद्यान यहा की एक दर्शनीय चीज है और मेरे लिए ता परिभाषा के कारण भी वह विशेष आकर्षण रखता था। इस उद्यान म ठण्डे मुल्का के बहुत तरह के वृक्ष लगाये गय ह। वक्षा पर अग्रेजी म उनका नाम भी दिया हुआ है, लेकिन भारतीय नाम शायद ही किसी का मिलता है, हालाकि उद्यान क कमचारी, विशेषकर माली प्राय सभी वृक्षा के देशी नाम जानते हैं। वह आसानी से इन नामा को द सकते है, किन्तु उनक पास दो चार दिन रहने क लिए किसी के थान की जरूरत थी। वहा के अधिकारी से इसक बारे म बात चीत की, और वह सहायता के लिए तयार थे।

शहर के हिन्दू मन्दिर म गए। जिस तरह हमारे रहन सहन मे गदगी है उसी तरह हमार देवता का रहन-सहन भी हो, तो अचरज क्या? लेकिन हिमालय के तमग लाग भी बहुत अधिक स्वच्छता पसन्द नही हैं, उनका विहार क्या इतना स्वच्छ है? जामामस्जिद भी यहा की एक खास धार्मिक इमारत है। उसमे भी हिन्दू मन्दिर से अधिक स्वच्छता देखी। मस्जिद क साथ धमशाला है। प्रबन्धक हमारे छपरा के मौल्वी साहब निकले। उन्होंने सभी चीजें बडे प्रेम से दिखलाइ, और बतलाया कि हमारी धमशाला म हिन्दू मुसलमान कोई भी आकर रह सकता है। दार्जिलिंग म बचहिल भी एक दर्शनीय स्थान है। यहाँ मे कलिम्पाग दिखाई पडता है। बच भुज वृक्ष को कहत हैं और वह इस स्थान स और सात हजार फुट ऊँची जगह म हाता है जहाँ साल म नौ महीने जमीन को बफ ढँक रहती है। यहाँ बच का कोई वक्ष नही था, फिर इसका नाम भुजपर्वत क्या रखा गया? जगला से ढँका हुआ यह पवत पिकनिक और मनोरंजन क लिए अच्छा है।

दार्जिलिंग म आकर अपने पथ प्रदशका में स एक कुरानी जामा सदोर (अलेक्जाण्डर जामा द कोरा) की समाधि का बिना देखे यात्रा क्म पूरी हो सकती था? हम उनरकर युरोपीय कब्रिस्तान म गए। बहुत कब्रा के भीतर

वहीं ईंट चूने के चबूतरे ने स्तम्भ के साथ चोमा की समाधि देखी। चोमा १७८४ ई० में हंगरी में पैदा हुआ। उसे मालूम था कि हमारे मग्यारों के पूर्वज एसिया से आए थे। उसके मन में आया, अपने पूर्वजों की भूमि और अपने भाई-बन्दों को देखा जाए। बड़ी-बड़ी तकलीफों को सहकर यह अदम्य घुमक्कड़ भारत पहुँचा, फिर सुनसुनाकर तिब्बत को अपने लोगों का मूल स्थान समझ वह लद्दाख पहुँचा। मग्यार लोग हूणों की सन्तान थे और जिनका मूल स्थान मंगोलिया था, चोमा को वहीं जाना चाहिए था। पर, वह कोलम्बस की तरह ढूँढ़ते भारत चला आया—कोलम्बस भारत ढूँढ़ने अमेरिका चला गया। इससे पहले ही रूसी लोग तिब्बती भाषा और वहाँ के बौद्ध धर्म से सुपरिचित हो गए थे, क्योंकि उनका सम्पर्क १८वीं सदी के आरम्भ में ही मंगोल लोगों से हो गया था, जो धर्म से बौद्ध थे और जिनकी धर्मभाषा तिब्बती थी। रूसी विद्वानों ने भाषा और धर्म के ऊपर काफी लिखा भी था, इसलिए चोमा को प्रथम तिब्बती भाषाविद् नहीं कहा जा सकता। पर इसमें शक नहीं कि पश्चिमी यूरोप के विद्वानों के लिए तिब्बत का दरवाजा उसी ने खोला। वह लद्दाख और जांस्कर में ऐसे लोगों में रहा, जो तिब्बती भाषा छोड़कर और दूसरी भाषा नहीं जानते। भाषा सीखने का अच्छा अवसर और क्या हो सकता था? उसने तिब्बती भाषा पढ़ी। अंग्रेजी में उसका प्रथम व्याकरण और प्रथम कोश लिखा। साढ़े पाँच हजार भारतीय पुस्तकें तिब्बती भाषा में अनूदित होकर कंजूर-तंजूर के ३३३८ जिल्दों में सुरक्षित हैं, उनका विश्लेषण चोमा ने अंग्रेजी में किया, और तिब्बत के बारे में बहुत लिखा। वह विद्या के पीछे फकीर था। उसकी योग्यता की अंग्रेज कदर करने लगे थे। कलकत्ता की एसियाटिक सोसाइटी ने उसके रहने के लिए विशेष तौर से प्रबन्ध किया था। लेकिन, वह उसी तरह और वैसी ही सीधी-सादी पोशाक में वहाँ रहता था, जैसे हिमालय के अपने प्रवास में रह चुका था। यदि वह एक ओर तिब्बती भाषा का एक प्रकाण्ड विद्वान् था, तो दूसरी ओर उसका सीधा-सादा जीवन और मधुर स्वभाव था। वह कलकत्ता से चलकर दार्जिलिंग इसलिए आया था कि

तिब्बत की ओर प्रस्थान करें। इसी समय वह बीमार पड़ गया और अपनी अन्तिम इच्छा पूरा किए बिना ११ अप्रेल १८४२ को यहाँ दार्जिलिंग में उसने अपना शरीर छोड़ा। आज वह इसी समाधि में १०७ वर्षों से सो रहा था। समाधि के ऊपर ईंटें चूने का खम्भा पीछे खड़ा किया गया। इस पर हंगेरियन (मगयार) भाषा में दो और अंग्रेजी में एक अभिलेख है जिसमें यही बतलाया गया है कि यही चोमा की कब्र है।

धीरधाम देखने गए। यह नेपालियों का मन्दिर स्वच्छ और बड़े ही अनुकूल स्थान पर अवस्थित है। दार्जिलिंग अंग्रेजों का केन्द्र रहा है। चाय-बगीचे वाले तो बारह मास यहीं रहते थे, गर्मियों तथा बरसात में कलकत्ता से बड़ी भारी संख्या में अंग्रेज व्यापारी और अफसर अपने परिवार को लेकर यहाँ आया करते। पुरुष चाहे अपने काम पर लौट भी जाते, लेकिन बीवी-बच्चों को यहाँ छोड़ जाते। जब इंगलैण्ड जाना महीनों का काम था और यात्रा भी निरापद नहीं होती थी, उस समय अपने बच्चों की शिक्षा के लिए हिमालय की पुरियों का महत्त्व अंग्रेजों को मालूम हुआ, और यहाँ उन्होंने बहुत से कानवेंट और स्कूल स्थापित किए। इनमें उनके बच्चे अंग्रेजी वातावरण में और वहीं के विश्व विद्यालयों के पाठ्य-क्रम के अनुसार शिक्षा पाते थे। अंग्रेजों के जाने के बाद यद्यपि उनमें से कुछ स्कूल बन्द हो गए, लेकिन बाकी अभी भी काफी फूल-फल रहे हैं। जब तक अभिभावकों का विश्वास है कि अंग्रेजी द्वारा ही बड़ी-बड़ी नौकरियों का दरवाजा खुलता है, तब तक इन स्कूलों को हानि नहीं पहुँच सकती।

अपने पुराने परिचित स्वामी सच्चिदानन्द जी मिल गए। अपने धुन में बड़े लगे रहते थे, तिब्बती मजदूरों के लिए काम करते थे।

डा० एस० के० मजूमदार और उनकी जर्मन पत्नी बड़े सहृदय विद्वान् दम्पती हैं। गोरखा हॉल में मुझे अभिनन्दन पत्र दिया गया, जिसके प्रधान डा० मजूमदार रहे। यहीं श्री सूर्यविक्रम ज्ञवाली से साक्षात्कार हुआ, यद्यपि पत्र द्वारा उनका परिचय पहले से भी था। वह नेपाली इतिहास और भाषा के बड़े विद्वान् हैं और उस पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं।

कलिम्पोंग—२१ को सबेरे पौने ९ बजे दार्जिलिंग छोड़ दो घंटे में कलिम्पोंग पहुँच गए। जाते समय कमला को कै हुई थी। पहाड़ की मोटर-यात्रा में यह बहुत बच्ची है, लेकिन आज हिम्मत की इसलिए कै की नौबत नहीं आई। उस दिन की चढ़ाई अब उतनी उतराई थी, जिसमें गाड़ी को बहुत सँभाल कर चलाना पड़ता था। लौटने पर कई चिट्ठियाँ मिलीं। डा० ब्रजकिशोर मालवीय ने जीव रसायन की परिभाषाओं के प्रति शब्दों में अपने सुझाव को रखने का आग्रह किया था। विशेषज्ञों के दिये हुए प्रतिशब्दों का बहुत मूल्य होता है इसे हम जानते थे, लेकिन साथ ही एक ही तरह के पारिभाषिक शब्द विज्ञान की कई शाखाओं में आते हैं। अंग्रेजी में जैसे उनकी एकता अक्षुण्ण रखी जाती है, वैसे ही हमें भी करना था, इसलिए मालवीयजी को हमने पीछे समझा कर लिखा और वह हमारी बात मानने के लिए तैयार हो गए। मालवीयजी उन विद्वानों में हैं जो हिन्दी के भविष्य पर पूरा विश्वास रखते हैं और उसके लिए काम करने के लिए भी तैयार हैं। वह चिकित्सा विज्ञान की और शाखाओं में भी काम कर सकते थे। श्री गोविन्द मालवीय उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे। उन्होंने मुझे प्राच्य शिक्षा की एक योजना बनाने के लिए लिखा था, मैंने योजना बनाकर भेज भी दी। मैं चाहता था, हिन्दू विश्वविद्यालय में भी बौद्ध वाङ्मय और उसकी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन और अनुसंधान का प्रबन्ध हो। इसका जिक्र जो मैंने किया था और मालवीयजी के इच्छा प्रकट करने पर तिब्बत से कन्जूर और तन्जूर की पुस्तक मँगवा दी।

दिल्ली—२३ नवम्बर को संविधान के अनुवाद-कार्य के लिए दिल्ली प्रस्थान करना पड़ा। साढ़े ११ बजे सिलीगुड़ी में विमान-कम्पनी के कार्यालय पर पहुँच कर ढाई घंटे तक वहीं बैठा रहना पड़ा। फिर बागडोगरा जाकर ४ बजे विमान के धरती छोड़ने का समय आया। आज सारा विमान भरा हुआ था—२६ यात्री थे। कुछ लोग सर्दी के कारण घर की ओर लौट रहे थे। अँधेरा होने से पहले ही कलकत्ता पहुँच जाना जरूरी था। अड्डे से हम पौने ७ बजे मणिपुरी के निवास पर पहुँचे। २४ को सबेरे [illegible]

अड्डे पर पहुँच आई० एन० ए० के वाइकिंग विमान पर सवार हुए। वह छ हजार फुट की ऊँचाई पर उड़ता चला, और साढ़े तीन घंटे में दिल्ली पहुँच गया। रास्ते में बादल एकाध ही दिखाई पड़े, हाँ धुंध अधिक थी। सहयात्री अधिकतर विदेशी थे। साढ़े ६ बजे शाम को विलिंगटन अड्डे से विमान कार्यालय में पहुँच श्री चन्द्रगुप्तजी के यहाँ चला गया।

२५ को ९ बजे भाषा विशेषज्ञों की परिषद् आरम्भ हुई। जिसमें आसाम और कश्मीर के भी प्रतिनिधि आये हुए थे। परिभाषाओं के निश्चय के लिए काम होता रहा। पता लगा, इस वर्ष सम्मेलन के सभापति श्री चन्द्रबलि पांडे निर्वाचित हुए हैं। चन्द्रबलि पांडे हिन्दी के तपस्वी हैं। उन्होंने अपने जीवन की सारी उमंग हिन्दी पर वार दी, सारा समय उसी के साहित्य को समृद्ध करने के लिए लगाया। इस तरह का तपस्वी पण्डित हिन्दी में दूसरा नहीं है। उनका सभापति चुना जाना मेरे लिए बड़े हर्ष की बात थी। यह समझकर और भी गर्व होता था कि वह मेरे जिले (आजमगढ़) के ही नहीं, बल्कि मेरे पितृग्राम से चार ही पाँच कोस हटकर छटियाँव में पैदा हुए। परिषद् की बैठक इतवार (२७) को नहीं हुई, लेकिन हम अनुवाद-समिति वालों को उस दिन भी काम करना पड़ा। ३० नवम्बर तक जहाँ तक हिन्दी अनुवाद का और परिभाषाओं का सम्बन्ध था, काम खतम हो गया। अन्तिम दिन परिषद् ने प्रस्ताव स्वीकृत किया कि भारत की सभी भाषाओं की परिभाषावलि एक रखी जाए, दूसरे शब्द अधिक अनुकूल जान पड़ें वहाँ भी राष्ट्र में सार्वत्रिक परिभाषाओं को रखा जाए। परिषद् में श्री बालसुब्रह्मण्य अय्यर, लक्ष्मीनारायण राव जैसे विद्वानों के सुझाव अच्छे होते रहे, वह मान लिए भी जाते थे। इसलिए अनुवाद समिति पर अपने परिभाषाओं के आग्रह का आक्षेप नहीं किया जा सकता था। यदि अनुवाद समिति के शब्द प्रायः सभी मान लिए गए, तो इसका कारण उनका आग्रह नहीं था, बल्कि सभी प्रादेशिक भाषाओं के विशेषज्ञ उन्हें ठीक समझते थे। श्री विकुभाई देसाई (गुजराती), श्री रघुनन्दन भारद्वाज (ग्वालियर) और श्री रामचन्द्र

वर्मा (बनारस) के सुझाव यदि लोगों को पसन्द नहीं आते थे तो उसका कारण यह था कि वह इस बात का ध्यान नहीं रखते थे कि हमारे भाषा भंडार की बहुत-सी निधियाँ सभी प्रादेशिक भाषाओं की सम्मिलित सम्पत्ति हैं इसलिए हम सिर्फ हिन्दी या गुजराती की दृष्टि से परिभाषाओं का निर्माण नहीं कर सकते थे। श्री तीर्थनाथ शर्मा (असम) सुनीति बाबू (बंगला) मुनि जिनविजय जी (गुजराती), श्री घनश्याम गुप्त (हिन्दी) श्री टी० एन० श्री कंठया (कर्नाटक) श्री जियालाल कौल (कश्मीरी), श्री कुन्हनराजा (मलयालम) श्री चेतु पिल्लई (तमिल) श्री सत्यनारायण (तेलुगु) श्री वाइ० आर० दाते (मराठी) श्री आतवल्लभ महता (उड़िया) ज्ञानी गुरमुखसिंह मुसाफिर (पंजाबी) काजी अब्दुलग़फ्फार (उर्दू) परिषद के सदस्य थे। बालसुब्रह्मण्य अय्यर (संस्कृत) ने परिषद के निर्णयों में अच्छा सहयोग दिया।

संविधान के संस्कृत अनुवाद की समिति भी बन गई थी। १ दिसम्बर को २ बजे से उसकी बैठक हुई। संविधान का कुछ थोड़ा-सा अनुवाद श्री कुन्हन-राजा श्री बालसुब्रह्मण्य अय्यर डा० मंगलदेव और डा० रघुवीर भी करके लाए थे। लेकिन यह बैठक सिर्फ मिलकर बैठने भर के लिए हुई थी। समिति के प्रधान डा० काणे यहाँ आने में असमर्थ थे इसलिए काम को आगे के लिए छोड़कर बैठक उठ गई। संस्कृत समिति के सभी सदस्य मेरे परिचित थे। सिर्फ डा० काणे का दर्शन नहीं हुआ।

उसी दिन श्री पं० सत्यदेवजी (रामपुर) मिले। उन्होंने बतलाया साल भर से ऊपर हो गया, लेकिन हिमाचल प्रदेश में जनता के हित का कोई काम नहीं हो रहा है। जो कुछ आमदनी होती है वह नौकरशाही के खर्च में चली जाती है। सचमुच ही हमारा शासन प्रजा के हित के लिए नहीं बल्कि शासकों के हित के लिए है। यह बड़े दुःख की बात थी।

३ दिसम्बर को मनोनीत राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू का जन्मदिवस था। भारतीय पंचांग के अनुसार पूस बदी १ को होता था। उस दिन अनुवाद समिति के लोग भी उनके यहाँ गए। हवन-पूजा की

सामने बिखरी हुई थी और राजेन्द्र बाबू नपाली बगलबन्दी पहन आसन पर बैठे हुए थे। सभी लोग बधाई दे रहे थे। मुझे भी बोलने की जरूरत पड़ी। मैंने कहा गणतन्त्र की घोषणा के समय यह भी घोषित कर दिया जाय कि आज से सड़कों और रास्तों पर दाहिने से चलना होगा। सिवाय अँग्रेजों के मुल्क और उनके शासित देशों के दुनिया में सभी जगह दक्षिण चलने का नियम है। यूरोप अमरिका ही नहीं एसिया में भी यही बात है। फिर हम क्या अँग्रेजों के जाने के बाद भी दुनिया में न्यारी उनकी रूढ़ि को बनाए रखें। राजेन्द्र बाबू ने कहा—जवाहरलाल से कहें। क्या सचमुच अँग्रेजों की सारी बेवकूफियों और हठों को कायम रखने का बीड़ा नेहरूजी ने उठाया है? यह तो मालूम ही था कि राष्ट्रपति पद के लिए राजगोपालाचारी भी लालायित थे। और उनके समर्थकों में शायद नेहरू जी भी थे पर पटेल राजेन्द्र बाबू के पक्ष में थे। इसे सभी स्वीकार करेंगे कि वह राजाजी से कहीं अधिक इस पद के योग्य थे। वह जनसाधारण के आदमी थे। मैं तो समझता था राष्ट्रपति बनने पर भी राजेन्द्र बाबू उसी तरह जनसाधारण में घुलते मिलते रहेंगे और जहाँ तक उनका सम्बन्ध है उनके भाव वैसे ही हैं भी। पर नेहरू और दूसरे लीपापोतियों ने दिल में बैठा दिया है कि राष्ट्रपति के पद की मर्यादा की रक्षा करने के लिए तटस्थ सम्भ्रान्त रहना जरूरी है। धोती कुर्ते में नहीं अचकन और चूड़ीदार पायजामे में रहने से इस पद के गौरव की रक्षा होती है। राजेन्द्र बाबू ने यद्यपि धोती कुर्ते को छोड़ा नहीं लेकिन खास खास मौकों पर नेहरूशाही राष्ट्रीय पोशाक को धारण करना जरूर स्वीकार किया। मैंने उस दिन कहा था अचकन और पायजामा नहीं बल्कि धोती के साथ चौबन्दी अधिक राष्ट्रीय पोशाक है। भागलपुर जेल में किसी नेपाली दर्जी ने ऊनी चौबन्दी उनके लिए सी दी थी जिसे वह इस समय पहने हुए थे। कहने लगे—'देखिए मैं यह पहने हुए हूँ।' चौबन्दी एक समय प्रायः सारे ही भारत की राष्ट्रीय पोशाक थी। आज भी यह महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, हरियाना, पंजाब, नेपाल तक पहनी जाती है। पहले असम, बंगाल, उड़ीसा और आन्ध्र में भी

पहनी जाती थी। यदि अपना एक विशेष पोशाक खास-खास समय के लिए आवश्यक है तो बगलबन्दी, धोती या बगलबन्दी साधारण पायजामे को रखना चाहिए। शहंशाही पोशाक तो दुबले पतले आदमी का कार्टून बना देती है और कितने लोग कहने लगते हैं अब केवल सारंगी की कसर है।

अनुवाद का अन्तिम पुनरावलोकन हो रहा था। उसमें कितना समय लग रहा था यह इसी से मालूम होगा कि ५ दिसम्बर को ८ बजे हम वहाँ गए और शाम को ७ बजे छुट्टी मिली। अनुवाद के काम में सबसे अधिक मेहनत श्री घनश्याम सिंह गुप्त और बालकृष्ण जी को करनी पड़ी। तरुण बालकृष्ण जी उसके लिए सबसे उपयुक्त आदमी सिद्ध हुए। उनकी स्मृति बड़ी तीव्र थी। अंग्रेजी और उसके भारतीय प्रतिशब्दों के सूक्ष्म भेद का परखने की उनमें शक्ति था और मेहनत करने में तो वह थकते ही नहीं थे।

७ दिसम्बर को सबेरे दिल्ली से कलकत्ता की गाड़ी पकड़ी। रेस्तोराँ गाड़ी का भोजन बिल्कुल फीका था। अभी पुराने जमाने के होटल की सभा बना नहीं मालूम होता था। रात्रि भोजन का साढ़े तीन रुपया देना पड़ा, पर वह सफर के ढाई रुपये वाले जितना बुरा नहीं था। दिल्ली मेल गया से आगे पहुँच देर तक रुका रहा। मैंने तो सपना देखा— इंजन खराब हो गया है और सारी ट्रेन को रस्सा बाँधकर खींचा जा रहा है। रस्सा खींचने वाले मेरे आगे आगे हैं।" चढ़ाई और समतल भूमि में वैसे ही खींचता रहा पर उतराई आने पर रुक गया। साथियों को भी कहने लगा कि ट्रेन पीछे से रोको, बिना पटरी के ही रेल चल रही है। कितने अक्लमन्द लोग कह रहे थे कि पृथ्वी की पटरी स्वभावतः अधिक कठोर होती है, इसलिए ऐसे चलने में कोई हर्ज नहीं है। स्वप्न भी जाग्रति का ही अधिकतर प्रतिनिधित्व करता है। ट्रेन की चाल से ऊबे हुए मन ने यह दृश्य सामने रखा था।

८ दिसम्बर के सबेरे ट्रेन धाधा स्टेशन पर एक घंटा लेट पहुँचा। आगे आसनसोल तक पथरीली भूमि है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मुगलसराय से हमारी ट्रेन ने गया, हजारीबाग रोड का रास्ता लिया था।

यह वह रास्ता है जिस पर ही हमारी कोयले और धातु की खानें पड़ती है और आगे चलकर इसका महत्व पटना या भागलपुर होकर जाने वाली रास्ता से भी बढ़कर होगा। इंजन ने कोशिश की, तब भी हावड़ा हम ४५ मिनट लेट पहुँचे। मणि बाबू की कार मौजूद थी हम सीधे उनके घर पर पहुँचे। श्री पाद्दारजी से पुस्तकों के प्रकाशन के बारे में बात पूरी हुई और उन्होंने मार्च में ७५ हजार अग्रिम देना स्वीकार किया। यह अग्रिम पीछे कई कठिनाइयों का कारण हुआ जिसमें पहले ही इन्कम टैक्स अफसर ने इस आमदनी को मानकर सुपर टैक्स लगा दिया और बड़ी तरद्दुद करने के बाद इससे पिण्ड छूटा। फिर उस रुपये को बैंक में रखने पर एक तरफ रुपये के मूल्य गिरने से उसके डूबा जाने का डर था तो दूसरी तरफ अपना मकान लेने का भी आग्रह हुआ और उस मकान को लिया भी जिसमें ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं और जिसे हम छोड़ना चाहते हैं लेकिन उसे कोई पूछने वाला नहीं है।

अपने पुराने परिचित स्थानों के देखने का चीज आदमी को होता ही है। बनारस जाने पर मैं मानीराम के बगीचे के देखने का लोभ संवरण नहीं कर सकता और कलकत्ता में आने पर १९०७ और १९०९ के परिचित राजा चौक की उस कोठरी को देखने के लिए उत्सुक हो जाता जिसमें मैं पाठकजी के आश्रित रहा करता था। मैं समझता था जिसका नम्बर ६४ है वह निमजिल पर ८० नम्बर की कोठरी है। अब भी कुछ कोठरी टूटकर वहीं नरसिंह सुरम वाले का मालगोदाम लगा हुआ था।

कलिम्पांग—१० तारीख को ८ बजे मुझे लेकर विमान उड़ा। २१ सीटों में सिर्फ ४ पर यात्री बैठे हुए थे बाकी में कुछ माल भरा हुआ था। भला ऐसी स्थिति में विमान-यात्रा के अच्छे प्रबन्ध की आशा कम हो सकती है? अभी विमान-कम्पनियाँ सारी सेठों की थी जिनका सबसे पहले ध्यान लाभ नुक की ओर होता है। डेढ़ बजे तक मैं कलिम्पांग पहुँच गया। अब सर्दी बढ़ गई थी और हमारे लोग अंगीठा जलाने लगे थे। श्री सनगुप्त स्वच्छी के बड़े पक्षपाती हैं। हम लोग खाने में काँटे चम्मच का इस्तेमाल

करते थे, तो वह नाक भी सिकोडते अपने हाथ से खाते थे। अब देखा, वह भी काँटा चम्मच इस्तेमाल कर रहे हैं। पूछने पर बतलाया पानी ठण्डा है गरम होने पर भी कुछ देर में हाथ तो ठण्डा हो जाता है। मैंने सेनगुप्त जी का इस बुद्धिमानी के लिए साधुवाद दिया। सचमुच हमारे बहुत से आचार विचारो में देश और काल का प्रभाव निर्णायक होता है। सेनगुप्त जी काटे चम्मच का नाम लेने पर कहते थे— क्या मेरे हाथ नहीं हैं।' और अब बिना किसी के कहे इस परिवर्तन को मानने के लिए तैयार हो गए। यद्यपि कलिम्पाग की सर्दी बहुत कड़ी नहीं होती इसीलिए वहा बर्फ नहीं पडती। लेकिन, सर्दी तो थी, और उससे सेनगुप्त जी को सबसे अधिक कष्ट हो रहा था।

११ दिसम्बर को डा० रायरिक से मिलने गया। आजकल उनके अनुज स्वेतस्लाव और उनकी पत्नी देविका रानी भी आई थी। स्वेतस्लाव को बारह वर्ष बाद देखा था। उस समय भी उन्होंने दाढ़ी रखी थी लेकिन अब वह अधिकांश सफेद हो चुकी थी। देविका रानी हिन्दी तथा लाक-कथाओ के बारे में बात करती रही। आयु ४० साल की होगी लेकिन प्रसाधन भी क्या कमाल करता है। देखने में पाडसी मालूम हो रही थी, ओठो पर अधर राग, मुख पर सूक्ष्म क्रीम बालो में एक दर्जन कुंचित अलक, वेश शालीन, आँखो में चमक, मुख पर प्रसन्नता की स्वाभाविक मुद्रा—यह थी देविकारानी जिनके देखने के लिए कलिम्पाग में भीड़ लग जाया करती थी। वह सुशिक्षित और सुसंस्कृत महिला हैं यह उनके वार्तालाप से मालूम हो रहा था।

१५ दिसम्बर को सेनगुप्त जी कलकत्ता दस-बारह दिनो के लिये गए। अब हम कलिम्पाग से दंड-कमंडल उठानेवाले थे। चार ही महीने बाद फिर दूसरी जगह की तलाश करनी थी, इसलिए कई मित्रो को लिख रखा था। १७ दिसम्बर को प० गयाप्रसाद शुक्ल का पत्र देहरादून से आया। उन्होंने लिखा था चकरौता में एक अच्छा बगला है, जो किराये पर भी मिल सकता है और मोल भी। उस समय यह पता नहीं था कि वर्षों के लिए

हम शुक्लजी के पड़ोसी होने जा रहे हैं। कमला का पत्र दिल्ली में ही मिल चुका था जिसमें उन्होंने लिखा था यहां रहने में मुझे मानसिक पीड़ा होती है। मैं उनकी स्थिति का कुछ-कुछ अनुभव करता था और यह निश्चय कर चुका था कि अब उन्हें अपने भाग्य पर नहीं छोड़ना होगा। उनको अपनी प्रतिभा का जिस तरह भी अच्छी तरह उपयोग करने का अवसर मिले वही मुझे करना होगा। विदाई देने के लिए लोग आने लगे। १८ को मिसेज निरम और दूसरे कितने ही मित्र आये। कमला का परिवार भी मिलने आया। अबके साल साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हैदराबाद में होने वाला था। मेरा जाने का कोई इरादा नहीं था लेकिन श्री बलभद्र मिश्र का आग्रह था इसलिए मैं उसे टाल नहीं सका। 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि अबके साल मुझे मिली थी। इसकी कृतज्ञता के लिए भी सम्मेलन के इस अधिवेशन में जाना जरूरी था। पर सबसे ज्यादा जिस बात ने मुझे जाने के लिए बाध्य किया वह था परिभाषा का काम और उसके लिए प० बलभद्र मिश्र का हाथ मजबूत करना। यदि मिश्रजी सम्मेलन के कर्णधार आगे भी बने रहते तो उनसे बड़ी आशा थी। वह भी बलाग आदमी थे और उचित बात के लिए अपने या पराये की मुरौवत मानने के लिए तैयार नहीं थे।

दार्जिलिंग जिले का अन्न-जल इतने दिन तक खाकर उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए जरूरी था। और उसी का क्या सारे हिमालय का मुझ पर ऋण था। मैं वर्षों हिमालय की शीतल छाया और शीतल जल का आनन्द लेता आया था। उसके पर्वतों, उपत्यकाओं हिमानियों और सीधे-सादे लोगों से आत्मीयता पैदा की उनसे परिचय प्राप्त किया। यात्रा करते वक्त मेरा हमेशा ध्यान रहा कि वह केवल स्वान्तः सुखाय नहीं होनी चाहिए बल्कि उसके आनन्द में दूसरों को भी सहभागी बनाना चाहिए। इसीलिए मैंने अपनी हरेक यात्रा के विवरण लिखे। अब हिमालय कह रहा था हमारे ऋण से भी तुम्हें उऋण होना चाहिए। इसीलिए मैंने निश्चय किया, दार्जिलिंग के बारे में लिखना चाहिए। कलिम्पोंग में ही

मैंने 'दार्जिलिंग परिचय' लिखना शुरु कर दिया और सामग्री उसी समय जमा कर ली। 'दार्जिलिंग परिचय' के बाद फिर नैनीताल म रहने 'कुमाऊं' म हाथ लगाया। मसूरी म आने पर गढ़भूमि (गढ़वाल) का आग्रह हुआ और उसे भी लिखा। फिर नेपाल कहने लगा मुझे क्यों बीच म छोड़ रहे हो। उसे भी लिख डाला और अन्त म 'देहरादून जौनसार और हिमाचल प्रदेश' लिखकर भूटान की पश्चिमी सीमा से जम्मू-कश्मीर की पूर्वी सीमा तक फैले हिमालय के बारे म लिखकर मैंने अपने को उऋण करना चाहा। पुस्तकें मैंने लिख डाली, कुछ के प्रकाशक अभी नहीं मिले, और कुछ के प्रकाशक फुटबाल बना या वर्षों रखकर अचार बनाने की चिन्ता म हैं।

२०

हैदराबाद-सम्मेलन

सभी को कलिम्पोंग से जाना नहीं था। भट्ट और सेनगुप्त जी को वहीं रहकर काम करना था। कमला को हैदराबाद सम्मेलन भी दिखलाना था। इस तरह आधे भारत को वह देख सकती थी, इसलिए उन्हें भी साथ लेकर २१ दिसम्बर को टैक्सी से २ बजे हम सिलीगोड़ी पहुँच गये। रास्ते में कमला को दो बार कै हुई, यद्यपि उन्होंने इससे बचने के लिए पेट को खाली रखा था। बागडोगरा पहुँचे। विमान अधिकतर खाली था। सिर्फ ६ मुसाफिर थे। मैंने बहुत समझाया कि विमान पहाड़ पर चलने वाली मोटर की तरह से हिलता डुलता नहीं है, इसलिए इसमें कै करने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। जो कै करते हैं, वह केवल मन के कारण ही। कमला ने निराहार व्रत रखा था और मन को काफी सममान की कोशिश की। विमान में तो कै नहीं हुई, लेकिन कलकत्ता नगरी में मोटर पर चलते अपने को वह रोक नहीं सकी। हम मणिह्पजी के यहाँ पहुँचे। उसी रात नागपुर की तरफ रवाना होना चाहते थे। मेल ट्रेन में कोई जगह नहीं थी। पैसेंजर में जगह मिल रही थी। हर स्टेशन पर वह खड़ी होती चलती। समय का खून तो था ही, लेकिन हम चौबीस घंटा प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं थे। दो सीटें रिजर्व करवाईं। हावड़ा से नागपुर पैसेंजर १० बजे रात को

को रवाना हुई। हमारे कम्पार्टमेन्ट में सात सीटें थी जिनमें से दो खाली रहीं।

कमला जीवन में कलकत्ता भर आ पाई थी। अब उन्हें बंगाल से मध्य प्रदेश की भूमि में चलने का मौका मिला। बंगाल को देखकर वह समझती होगी, सभी जगह सपाट मैदान है और हरे भरे पहाड़ केवल हिमालय में देखने को मिलते हैं। यहां अब उनके सामने छत्तीसगढ़ की हरी भरी पहाड़ियाँ थीं। वर्षा का समय होता, तो वह और भी हरी होती। धान के खेत कट रहे थे। बंगाल, उड़ीसा की भूमि को पार कर वह मध्य प्रदेश में चल रही थी। हैदराबाद में जाकर उन्हें तेलंगाना भी देखने का अवसर मिला। उसके बाद विन्ध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पंजाब, बिहार ही नहीं नेपाल भी वह देख चुकी। पहाड़ में पैदा हुए व्यक्ति के लिए यह मामूली साहस यात्रा नहीं थी।

२३ दिसम्बर को ६ बजे सबेरे हम नागपुर पहुँचे। अपना सामान वर्धा की गाड़ी में रख सोच रहे थे कि वहीं चलकर कुछ घंटे विश्राम करें। लेकिन प्लेटफार्म पर प० बलभद्र मिश्र मिल गए। उन्होंने बतलाया प्रयाग से ही रिजर्व डब्बा आ रहा है, जिसमें बहुत-से साहित्यिक मित्र जा रहे हैं। फिर सन्त समागम से वंचित रहने के लिए कौन तैयार होता? प० लक्ष्मी नारायण मिश्र, राय रामचरण अग्रवाल गुप्त, श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि परिचित बन्धु वहाँ आसन लगाये बैठे थे। वहीं हम भी पहुँच गए। कमला को महिलाओं के सत्संग का लाभ हुआ। वर्धा में गाड़ी घंटा भर खड़ी रही। यहीं जलपान हुआ। लौटकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में आना था। इसलिए अपना आधा सामान वहीं भिजवा दिया। आनन्दजी भी उसी ट्रेन से चल रहे थे। गाड़ी फिर रवाना हुई।

अब हम हैदराबाद की तरफ चले। रात को चाँदा के बाद जंगल में लगनेवाली दवी। लम्बा जहाँ बस जाए वहाँ दीवाली, और उसके द्वारे पर एक दिन की नहीं बारहा मास की दीवाली हो सकती है। यहाँ कोई कारखाना था।

रात के साढ़े ६ बजे काजीपेट में पहुँचकर हमारा डब्बा काट

दिया गया। भिनसार से सवा ६ बजे उसे हैदराबाद के लिए रवाना होना था। हम रेस्तोराँ में चले गए। वहाँ मुर्गमुसल्लम के तैयार की बात सुनी। हमने मँगा लिया। अभ्यस्त के लिए भी छुरी-काँटे से मुर्गमुसल्लम खाना जहमत की बात है। वह कमला के बस की बात नहीं थी। उन्होंने छुरी काँटा इधर-उधर चलाया, लेकिन मुर्ग कटने की जगह जिन्दा होकर प्लेट से बाहर कूदने के लिए तैयार था। वह मानती थीं कि मुर्गमुसल्लम छोड़ने की चीज नहीं है, लेकिन मजबूर थीं।

गाड़ी लेट हो गई थी। सवेरे दो घण्टे दिन से हैदराबाद की भूमि देखने का मौका मिला और सिकन्दराबाद होते [illegible] बजे हम वहाँ पहुँच गए। स्टेशन पर स्वागत के लिए बड़ी तैयारी थी। जलूस निकलता और घंटों हैरान होना पड़ता। हमने पता लगाया, जब मालूम हुआ कि श्री लक्ष्मी-नारायण गुप्त की कोठी पर ठहरना है, तो शहर से बाहर हम उनके मकान में पहुँच गए। सबसे पहला काम था स्नान। रेल की यात्रा में आदमी म्लेच्छ हो जाता है। स्नान के बाद चायपान। फिर हम सम्मेलन के स्थान हिन्दी-नगर में गए। हैदराबाद के लिए एक साल पहले हिन्दी तुच्छ और अजनबी-सी भाषा थी। निज़ाम सरकार यहाँ की देशभाषाओं—मराठी, कन्नड और तेलुगु—को मानने के लिए तैयार नहीं थी। वह उर्दू को बनाने के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा रही थी। उस समय हिन्दी का नाम लेना भी जुर्म होता था। लेकिन अब निज़ामशाही खत्म हो चुकी थी, निज़ाम राज्य में राजप्रमुख बनाकर छोड़ दिया गया था। राजकाज उन लोगों के मन के मुताबिक होता था जिनको निज़ाम कोई वक्अत देने के लिए तैयार नहीं था। 'कभी नाव गाड़ी पर और कभी गाड़ी नाव पर' होना ही रहता है। हैदराबाद तेलुगूभाषा क्षेत्र में है। तेलुगू, मराठी और कन्नड तीनों भाषाओं के बोलने वाले नहीं जानते कि पर्दा किस चिड़िया का नाम है। बहमनीशाही और निज़ामशाही के ६ सौ वर्षों के घोर प्रचार करने पर भी पर्दा यहाँ जनप्रिय नहीं हो सका। इसीलिए हिन्दीनगर में यदि स्त्रियों की भारी संख्या दिखाई देती हो, तो कोई ताज्जुब नहीं। तरुण

स्वयं-सेविकाएँ अपने काम को बड़ी अच्छी तरह से कर रही थीं। भोजन का प्रबन्ध भी बहुत सुन्दर था। रोटी भी थी किन्तु जिस देश में जाना, वहाँ का भोजन अपनाना मुझे ज्यादा प्रिय है। दोपहर को वही चावल, फोकी या खट्टी आलू की तरकारी और दूसरे व्यंजन खाये। मिर्च की शिकायत हो सकती थी, लेकिन यहाँ बनाने वालों ने उसका आग्रह छोड़ दिया था। रसम (इमली का स्वादिष्ट पानी) दक्षिणी भोजन में मुझे बहुत प्रिय है लेकिन मेरी ही तरह दूसरे मेहमान उसके गुणग्राहक नहीं थे।

२ बजे से स्थायी समिति बैठी। कई सालों से सम्मेलन की नियमावलि के संशोधन की बात चल रही थी। इस समय भी उसके बारे में कुछ बात हुई लेकिन नियमावलि का संशोधन यदि इतनी जल्दी होकर वह पास हो जाती तो सम्मेलन को आज के दिन क्यों देखने पड़ते?

सम्मेलन—साढ़े ४ बजे अधिवेशन शुरू हुआ। स्वागताध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त ने अपना स्वागत-भाषण पढ़ा। फिर मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री पं० रविशंकर शुक्ल ने उद्घाटन भाषण दिया। मनोनीत सभापति पं० चन्द्रबलि पांडे के नाम का प्रस्ताव सेठ गोविन्ददास ने रखा। मैंने और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने समर्थन किया। सारा भाषण पढ़ने में बहुत देर होती और वहाँ समय का सवाल था। ७ बजे हम अधिवेशन-स्थान से गुप्तजी के घर पर चले आये। कमला ने सम्मेलन की विशाल सभा को भी देख लिया। मुझे मंच पर बैठना था। उन्हें रानी टण्डन मिल गईं, जिन्होंने दुबली-पतली लड़की पर अधिक छोह दिखाना जरूरी समझा। यद्यपि कलिम्पोंग के आदमी के लिए हैदराबाद का दिसम्बर का महीना भी सर्द नहीं हो सकता लेकिन राय रामचरण ने अपनी गरम चादर ओढ़ा दी।

२५ दिसम्बर के सबेरे साहित्य-परिषद् में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का बहुत ही सुन्दर और सारगर्भित भाषण हुआ। सम्मेलन और साहित्य परिषद् दोनों के सभापति आजमगढ़ी थे। दोनों ही की योग्यता का लोग लोहा मान रहे थे। यह मेरे लिए वैयक्तिक अभिमान की बात थी। परिषद्

से उठकर म्यूजियम देखने गये। मुगल शासन का दिल्ली में खातमा हो रहा था, उसी समय एक मुगल सामन्त निजामुल्मुल्क ने हैदराबाद में अपनी ध्वजा फहराई। अंतिम मुगल-काल में दिल्ली में चार राजनीतिक दल थे—१ मुगलों या मध्य एसियायी तुर्कों का दल, जिसका नेता निजामुल्मुल्क था, २ ईरानी दल, जिसके नेता अवध और मुर्शिदाबाद के नवाब थे, ३ पठानों का दल अर्थात् जिनका सबसे बड़ा नेता नजीबुद्दौला था और जिसने नजीबाबाद को बसाया ४ मुलकी दल अर्थात् देश के मुसलमानों की पार्टी जिसके नेता मुजफ्फरनगर जिले के सयदबन्धु थे। निजामुलमुल्क मध्य एसिया के तुर्कमान कबीले का था इसलिए वह बादशाह निजी दल का आदमी था। वहाँ से बहुत-सी चीजें वह ला सकता था जिनमें से कुछ इस म्यूजियम में रखी हुई थी। मुगलकालीन लघु चित्रों का यहाँ सुन्दर संग्रह था। बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ थे जिनमें एक 'नौरस' पुस्तक भी थी। बहुत सुन्दर मूर्तियाँ हैदराबाद में जगह-जगह बिखरी थी जिनका बहुत अच्छा संग्रह हो सकता था। लेकिन वह तो कुफ्र की निशानी थी, इसलिए उनकी तरफ बेपरवाही करना स्वाभाविक था। एक जगह पर बराँडे में कई गन्धार-कला की मूर्तियाँ साधारण मूर्तियों के ढेर में पड़ी हुई थी। यही खलता रही थी कि इस अन्धेर नगरी में चौपट राजा ही रह सकते हैं। जो दुरवस्था गान्धार मूर्तियों की थी वही अमरावती की मूर्तियों की थी। किसी मूर्ति पर कोई परिचय वाक्य नहीं लिखा हुआ था। भोजनोपरान्त हम राजकीय पुस्तकालय देखने गये। फारसी अरबी की मेरी जानकारी ने सहायता की और अधिकारी ने हरेक चीज को अच्छी तरह दिखलाया। पुस्तकों की सूची बन रही थी, इसलिए दक्खिनी भाषा की कविताओं और दूसरे ग्रन्थों को हम अच्छी तरह नहीं देख सके। उनका देखना हैदराबाद जाने के मेरे मुख्य उद्देश्यों में से था।

हाईकोर्ट देखा अस्पताल की भव्य इमारत भी फिर चारमीनार गए। उर्दू बुकसेलरों से मुझे काम था लेकिन चलती पुस्तकों को छोड़ दूसरी पुस्तकें दुर्लभ होती जा रही थी। डा० जोर ने दक्खिनी के ग्रन्थों का सम्पा

दन किया था, उनसे मिलने की भी इच्छा हुई, पर उस दिन उनके प्रकाशित कुछ ग्रन्थों को ही पाकर संतोष करना पड़ा। इन पुस्तकों को निवास स्थान पर छोड़कर फिर मैं हिन्दी नगर आ गया। महिला-सम्मेलन में भी कुछ बोलना पड़ा। महिलाओं की इतनी बड़ी संख्या देखकर पता लग गया कि यहाँ की महिलाएँ उत्तरी भारत की महिलाओं को अभी ही काफी पीछे छोड़ गई हैं। खुले अधिवेशन में भी एक प्रस्ताव पर बोलना पड़ा। रात के भोजन के बाद विषय निर्धारिणी समिति में पौने ११ बजे तक रहना पड़ा।

२६ दिसम्बर का सवेरा हुआ। जलपान करके हम ९ बजे हिन्दी नगर पहुँचे। विज्ञान परिषद् के सभापति डा० रंजन का भाषण सुना। मैंने भी परिभाषा के सम्बन्ध में कुछ कहा। डा० टोपा उस्मानिया विश्वविद्यालय दिखलाने के लिए ले गए। टोपा साहब पहले ही से यहाँ निजाम की नौकरी में थे। कश्मीर के बाहर के कश्मीरी होने से उर्दू को वह अपनी मातृभाषा समझते थे, और यह भी मानते थे, कि अंग्रेजी ही ऐसी भाषा है जिसको अपनाए बिना गति नहीं। लेकिन, वह देख रहे थे, स्थानीय भाषाएँ इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हैदराबाद अब उर्दू के पृष्ठपोषक निजाम का नहीं है बल्कि यहाँ की लक्ष-लक्ष जनता का है। तेलुगु कन्नड़ मराठी अपने स्थान पर जबर्दस्ती बैठने जा रही हैं। उनकी सहानुभूति पाकर हिन्दी भी अपना स्थान बना रही है। टोपा साहब हमें यहाँ समझाने की कोशिश करते थे कि ज्ञान विज्ञान की भाषा भी जनता की भाषा से दूर नहीं होनी चाहिए। जनता की भाषा से उनका मतलब था, जो शिक्षित लिखना पढ़ना और दरबारी पण्डित बोलते हैं। वह जवाहरलाल की तरह यहाँ समझते थे कि माँ के दूध के साथ जितनी भाषा सीखी उससे अधिक जानने की जरूरत नहीं। हालाँकि अंग्रेजी के लिए दर्जनों वर्ष देकर इस बात का स्वयं खण्डन कर चुके हैं। टोपा साहब संस्कृत से भी डरते थे इसलिए यह कहना-समझना उनकी समझ से बाहर की बात थी कि संस्कृत के तत्सम शब्दों को हमारी भाषाओं ने १८वीं सदी से ही लेना शुरू किया और हिन्दी तत्सम शब्दों के लेने में बल्कि तेलुगु, कन्नड़, मराठी और मलयालम से

बहुत पीछे है। जनता के कवि तुलसी ने भी तत्सम शब्दों को बहुत लिया है। तुलसी के प्रयोग में लाये संस्कृत शब्दों को लेने का हम अधिकार है या उन्हें भी छोड़ना पड़ेगा। टोपा साहब बतलाने लगे—जनता की भाषा से दूर जाने के कारण निजाम सरकार का करोड़ों रुपया खर्च करके भी विफल होना पड़ा। कई वर्षों तक निजाम सरकार विद्वानों को रखकर अपने यहाँ उर्दू के पारिभाषिक शब्द बनवाती रही जो प्रायः सभी अरबी के थे। टोपा साहब ने उनके ढेर को दिखलाकर कहा कि यही अवस्था होगी यदि हिन्दी ने भी वैसी गलती की। मैंने कहा इस ढेर का भी उपयोग हो सकता है क्योंकि पाकिस्तान वाले उर्दू को ही आगे बढ़ाना चाहते हैं। रही हिन्दी की बात तो हिन्दी अकेली इस नाव पर नहीं बैठ रही है बल्कि उसके साथ ही असमिया बंगला उड़िया तेलुगू तमिल मलयालम कन्नड़ मराठी गुजराती, पंजाबी नेपाली ही नहीं बल्कि सिंहली बर्मी स्यामी (थाइ) कम्बुजी भी बैठी हुई हैं। हम कोशिश कर रहे हैं कि भाषा के विकास के इस काम में सभी एक दूसरे का घनिष्ठ सहयोग लें। साइन्स-कालेज आर्ट-कालेज की सुन्दर इमारतें बनाने में निजाम ने मुक्तहस्त हो खर्च किया है। उस समय उस्मानिया यूनिवर्सिटी के उप कुलपति कोई मुसलमान सज्जन थे। साम्प्रदायिकता और उर्दू के पल्ले को पकड़ कर आगे रहने की गुंजाइश नहीं थी इसलिए वह अपने को डावाडोल स्थिति में पाते थे। टोपा साहब कश्मीरी थे अर्थात् नेहरू और काटजू की बिरादरी के इसलिए उनकी कदर सबसे अधिक थी क्योंकि वहां उनके जैसे समय में काम आ सकते थे।

दारु-उल इस्लाम साहब से देश में नहीं पर तेहरान के निवास के समय मेरी बहुत घनिष्ठता था। बड़ी बातें होती थी। वह बहुश्रुत ईरानी पण्डित थे। फारसी उनकी मातृभाषा थी। यद्यपि वह शिया थे लेकिन फारसी संस्कृति भारत के मुसलमानों की हमेशा मान्य रही इसलिए निजाम के दरबार में उनकी कदर हुई और उन्होंने कई जिल्दों में फारसी का एक बड़ा कोश तैयार किया। वह जानते थे फारसी और संस्कृत दोनों एक परिवार की भाषाएँ हैं। इसी कारण संस्कृत के प्रति भी उनका बहुत प्रेम था और

यहाँ रहते उन्होंने उसे पढ़ा था। अपने कोश में जगह जगह उन्होंने संस्कृत शब्द भी दिये। हैदराबाद में उनका अपना घर था क्योंकि यहाँ रहे थे। मुझे उम्मीद थी कि वह इधर आए होंगे। बहुत पूछताछ करने पर घंटा बाद घर मिल गया, किन्तु मालूम हुआ वह बम्बई चले गये।

२७ दिसम्बर को सवेरे जोर साहब से मिलने गया। भेंट नहीं हुई। थोड़ी देर तक डा० हुसेन जहीर से बात होती रही। अपने अनुज सज्जाद जहीर की तरह यह भी विचारों में प्रगतिशील हैं। विषय उनका साइन्स (रसायन) है लेकिन साहित्य में भी रुचि रखते थे, और इसके कारण हिन्दी उर्दू की समस्याओं के बारे में भी उनकी दिलचस्पी थी। उर्दू की रक्षा और प्रचार के लिए मैं अपने को किसी से कम नहीं जानता। मेरा विश्वास है कि उसका अनिष्ट नहीं होगा। हाँ, अब उर्दू के लिए नागरी लिपि का बायकाट नहीं किया जा सकता।

उसी दिन साढ़े १२ बजे बहुत से साहित्यिक मित्रों के साथ गोलकुण्डा जाना पड़ा। पहले उस्मान सागर चले गये। यह विशाल सरोवर सिंचाई और नगर के पानी के लिए सातवें निजाम के समय तैयार किया गया था। किनारे पिकनिक के भी स्थान हैं। वहाँ कितनी ही मुसल्मान स्त्रियाँ भी पुरुषों के साथ पिकनिक के लिए आई हुई थीं। उनकी सूरत शकल उत्तर-भारत की हिन्दू स्त्रियों जैसी ही थी यद्यपि शिक्षित परिवार की महिलाएँ किताबी उर्दू बोलने में शान समझती थीं। "दक्खिनी" सुनने में बड़ी प्यारी मालूम होती है। जनभाषा में विशेष तरह का माधुर्य होता ही है। उस्मान-सागर से फिर हम गोलकुण्डा के किले में गये। चारों तरफ विशाल नगर प्राकार था, जो कितनी ही जगह अब गिर चुका है। निजाम ने गोलकुण्डा को नहीं बल्कि गोलकुण्डा के बादशाह कुली कुतुब की बेगम हैदरमहल के नाम से बसे हुए नगर को अपनी राजधानी बनाई। गोलकुण्डा का भाग्य क्या नहीं लुटता। टूटी छतें और दीवारें रो रही थीं। एक पहाड़ को अजेय दुर्ग समझकर यह किला बनाया गया था—कुण्डा (कोंडा) का अर्थ पर्वत है। यह मूलतः द्रविड़ भाषा का शब्द है। पहाड़ कुछ गोल-सा है इसलिए

गाल्कुण्डा नाम पडा। इसी पर्वत की चारो तरफ नगर बसा था। हम किले के भीतर चले। फाटक के पास गोल पटाव वाला गुम्बज मिला जो आवाज़ देने पर कुछ हिलता सा मालूम होता था। प्रतिध्वनि भी ज्यादा होती थी। इसे एक चमत्कार बतलाया गया। इस तरह के चमत्कार हमारे पुराने देश वास्तुशास्त्री अक्सर दिखलाया करते थे। पहाड के ऊपर सुलतान के महल अब भी अधिकतर सुरक्षित हैं। भव्य प्रासादो में विशाल शालाएँ थी, फौव्वारे भी लगे थे। सुल्तान कुल्ली कुतुब का ज़माना याद आ रहा था। १७वीं सदी के पूर्वार्ध में यहाँ कितना ऐश्वर्य होता रहा होगा पर अब वह उजाड और ध्वस्तप्राय था।

आज भी दोपहर बाद हिन्दी नगर में गए। एक बैठक में आचार्य नरेन्द्र देव जी भी आये थे। यही उनके साथ अंतिम साक्षात्कार था। नरेन्द्रदेव जी से वर्षों मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और महीनों उनके परिवार के व्यक्ति के तौर पर भी काशी विद्यापीठ में मैं रहता था। मैं कम्युनिस्ट हूँ और वह ऐसी सोशलिस्ट पार्टी के नेता, जो कम्युनिस्टो का अंधाधुंध विरोध करना अवश्य-कर्तव्य समझती है। फिर भी हमारे वैयक्तिक सम्बन्ध पर इसका कोई असर नही पडा। किसी समय हम दोनो ने मिलकर कार्ल मार्क्स की 'कम्युनिस्ट घोषणा' का अनुवाद किया था वह भी बौद्ध दर्शन और संस्कृति के गम्भीर विद्वान् थे। इस प्रकार हम समानधर्मा थे। हमारा साहित्यिक सहयोग उसके बाद नही रहा, किन्तु हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ एक दूसरे का हर्षित जरूर करती थी। नरेन्द्रदेव जी मानव के तौर पर बड़ा ही आकर्षक व्यक्तित्व रखते थे। बड़े जिन्दादिल थे। जब वह इलाहाबाद युनिवर्सिटी में पढ़ते थे उस समय की बात है। देश में बहुत से धर्म देखते देखते वह ऊब से गए थे। उनकी जन्मभूमि फैजाबाद के पास ही अयोध्या है जहाँ सखी मत का जबर्दस्त प्रचार था। पुरुष समझते थे कि स्त्री बने बिना भगवान् उनको स्वीकार नही करेंगे। इन मुच्छन्दर स्त्रियो का राम जी के रनिवास में क्या काम था? और फिर रामजी तो एक पत्नी-व्रत थे। राधास्वामी और आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी आदि आदि पचासो धर्म

चल रहे थे। उन्हें सूझी कि इन पंथों के कैरिकेचर के तौर पर हम भी एक पंथ खड़ा करना चाहिए। वह और उनके मित्रों ने मिलकर 'चाय पंथ' कायम किया। जब वे लोग आपस में मिलते, तो दाहिने हाथ को चाय की तरह बनाकर अभिवादन करते। बाहरी जिज्ञासुओं को बहुत गम्भीरता से समझाते सच्चा और मूल धर्म 'चाय-पंथ' ही है। इसके लिए वह विष्णु वाहन गरुड़जी, त्रेता के भक्त जटायु और सम्पाती की बातें बतला कर कायल करते। कितने ही दिनों तक चाय पंथ विद्यार्थियों के लिए मनोरंजन का साधन रहा।

मुझे जहाँ-तहाँ जाना पड़ता था। सभी जगह कमला को दिखलाने में सहायता नहीं कर सकता था। पर स्वयं सेविकाओं के कैम्प में उन्हें सुन्दर-बाई मिल गई, जिनके साथ उनका सखित्व स्थापित हो गया और अब भी दोनों सखियों में पत्र व्यवहार होता रहता है। उस समय एक पहाड़ी लड़की के लिए मैदान का यह विशाल शहर विचित्र और भयोत्पादक मालूम होता था, यद्यपि उसने कलकत्ता देख लिया था, पर वह दूसरे की अंगुली पकड़े जैसा ही देखना था। पुराने रिवाज के अनुसार सखी बनने का एक विशेष कर्म-काण्ड होता है, जिसे पहाड़ में भी माना जाता है। हमारे भोजपुरी क्षेत्र में तो कोई एक स्त्री अपनी सखी का नाम नहीं ले सकती। सखी बनाते समय वह एक थाली या पत्तल में खाना है। सुन्दरबाई और कमला इस तरह से तो सखी नहीं बनी, किन्तु उस समय सुन्दरबाई के कारण हैदराबाद कमला के लिए उतना डरावना नहीं मालूम हुआ। वह उनके साथ घूमा करतीं। श्री सुमित्राकुमारी सिन्हा और श्री कान्ति—हिन्दी की दो कव-यित्रियाँ—भी वहाँ पहुँची थीं। उनके कारण भी उनका मन लग जाता था। कान्तिजी बेचारी का तो रुपया ही किसी ने चुरा लिया, और उन्हें बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। २८ तारीख को कमला अकेली रह गई। उनका रोजीमा कमरा दफ्तर श्री सत्येन्द्र जी (बदरी पुर) दिखलाई करना चाहते थे। उन्हें समसान प्रदर्शनी में ले गए। खाने के लिए मिठाई भी दी, लेकिन मिठाई आँसुओं को रोकने में समर्थ नहीं हो सकती थी। सत्येन्द्र जी

से उनका परिचय भी नही था। उन्हें क्या पता था कि वह क्या इतनी खातिर कर रहे हैं। बडे शहर में लर्डाकया के चोरी होने की बात सुन रखी थी, इसलिए प्राण कठ तक आ पहुँचा था। खैर मैं आ गया फिर उनको ढाढ़स हुआ।

सम्मेलन के लिए तयारी बडे जोर शोर से हुई थी। निजामशाही से दम घुटते हुए लोगो को ताजी हवा मिली थी। इस अखिल भारतीय मिलन के द्वारा हैदराबाद के हिन्दीभाषी और हिन्दीप्रेमी अपने मन का उल्लास दिखलाना चाहते थे। हिन्दी नगर में रात को दीवाली का दृश्य होता। प्रबंध सभी अच्छा था।

मैं पुरानी उर्दू विशेषत दक्खिनी किताबो के संग्रह करने की धुन में था। चाहता था हिन्दी के इस महत्वपूर्ण और अतिप्राचीन साहित्य को 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा' के रूप में संग्रह प्रकाशित करूँ। उस दिन आबिद रोड पर गया। मकतब इब्राहिमिया का नाम सुनकर वहाँ भी पहुँचा। उन्होंने बतलाया कि कल हम काफी किताबें दे सकेंगे लेकिन अगले दिन जाने पर कोई नहीं मिली। कितने ही प्रतिनिधियों का भोजन श्री जेतली के यहाँ हुआ। प० रामनारायण मिश्र के दामाद होने से जेतली साहब और इनकी पत्नी का हिन्दी-साहित्य से विशेष अनुराग था। हैदराबाद के नए प्रशासन को ठीक से चलाने के लिए जो अफसर बाहर से आए थे उनमें ही जेतली साहब बडे अफसर होकर आए थे। उसी दिन (२८ को) उस्मानिया यूनिवर्सिटी के वायस चासलर ने चाय पार्टी दी। उस दिन वह हिन्दी के लिए बहुत प्रेम दिखला रहे थे लेकिन 'गगा गये गगादास, जमुना गए जमुनादास' का क्या भरोसा? कासिम रिजवी के समय ये लोग उनकी जय मनाते होंगे। शाम को आचार्य नरेन्द्र देव के सभापतित्व में दक्षिणी भारतीय साहित्य संसद का अधिवेशन हुआ जिसमें हिन्दी और दक्षिणी भाषाओं की उन्नति और विकास के उपर विचार विनिमय हुआ। रात को राजा पित्ती के यहाँ भोजन हुआ। यह यहाँ के सेठ हुकुमचन्द हैं। भोजन के सभी पात्र चाँदी के थे। हैदराबाद में बहुत व्यस्त प्रोग्राम रहा। इसी

बीच काफी पुस्तकें मोल से या भेंट में मैंने दक्खिनी की जमा कर ली।

वेरूळ (एलोरा)—२९ की रात को हमारी काफी बड़ी मण्डली हैदराबाद के प्राचीन स्थान को देखने निकली। श्री वाचस्पति पाठक दगाक जी आदि तथा कुछ महिलाएँ भी साथ में थीं। बस रिजर्व थी। ३ बजे गाड़ी पकड़ी। रास्ते में जालना स्टेशन पड़ा। नाना की पुरानी बातें याद आने लगीं। वह घर से भागकर यहीं पल्टन में भरती हुए थे और यहीं दस वर्ष के करीब तिलंगा रहे थे। यहाँ की कितनी ही अपने साहस और शिकार की यात्राएँ वह नाती को सुनाया करते थे, जिन्हें मैं अबोध काल में ही सुना करता था, और जिन्होंने मेरे हृदय में घुमक्कड़ी का बीज पैदा किया था। लेकिन अब यहाँ उतरकर देखना ही क्या। जालना के कुछ हिन्दी प्रेमी हैदराबाद में मिले थे। उनसे यह मालूम हुआ कि वहाँ पर दस वाली पल्टन की सन्तानें मौजूद हैं। उनमें यह कैसे पता लगता कि इनमें रामचरण पाठक की सन्तान कौन है। होता भी तो इस समय नाना का लड़का ८४ वर्ष का होता। तरह-तरह की बातें सोचते हम आगे बढ़े और ३० दिसम्बर के ५ बजे औरंगाबाद पहुँचे। यहीं से वेरूळ और अजिंठा (अजन्ता) की यात्राएँ करनी थीं। स्टेशन के पास ही एक बड़ी धर्मशाला थी। अब हमारी किसी होने वाली बारात थी, शायद इसलिए या ५ बजे रात के असमय के कारण वहाँ कोई पथ-प्रदर्शक नहीं मिला। हम धर्मशाला की दो-तीन कोठरियाँ लेकर अपने होल्डाल और सूटकेस पटककर आगे की यात्रा की चिन्ता करने लगे।

दौड़-धूप करके वेरूळ के लिए निजाम बस-सर्विस की एक बस ठीक की, जिसमें बैठने के लिए २७ आदमियों का प्रबन्ध हुआ। मुँह-हाथ धोया, चाय पानी हुआ, कुछ खाने की चीजें साथ लीं। मैं अनेक बार यहाँ आ चुका था, इसलिए दिक्कतों को जानता था। ८ बजे हमारी बस रवाना हुई। पहले वेरूळ चलने का निश्चय किया, देवगिरि (दौलताबाद) को लौटकर देखने के लिए छोड़ दिया। लेण्या (गुफा) में ९ बजे पहुँचे। बस [illegible] पहुँच गए। मराठी में भी गुफा विहार को लेना कहा जाता

है और महाराष्ट्र में लण्या। भारत की और जगहों में इस शब्द का प्रयोग नहीं है।

हमने उस द्वार से शुरू किया जहां बौद्ध गुहाएं हैं और जो सब सातवीं से बारहवीं सदी की हैं। अजिंठा में पहली से छठी सदी तक की बनी गुहाएं अजिंठा की उत्तराधिकारिणी हैं। ये देवगिरि के यादवों के काल की बनी हुई हैं इसलिए उनकी राजधानी के पास हैं। गुफा में पहुँचने पर अँधेरे में देखने के लिए टार्च की जरूरत थी। हम टार्च सँभालकर लाए थे लेकिन कमला उस बस पर छोड़ आई। जल्दी में आदमी उतावला होता है, और आवेग को प्रकट करने में शब्दों का ख्याल नहीं रखता। मैंने कुछ कठोर स्वर में कहा। कमला रोती हुई लेण्या की ओर चली गई और साथियों में से कोई टार्च ले गया। प० वाचस्पति की सहृदयता को इससे ठेस लगी। उन्होंने मुझसे तो कुछ नहीं कहा लेकिन कमला को बहुत समझाया। सचमुच ही उतनी भीड़ के सामने किसी आत्म-सम्मान रखने वाले व्यक्ति को डांटना बुरा था। इस समय कमला ने वाचस्पति पाठक की सहृदयता का मोल समझा। यद्यपि पार्वती वाला के आंसू थमे, पर उस दिन पुरानी गुहाओं के देखने में उतना मजा नहीं आया होगा इसमें क्या सन्देह है? उस समय कमला का इतिहास का उतना ही ज्ञान था जितना मैट्रिक में होता है। मुझे अपनी सारी मण्डली का आनररी पथ प्रदर्शक बनना पड़ा और छोटा मोटा लेक्चर देते हुए हरेक गुफा को दिखलाता रहा। भला इस तरह जो आदमी अपने कर्तव्य में लगा हुआ है वह कैसे कमला का ध्यान कर सकता था। कमला को यह शिकायत होनी वाजिब थी कि मैं जिसके साथ इतनी दूर आई वह मेरी सुध भी नहीं लेता।

बौद्ध गुफाओं के देखने के बाद हम ब्राह्मणिक गुफाओं में गए। पहाड़ काटकर विशाल कैलाश मंदिर को आश्चर्य और अभिमान के साथ देखा। फिर जैन गुफाओं की बारी आई। डा० उदयनारायण प० बल्भद्र मिश्र वाचस्पति पाठक, आनन्दजी भगवतीप्रसाद वाजपेयी डा० बदरीनारायण शुक्ल सभी एम०ए० व्यक्ति मण्डली में थे जिनके साथ इन स्थानों के देखने में

आनन्द आता था। लौटते वक्त हम खुल्दाबाद (स्वर्गपुरी) आए। शायद औरंगजेब ने ही इसे यह नाम दिया। दक्षिण की रियासतों को छिन्न भिन्न कर मुगल-साम्राज्य को बढ़ाने के लिए जिस समय औरंगजेब अपने शासन के आधे साल इधर लगा रहा था हो सकता है, उस समय यह स्वर्गपुरी ही रही हो। लेकिन आजकल तो अधिकतर गिरे पड़े और श्रीहीन मकान ही दिखाई पड़ते थे। औरंगजेब इधर ही मरा और खुल्दाबाद ही में उसे दफनाया गया। वहां से हम देवगिरि (दौलताबाद) गए। यह दक्षिण के दुर्गों में अजेय समझा जाता था। गोलकुण्डा की तरह यहां भी एक अलग अलग शैल के चारों तरफ विशाल नगरी बसी हुई है। उस नगरी के अवशेष दूर-दूर तक मिलते हैं। लेकिन देखने लायक इमारतें शैल के ऊपर या उसके पास में हैं। फाटक के भीतर होकर हमारी मण्डली मीनार के पास पहुँची फिर पर्वत पर चढ़ने लगी। वहाँ की इमारतें देखकर लौटकर पुराने सूखे हुए जलकुण्ड के पास हजार खम्भों की मस्जिद देखा। ६ सौ वर्ष पहले मन्दिर से इसे मस्जिद में परिवर्तित किया गया था और अब आठ मास हो गए वहाँ भगवती विराजमान थीं। पुजारी भी नियुक्त हो गए थे। हमारे साथियों ने बड़ी उत्सुकता के साथ भगवती का दर्शन किया। उपन्यासकार और कवि पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी तो थोड़ी देर के लिए वहाँ द्वारपाल बनने के लिए तैयार हो गए जबकि मैंने फोटो लिया। मंदिर १२वीं सदी के अन्त तक और फिर मस्जिद और फिर १९४९ में मन्दिर—परिवर्तन आखिर संसार का नियम है। देवगिरि के इस शैल ने और भी कितने परिवर्तन देखे होंगे। मुहम्मद तुगलक ने इसे दौलताबाद बनाकर इसके भाग्य को खोलना चाहा था। दिल्ली को उजाड़कर यहाँ वह नई दिल्ली बसाना चाहता था। लोग उसे सनकी और मनकी कहते थे लेकिन इसमें सनक और मनक की तो कोई बात नहीं थी। वह जानता था और देख चुका था कि राजधानी को अगर राज्य के एक छोर में रखा गया तो दक्षिण पर हम अपना अधिकार कायम नहीं रख सकते। इसी दूरी के कारण यहाँ बहमनी रियासत बनी फिर

उसकी जगह पाँच रियासत आ मौजूद हुई जिन्होंने शाहजहाँ और औरंगजेब के दाँत खट्टे कर दिए।

बड़ी सड़क के किनारे हम लोगों का मध्याह्न भोजन हुआ। शाम तक के लिए हम निश्चिन्त घूमते रहे। औरंगाबाद लौटने पर रात हो गई। धर्मशाला में किसी तरह गुजारा हो गया। दूकानें बाहर बहुत थी, खाने की कोई दिक्कत नहीं थी लेकिन हमारे देश में पाखाने की ओर अभी ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी जाती। जब तक हमारे पाखाने साफ सुथरे नहीं हो जाते तब तक हम सभ्य और संस्कृत भी नहीं कहे जा सकते यह भी निश्चित है।

आँजठा (अजन्ता)—१६४८ की आज अन्तिम तिथि और शनीचर का दिन था। हमने अँजिठा आने-जाने के लिए अपने आदमियों के लिए एक बस ठीक कर ली थी। यदि पूरी बस अपने हाथ में हो और साथी सभी सहृदय और समानधर्मा हों तो दस-बीस क्या सैकड़ों मीलों की यात्रा आनन्द लेते हुए की जा सकती है। हमारी बस डाइजल इंजन की थी। इंजन या मोटर अगर सँभालकर रखी जाए तो उन्हें बहुत दिनों तक अच्छी हालत में रखा जा सकता है अगर टाली जाए तो उसमें खराबी होने में देर नहीं लगती। इसी वजह से हमारी बस की गति मन्द थी। हम सवा ८ बजे अजन्ता से चले। ५८ मील पर अँजिठा गाँव है, जहाँ से सात मील आगे अँजिठा लेण्या—वेरूळ १८ ही मील पर था। गति मन्द होने से मन में कुढ़न हो रही थी। रास्ते में सड़क के किनारे कई गाँव पड़े। हैदराबाद रियासत में ६० प्रतिशत से भी अधिक हिन्दू रहते हैं लेकिन मुगल काल ही से यहाँ का हरेक मुसलमान हिन्दुओं को अर्ध-दास समझता आया था। मैं इस युग को कई बार यहाँ आकर देख चुका था। अब देख रहा था, कासिम रिजवी के समय जो मुसलमान सिंह की तरह दहाड़ रहे थे वे भीगी बिल्ली हो गए थे। अभी ताजी बात है इसलिए पहली स्थिति से नई स्थिति में आने में वह अभी अपना सन्तुलन खो चुके थे। कुछ समय लगेगा फिर वह समझने लगेंगे कि इस भूमि के हम भी उसी तरह स्वामी हैं जैसे यहाँ के हिन्दू।

यहाँ की हरेक चीज को हम भी उन्हीं की तरह अपना समझना चाहिए और यहाँ की सभी कीर्तियों का हमें अभिमान होना चाहिए। ये काफिरों की यादगार हैं, और ये मुसल्मानों की, अथवा ये हमारी यादगार हैं और ये उनकी, यह भाव छूटकर सबके हृदय में एकता जरूर आएगी, चाहे उसमें कुछ समय लगे।

अजिंठा गाँव बड़ी बस्ती है। इसके किनारे प्राकार है। बाजार भी है। पास की नदी बाँध दी गई है, ताकि गर्मियों में भी पानी मिलता रहे। बाजरे और गहूँ की फसल एक साथ लगी थी। वस्तुतः हैदराबाद काफी दक्षिण है और उत्तर का ऋतु भेद यहाँ कम मिलता है।

गाँव से आगे चलती हुई हमारी बस अजन्ता के पास ११ बजे पहुँची। अजन्ता तक नई सड़क बन गई है। गुफाओं के देखने में हमारे ढाई घंटे लगे। चित्रों को विशेष तौर से देखा गया। उत्तर में जेलगाँव स्टेशन पर उतरकर भी अजन्ता आया जा सकता है, पर हैदराबाद से आने वालों के लिए यही रास्ता ठीक है। जेलगाँव यहाँ से २५ मील ही है। गुफाओं के दर्शन के बाद हमने सड़क के किनारे ही बैठकर मध्याह्न भोजन किया। सभी चीजें हमारे साथ थीं। पर ऐसा नहीं था। अब की तो मालूम होता था, अजन्ता में रोज ही दर्शकों का छोटा-मोटा मेला लगा रहता है। पहली बार मैं १९२६ में आया था। उस समय अभी यहाँ सुनसान जंगल-सा दीखता था। १९३३ में भी उससे बहुतर स्थिति नहीं देखी, लेकिन १६ वर्ष बाद अब काया पलट-सी मालूम होती थी। हमारे राष्ट्र को अजिंठा पर अभिमान है, लेकिन इस अभिमान को हम केवल अपने तक सीमित नहीं रख सकते। यह हमें से मालूम है कि १९५५ में चीन ने अजिंठा की १५ वीं शताब्दी मनाई है। चीनी गणराज्य अपनी चित्रकला में अजिंठा की देन को स्वीकार करता है। उसी के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के लिए उसने यह उत्सव मनाया। भारत की अभी इधर नजर भी नहीं गई। सचमुच ही यह खबर सुनकर हम और शर्म से दबने लगे, हम मात रह गए और अजिंठा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने में चीन आगे बढ़ गया। अजन्ता ने भार-

गीय संस्कृति से प्रभावित हरेक देश को एक सूत्र में बाँध रखा है। जापान के प्राचीनतम मन्दिर होरियूजी के बोधिसत्व की तस्वीर देखकर सभी अजिंठा को याद करने लगते हैं।

भोजन के बाद हम लोग बस पर बैठे। बनारसी हो और उसको पान से प्रेम न हो यह असम्भव है। वाचस्पतिजी पक्के बनारसी हैं। उनका बड़ा सा पनडब्बा हमेशा पान के बीड़ों से भरा रहता है। उसमें बनारसी पान कहाँ कैसे हो सकता था? जिसे बनारसी पान कहते हैं वस्तुतः वह मगही पान है। लेकिन दूसरे की चीजों पर अपना ठप्पा लगाना बनारस खूब जानता है। रेशम कहीं से आया और उसे बनारसी रेशम (काशी सिल्क) का नाम मिल गया। पालि-ग्रंथों में काशी चन्दन का उल्लेख जब मैंने पढ़ा तो मुझे ख्याल हुआ कि सुदूर दक्षिण के चन्दन को ही लेकर बनारस ने अपना ठप्पा लगाया होगा। यह धारणा गलत साबित हुई जबकि छपरा जिले के मासी गाँव में अगरी चन्दन के कुछ बिरवे देखे और यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ा कि काशी की भूमि में भी चन्दन पैदा होता था। मैं बनारस का तो नहीं लेकिन काशी जनपद की ही सन्तान हूँ। और इस जनपद के गाँवों में भी अच्छे किस्म के पान को खाकर मुझे यह भी विश्वास हो गया कि ताम्बूल विलास की आदि भूमि काशी ही है। पान से मेरा बैर नहीं हो सकता था लेकिन खाने का मौका छठे-छमासे मिलता। अच्छा मिले तो खा लेता, घटिया के खाने की इच्छा नहीं होती। छठे-छमासे के पान खाने में अक्सर बीड़े में कभी अधिक चूना रहता और मुँह कट जाता। फिर गुनाह बेलज्जत कहकर पछताने लगता। सोचता मैं क्या इसे खाता हूँ? उस दिन अजिंठा में भोजन के बाद आराम से बस पर बैठ मैंने कहा—'पाठकजी पान!' पाठकजी ने अपना डब्बा मेरे हाथ की ओर बढ़ा दिया। मैंने ऊपर का बीड़ा मुँह में डाला। मुँह में चुनचुनाहट मालूम हुई। मैंने पाठकजी से कहा—'चूना ज्यादा लगा दिया है क्या?' पाठकजी घबरा कर बोले—ऊपर का पान तो नहीं लिया। सचमुच ही मैंने ऊपर का पान लिया था और कायदे के अनुसार मुझे ऐसा ही करना चाहिए था। लेकिन

जब तक पाठकजी हाँ-हाँ करें तब तक सिर्फ चूना रखा हुआ वह पान दाँतों के नीचे आकर कुचला जा चुका था, मेरे मुँह में चूना भर गया था। थूकने से क्या होता है? चूना तो अपना काम कर चुका था। थोड़ा बहुत कटाव होता तो गरी पान में या दूसरी तरह से कुछ त्राण मिलता। जब हफ्ते भर के लिए नमकीन, मसाला मिर्चवाला खाना हराम था। अच्छा गोश्त पका हुआ देखकर टुकुर-टुकुर ताकते रहना पड़ता। मसालेदार आलू देखना तो अपनी उस दिन की बेवकूफी पर रोष आता। मैंने तय कर लिया कि अब पान नहीं खाऊँगा। छः वर्ष से ऊपर इस नियम का पालन करते हो गए। कोई धार्मिक शपथ तो थी नहीं, जिसको मानने के लिए मैं मजबूर हूँ लेकिन किसी बात को तै कर लेने पर मेरे लिए वह वैसी ही हो जाती है। उससे भी बढ़कर यह भी तो ख्याल आता है कि छठे-छमाहे खाने पर फिर मुँह कटता ही रहेगा।

रात हो गई थी, जब कि साढ़े ८ बजे हम औरंगाबाद पहुँचे। आध घंटे में हमें मनमाड की गाड़ी पकड़नी थी। बड़ी भीड़ थी। १९४९ साल बीतने के आध घंटे बाद हम मनमाड पहुँचे। ३ बजे नागपुर एक्सप्रेस मिली जिसमें हम अपने मन्त्रा-बल से आराम से चलने में सफल हुए। चलते-चलते कुली आकर एक बिस्तरा यह कहकर रख गया कि यह आपके साथी का है।

इस साल के कामों में 'घुमक्कड़ शास्त्र' 'आज की राजनीति' और परिभाषा निर्माण मुख्य थे। पहले दोनों पुस्तकें लिखकर प्रकाशित भी हो गईं। 'मधुर स्वप्न' २९ अध्याय तक लिखा जा चुका था और 'दार्जिलिंग परिचय' के भी कुछ अध्याय तैयार हो चुके थे। संविधान के अनुवाद में काफी समय लगा था। सब मिलाकर साल व्यस्त जीवन का रहा।

२१

नीड़ की खोज

१९५० के प्रथम दिन का सवेरा बम्बई की सीमा के भीतर हुआ। आनन्दजी डा० केसरीनारायण मैं और कमला दूसरे दर्जे के एक ही डब्बे में थे। सवा २ बजे दिन को हम वर्धा पहुँचे। हिन्दी नगर में दो-ढाई दिन रहना था। मनमाड में जो होलडाल कुली रख गया था और जिसे शीलभद्रजी बड़े यतन से उठाकर लाए थे, यहाँ आने पर कोई उसका पूछनेवाला नहीं मिला। खोलकर देखने पर उसमें स्लीपर, गौन, एक लाल साड़ी और कुछ और कपड़े थे। उस पर जी० एस० लिखा हुआ था। लेकिन भारत वर्ष के ४० करोड़ लोगों में जी० एस० का कैसे पता लगता। पता लगाने की कोई कुंजी वहाँ नहीं थी। अन्दाज से यह कहा जा सकता था कि किसी गुजराती महिला का यह होल्डाल है। इसे किसको सौंपा जाय, इसकी चिन्ता शीलभद्रजी को करनी थी।

वर्धा—यद्यपि सेवाग्राम हम कितनी ही बार देख चुके थे, लेकिन साथ में नए मित्र हों, तो उनके साथ गांधीजी के आश्रम को देखने जाना आवश्यक हो जाता है। २ जनवरी को पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी, हर्षवर्द्धनजी (इलाहाबाद) और कमला को लिए हम सेवाग्राम पहुँचे। चार मील की यात्रा ताँगे ने पौन घंटे में पूरी की। ताँगेवाले एक बड़े पते की बात बतलाई। रास्ते में महिला आश्रम पड़ा। हम सफेदपोशों के मुँह से अशुद्ध नाम निक-

रत भुरकर वह कस चुप रहत ? उसने महिला आश्रम का निर्वाचन करते हुए बतलाया—बापूजी, यहाँ स्त्रियाँ रहती हैं अपने ही हाथ मैला साफ कर लेती है, इसीलिए इसका नाम 'मैला आसरम' है। सचमुच हम स्वप्न म भी असली तरह का पता नहीं लग सकता था। जिनको हम लोग अशिक्षित उजड्ड समझत है वह तो कभी कभी लाख रुपए की बात बतला देत हैं। मैला बाहर का था महिला आश्रम की मराणी नाम्नाबन का भी असली रहस्य नहीं मालूम था, गांधीजी स सम्ब ध रखनवाल आश्रम म मैला साफ करने का काम लोग करत ही हैं इसलिए उनके लिए इससे उपयुक्त नाम नहीं हो सकता था। इस समय सेवाग्राम में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति परिषद् हो रही थी जिसक कारण चहल-पहल थी। गांधीजी क रहन की कोठरिया म साइन बोर्ड लगा दिए गए थ। एक आश्रमवासी दर्शकों का पथ प्रदर्शन करते हुए उनक बार म बतला रहे थ। अभी उनका परिचय सीधे-सादे शब्दों म होता था, अभी पँवाड़ बनन म कुछ देर थी। सौ वर्ष बाद इनका परिचय बिल्कुल अपिरिचित रूप म ही दिया जाएगा। हाँ, लेकिन यह तभी जब कि भारत साम्यवादी न हो जाए। साम्यवादी होन का मतलब यह नहीं कि गांधीजी के आश्रम को भुला दिया जाएगा। रूस म तोल्स्तोय के यास्नया पोल्या क बार म हम जानते हैं, जहाँ महान् लेखक, और महान् शान्ति प्रचारक तथा गांधीजी क भी गुरुओं म स एक तोल्स्तोय का हरेक चीज को सुव्यवस्थित रीति से रखा गया है। लोग उसे तीर्थ समझकर दर्शन करन आते हैं।

बाहर चापड़ी के बाहर एक जगह धोंच म ढली एक-सी पाँच मूर्तियाँ दिखाई पड़ी। सभी की पसलियाँ गिनी जा सकती थी और सभी क पेट और पीठ सटकर एक हो गए थ। ये गांधीजी क पास रहनेवाले पुरुष थ। जापानी जाप सम्प्रदाय क भी एक भिक्षु मिल। वह बुद्ध और गांधी का सर्म्म वत शिक्षा का प्रचार करता चाहता थ। लौटन समय हम महिला आश्रम गए और शान्ता बा का तांगेवाले की व्याख्या सुनाई। अगल दिन ६ बजे सबेर महिला आश्रम म फिर भाषण दन क लिए जाना पड़ा।

आनन्दजी पहल भी कभी-कभी एक जगह छूटे से बधन की शिकायत

करते थे लेकिन अब वह अधिक उदासीन थे। प्रयाग वाले सम्मेलन के मेरे घोर अपनी दलबन्दी में कभी कभी इनके ऊपर भी कुछ छींटें कस देते थे। आनन्दजी सोचते थे—स्वच्छन्द रहना तो आज चारों खूंट जागीरी में रहना देश विदेश में जगह जगह घूमना फिरता। यहाँ काम की जिम्मेवारी सभालने पर यह सब भी सुनना पड़ रहा है। वह त्यागपत्र दे देने की बात कर रहे थे। भाड़े की एक दरिद्र कोठरी से आरंभ होकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आज एक विशाल संस्था बन गई थी। हिन्दीनगर सचमुच ही एक नगर-सा जान पड़ता था। उसके कार्यकर्त्ताओं का जाल सारे भारत में फैला हुआ था। इतनी सफलता किसी एक व्यक्ति के कारण नहीं हो सकती यह ठीक है उसमें सबसे बड़ा कारण समय की माँग थी। हिन्दी का अब समय आ गया था इसलिए उसके काम को हाथ में लेकर आगे बढ़ने वाली संस्था के लिए बहुत सुभीता था इसमें सन्देह नहीं। लेकिन साथ ही संस्था का रोपना और उसे पानी से सींच-सींच कर बढ़ाना, बढ़ती हुई शाखाओं की संख्या को समेट कर ले चलना लोग सहायकों और मित्रों को प्राप्त करना ये सब काम योग्य व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की इतनी उन्नति में आनन्दजी का सबसे बड़ा हाथ था इसमें सन्देह नहीं। और भी अधिक इसका श्रेय यह ख्याल करके आनन्दजी को देना पड़ता है कि गाँधीजी ने इस बिरवा को लगाया और थोड़े ही समय बाद हिन्दी हिन्दुस्तानी के विवाद को लेकर उसके विरोधी हो गए। वह अपनी उदारता से समिति का अनिष्ट करने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे लेकिन चेले वैसा करने से कभी बाज नहीं आए। इन सारे विरोधों के होने भी आनन्दजी गाँधीजी के चेलों के गढ़ में रहे—पानी में रहकर मगरमच्छ से वैर किया और मजे से आगे बढ़ते रहे। मैंने यही कहा कि जब तक वैसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न हो जाती तब तक त्यागपत्र नहीं देना चाहिए जब कभी स्थिति ऐसी हो जाए तो एक मिनट के लिए भी रुकना नहीं चाहिए। समिति का कारबार बहुत बढ़ गया था लेकिन दो कमियाँ मुझे खटकती थीं। एक तो समिति का एक अच्छा प्रेस होना चाहिए। अच्छा

प्रेस तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि मोनोटाइप न हो। दूसरी बात आवश्यक थी कि समिति अन्तर्प्रान्तीय श्रेष्ठ कृतियों के आदान-प्रदान का साधन बने। हिन्दी के माध्यम से वह भारत की सभी प्रादेशिक और विदेशी भाषाओं को भी हमारे देश के लोगों के सामने रखे। इन दोनों चीजों का एक-दूसरे से सम्बन्ध है क्योंकि ऐसी कृतियों का सुन्दर प्रकाशन तब तक नहीं हो सकता तब तक कि काम मोनो टाइप में न हो। समिति की परीक्षाओं में लाखों विद्यार्थी बैठते थे उनके लिए पाठ्य-पुस्तकें समिति ही छापती थी। एक-एक पुस्तक के बीस-बीस तीस-तीस हजार के संस्करण निकलते। कम्पोज करना कम होता और छापना अधिक और दोनों शिफ्ट में भी काम पूरा करना मुश्किल होता। मुझे आनन्दजी ने प्रकाशन की योजना बनाकर देने के लिए कहा। मैंने पहले ही सोच रखा था, इसलिए उस दिन कागज पर उतार कर देने में कोई दिक्कत नहीं हुई—१ हिन्दी हिन्दी हिन्दी विदेशी भाषाएं हिन्दी के द्वारा छापी जाएं, २ दूसरी विदेशी भाषाओं के हिन्दी माध्यम से स्वयं शिक्षक तैयार किए जाएं जिनके साथ व्याकरण भी हो। ३ हिन्दी और दूसरी भाषाओं के साहित्य इतिहास प्रकाशित किए जाएं, ४ हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं और विदेशी भाषाओं के हिन्दी अनुवाद के साथ कविता संग्रह, ५ ऐसी विदेशी ग्रंथ रत्नों में से हरेक भाषा की तीन-तीन पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में किया जाए। इस काम को आरम्भ करने के लिए ५० हजार की पूंजी पर्याप्त है, जो समिति की शक्ति से बाहर की बात नहीं है।

दोपहर बाद हम वर्धा से रवाना हुए। नागपुर में कुछ ठहरने पर छः बजे इटारसी की ओर जाने वाला पसिंजर मिला। ४ जनवरी को ५ बजे अभी रात ही थी, तभी हम इटारसी में पहुंच गए। यहां से प्रायः [illegible] घंटे बाद कलकत्ता मेल मिलने वाला था। इटारसी में प्रातराश करके हम कलकत्ता मेल में बैठे। हमारे डब्बे में गुजरांवाला के एक जैन सज्जन तथा तीन अंग्रेज मिशनरी चले रहे थे। जैन पाकिस्तान से भारत चले आए थे, रसायन के एम० एस-सी० थे और मिट्टी के सामान के कारखाने में काम करने के लिए विशेष अध्ययन करके साल भर इंगलैण्ड और अमेरिका में रहकर

लौट रहे थे। वह मिशनरी की परिस्थिति से असन्तुष्ट थे क्योंकि वहां योग्यता की कदर नहीं सिफारिश सब जगह चलती थी। मिशनरियों में एक दम्पती आसाम के खसिया में काम करने जा रहे थे। भाषा वहां जानते थे जिसके लिए दार्जिलिंग में रहकर कुछ दिनों तयारी करना चाहते थे। दूसरी मिशनरी महिला नर्स का काम करने के लिए आसाम जा रही थी। उस समय और अब भी हमारे देश में अमेरिकन गुप्तचरों का जाल बिछा हुआ है। मिशनरी डाक्टर नर्स और शिक्षक के रूप में अपने को अच्छी तरह छिपा सकते हैं। इसलिए अमेरिकन मिशनरी ईसा के प्रेम का सन्देश देश के कोने कोने में फैलाने जा रहे हैं इसकी आशा नहीं रखनी चाहिए। पर हम यह भी नहीं कह सकते कि इस प्रचार के उद्देश्य से आने वाला हरेक अमरिकन मिशनरी अवश्य जान बूझकर गुप्तचरी कर रहा है। जिसको जरा भी उदार विचार का समझती है उसे अमेरिकन सरकार कभी इस देश में भेजने के लिए तयार नहीं होती। जब उन्हें मालूम हुआ, मैं रूस रह आया हूं तो उन्होंने रूस के बारे में बहुत-सी बातें पूछी।

इस वक्त फसल कट चुकी थी हरियाली कम दिखलाई पड़ती थी। ट्रेन के लेट होने की शिकायत नहीं हो सकती थी, जब कि दो जगह समय से पहले पहुँचने के कारण उसे रुक जाना पड़ा। एक जगह ट्रेन में ही एक मुसाफिर मर गया जिसके लिए भी वह कुछ देर कटनी के आस पास खड़ी रही। स्टाप्स में राजा महेन्द्र प्रताप कहीं जाते हुए आ गए। अच्छा परिचय तो मेरा बहुत पुराना था। जापान में एक समय मुलाकात होते होते रह गई। उनके राजनीतिक विचारों में सहमत होना मेरे लिए कठिन था। वह जानते हैं कि आज मेरी बात को कोई सुनने के लिए तयार नहीं है तो भी अपनी धुन में अपना काम किए जा रहे हैं। आजकल सामन्तों के मुर्दों को उखाड़कर उन्हें फिर वर्दी-पटी पहनाकर खड़ा करने का काम वह कर रहे हैं उसे देखकर तो और भी दया आती है। यह सब होते हुए भी राजा महेन्द्र प्रताप आग में तपे हुए कुन्दन हैं। आजीवन वह देश के परतन्त्रता अंग्रेजों के सामने नहीं झुके और यदि देश स्वतन्त्र नहीं हुआ होता तो आज

भी हम उन्हें अपनी उसी प्रतिज्ञा पर डटे रहकर दुनिया की खाक छानते पाते। देश की आजादी के लिए अदम्य विश्वास और अपनी दृष्टि के अनुसार प्रयत्न, अंग्रेजों के प्रति अपार घृणा और सारी बेसरो-सामानी के रहते भी अनेक बार दुनिया की परिक्रमा करते प्रथम श्रेणी का घुमक्कड़ बनना—ये सात गुण इतने बड़े और इतनी मात्रा में उनमें हैं जिनके कारण उनके सात खून भी माफ हैं।

इलाहाबाद हम साढ़े १० बजे रात को पहुँचे और वहाँ से तांगा करके माधवजी के घर चले गए।

प्रयाग—५ जनवरी को अब प्रयाग का काम देखना था। 'बौद्ध संस्कृति' को हिन्दुस्तानी एकेडमी छापने के लिए तभी तैयार थी, जब कि उसमें काट-छाँट की जाती। मैं तो किसी पुस्तक को भी अपर्याप्त समझता था, इसलिए एकेडमी के न छापने पर मैंने उसे प्रकाशक को बिना ठीक किए ही लॉ जर्नल प्रेस में दे दिया था, अब श्री परमानन्द पोद्दार उसे ले चुके थे। लॉ जर्नल प्रेस उसे कम्पोज करने लगा था। यह ५ जनवरी १९५० की बात है। पुस्तक छपकर आज से तीन वर्ष पहले तैयार हो गई थी उसके ब्लाक भी बन चुके हैं, लेकिन २६ फरवरी १९६५ तक भी पुस्तक ने अँधेरी कोठरी से बाहर निकल प्रकाश नहीं देखा। पाँच-छः दिन प्रयाग में रहता था। इतने समय में मैंने 'दार्जिलिङ् परिचय' कमला से लिखवाना शुरू किया। अभी "मधुर स्वप्न" भी लिखकर समाप्त नहीं हुआ था। मित्रों से मुलाकात होती रही। डा० कपिल द्विवेदी ने रामगढ़ की प्रशंसा की और मन कुछ-कुछ सोचने लगा। ६ तारीख को रेडियो के काम करने वाले मित्र स्टेशन में उस्ताद फैयाज खाँ का गान सुनाने के लिए ले गए। उनका हाथ और गला जितना नहीं हिल रहा था, उतना वहाँ के कितने ही गुणग्राहक श्रोता झूम रहे थे। मुझे तो मालूम होता था, पागलों की मण्डली में कहाँ मैं आ फँसा। उस्तादी गान मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं आता। इसका मतलब यह नहीं कि मैं उस्तादों की कदर नहीं करता, या उनकी जरूरत नहीं समझता। मशीन के तत्त्वदर्शी पारदर्शी हैं। वह महान चतुर है। इसी

तरह उनके गुणों का उपयोग करना चाहिए लेकिन गान के लिए मधुर कण्ठ पहले जाते है, जिससे अधिकांश कोरे होते है। आश्चर्य है, वह अपराध का ममत्व नही पाते। उन्हे ऊँचा-से ऊँचा सम्मान मिलना चाहिए। जीवन की अवश्यकताओं से उन्हे निश्चिन्त रखना राष्ट्र का कर्तव्य है। केन्द्र की संगीत अकादमी का सदस्य बनाकर उन्हें आजीवन अच्छी मासिक पेन्शन मिलनी चाहिए और संगीत के उच्च विद्यालयों में अध्यापक बनाकर उनसे लाभ उठाना चाहिए। दिल्ली में नहीं हरेक प्रादेशिक राजधानी और बड़े-बड़े नगरों में संगीत शिक्षणालयों को प्रोत्साहन देकर इन गुणियों को जगह देनी चाहिए। उनकी कृतियों और कीर्ति को चिरस्थायी रखने की कोशिश करनी चाहिए। यह सब ठीक है पर उन्हें गाने या दूसरों को उसे सुनने के लिए मजबूर करना हमारे गौरवमय संगीत कला का अपमान करना है उसके प्रति लोगों में विरक्ति पैदा करनी है। उस दिन की तरह यदि नकटपंथी वाह वाह की झड़ी लगाएं या भूत सिर पर आए की तरह सिर हिलाएँ तो उससे उस्तादी गाने की अप्रियता को ढाँका नहीं जा सकता। सारे अलंकारों और ध्वनियों को ही जमा करके पद्य रचना करने से वह अच्छी कविता नहीं हो सकती। सिर्फ मसाला मिर्च और खटाई को ही तैयार करके भोजन की थालियों में चुन देना स्वादु भोजन नहीं हो सकता। उसी तरह संगीत के नाना प्रकार के स्वरों मूर्छनाओं गमकों को जमा करके उसे बूढ़े गले से भाय भाँय निकालने से वह संगीत नहीं हो जाता। इन बातों को कहकर उस्ताद फैयाज खां के प्रति मैं असम्मान प्रकट नहीं करना चाहता। उनकी जिन्दगी भर की तपस्या की पूरी कदर होनी चाहिए।

प्रयाग में मैं दार्जिलिंग परिचय लिखवा रहा था और समयता था कि बीच में मुझे जब अनुपस्थित रहना पड़ेगा, उस समय कमला उसे टाइप कर लेंगी।

७ जनवरी को कप्तान शिवप्रसाद सिंह आए। लड़ाई के वक्त में वह अध्यापकी छोड़कर फौज में चले गए थे। इधर वह कश्मीर में नियुक्त थे।

उनका कहना था कश्मीर की साधारण जनता भारत के पक्ष में भले ही हो, किन्तु शिक्षितों में कम-कम हो हैं। पाकिस्तान में जिनका इलाका जिस तरफ है, वह उनकी जय मना रहे हैं। मुँह में आश्चर्य के साथ सुना कि श्रीनगर से करगिल तक जीप जाता है। बीच में जोजीला का मार्ग में भी महान हिमाच्छादित भाग मिलता था। इस पर जीप जाने की सम्भावना भी पहले नहीं की जा सकती थी। लेकिन लड़ाई असम्भव को सम्भव बना देती है। हमारी सेना को अपने टैंकों को जोजीला पार कराना जरूरी था, नहीं तो पाकिस्तान का सैनिक और सहानुभूति रखने वाली संख्या को केवल हम सफल नहीं होने देते। टैंक के चले जाने के बाद जीप भला उससे पीछे क्या रह सकती थी। अब जाड़ों को छोड़कर वह करगिल की ओर दौड़ती रहती है। भारतीय सैनिकों ने सारी कठिनाइयों के रहते कश्मीर में जो सफलता प्राप्त की, उससे उन्हें विश्वास हो गया था कि अगर हम रोके नहीं जाते, तो हम सारे कश्मीर को पाकिस्तानियों से खाली करा लिए होते।

■ जनवरी को माधव-दम्पती के साथ कमला को लिए हम साहित्य संसद में निरालाजी से मिलने गए। पहले से कुछ कृश थे, नहीं तो वही प्रसन्न मूर्ति थी। बातें करते रहे कभी हमसे और कभी अपने मन से। सिद्धराज जो ठहरे। वह दोनों लोकों में एक ही समय विचरने में समर्थ थे—कभी जागृत जगत् में और कभी स्वप्न जगत् में। चाय पिलवाए बिना कैसे हमें छोड़ सकते थे और जब हम चले, तो ताँगे तक पहुँचाने भी आए। निरालाजी को कौन पागल कह सकता है? जिस व्यक्ति की जागृत और स्वप्न की सीमाएँ टूट गई हैं उसके लिए संयम रखना मुश्किल नहीं असम्भव है। यह हम अपनी जागृत स्वप्न अवस्था को देखकर जान सकते हैं। निरालाजी इस सीमा के उच्छेद के बाद भी बड़े संयम और शिष्टाचार का पालन करते हैं, यह असाधारण है। कोई भी अपरिचित सहृदय व्यक्ति उनके पास आकर कभी निराश या अपमानित होकर नहीं लौटता। सभी उनकी मानवता की प्रशंसा किए नहीं थकते। प्रयाग में आने पर निरालाजी

डा० मगन्दर को अनुवाद करने का काम सौंपा जाए, एक-चौथाई अनुवाद हो जाने पर उसे देखने के लिए समिति की अगली बैठक बुलाई जाए। प्रस्ताव मंजूर हुआ। डा० रघुवीर "ननु नच" लगाना चाहते थे लेकिन यहाँ आधा मे काम गजा बनने की गुंजाइश नहीं थी।

इस यात्रा मे कमला साथ नहीं गई थी। संस्कृत समिति का काम इस तरह एक ही दिन में खतम हो गया, हमारे कुछ साथी उसे इतनी जल्दी खतम कर देना नहीं चाहते थे। १३ की रात का ही चलकर अगले दिन सवेरे साढ़े नौ बजे मैं प्रयाग पहुँच गया। मेला का दिन था हम भी दोपहर बाद त्रिवेणी गए। उत्तर प्रदेशीय प्रचार शिविर मे नेहरू, पन्तजी और सम्पूर्णानन्दजी के बड़े-बड़े फोटो के साथ अंग्रेजी में उनका वक्तव्य लगा हुआ है। शायद सरकार समझती है कि सभी मेले वाले लोग अंग्रेजी जानने वाले हैं, उन्हें हिन्दी की आवश्यकता नहीं है। मैंने इन्चार्ज को इसके लिए साधुवाद दिया। उन्होंने कहा—क्या करें ऊपर से अंग्रेजी में छाप कर हमारे पास भेजा गया है। आज लोहड़ी थी। पंजाब का यह राष्ट्रीय त्योहार है। रात को आग जलाकर परिवार और मित्र मण्डली का बैठना, वार्तालाप या गीत से मनोरंजन करते रेवड़ी खाना। अग्रेयजी उसी बगल मे रहते थे, वह भला लोहड़ी को कैसे भूल सकते थे? इसके लिए हम उनका कृतज्ञ होना चाहिए। कितनी ही रात तक हँसने-हँसाने के चुटकुले हम लोग कहते-सुनते रहे।

संस्कृत की कहावत है 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति"। उसके अनुसार डायबटिज्का छिद्र "शाप" तो हमारे पास था ही, जिसमें घाव या फुन्सी फोड़ा बहुत बुरी चीज है। शरीर छिले-छाले नहीं, इसका बराबर ध्यान रखने पर भी आखिर चलते फिरते कहीं-न-कहीं कोई चीज लग ही जाती। मालूम नहीं चमड़ा पतला हो गया था क्या, झट खून भी निकल आता। घाव लगा हुआ था। उसी बगले में एक बंगाली डाक्टर भी रहते थे। उन्होंने पेनसिलिन का पहला इन्जेक्शन दिया, बाकी तीन इन्जेक्शन कमला रानी ने दिया। लिखने मे सहायक और ऐसे समय मे चिकित्सक बनकर

वह मेरा बहुत काम कर सकती है, इस ख्याल ने मुझे उन्हें अपने साथ रखने के लिए मजबूर किया। साथ ही मैं यह भी चाहता था कि उनकी प्रतिभा का विकसित होने का मौका मिले जो कलिम्पोंग में नहीं हो सकता था। डायबेटीज तो अब थमने का नाम नहीं लेती थी और दो घंटे से पहले ही जब पेशाब होने लगता, तो चिन्ता बढ़ जाती। लेकिन अभी नियमपूर्वक इन्सुलिन लेना नहीं शुरू किया था।

२१ तारीख को हिन्दी अनुवाद समिति के लिए दिल्ली रवाना हुआ। कमला को भी दिल्ली दिखा देना चाहता था। उसी ट्रेन में श्री घनश्याम सिंह गुप्त भी चल रहे थे। हम कांस्टिट्यूशन हौस में ठहरनेवाले थे लेकिन बच्चों के लिए कुछ मिलौन थे जिन्हें देने के लिए रास्ते में चन्द्रगुप्तजी के यहाँ चल गए। फिर वहीं ठहर जाना पड़ा। इस वक्त उनके यहां कई मेहमान थे इसलिए सकोच बहुत हो रहा था।

उसी दिन (२२ जनवरी को) कुतुब दिखाने के लिए कमला को ले चला। हवा चल रही थी—कहावत है पूस जाड़ न माघे जाड़ जब हवा तब जाड़। माघ सुदी चौथ थी हवा चलने के कारण सर्दी बहुत बढ़ गई थी। सद जगह की रहने वाली कमला को भी दिल्ली ठिठुरने के लिए मजबूर कर रही थी। कुतुब मीनार लोह की लाट और पुराने मंदिरों के अवशेषों को दिखलाया। वहाँ से बौद्ध विहार दिखलाकर कमला को डेरे पर रखा और ४ बजे मैं अनुवाद समिति की बैठक में गया। संविधान का हिन्दी अनुवाद तैयार था। समिति के सदस्यों ने उस पर हस्ताक्षर किया फिर हम उसे लेकर राजेन्द्र बाबू से मिलने गए जो २६ जनवरी को गणराज्य घोषित करने के साथ भारत के प्रथम राष्ट्रपति बननेवाले थे।

२३ को ताँगा में पुराना किला हुमायूं का मकबरा निजामुद्दीन आदि दिखाने ले गया। पुराना किला शेरशाह और हुमायूँ की राजधानी रह चुका था। हुमायूँ का मकबरा मुगलों का सबसे पुराना मकबरा है जिसे अकबर ने बनवाया था। यह बहुत ही सुन्दर इमारत है। पास में ही शेरशाह के अमीर ईसा खाँ की कब्र है जो सहसराम में मौजूद शेरशाह

का कब्र में बहुत मिलती जुलती है। हाँ उसमें छोटी है। हुमायूँ के मक-
बरे में आजकल शरणार्थी भरे हुए थे। ऐतिहासिक इमारत उस समय
पेशाब पाखाने से गन्दी बनी हुई थी। लेकिन इस वक्त तो लाखों की
तादाद में चले आए शरणार्थियों के सिर के ऊपर छत की आवश्यकता थी।
सांस्कृतिक रुचि और ऐतिहासिक सम्मान के ख्याल करने के लिए समय
बीता नहीं जा रहा था। उसी में खाना बनाने के कारण छतें काली हो रही
थीं। मुर्दों की कोठरियों में जिन्दे रहकर थोड़ी देर के लिए यदि आराम कर
लें तो क्या बुरा है? फिर वहाँ से निजामुद्दीन औलिया की समाधि पर
गए। औलिया से मुझे कुछ लेना देना नहीं था, लेकिन वहीं पास में फारसी
के महान कवि खुसरो सोए हुए थे। कवि की समाधि पर दो फूल चढ़ाना
मेरे लिए आवश्यक था। दिल्ली से लाखों आदमी चले गए लेकिन अब भी
लाख से अधिक मुसलमान मौजूद थे। निजामुद्दीन मोहल्ले से भी बहुत से
लोग पाकिस्तान चले गए। उस समय अभी बहुत बेसरो सामानी की स्थिति
में था। खुसरो-सम्बन्धी फारसी की पुस्तकों की तलाश में था लेकिन दो
ही एक मिल सकीं। लोगों के घरों से ढूँढकर देने के लिए दुकानदार ने
कहा लेकिन मैं इतना ठहरनेवाला कहाँ था? राजघाट में गांधीजी की
समाधि पर गए। उनके चिता का स्थान है। उससे भी स्मरणीय है शाम
के साथ, वह स्थान है जहाँ पर नृशंस-हत्यारे ने अजातशत्रु पर गोलियाँ
चलाई थीं। अभी वह भवन प्राइवेट सम्पत्ति है किन्तु जहाँ गांधीजी का
रक्त गिरा, वह भूमि अधिक समय तक प्राइवेट सम्पत्ति नहीं रह सकती।
चिता स्थान उतना स्मरणीय नहीं है जितना वह स्थान जहाँ बापू का
गरम गरम खून गिरा था, और जहाँ पर उन्होंने अन्तिम साँस ली थी।
गांधीजी का स्मारक वहीं बनना चाहिए था, आज इतिहास की यही माँग
है, लेकिन वह स्थान किसी की निजी सम्पत्ति है और वहाँ राष्ट्रीय स्मारक
बनाने का अभी नहीं ख्याल किया जा रहा है।

राजघाट से हम जामा मस्जिद गए फिर लाल किला भी पहुँचे।
लेकिन वहाँ भीतर जाने के लिए लोगों का लम्बा क्यू लगा हुआ था, घंट

भर वहाँ कौन इंतजार करे। मैं तो अंग्रेजों के समय ही एक बार लाल किले में गया था, उसके बाद क्यू के कारण फिर कभी नहीं जा सका।

मथुरा—तीन दिन बाद ही दिल्ली में भारत के गणराज्य की घोषणा होनेवाली थी। उस समय के लिए वहाँ बड़ी तैयारी हो रही थी। लेकिन हमारा दिल्ली का काम पूरा हो चुका था, इस चहल-पहल और भीड़ में दबने के लिए हम तैयार नहीं थे। २३ तारीख को १ बजे रात को हम मथुरा पहुँच गए। तांगेवाले से किसी होटल में ले चलने के लिए कहा, वह हमें ग्रीन होटल ले गया। मामूली हम-तुम जैसों के लिए ही यह होटल खुला था। मथुरा में परिचित भी थे, लेकिन उस रात को किसी को तकलीफ देना पसंद नहीं था।

२४ के सबेरे प्रातराश के बाद वृन्दावन गए। कमला ने वहाँ के मंदिरों को देखा, और एक कृष्ण भी खरीदा। साधु लोग हरद्वार-कुम्भ की तैयारी कर रहे थे, जो १ फरवरी से शुरू होनेवाला था। पंडा बहुत दिखाने का आग्रह कर रहा था। मैंने कहा—झूठा वृन्दावन क्या दिखला रहे हो? वृन्दावन मथुरा के बीच में तो जमना पड़ती थी। यह तो किसी गौड़िया साधु का जाल है। गोविन्दराज और रंगजी के मंदिर देखने के बाद हम लौट पड़े। रास्ते में बिड़ला का गीता मंदिर और राजा महेन्द्र प्रताप की कीर्ति प्रेम महाविद्यालय भी पड़ा। श्री प्रभुदयाल मित्तल को भी ढूँढ़ निकाला। उन्होंने अपने पास आ जाने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन एक रात की और बात थी, इसलिए रहे वहीं और सायंकाल का भोजन मित्तलजी के यहाँ किया। म्यूजियम दूसरा दर्शनीय स्थान था, जिसे कमला को दिखाया।

आगरा—जल्दी-जल्दी में निश्चय करने के कारण मित्रों को कोई पत्र नहीं लिख सका। भोजन करके बम्बई मेल पकड़ा और १ बजे के करीब राजामण्डी स्टेशन पर उतर गया। पहले पता लगाकर लाकर होटल में चले गए, जहाँ ६ रुपए रोज पर अच्छा खासा कमरा मिल गया। सबसे पहले यहाँ के स्थानीय स्थानों को देखना-दिखाना था। तांगा लेकर हम दोनों ताजमहल गए। इस वक्त मरम्मत हो रही थी। ताज का वातावरण सौन्दर्य

मय है अगर उसके इतिहास को न जानें, तब भी उसके देखने में आनन्द की कमी नहीं होती। लौटकर किले को भी देखा। जहाँगीर के महलों से कहीं बढ़-चढ़कर उसके पुत्र के महल हैं। सम्पूर्ण संगमरमर की मोती मस्जिद भी देखी। दीवानेखास के सामने एक अंग्रेज की कब्र शोभा बिगाड़ने के लिए ही मानो रखी गई थी। दोपहर बाद था पर्सासिटू कमलेश डा० भयेन्द्र और श्री महेन्द्रजी से भेंट हुई। हम अगले ही दिन चल देना चाहते थे लेकिन आगरे के मित्रों के आग्रह पर २७ जनवरी की रात की गाड़ी पकड़ने का निश्चय किया।

२६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस था। आज १८ शताब्दियों बाद फिर हमारे देश में गणराज्य स्थापित हो रहा था। पुराने गणराज्य एक-दो जिलों के रहे, और अब सारा देश गणराज्य में परिवर्तित हो रहा था। यह बात खटकती जरूर थी कि हमारे देश में तो गणराज्य है, और हमारा देश ऐसे राज्य-समूहों में हो जिसकी मुखिया राजा रानी हों। सबेरे मुरारीलाल मन्त्री बालिका कालेज में डा० किरणकुमारी गुप्ता के आग्रह पर झण्डा फह-राना और एक छोटा सा भाषण देना पड़ा। अभी वह एफ० ए० तक था, लेकिन कुछ ही समय बाद डिग्री कालेज होनेवाला था। डा० किरणकुमारी की कार्य-तत्परता के बारे में यह कहना ही काफी होगा कि कई महिलाओं ने विवाह प्रथा पर पुस्तक लिखने का बीड़ा उठाया लेकिन उसे अच्छी तरह पूरा करके प्रकाशित करने का श्रेय किरणजी को ही है। छात्राओं की संख्या साढ़े सात सौ बतला रही थीं कि कन्याओं की शिक्षा पर अब कितना अधिक ध्यान दिया जा रहा है। मध्याह्न भोजन कमलेशजी के यहाँ हुआ फिर शाम में फतहपुर सीकरी के लिए चल दिए। सीकरी को पहले भी देख चुका था, और उसके बारे में लिख भी चुका हूँ। अब की तो विशेषकर गुम्बद का निरीक्षण के लिए ही गया था। दीवानखास, जोधबाई महल देखे। तुर्की बेगम का फूस की झोपड़ी के नमूने पर बना छोटा सा सुन्दर कमरा दर्शनीय था। बुलन्द दरवाजेवाली मस्जिद के साथ की बावड़ी में स्नान करने की बात सुनकर हमें सन्देह प्रकट करते देख एक लड़के ने उसमें कूदकर

दिखलाया। सीकरी गाँव की सड़क पर वहाँ के डाक्टर ने लाल पत्थर का दरवाजा बना १९४७ में अपनी मूर्ति स्थापित करवा दी। निम्न तान पुरुष की इस प्रकार अपने अमर होने की लालसा निन्दनीय नहीं है। सीकरी का बाजार आज के लिए खूब सजा हुआ था। जलूस भी धूमधाम से निकला। साढ़े ५ बजे हम आगरा की तैयारी देखने के लिए लौट आए। लोगों में कोई चाव नहीं मालूम होता था। जाने आए कैसे? अंग्रेजों को धीरे से खिसका कर उन्हीं के आसन पर काले साहब बैठ गए, उनकी रोज रोज की अयोग्यता और भ्रष्टाचार से लोगों की घृणा होती जा रही थी। हरेक चीज दुर्लभ और महँगी और सभी जगह चोरबाजारी। जब चौबीस घंटे इन्हीं बातों को देख रहे हैं, तो जन मन में उत्साह कैसे आता? बहुत कम जगहों पर रात को दीपमाला की गई। बाजे जरूर बजते रहे। दूकानें खुली थीं।

२७ जनवरी को कानपुर के लिए रवाना होना था, इसलिए सवेरे होटल छोड़कर कमलाजी के यहाँ सामान रख दिया, फिर सिकन्दरा में अकबर की कब्र देखने गये। १२३ में से २३ एकड़ में इमारत है, बाकी बाग और घास का मैदान है। यहाँ हिरन भी पाले गये हैं, जो बढ़कर अधिक हो गए हैं। पालने के लिए पाल लिया, लेकिन उनके खाने का ख्याल नहीं किया गया। चारा पानी बिना कभी-कभी कोई मरकर अपने साथियों को आराम देने की कोशिश करता। मयूर भी बहुत थे। अकबर के इस मकबरे में आने वाले सभी मुगल बादशाहों के लिए जगह रखी गई थी, किन्तु हुमायूँ मरा दिल्ली में, जहाँगीर लाहौर में, शाहजहाँ आगरा में मरकर ताजमहल में दफन हुआ, औरंगजेब खुल्दाबाद में सो रहा है। इसी तरह दूसरे भी अन्यत्र मरकर सिकन्दरा में नहीं आ सके। शाहजहाँ ने ताजमहल के चारों विशाल मीनारों की प्रेरणा मालूम होता है यहीं से पाई, और जहाँगीर ने इस विशाल इमारत को बनाकर इस विषय में अपने बेटे का पथ प्रदर्शन किया। आरम्भ अकबर ने किया था, लेकिन अपनी गद्दी पर बैठने के ६ वर्ष बाद—१६११ ई० में—जहाँगीर ने इसे पूरा किया। लौटते वक्त पुरानी पाठशाला नामनेर के आर्यसमाज में गये। हमारा मुसाफिर

विद्यालय एक टूटी-फूटी इमारत में था, लेकिन अब वहाँ आर्यसमाज का नया साफ-सुथरा मंदिर देखा।

आगरा कालेज की स्थापना में सबसे बड़ा हाथ गंगाधर शास्त्री का था। लेकिन, उस समय अंग्रेजों का ही नाम रखा जा सकता था। यह कालेज बहुत पुराना है, और विशाल हाल मेस्टन हाल के नाम से मशहूर है जिसे अब गंगाधर शास्त्री भवन कहा जाता है। उसी में तीन घंटे कवि-सम्मेलन हुआ जिसका सभापति मुझे बनाया गया। मध्याह्नोत्तर जलपान डा० सत्येन्द्र के यहाँ हुआ। फिर आगरा छावनी में गाड़ी पकड़ी। यहीं से एक डब्बा कानपुर के लिए जाता था इसलिए हमें रास्ते में ट्रेन बदलने की तकलीफ नहीं पड़ी।

कानपुर—२८ को ६ बजे सवेरे कानपुर पहुँचकर पहले स्टेशन व्यू होटल में सामान रखा, और एक दिन का दस रुपया भी दे दिया। फिर घूमने निकले। श्री सतीशचन्द्र कौशल से मिले। वह भला होटल में कैसे ठहरने देते? सामान उठवा ले गये। स्नान भोजन करने के बाद फिर कैलाश मंदिर के हाल में श्री कैलाशचन्द्र कपूर के यहाँ पहुँचे। डा० कृष्ण कुमार शर्मा से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह गुरुकुल के आयुर्वेदिक स्नातक होने के बाद एलोपैथी के डाक्टर बने। तेरह वर्ष से चिकित्सा विज्ञान की परिभाषाओं के निर्माण में जुटे हुए थे। उस समय तो लोग अवश्य इसे सनक समझते होंगे। अब समय उनके साथ था, हमारी योजना में उनसे बढ़कर रूप किसका होता? मटेरिया मेडिका (ओषधि कोश) और फार्मा-कोपी (निघण्टु) के कामों को उनके बारे में मैंने कहा। उनसे बहुत मदद मिलती, लेकिन आगे तो उन कामों को ही छोड़ देना पड़ा।

प्रयाग—२९ जनवरी को सवेरे का जलपान श्री पुरुषोत्तम कपूर के यहाँ मनोरम की बगिया में हुआ। वहीं कानपुर के और कितने ही साहित्यिक मित्र आये। शिक्षित मित्रों और महिलाओं से मैं विवाह प्रथा के गानों और रवाजों को लिपिबद्ध करने के बारे में कहने से बाज नहीं आ सकता था। कपूरजी की पत्नी विमलाजी से भी यहाँ कौशल की सफलता

तथा अनुज-वधू को भी प्रेरणा दी। कौशल्जी की पत्नी के ही पितकुल ने आगरे का स्त्री-बालिका कालेज बनवाया था। शाम को ५ बजकर १० मिनट पर डाक पकड़ी और ८ बजे इलाहाबाद पहुँचकर माधवजी के पास चले गये। गर्मी दो महीने बाद आने वाली ही थी, इसलिए उसके बारे में सोचना जरूरी था। कमला की भी राय को देखना था। उनका आग्रह था, स्थान ऐसा हो जहाँ पर बिजली जरूर होनी चाहिए। किसी स्थान को लेना और उसमें ऐसे आदमी की सलाह न लेना जिसको अन्त में उसे सँभालना है, ठीक नहीं होता। कमला का आग्रह मैं पूरी तरह से मान नहीं सका, शायद मानने पर कई दिक्कतों से बच जाता।

सम्मेलन में जाने पर पं० बलभद्र मिश्र से मुलाकात हुई। दिल्ली में कार्यालय बनाने और वहाँ भूमि हासिल करने की जरूरत सबसे अधिक प्रधान मंत्री समझते थे। काम में दीर्घ-सूत्रता उन्हें छू नहीं गई थी, लेकिन उसकी पूर्ति टण्डनजी करने के लिए तैयार थे। वहाँ शहर के भीतर बड़े अच्छे मौके पर जमीन मिल रही थी, कितने ही घर और किराये पर लगी दूकानें थीं। अपने पिता के इस स्मारक के लिए वह कुछ पैसा देने के लिए भी तैयार थे। सिर्फ उनको स्वीकृति देनी थी, लेकिन टण्डनजी अन्त समय तक उसके बारे में कोई निश्चय नहीं कर पाये। मिश्रजी से पता लगा, आनन्दजी ने इस्तीफा लिखकर भेज दिया है, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से वह अलग होना चाहते हैं। कोश की छपाई में जैसी ढिलाई हो रही थी, वह तो मेरे लिए असह्य थी। मैं विद्वानों का वक्त देकर उनके परिश्रम से जमा किये हुए शब्दकोशों को तैयार करना और वह यहाँ खटाई में पड़े थे।

ज्वर समाप्त मालूम होता था। फरवरी के पहले दो दिन सर्दी का पता नहीं था। डायबिटीज वैसा ही चल रहा था, पर न विशेष दुर्बलता थी और न वजन ही कम हुआ था। ३ फरवरी तक 'दार्जिलिंग परिचय' लिखकर समाप्त कर लिया। अब उसे दोहराने लगा था। 'विज्ञान' में लेख लिखने के लिए कहा गया था। मैंने अपने लेख में निम्न बातें परिभाषा के सम्बन्ध में बतलाईं—(१) बहुजन के लिए सुगम और भविष्य के विद्या

भिया की अंग्रेजी का सामना की कमी के कारण हिन्दी के माध्यम से विज्ञान का पढ़ाना आवश्यक है। आज के अध्यापकों को हटाने का सवाल नहीं है संक्रान्ति-काल में परिभाषाएँ दोनों चल सकती हैं। विदेशी भाषाओं के बायकाट करने का सवाल नहीं है क्योंकि विज्ञान के विद्यार्थी के लिए भाषा कूपमंडूक होना अहितकर है। (२) परिभाषा निर्माण में हम न रघुवीर का रास्ता लेंगे संस्कृत के अनजान और अप्रचलित शब्दों से उसका निर्माण करना होगा, और न जवाहरलालजी के विचार-अनुसार आम फहम शब्दों से हम काम चला सकेंगे क्योंकि परिभाषाएँ सारे भारत नहीं, बृहत्तर भारत को भी एक ज्ञान की दृष्टि से बनानी हैं। सभी भाषाओं के प्रतिनिधियों का इसके लिए समय-समय पर सम्मेलन या समिति बुलानी चाहिए। परिभाषाएँ संस्कृत में बनें किन्तु सरल और सुपरिचित शब्दों से ही। साइन्स की जिन परिभाषाओं के साथ वैज्ञानिकों के नाम लगे हुए हैं, उन्हें उसी तरह सुरक्षित रखना चाहिए इत्यादि।

कलिम्पाग की हमारे गृह की स्वामिनी श्रीमती ज्योत्स्ना चटर्जी यहीं अपने भाई के पास आई हुई थी। उनके पास चाय पीने गये। ज्योत्स्नाजी महातपस्विनी हैं। वर्षों से उनके पति का दिमाग विकृत हो गया है। पागल के साथ जीवन बिताना आसान काम नहीं है लेकिन उन्होंने अपना सारा जीवन उन्हीं के साथ बिता दिया।

मपिल्जी ने रामगढ़ के मकान की और भी कुछ बातें बतलाई—दो बड़े-दो छोटे कमरे हैं एक अलग मकान बाहर है रसोई का अलग घर है। मालिक सेप्टिक टैंक का पाखाना स्थान के लिए तैयार है। पानी का नल भी है पर बिजली नहीं है। मिट्टी का तेल उस समय आसानी से नहीं मिलता था। यद्यपि बिना बिजली की जगह पर कमला की राय के अनुसार मकान नहीं लेना चाहिए था पर यह तो किराये का मकान था, इसलिए मैंने समझा कि इस के लेने में कोई हर्ज नहीं। मगर एक बार वहाँ जाकर निश्चय करना होगा यह तो तय हो कर लिया। शाम को प्रयाग के बंगाली बन्धुओं की संस्था विविधा में गये बहुत बड़ी संख्या में पुरुष और महि

लाएँ आई थीं। संगीत का भी आयोजन था। हमारे पुरखा न जाने कब यह दिया था—"छाजा वाजा केस। यहा बगाला देस"। और अब तो दो शताब्दियों से विश्व के सम्पर्क के कारण बगाली समाज संस्कृति और सुरुचि में हमारे देश का अगुवा है। मुझे भी वहाँ कुछ बोलना पड़ा। उस दिन हुमायूँ फिल्म देखने गये। फिल्म देखने पर कमला की आँखें जरूर दुखा करती पर देखे बिना रह भी नहीं सकती। यद्यपि इसका यह मतलब नहीं कि कमला रोज रोज फिल्म स्थान जाती। यह फिल्म तो साल भर बाद देखने को मिली थी। कलिम्पोंग से डुड कबडल उधर चला आना था, इसलिए कमला को कलिम्पोंग ले जाने की जरूरत नहीं थी।

कलकत्ता—६ फरवरी को ८ बजे रात को दिल्ली मेल पकड़ कलकत्ता रवाना हो गया। मुगलसराय में गया की लाइन से हमारी ट्रेन चली। धनबाद में सवेरा हो गया। वह पौने ११ बजे हावड़ा पहुँची। मणिहृषजी जरा देर में पहुँचे जब कि मैं टैक्सी ले रवाना हो चुका था। भीड़ के मारे सड़क एकतरफा चलती थी इसलिए बहुत चक्कर लगाना पड़ा। नाखुदा मस्जिद के पास टैक्सी को छोड़ देना पड़ा और कुली से सामान उठवाकर रामजीदास जटिया लेन के मकान में पहुँचा। कलकत्ता में थोड़ी बहुत खरीद फरोख्त करनी थी। 'मधुर स्वप्न' का कितना ही प्रूफ लेकर श्री परमानन्दजी मिले। उसके बाद वह 'आज की नीति' और 'दार्जिलिंग परिचय' में हाथ लगाने वाले थे। राजकमल ने 'आज की राजनीति' आधा ही छापा थी उसके महत्वपूर्ण अंश परिशिष्ट को छोड़ दिया था और आधुनिक पुस्तक भवन से उस अब परमानन्दजी निकाल रहे थे। ९ फरवरी के लिए बागडोगरा का विमान का टिकट मिल गया। हिसाब का बेपरवाही प्रकट करने पर मैंने मणिहृषजी से कहा— भाई, किसी का पैसा अपने ऊपर रहे यह अच्छा नहीं। यदि पुनर्जन्म होना तो वह भैसा बनकर उसमें उऋण होने की गुंजाइश रहती। निर्वाणगामी कैसे ऋण उतारने के लिए आयेगा।

८ तारीख की शाम को मारवाड़ी छात्रों के सामने गणराज्य के बारे में

कुछ वाग्—हाल से दूत आता थे। आजकल सूमट दिमागी हिंदुओं के नेता करपात्री जी और शंकराचार्य कलकत्ता में पड़े हुए थे। हिंदू कानून का स्वर धर्मयुद्ध छेड़ रखा था। इसी का विरोध करने के लिए श्री भवरमल सिंघी ने इस भाषण का आयोजन किया था।

कलिम्पांग—९ फरवरी को साढ़े ८ बजे दमदम के अड्डे से हमारा विमान उड़ा। विमान में ही मेरे नाम के वह तरुण भी अकस्मात मिल गए जिनके बारे में कितनी ही बार मैं सुन चुका था। मेरा नाम कोई रखे यह न अनुचित है न अनहोनी बात। आखिर मुझसे भी पहले इस नाम के बहुत से लोग हो चुके हैं। पर लोगों में भ्रम पैदा करना दूसरी बात है। मैं उनके लेखों को पढ़ चुका था उससे तरुण की प्रतिभा और विद्या का पता लगता था। मैंने बिना किसी भूमिका के संक्षेप में उनसे कहा—आपके पास विद्या और प्रतिभा, साहस और तरुणाई है जिससे किसी महत्त्वाकांक्षा को भी पूरा होना आसान है जल्दी का रास्ता न पकड़ें। अपने गुणों में से भी ३० प्रतिशत कम करके प्रकाशित करने की इच्छा रखें। मेरा इसमें कुछ नहीं बिगड़ता था, यदि वह मेरा तिब्बत की यात्राओं के पढ़ने के बाद पूछने पर हुंकार भरते हैं मानो उन्हीं की ये यात्रायें की हैं। पीछे नेपाल जाने पर मालूम हुआ कि लोगों ने वहाँ राहुलजी के स्वागत में चाय-पार्टी दी। मुझे इस हुए लोग भी चेहरे और आयु के अन्तर को देखकर कुछ शंकित जरूर हुए, लेकिन हमारे तरुण ने चेहरे पर बिना जरा भी बल लाये अपने पार्ट को अदा किया।

पौने १० बजे विमान बागडोगरा में उतरा। दो अंग्रेज दम्पती कलिम्पांग जा रहे थे। इसलिए यहीं टैक्सी मिल गई और २ बजे पावना पहुँच गये। भट्ट और मनगुप्त स्वस्थ और प्रसन्न थे। भट्ट को कुछ इम्तहान देने पड़े थे। सर्दी अब कम थी। कलिम्पांग के छोड़ने से पहले इस अचल की कुछ जगहों को देख-सुन लेना था। हमारे पास १३ दिन थे हम २२ फरवरी को यहाँ से प्रस्थान करनेवाले थे।

अपनी पुस्तकों और सामान को फिर पैक कराने में लगना पड़ा।

रमान्या अच्छा मिला था, चाहते थे कि चलें तो उसे साथ ले चलें। श्री सेनगुप्त ने सूचित किया, यह पुलिस को सब बातों का पता देता जाया करता था। आखिर तीन स्टार के संदिग्ध व्यक्ति होने से अंग्रेजों की तरह भार-तीयों की सरकार भी मेरे पीछे पड़ी हुई थी। डाक को सेंसर करने, मेरे आने जाने या मेरे पास आनेवालों की देखभाल करने की जिम्मेवारी खुफिया पुलिस को मिली थी। पूछताछ के लिए मेरे पास आने की हिम्मत नहीं होती, इसलिए उन्होंने रमान्ये को कुछ देकर अपना काम बनाया। यही नहीं और जगहों पर भी ऐसा किया जाता था। इससे मुझे चिंतित होने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि मेरे जो भी विचार या कार्य थे, वह प्रकट थे।

फरवरी के मध्य में हवा जब-तब तेज होती, जिससे सर्दी बढ़ जाती। यदि इस सर्दी ने सेनगुप्त जी से अपना धर्म छुड़वाया और चम्मच इस्तेमाल करने के लिए मजबूर किया, तो उन्हें कैसे दोष दिया जा सकता था? रात को वह गरम पानी की बोतल लेकर सोते थे, लेकिन अभी भी पूरा तौर से गरम सूट का व्यवहार नहीं करते थे। मैंने कहा, अभी पूरी सर्दी से पाला नहीं पड़ा है, नहीं तो सूट-बूट बिना कहे ही पहनने लगोगे। वह गरम कपड़ा सिलवाकर लाये थे, लेकिन धोती छोड़ने में लज्जा अनुभव करते थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जब इसी के अध्यापक हो गये, तब उन्हें अपने सहकारियों की देखा-देखी धोती को पैंट में बदलने में आना-कानी नहीं हुई।

बंगले के बगल में एक अमेरिकन मेडिकल मिशनरी डा० डाग आ गये थे। उन्हें ११० रुपये मासिक पर पावना में बड़ा अच्छा एवं सुन्दर बंगला मिल गया था। डा० डाग और उनकी पत्नी सप्तम दिन एडवेंटिस्ट मिशन की ओर से पश्चिमी चीन में तिब्बत की सीमा के पास सालों से काम कर रहे थे। कम्युनिस्टों के शासन सँभालने पर वहाँ रहना उनके लिए संभव नहीं हुआ, लेकिन साथ ही उनका मिशन चाहता था कि वह तिब्बत की सीमा के पास रहें, इसलिए वह यहाँ चले आये थे। उनकी पत्नी बड़ी मेहनती थीं। अपने हाथ से घर को साफ सुथरा रखना, मक्खन बनाना

खिलाना और बच्चों को सभालना सभी काम करती थीं। हम १२ को उनके यहा भोजन के लिए गए। हम अफसोस हुआ कि एम पड़ोसी का थोड़े ही दिनों तक सत्सग रहा। पीछे डा० डॉग मसूरी में भी एक बार मिले थे, तब उनकी नियुक्ति उत्तर प्रदेश में कहीं पर हुई थी। उसी दिन प्रयाग से कमला का पत्र आया। उन्होंने लिखा कि मैं पढ़ रही हूँ जिससे दवन गई फिर देर लगा लौटेंगे। हमारे बंगले में कुत्तों (कुत्ते) ने अपने-आपको स्वय आकर अर्पित कर दिया था, वह बड़े जोर शोर से चौकीदारी करता था। दूसरे आदमी को वह हाते में आना पसन्द नहीं करता था और एक से अधिक आदमियों का काल भी था। आज भी उसका दाँत किसी के पैर पर पड़ा।

कलिम्पोग में ग्राहम होम्स एक बड़ा ही सुन्दर शिक्षणालय है। १६०० ई० में पादरी ग्राहम ने मुख्यत एग्लो इडियन बच्चों के लिए छात्रावास सहित इस विद्यालय को खोला था। हिन्दुस्तान की हवा लगने से एग्लो इडियन बच्चे अपने हाथ काम करने को नफरत की निगाह से देखते हैं, उसी तरह जैसे हिन्दुस्तानी मध्य और उच्च वर्ग के लड़के। यहाँ पाँच से पन्द्रह वर्ष तक के लड़के-लड़कियाँ रहते थे। स्थान हजार के लिए था पर उनकी सख्या सात सौ से ऊपर कभी नहीं पहुँची। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय चीजों का दाम बढ़ गया इसलिए सख्या घटानी पड़ी। सख्या पर कर्जा हो गया था, जिसे उतारने के लिए भारत सरकार ने एक लाख रुपया दिया। उस समय ४८० लड़के-लड़कियाँ पढ़ रहे थे। हेड मास्टर मिस्टर गामड ने हमें ले जाकर अच्छी तरह हरेक कमरे को दिखलाया। सुप्रिटेंडेंट हवलदी बाबा ने बच्चे और छात्रावास दिखलाये। होम्स में ६०० एकड़ से अधिक भूमि है। एक छोटा-सा मैदान है, जिसमें छोटा हवाई जहाज एक मरतबे उतरा था। अब भारतीय लड़के भी लिए जाते हैं। अग्रेजी माध्यम है लेकिन द्वितीय भाषा के तौर पर बगला और हिन्दी भी पढ़ाई जाती हैं।

रास्ते में पड़ा झाड़ का ऊन-गोदाम देखा। यहाँ ऊन का निम्न, मध्यम, उत्तम श्रेणियों में वर्गीकरण होता है फिर बाहर भेजने के लिए

गाठें बाँध दी जाती हैं। हिन्दू युनिवर्सिटी के लिए मँगाये गए तजूर की १८ गाठें आ गई थीं। मणिहर्षजी के अनुज रत्न ज्योति जी ने अपने गोदाम में ले जाकर उन्हें दिखाया। मैंने गाठों को बिना खोले ही बनारस भेज दिया। रत्नज्योति अभी बिल्कुल तरुण थे। उस वक्त कौन आशा करता था कि वह इतनी जल्दी अपने स्वजनों को रोते छोड़ जायेंगे। पर मृत्यु के लिए तरुण क्या और वृद्ध क्या।

मगपू—भारत के कुनैन की खप को पूरा करने के लिए सिनकोना का बगीचा और कारखाना मगपू में है। उसे देखने के लिए १६ फरवरी को सवा ६ बजे मनगुप्त और रत्नज्योति के साथ चले। भट्टजी के लिए चलना उतना अच्छा नहीं था, इसलिए वह नहीं गए। दस मील जाने पर निम्न पुल और आठ मील जाने पर रम्बी पुल पार हुए, जहाँ से एक दूसरे रास्ते छ मील जाने पर मगपू पड़ा। मोटर वहाँ तक जाती है, यह छ मील की सड़क भी अच्छी है। प्रायः एक मील जाने पर सिनकोना के बाग आरम्भ हो जाते हैं। सिनकोना वृक्षों को काम के सुभीते के लिए अधिक बढ़ने से रोका जाता है, क्योंकि वह सभी पारस में कम ही नीचे पड़े। जाड़े के अन्त में उनके बहुत से पत्ते लाल हो रहे थे। पत्ता बसन्त में कम कच्चा था, पूरी गड़गड़ाहट छाल में होती है, सिनकोना की छाल में ही कुनैन बनाई जाती है। पहले बाग के संचालक डा० सेन के बंगले पर गए, वह इस समय कलकत्ता गये हुए थे। कुनैन विशेषज्ञ स० मा० बनर्जी के पास गए। उन्होंने फैक्ट्री में ले जाकर कुनैन बनाने की प्रक्रिया दिखलाई। वृक्ष की छाल बड़े भारी परिमाण में एक जगह सूख रही थी। यह मशीन में डालकर पीसी कम जाती है, फिर पहली छनाई कम होती है, फिर चूना और खनिज तेल कसे मिलाया जाता है, फिर सोडा कार्बोनेट मिलाकर दुबारा छनाई कस होती है और अन्त में स्फटिकाणु कम बनते हैं और फिर चूर्ण करके या गोली बनाकर कम शीशी में बन्द की जाती है। सभी बातें हमने देखीं। एक प्रक्रिया से गुजर कर दूसरी जगह जाने में कन्वेयर (वाहक) इस्तेमाल किया जाता है। फैक्ट्री नामक बहुत पुरानी होने से उतना आकर्षक और स्वच्छ नहीं

थी। स्वच्छता तो इतनी भी नहीं थी जितनी डायरेक्टर के बंगले में। हमारे सेनगुप्त जी रसायन के ही विद्यार्थी हैं, इसलिए वह हमसे अधिक बारीकियों को जान सकते थे। उनकी टिप्पणी थी—कितने ही बाइप्राडक्ट (गौणउपज) को फेंक दिया जाता है, जिनका इस्तेमाल हो सकता है। कुनैन की कुछ चीजें सस्ते में बनाई जा सकती है, जिन्हें यहाँ नहीं बनाया जाता। श्री बनर्जी ने बड़े प्रेम से सभी चीजें दिखलाईं। शालीनता और सहृदयता तो बंगाली का सहज गुण है, उसी तरह से जैसा अतिथि सत्कार पंजाबी का। पास में वह बंगला भी हमें दिखलाया गया, जिसमें कवीन्द्र रवीन्द्र १९३८, १९३९ और १९४० में आकर रहे थे। उसे रवीन्द्र स्मारक का रूप दिया जानेवाला है, यह हर्ष का समाचार हमने सुना। मध्याह्न भोजन यहीं समाप्त किया। रास्ते में एक जगह टायर पंक्चर हो गया, इसलिए कुछ देर से पौने ६ बजे घर लौटे।

१७ फरवरी को पुस्तकें बक्सों में बहुत कुछ बन्द की जा चुकी थीं। दोपहर बाद हम श्रीमती सिम्प के यहाँ गए। रविवार को जाने के लिए कह रखा था, लेकिन दो दिन पहले ही चले गये। वहाँ से विदा ले डा० रायरिख के यहाँ पहुँचे। आज तिब्बती नव वर्ष था। रानी दोर्जे के भोज में वह गये हुए थे। वह आए, 'प्रमाणवार्तिक' के अंग्रेजी अनुवाद का काफी काम हुआ।

दिमाग में फिर प्रश्न ने एक चक्कर मारा— पूर्ण शान्ति या आपाततः पूर्ण शान्ति क्या है? वह कैसे प्राप्त होती है? प्रथम का उत्तर है—हृदय के किसी कोने में ठँसी हुआ का क्षारा या टीस न रहे। दूसरे के लिए इतना ही कहता हूँ कि हृदय को आरे क्षारा पहुँचाने वाले छिद्रों का अधिक-से-अधिक अभाव हो, अर्थात् व्यक्तिगत सम्बन्ध कम-से-कम हों, आकांक्षायें भी कम हों। सार्वजनिक सम्बन्ध तो रखना ही पड़ता है। वहाँ जरा-सा हल्का-सा भी धक्का अप्रिय होता है, अन्तस्तल में उदासी छा जाती है यदि टीस न भी उठ पाए।

१८ फरवरी को हिल व्यू होटल में सांस्कृतिक प्रतिष्ठान के सदस्यों के

सामने "तिब्बत में भारतीय संस्कृति" पर भाषण दिया। बीस के करीब और सभी शिक्षित श्रोता—नेपाली, बंगाली हिंदी भाषी थे।

गंतोक—१९ तारीख को साढ़े ८ बजे सेनगुप्त और रत्नज्योति के साथ हम मोटर से गंतोक के लिए रवाना हुए। सड़क नीचे तिस्ता और तिस्ता से रागफू और आगे तक बहुत अच्छी रही। पर जहाँ से गन्तोक की सड़क दाहिनी ओर मुड़ी, वहीं से खराब मिली। रागफू के पुल पर पुलिस ने अंग्रेज का नाम लिखना चाहा लेकिन हमारी गाड़ी में कोई अंग्रेज नहीं था। मौसिम बीते महीना हो गए लेकिन रागफू में अब भी नारंगी की भरमार थी। शायद भारत में दूसरी जगहों के लोगों को नहीं मालूम है कि सिलहट (आसाम) और नागपुर से यहाँ की नारंगी कम अच्छी नहीं होती। नेपाल की तो सर्वश्रेष्ठ होती है। बीच के व्यापारी उन्हें यहाँ खरीदते हैं। कलिम्पोंग में पाँच रुपए में मिलने वाला टोकरा यहाँ तीन रुपया सवका मिल रहा था। सिंगतम पुल पार कर बाजार के पास से तिस्ता उपत्यका छोड़नी पड़ी। एक शाखा नदी के किनारे दूसरी ओर चले। मरतम गाँव के डाक-बंगले को छोड़ते रास्ते में एक जीप पड़ी देखकर रुक गए। मालूम हुआ सिक्किम के दीवान मिस्टर लाल रास्ते में पड़े एक गरीब तिब्बती को चलने में असमर्थ देखकर उससे हाल चाल पूछ रहे थे। फिर लारी पर उसे चढ़ाकर वह अपनी जीप में आए और रास्ता रोक देने के लिए हमसे क्षमा माँगी। लाल महाशय इस जगह के अनुरूप थे उनकी नम्रता से हम बहुत प्रभावित हुए। उनकी पोशाक भी बड़ी सीधी-सादी और चुस्त थी। पोशाक में कमर तक फौजी गरम सलूका था और सीट पर फौजी झोला पड़ा हुआ था। मैंने कहा—यह है आदमी।

गन्तोक से आठ मील पहले ही पुल के पास हम ठहर गए। यहीं बैठकर साथ लाया भोजन किया। फिर चलकर डेढ़ बजे के करीब गन्तोक पहुँचे। पुल से आगे चढ़ाई-ही-चढ़ाई थी।

आज हाट थी इसलिए बड़ी भीड़ थी। हेड मास्टर ब्रजनंद बाबू छुट्टी पर थे इसलिए उनसे मुलाकात नहीं हुई। पालिटिकल अफसर जब यहाँ

अंग्रेज हुआ करते थे, तब उनके पास अनुमति-पत्र के लिए मुझे कई बार जाना पड़ा था। सोचा अबकी भी हो लूँ। वहाँ कोई मिस्टर दयाल आई० सी० एस० इस पद पर विराजमान थे। बिना समय लिए हम गए थे। इसलिए एटिकेट के खिलाफ वह हमसे मिलने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे। उनकी यहाँ आने की क्या योग्यता थी? न तिब्बती भाषा और न तिब्बती बात विचार से उन्हें कोई वाकफियत थी। मेरे जैसे तिब्बत में अनेक बार गए हुए जानकार आदमी से मिलने से इन्कार करके उन्होंने यह भी बतला दिया कि उनको और जानने की कोई इच्छा भी नहीं है। हाँ, उनमें यह गुण जरूर था कि उनकी पत्नी टेनिस स्टार थी, उनकी सास श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित की ननद थी और मिस्टर दयाल आई० सी० एस० थे। उन्होंने बचपन युरोपियन स्कूल में बिताया, फिर विलायत गए, आई० सी० एस० हुए और आज वह सिर्फ चमड़े से ही भारतीय थे। यहीं हमने दूसरे आई० सी० एस० मिस्टर लाल को रास्ते में देखा था। उन्होंने हमको क्या दिया और इन्होंने हमसे क्या लिया, पर आदमी आदमी की अलग पहचान होती है। मिस्टर दयाल अंत में थोड़ी देर के लिए आए, लेकिन मालूम हुआ, वह गला दबाने के तौर पर ही हैं। हमारे दोनों हाथ जोड़ने का उत्तर उन्होंने एक हाथ के सलाम से दिया। बात में उन्होंने अंग्रेजी का पक्ष समर्थन, संस्कृत का विरोध, उर्दू के लिए दर्द प्रकट किया। मालूम हुआ उनके पूर्वज आगरे के थे लेकिन उनका बचपन नैनीताल के युरोपियन स्कूल में गुजरा। वह नेहरू के छोटे संस्करण मालूम हुए। सेनगुप्तजी भी साथ थे। उन्होंने साफ कहा—नेहरू के सम्बन्ध के कारण ही यह यहाँ बैठाये गए हैं। जिस स्थान पर विलियमसन गोल्ड जैसे राजनीति के गुरगंट, लेकिन साथ ही संस्कृति के जिज्ञासु बैठते थे, वहाँ यह काले साहब बैठे हुए थे, जो तिब्बत के एक समय के ट्रेड एजेंट कप्तान हेली के पासंग भी नहीं थे। पुलिस ने पुस्तक पर लिखने के लिए कहा, तो मैंने लिख दिया "अन्ध तम" (घोर अंधेर नगरी)।

उसी दिन ७ बजे शाम को हम कलिम्पोंग लौट आए।

२० तारीख को १० बजे डा० रोयरिक आए। "प्रमाणवार्तिक" के प्रथम परिच्छेद का अनुवाद समाप्त हो गया इससे हम खुशी हुई लेकिन तीन परिच्छेद और रह गए थे। दोपहर बाद पुत्र सहित श्रीमती निस्प भी आइ। यह अधेड आइरिश महिला बडी ही जिन्दादिल थी। कितनी ही घटनाएँ सुनाते हम मुग्ध कर देती थी। मनुष्य भी वनस्पतियो की भाँति जरा सा स्नेह पाते ही जड फैलाने लगता है। पिछले दस महीनो म यहाँ फैली जडें अब हम उठते देख अपनी ओर तान रही थी। सयोग और वियोग दोनो एक ही वस्तु के दो पार्श्व है। आह यह मानव जगत ? पाँच लाख वर्ष से पहले जिसका कही पता नहीं लगता, और शायद पाँच लाख वर्षो बाद भी यही बात हो यदि सभालकर उसे नहा ले जाया जा सके। लेकिन आद्यन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (आदि अन्त म जो नहो, वह वर्तमान म भी वैसा ही)—यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुए अचिरस्थायी है इसलिए उन्हें निर्मूल्य नहीं कहा जा सकता। यदि एक बार करने से सदा के लिए बुभुक्षा शान्त नहीं हो जाती तो उसका अर्थ यह नहीं कि भोजन का मूल्य ही नहो। वस्तुओ का मूल्य उनकी चलायमानता म ढढना होगा। विगत व समाप्त म निस्सारता स्वीकार करना एकागी विचार है क्योंकि आने वाली पीढ़ियाँ भी तो हैं। क्या आधी आयु के बाद मृत्यु की समीपता स्पष्ट मालूम होने लगती है ? पचास से पहले भी तो मरने वाले होते हैं। हाँ उनकी अधिक जीने की सम्भावना है जो पके आमो के लिए सम्भव नहीं।

२० की शाम को श्री क० दवराज के यहाँ चायपान था। वह पजाबी, और यहाँ के सफल ठकेदार हैं। उनकी पत्नी हमारे एम० डी० ए० श्री मोना चन्द प्रधान की बहिन है, अर्थात् हिन्दू घर की हैं। देवराज भी पहले हिंदू थ और अब इसाई। हिन्दू ईसाई दोनो धर्मो का सम्मिलन इनके घर म हो रहा था।

२१ तारीख अन्तिम दिन था। बाबू राधामोहन मिलने आए। फिर श्री मोनाचन्द प्रधान। दूसरे भी मित्र मिलकर गए। हमारे १ बक्स तथा ८

ट्रंकों का वजन साढ़े १७ मन था। तीन मन से ऊपर हम अपने साथ ले जाने वाले थे। इतने सामान को लेकर अभी हम अनिश्चित स्थान ही में जा रहे थे। कमला को नाक से खून आया था, प्रयाग में इंजेक्शन और दवा हो रही थी। २२ को लारी पर सामान लदवाया। साढ़े ११ बजे टक्सी आई, जिस पर हम तीनों जने चढ़कर चले। अब सिलीगाड़ी में रेल पहुंच गई थी, और उसके स्टेशन को सिलीगाड़ी उत्तर कहा जाता था। सड़क पूरी तौर से बनी नहीं थी लेकिन मुसाफिर चलने लगे थे। अपार भीड़ थी। यहाँ से सीट रिजर्व नहीं हुई। २२६ रु० ८ आ० में प्रथम श्रेणी के हमने तीन टिकट लिए। यदि इस दर्जे का टिकट न होता तो स्थान पाना मुश्किल था। रोज ही यहां बहुत-से यात्री छूट जाते थे। गाड़ियों में लोग लटककर चल रहे थे। खैर हमने पौने १५ मन सामान लगेज की गाड़ी में डाला और अपने डब्बे में बैठ गए।

कटिहार—रात को ४ बजे ट्रेन कटिहार पहुंची। पहले दर्जे का प्रतीक्षालय भी भरा हुआ था इसलिए वहां प्लेटफार्म पर पड़े रहे। लेकिन मच्छर देवता ने चैन से रहने नहीं दिया। खैर किसी तरह २३ का सवेरा हुआ और हम श्री महावीरप्रसाद मावंडिया के घर पर पहुंचे। स्नान भोजन किया। आज ही चलने का निश्चय कर लिया था, पर हम क्या पता था क्या होने वाला है। भोजन करने के बाद हम गाड़ी के लिए जल्दी जल्दी कर रहे थे। डा० भट्ट ने भोजन की प्रशंसा करके कहा था—आज मैंने ब्राह्मण की तरह भोजन किया। मावंडियाजी ने ५५५ का सिगरेट सामने रख दिया। इस पर बोले—हमने पाथेय भी ले लिया। बूंदा बूंदी पड़ रही थी। मावंडियाजी अपनी कार को ड्राइव करते हमें ले चले। रेलवे लाइन पार करते हुए सेनगुप्तजी ने भट्टजी को देखकर कहा—अच्छा खाना खाते हैं तो जाइए। स्टेशन पर कार खड़ी हुई। देखा भट्टजी बेहोश हैं। उठा उठा कर ट्रेन पर ले गए। मावंडियाजी दौड़कर डाक्टर रामप्रसाद मूर्ति को लाए। डाक्टर साहब ने कहा, अब इस ट्रेन से इन्हें नहीं ले जाया जा सकता। गाड़ी से सामान उतरवाया फिर भट्टजी को रेलवे अस्पताल में ले गए। अभी

हम कैसे हँसी-खुशी मना रहे थे, और अब भट्टजी की स्थिति देखकर दिल काँप रहा था। कई कैंप हुए। डाक्टर सूद ने कई इञ्जेक्शन दिए। वह बड़ी तत्परता से देखने लगे, लेकिन अस्पताल में दवाएँ नहीं थीं। हम इस स्थिति में वहाँ पड़े थे। धीरे धीरे पता लगा कि भट्टजी के एक अंग में लकवा मार गया। हृदय की बीमारी तो थी ही, पर पहाड़ पर ऐसा होना चाहिए था। लेकिन चार हजार फुट की ऊँचाई इसके लिए कोई बाधक नहीं होना। हम भट्टजी को अस्पताल में रखकर मालवियाजी के यहाँ चले आए। सामान रखकर वहाँ जाने आने लगे। अगले दिन भी भट्टजी की अवस्था वैसी ही रही। आँखें बहुत कम खोलते थे। कभी होश में रहते कभी बेहोशी में। अस्पताल की अगरा सामानों से प्रयाग पहुँचना अच्छा था लेकिन इस हालत में जाने की डाक्टर सलाह नहीं दे रहे थे। फिर सब देखकर डा० सूद ने कहा— साथ में एक डाक्टर लेकर जा सकते हैं। मालवियाजी ने तरुण डाक्टर कालीप्रसाद दास को तैयार किया। वह बड़े ही सहृदय मित्र। चलने में भय तो था किन्तु यहाँ रहने में भी वह वैसा ही था। बहतर होना हम लखनऊ जाने क्योंकि वहाँ मेडिकल कालेज था। पर सारा सामान इलाहाबाद की ओर जा रहा था इसलिए पहले प्रयाग ही चलने का निश्चय किया। सबसे बड़ी चिन्ता की बात यह थी कि भट्टजी को कोई चीज पचती नहीं थी सब वमन कर देते थे।

२४ तारीख को डा० सूद और डा० वृद्ध ने देखा दवाइयाँ भी लिख दीं। दोपहर बाद डा० भट्ट को लेकर गाड़ी में बैठे। ७ बजकर ४० मिनट पर हमारी गाड़ी रवाना हुई। डा० कालीप्रसाद दास एम० बी० हैं उनकी पत्नी भी डाक्टर हैं। भट्टजी को तीन बार मतर का रस दिया गया लेकिन तीनों बार उन्होंने वमन कर दिया। अब ग्लूकोज के इञ्जेक्शन का ही आसरा था। बस आज उनकी स्थिति में कुछ सुधार हुआ था। छोटी लाइन की गाड़ियाँ क्या कभी भी सुधरेंगी यही हम सवाल आ रहा था। गड्ढे पड़े हुए पायदान ढक मढ़, उसका द्वार खुला खिड़कियाँ टूटी फूटीं। पहले का मिस्त्री को बुलाकर बनवा लिया गया था नहीं तो परेशानी होती। भाड़

इतनी थी कि लोग छत पर भी बैठे हुए थे। एक जगह तो एक पूरी की पूरी बारात महिलाओं के पहले दर्जे में बैठ गई। टिकट-कलेक्टर जब टिकट मांगने गया, तो उसके पिटने की नौबत आ गई। इधर अभी व्यवस्था के लिए ट्रेन के साथ रेलवे मजिस्ट्रेट वहां चल रहे थे।

२६ फरवरी को सवेरे हम छपरा पहुंचे। यहीं चाय पी। हमारे डब्बे में दलन छपरा के अवधेश बाबू रेलवे मजिस्ट्रेट बलिया तक के लिए साथी बन। बलिया में भट्ट को ग्लूकोस का इंजेक्शन और दवा दी गई। बोलना नहीं चाहते थे, या शायद बोल नहीं सकते थे। एक बार पित्त का वमन हुआ। क्रमे थोड़ा थोड़ा ग्लूकोस और एक नारंगी का रस दिया। अभी भी उनकी नाड़ी बहुत मन्द थी। औंड़िहार में भोजन के समय पहुँचे। दारागंज पहुँचने अंधेरा हो गया। तार दे दिया था। डा० उमानारायण तिवारी भी अपनी कार लेकर आए थे। रामबाग स्टेशन पर एम्बुलेन्स तैयार थी और राय रामचरण लाल मोतीलाल मेमोरियल अस्पताल ले गए। पहले वाल्विन अस्पताल के नाम से प्रसिद्ध यह प्रान्त का अच्छा अस्पताल है। हम प्रयाग में नयी अस्पताल से काम नहीं पड़ा था इसलिए हम इसे जानते नहीं थे। डा० पाठणकर ने भट्टजी को अच्छी तरह सँभाला। उनकी नाड़ी की गति ४२ से ५२ तक थी। एक अच्छे चिकित्सालय में अपने मित्र को पहुँचाकर हमने सन्ताप की साँस ली। यहाँ नर्सें भी थीं, सभी तरह की दवाइयाँ भी थीं, दलन वाले सहृदय डाक्टर भी थे, और हमारे लोगों का प्रभाव भी था। भट्टजी यद्यपि कुछ दिनों बाद मृत्यु के जबड़े से बाहर निकल आए, लेकिन उनका रोग साधारण नहीं था। साल भर से अधिक वह इसी अस्पताल में रहे, फिर वहां दूसरी जगह चले गए। मेरी बड़ी इच्छा थी, उनकी सहायता करूं, लेकिन उनके बाद नैनीताल और मसूरी में चला गया जहाँ की ऊँचाई उनके बुलाने में भारी रुकावट थी। सिवाय मित्रों के पास पत्र लिखकर देने के सिवा और कुछ करने में असमर्थ था। इस बेबसी पर मुझे सदा अफसोस रहेगा।

तारीख मार्च को वहाँ के लिए रवाना होने से पहले भट्टजी के पास गए। स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। गाडी ४ बजे चल देती है, इसकी सूचना एकाएक मिली और सचमुच ही वह ठीक समय पर चल पडी। यहीं से देहरादून का डब्बा लगता था, जो बरेली तक जाने वाला था। यद्यपि यह दूसरे दर्जे का डब्बा बहुत सँकरा, टाट के गद्दवाला था, तो भी छोटी लाइन से बहुत अच्छा था। लखनऊ तक तीन आदमी रहे। पीछे एक आदमी उतरा और दो और चढे। पसिंजर ट्रेन थी, इसलिए हर स्टेशन पर ठहरती चल रही थी। ९ तारीख को सबेरे सवा ८ बजे बरेली पहुँचे। अब छोटी लाइन (ओ० टा० आर०) की गाडी बदलनी थी। पहले दर्जे का टिकट और छ मन सामान का लगेज बनवाया। गाडी ८ बजे खुली। सहयात्री ने बतलाया कि होली के रंग फेंकने को लेकर बरेली में झगडा हो गया। मुसलमानों के दो लम्बे मारे गए और बहुत से घर जला दिए गए। उनमें कुछ भगदड सी मच गई थी। अभी दोनों ओर की असली स्थिति समझने में कुछ देर लगी। पर यह तो निश्चय ही था कि साम्प्रदायिकता की आग हमारे यहाँ सदा नहीं भड़काई जा सकती।

उत्तर पंचाल की हरी भरी भूमि को देखते हम सवा १२ बजे काठगोदाम पहुँचे। रामगढ़ के लिए यहीं से ३५ रुपये से एक पूरी बस कर ली। ३ बजे हम भवाली पहुँचे। रामगढ़ के लिए मोटर की सडक अभी हाल ही में चालू हुई थी। सँकरी थी, और काम भी कच्चा हुआ था इसलिए सडक एकतरफा चालू थी। एक घंटा प्रतीक्षा करने के बाद हम फिर ४ बजे रवाना हुए। सडक बुरी नहीं थी। ७००० फुट से अधिक ऊँचे डाँडे को पार कर ५ बजे हम रामगढ़ पहुँचे। बाबू बच्चीसिंह प्रधान का बँगला सडक से एक मील नीचे प्रायः सीधी उतराई में था। कुलियों से सामान उठवाया, और बँगले पर पहुँचे। बँगला बुरा नहीं था, लेकिन उसमें पाखाने तक का भी प्रबन्ध नहीं था। दो सोने के कमरे, दो बडे कमरे, दो नहान कोष्ठक—काफी जगह थी। एक आँख देखने ही पता लग गया कि यहाँ हमारा रहना सम्भव नहीं। यही ख्याल करके हमने कुलियों की मजूरी नहीं दी, और उन्हें

दूर नहीं जब उर्दू के लिए भी नागरी अपनी लिपि हो जायेगी, इसके कारण
उर्दू बहुत लोगों के लिए सुपरिचित भी बन जाएगी। फिराक साहब
अपना सारा साहित्यिक जीवन उर्दू के लिए दिया है। मैंने भी अगर वैसा
किया होता—और लड़कपन से मैंने पढ़ी तो उर्दू ही थी—तो मैं भी शायद
उन्हीं की तरह सोचता।

होली के दिन बनारस में मैंने सुव्यवस्था देखी थी। नहीं कह सकता
यह व्यवस्था ३६-३७ वर्ष बाद आज भी है या नहीं। वहाँ दोपहर तक चाहे
जो भी फेंका फेंकी हो, लेकिन दोपहर के बाद लोग सिर्फ सूखी अबीर का
ही प्रयोग करते थे, यहाँ तो सुबह शाम कोई अन्तर नहीं था।

८ तारीख को अस्पताल में जाने पर निश्चय मालूम हुआ कि भट्टजी
के बाएं अंग में लकवा मार गया। डाक्टर ने बतलाया, इसके दूर होने में
बहुत देर लगेगी। अब भी उनका मस्तिष्क काम नहीं कर रहा था।
भट्ट के लिए अब मुझे सबसे अधिक चिन्ता थी। यदि वह स्वास्थ्य-लाभ नहीं
कर सके, तो कौन उनका भार उठाएगा? सम्मेलन कुछ दिनों तक सहायता
जरूर करेगा। हो सकता है राष्ट्रभाषा प्रचार समिति कुछ करे, लेकिन कितने
दिनों तक। भट्टजी के परिवारवाले अब भी दक्षिणी कनारा जिले में थे।
वह सनातनी माध्व ब्राह्मण थे। विलायत जाकर भट्ट ने अपना धर्म खो दिया
था। उन्होंने सुना था कि घरवालों ने उन्हें मरा मानकर श्राद्ध भी कर
डाला है। उनकी पत्नी भी मौजूद थी और पति के जीवित रहते विधवा
उन्होंने न अपने घर से सम्बन्ध रखा न कनाटक में ही, और अब इस स्थिति
में थे।

९ मार्च को डा० बदरीनाथ प्रसाद से मिला। वह साल भर के लिए
पटना विश्वविद्यालय में गए थे। असंतुष्ट थे। कह रहे थे—वहाँ तो और
भी निम्न दर्जे की बेईमानी है और दरबार में हाजिरी देना आवश्यक है।

रामगढ़—अंत में रामगढ़ के लिए मैं सहमत हुआ, पर कमला ने उसे
बिल्कुल पसन्द नहीं किया। मैंने कहा, बिना देखे राय नहीं देना चाहिए।
वहाँ देखेंगे, यदि ठीक रहा, तो रहेंगे, नहीं तो और जगह चल देंगे।'

तारीख मार्च को वहाँ के लिए रवाना होने से पहले भट्टीजी के पास गए। स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। गाड़ी ४ बजे चल देती है, इसकी सूचना एकाएक मिली, और सचमुच ही वह ठीक समय पर चल पड़ी। यहीं से देहरादून का डब्बा लगता था, जो बरेली तक जाने वाला था। यद्यपि यह दूसरे दर्जे का डब्बा बहुत सँकरा, टाट के गद्दे वाला था, तो भी छोटी लाइन से बहुत अच्छा था। लखनऊ तक तीन आदमी रहे। पीछे एक आदमी उतरा और दो और चढ़े। पसिंजर ट्रेन थी, इसलिए हर स्टेशन पर ठहरती चल रही थी। ९ तारीख को सवेरे सवा ८ बजे बरेली पहुँचे। अब छोटी लाइन (आ० टी० आर०) की गाड़ी बदलनी थी। पहले दर्जे का टिकट और छः मन सामान का लगेज बनवाया। गाड़ी ८ बजे खुली। सहयात्री ने बतलाया कि हाल ही में रंग फेंकने का लेकर बरेली में झगड़ा हो गया। मुसल्मानों के दो लड़के मारे गए और बहुत से घर जला दिये गए। कुछ भगदड़-सी मच गई थी। अभी दोनों ओर की असली स्थिति समझने में कुछ देर लगती। पर यह तो निश्चय ही था कि साम्प्रदायिकता की आग मार यहाँ सहज नहीं भड़काई जा सकती।

उत्तर-पंचाल की हरी भरी भूमि को देखते हम सवा १२ बजे काठगोदाम पहुँचे। रामगढ़ के लिए यहाँ से ३५ रुपये में एक पूरी बस कर ली। ... बजे हम भवाली पहुँचे। रामगढ़ के लिए मोटर की सड़क अभी हाल ही में चालू हुई थी। सँकरी थी और काम भी कच्चा हुआ था, इसलिए सड़क एकतरफा चालू थी। एक घंटा प्रतीक्षा करने के बाद हम फिर ४ बजे रवाना हुए। सड़क बुरी नहीं थी। ७००० फुट से अधिक ऊँचे डाँडे को पार कर ५ बजे हम रामगढ़ पहुँचे। बाबू बच्चीसिंह प्रधान का बँगला सड़क से एक मील नीचे प्राय सीधी उतराई में था। कुलिया से सामान उठवाया, और बँगले पर पहुँचे। बँगला बुरा नहीं था, लेकिन उसमें पाखाने तक का प्रबन्ध नहीं था। दो सोने के कमरे दो बड़े कमरे, दो नहाने कोठरे—... की जगह थी। एक आँख देखने से पता लग गया कि यहाँ हमारा रहना सम्भव नहीं। यही ख्याल करके हमने कुलिया को मजूरी नहीं दी, और उन्हें

कल फिर सामान लेकर मोटर के अड्डे पर पहुँचाने के लिए कह दिया। कमला को बड़ी प्रसन्नता हुई, जब मैंने कहा— कल हम नैनीताल चल देंगे।' रामगढ़ ६००० हजार फुट की ऊंचाई पर बसा हुआ है। यहाँ फलों के बहुत से बगीचे हैं। उसका दुर्भाग्य समझिये या हमारा जो हम वहाँ जाड़े के अन्त में पहुँचे थे। इस समय हरियाली देखने को आँखें तरसती थीं। फलदार वृक्षों के पत्ते सूख गए थे वह सूखे काँटे से मालूम होते थे। यह दृश्य कैसे हम अपनी ओर खींच सकता था? बँगले के पास ही दो एक दूकानें थीं, लेकिन वहाँ जरूरत की चीज मिलती नहीं थी। और तो और, चिराग जलाने के लिए मिट्टी के तेल के भी लाले थे। किसी तरह हमने रामगढ़ में एक रात बिताई और उसके लिए हमें अफसोस नहीं था। न आते तो पछतावा होता कि हम एक अच्छे स्थान को देखने से वंचित रह गए। बहार और बरसात के दिनों में यह ऐसा श्रीहीन नहीं रहता होगा इसमें संदेह नहीं। फलों की भूमि होने के कारण इसका वर्तमान और भविष्य भी अच्छा है। अब तो यहाँ अच्छी सड़क बन गई है और गढमुक्तेश्वर तक मोटरें आती जाती रहती हैं।

२३

नैनीताल

हमने बँगले में सामान भी नहीं खोला था। १० मई का सवेरा हुआ। कुली आ गए, और फिर हमारा सामान बस की टिकान पर पहुँच गया। १७ रुपये वाली तरफ की ढोआई के लिए और १५ रुपये में नैनीताल के लिए बस कर ली। उसमें अधिकतर हमारा ही सामान भरा था। साथ में पं० रघुवरदत्त पन्त चल रहे थे। वनोद्योग के विशेषज्ञ हैं, और इसकी विशेष शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैंड गए थे। पर सरकारी नीति और पूंजीपतियों की धाँधली से असंतुष्ट थे। वस्तुतः जो लूट में शामिल होने के लिए तैयार नहीं, और देश को कुछ आगे ले जाने की कल्पना रखता है, उसके लिए आज की व्यवस्था में संतुष्ट रहना कठिन है। दस मील चलकर भवाली आई। फिर सात मील आगे ६ बजे नैनीताल पहुँच गये। नेपाली कुलियों की पल्टन ऐसी कहीं नहीं देखी थी। यही बात फिर मसूरी में देखने में भी आई। पश्चिमी नेपाल के लोग रोटी की तलाश में नैनीताल, बदरीनाथ, मसूरी आदि में सैकड़ों की तादाद में चले आते हैं, बाज तो दो-दो, तीन-तीन वर्ष तक घर का मुँह नहीं देखते। नेपाली सबसे अधिक मेहनती हैं। तीन-तीन मन बोझा पीठ पर लाद लेना इनके लिए कोई बात नहीं है। खून पसीना एक करके चार पैसा कमाकर अपने बाल-बच्चों में जाते हैं। लेकिन उन नेपालियों से तो ये अच्छे हैं, जो भारतीयों को परतन्त्र रखने के —

लिए अँग्रेजी साम्राज्यवाद की बलि के लिए दो पसा पर बिक रहे हैं।

होटल मेट्रोपोल—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार से पहले ही पत्र-व्यवहार हो चुका था। वह भी हमारे आजकल आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, अर्थात् रामगढ के लिए हम निश्चित नहीं थे। नैनीताल का शृंगार वहाँ का ताल है जो किसी भी पर्वतीय विलासपुरी में नहीं है। बस का अड्डा तल्ली (निचला) ताल में है। यहाँ भी बाजार है और बड़ा डाकखाना भी यहा है। कुलिया पर सामान उठवाकर तांगे को वहीं छोड़ते हम सड़क से आगे बढ़े। थोड़ी ही दूर आगे पहाड़ की ओर दूकान और होटल शुरू हो गए। यहा सिनेमा भी है। ताल के परले छोर का तल्ली (उपरली) ताल कहते हैं। होटल में पहुँचने से पहले डाक्टर साहब के ज्येष्ठ पुत्र श्री विश्वरंजन जी मिले। फिर डाक्टर साहब भी आए। सामान गोदाम में और हम दोनो रहने के कमरे में चले गए। बंगला किराये पर लेना था। डाक्टर साहब ने कहा, उसका मिलना मुश्किल नहीं होगा देखकर ले लेंगे। हम वहाँ ठहर गए। पहली ही नजर देखने पर हमने लिख मारा— निश्चय ही नैनीताल के सामने शिमला और दार्जिलिंग कुछ भी नहीं है।' लेकिन साथ ही यह भी लिखा है—'कमी है तो यही कि यह हिमालय के बाहरी क्षेत्र में है।' लेकिन इससे भी बड़ी कमियाँ नैनीताल की मालूम हुई—यहाँ आदमी को मालूम होता है कुएं में है, जिसके किनारे पहाड़ की दिवाल दीवार लगी हैं। इन दीवारों को ही देखा जा सकता है। हिमाच्छादित पवन-श्रेणियों को देखने के लिए सारी दीवार को फाँदना पड़ेगा। वर्षा और पानी के स्वच्छ होने की भी शिकायत की जाती है लेकिन मैं उसको नहीं मानता।

शाम को टहलने तल्ली ताल तक गए। रास्ते में ही ताल के सटी म्युनिसिपल ग्रादरेरी या जिसके पुस्तकाध्यक्ष हीरालाल जी चिर परिचित की तरह मिले और नैनीताल के निवास में वह हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार रहे।

११ मार्च को किराये का बंगला देखने गए। अंग्रेजों के जाने के बाद

इन विश्रामपुरियों पर साढ़े साती सनीचर का कोप है। नैनीताल में अंग्रेज किराये के बंगलों में रहते थे, जिन्हें भारतीयों ने अंग्रेजों के आराम की दृष्टि से ही बनाया था। जिन बंगलों को किराये पर चढ़े वर्षों हो गए, वह जीर्ण, गंदे, पुराने या टूटे फर्नीचर वाले हों, तो क्या ताज्जुब? अल्मा कॉटेज और ग्लेनमोर दो बंगले कुछ अच्छी हालत में थे, लेकिन उनमें आठ-आठ नौ-नौ कमरे थे, जिनकी सफाई के लिए एक अलग आदमी चाहिए। ग्लेनमोर बाजार से एक मील पर अवस्थित है। कमला को पसन्द आया। साढ़े छ हजार फुट की ऊँचाई पर ताल है और यह उससे भी एक हजार फुट ऊपर है। किराया एक हजार वार्षिक के करीब था। कौंसिल बुक डिपो के स्वामी श्री वंशीलाल जी भी हमारी सहायता के लिए हर वक्त तैयार थे। उन्होंने श्री रामलाल शाह की कोठियाँ दिखलाईं।

पूर्वाह्न में हमने उत्तरवाली कोठियों को देखा। शाम को साढ़े ४ बजे दक्षिणवाली कोठियों की ओर चले। फर्न कॉटेज, हर्न कॉटेज, डलहौजी कॉटेज और स्नोडन कॉटेज आदि कितने ही बंगले देखे। स्नोडन सबसे अधिक पसन्द आया। मालूम हुआ वह बिकने वाला भी है, लेकिन २० २२ हजार तक ही हो तब ही तो। किराया एक हजार तक पट जाने की उम्मीद थी। दक्षिणगिरि की कोठियाँ अपेक्षाकृत बेहतर अवस्था में थीं, इनके फर्नीचर भी बुरे नहीं थे। सीजन सिर पर था इसलिए डाक्टर साहब अपने होटल को तैयार करने में बड़े व्यस्त थे। पर दिखाने के लिए आदमी दे दिया।

१२ मार्च को उसके मालिक के साथ ग्लेनमोर बंगला देखने गए। अधिकांश बंगलों के मालिक कुमाऊँनी शाह लोग हैं। यह व्यवसायी बहुत कुछ नीचे के अग्रवाल बनियों से हैं। ग्लेनमोर बहुत बड़ा बंगला था, इसमें छ बड़े-बड़े कमरे थे। फर्नीचर भी था। हमने उसके गुण ही देखे, उसी पर मुग्ध होकर कह दिया, दो कमरे कल तैयार कर दिये जाएँ। किराया हजार ठीक हुआ, लेकिन शाहजी ने कहा, आदमी अच्छे रहेंगे, तो किराया कम देंगे। बंगला कई साल से किराए पर नहीं चला था, इसलिए बहुत मरम्मत

करनी थी। हमने कह दिया कि मरम्मत नहीं करेंगे, तो मरम्मत कराकर उसका पैसा इसी किराये में काट लेंगे। मालूम हुआ स्नोडन दो साल पहले ११ सौ रुपये पर उठा था, अब वह आठ-नौ सौ में जरूर मिल जाता। आजकल किराया आमतौर से गिरा हुआ था, लेकिन मेरा उतावलापन कहिए। ग्लेनमोर से फिर थोड़ा और चढ़कर पर्वत प्राकार के ऊपर पहुँचे जहाँ से हिमालय श्रेणी दिखलाई देती थी। इधर से पाँच मील पगडंडी से उतरकर भवाली से रानीखेत जानेवाली सड़क मिल जाती है।

३ मार्च को फिर बँगले की खोज में निकले। सबेरे स्नोडन गए। स्नोडन की दो मंजिला इमारत और उसके अच्छे साफ-सुथरे कमरे हमें बहुत पसन्द आए। चौकीदार को कह दिया कि मालिक से पूछो, यदि नौ सौ रुपया वार्षिक पर देना चाहें तो दे सकें। उधर हीरालालजी शाह को भी ग्लेनमोर के स्वामी के पास उतने ही किराए पर देने के लिए टेलीफोन करने को कहा। दोपहर बाद चन्दूलाल शाह के बंगले डल्हौसी विला, डलहौसी कॉटेज, हटन हाल और हटन कॉटेज देखने गए। हटन हाल बहुत बड़ा था और हजार रुपये में मिलने पर भी हमारे काम का नहीं था। डल्हौसी विला उतना ही बड़ा था जितना ग्लेनमोर। हाँ, उसमें कुछ अधिक साफ था। डलहौसी कॉटेज और हटन कॉटेज हमारे लायक थे। मेरा मन अधिकतर स्नोडन चाहता था और कमला ग्लेनमोर की तरफ आकर्षित थी। मेरे दिमाग में बँगला खरीदने का भी ख्याल चक्कर मार रहा था, समझता था यदि स्नोडन का दाम मालूम हो, तो उसे ले लेंगे। डाक्टर साहब ने भी कहा २०-२५ हजार में वह जरूर मिल जायगा।

ग्लेनमोर—१४ मार्च को तीन बँगलों का ऑफर आया, लेकिन सबसे पहले ग्लेनमोर में। १३ कुलियों के साथ हम २ बजे ग्लेनमोर पहुँचे। ६ बड़े-बड़े कमरे जरूर थे, लेकिन शीशे सबके टूटे हुए थे, चिटकनियों और टाँचों को खास तौर से तोड़ा गया था। शाम को जब सामान के लिए दरवाजा बन्द करने लगे, तब मालूम हुआ कि यहाँ तो सभी चीजें खुली हुई हैं और भीतर घुसने की सारी बाधाएँ दूर करके रखी गई हैं। फिर बाजार से यह बहुत

दूर करीब-करीब गिरि प्राकार के सिरे पर टगा हुआ है। यहां से उतरना-चढ़ना आसान नहीं था, और था बिल्कुल अरक्षित स्थान में। यहां से हम खिसके ही नहीं कि आसानी से सारी चीजें उठाई जा सकती थीं। रात भर इसी चिन्ता में अपनी जल्दबाजी पर अफसोस करते रहे।

ओक लाज—रात को ही बँगले को छोड़ जाने का निश्चय कर लिया। अभी एक ही रात रहे थे, और बँगले के बारे में लिखा पढ़ी नहीं हुई थी। तुरन्त दूसरी जगह जाने का प्रबन्ध करना पड़ा। चाय पीकर एक चिट्ठी श्री हीरालाल शाह को मकान के मालसामान हटाने के बारे में लिखी और स्वयं श्री बाँकेलाल कासल के पास पहुँचे। ओक लाज में पहुँचे। वह इस सारे बँगले के किरायदार थे, नीचे उनका परिवार रहता था ऊपर एक भाग में गुप्ताजी आवरसियर थे, और दूसरे भाग में दो कमरे और बराण्डा खाली था। रसोई खाने के लिए एक गुसलखाना काम दे सकता था। यद्यपि यहाँ स्थान की कमी थी और फर्नीचर भी बहुत कम था किन्तु पहले तो हम ग्लेनमोर से पिण्ड छुड़ाने की जल्दी थी। दूसरे यह भी सोचा कि यहां कासलजी का परिवार भी रहता है जिससे कमला को अनुकूलता होगी। चढ़ाई भी यहां से आधी थी। कम भी गुजारा करना है, यही सोच रहे थे।

लौट कर सामान उठवाने के लिए आए तो श्री हीरालालजी ने कहा आप मकान को किराए पर ले चुके हैं इसलिए किराया देना अनिवार्य होगा। मैंने कहा जब तक लिखा पढ़ी नहीं हुई तब तक कोई कानूनी बाध्यता नहीं। खैर वहाँ से सामान उठवाकर ओक लाज में चले आए। किताबों को खालें, तो रखें कहाँ पहले यही समस्या आई। कमरा में कोई आलमारी नहीं थी। रात ११ बजे तक कमला मकान को सजाने में लगी रही। शिवलाल को हमने रसोइया रक्खा जो खाना बनाना नहीं जानता था।

नए मकान में कम भी आदमी को कुछ अड़चन मालूम होना है। इस मकान के गुण के लिए यही कह सकते हैं कि ग्लेनमोर से निकलने के बाद इसने शरण दी। जब पुस्तकें लिखने में लगना था और कमला को इस साल

साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा अवश्य देनी थी। अगले दिन हमने छ बक्सा की पुस्तकें निकाल कर जहाँ तहाँ रख दी। अपन तो जस भी गुजारा कर सकते थे, लेकिन चिन्ता थी मेहमानो के खान पर क्या किया जायेगा। जो भी हो, अब ननीताल म १६ जून तक के लिए हम ओक लाज के हो गए।

१७ तारीख स हमने अपना काम भी शुरू कर दिया। कमला घटे म डेढ पृष्ठ पुस्तकेप टाइप कर सकती थी जो थोडे से अभ्यास स दो हो सकत थे। चाय पीकर ६ बजे से १ बजे तक हमन टाइप करन का काम रखा। किराया पूछन पर साल भर का छ सौ रुपया था जिसका आधा अभी दना था। बगले का किसी चीज की मरम्मत करान म यह असमथ थे क्याकि मकान मालिक उसक लिए कुछ खच करना नही चाहता था। नए मकान मे अडचनें थी, जो मरे उतावलेपन का दण्ड था। यदि डाक्टर साहब की बात को मान कर कुछ दिन और होटल म रह मकाना को अच्छी तरह देखभाल कर के पसन्द करता, तो इसस कम म अच्छा बँगला मिल जाता।

डा० केसरवानी उस वक्त भवाली टी० बी० सनिटोरियम के अध्यक्ष थे। कराची-काग्रेस के समय उनस मरी भेंट हुई थी। गुरुकुल कागडी क आयुर्वेद के स्नातक थे। पीछे इटली मे एलोपथि क एम० डी० हुए, और जमनी म भी चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा पाई। लडाई के दिना म जमनी मे रहे और जमन सेनाओ क साथ रूस के भीतर तक पहुँच। उन्होन रविवार (१६ माच) का अपन यहाँ बुलाया था।

इस समय खान की चीजा का तगी थी। ननीताल म यह सुभीता था कि यहाँ आयी रानियाँ थी इसलिए कुछ राशन काड से और कुछ बिना राशन क चीजें मिल जाती थी। राशनकाड आसानी स बन गया जिसके बल पर तीन रुपए म तीन सेर आटा और दो सेर चीनी लाए। डा० सत्य केतु क पास गए। भारतीय इतिहास क गम्भीर विद्वान्, गुरुकुल कागडी क स्नातक और पेरिस युनिवर्सिटी क डी० लिट० होकर उन्होंने सोचा था, यहीं पढ़ने पढ़ाने का काम करेंगे। पर लडाई ने रहे-सहे प्रयत्न का भी विफल

कर लिया। वह और उनकी विदुषी पत्नी सुशीला देवी शास्त्री दिल्ली में बच्चों का स्कूल खोले हुए थे, जिसे बन्द करना पड़ा। फिर जीवन-यात्रा के लिए तो कोई वसीला ढूढ़ना ही था। प्रोफेसर डाक्टर और होटल-कीपर में बहुत अन्तर है। लेकिन, इस अन्तर को देखने के लिए जो तयार है वह संसार में कभी सफल नहीं हो सकते। उन्होंने मसूरी में लक्समौट में एक होटल खोला। लड़ाई के दिनों में होटलों के लिए परिस्थिति बड़ी अनुकूल थी। कुछ कमाया, फिर बड़े स्वप्न देखने लगे। नैनीताल का सबसे बड़ा यह होटल किराए पर लगने वाला था। पहले किसी अंग्रेज का था जिससे अवध के तालुकदार राजा महमूदाबाद ने खरीद लिया था। डाक्टर साहब ने होटल को लेकर चलाने का निश्चय किया। बहुत बड़ा कारबार था लेकिन अब लड़ाई खतम हुए पाँच साल हो गए थे और होटलों की हालत बदतर हो गई थी। वह अब इससे पिण्ड छुड़ा मसूरी के लक्समौट में ही जाकर रहना चाहते थे जो अब भी उनके हाथ में था। इन सब बातों पर विचार करने पर मेरे मन में ख्याल आने लगा मैं भी क्यों न मसूरी चला चलूं। डाक्टर साहब ने कहा कि वहाँ पर दाम या किराये पर अच्छी कोठियों के मिलने में दिक्कत नहीं होगी। महाराज युद्ध शमशेर की ५० हजार की कोठी बिकाऊ है, जो शायद आधे दाम में मिल जाए। डाक्टर साहब २४ मार्च तक यहाँ से मसूरी चल जाने वाले थे। अव्यावहारिकता तो मेरे में होनी ही चाहिए क्योंकि मारे जीवन व्यवहार के पथ का अनुसरण नहीं किया सोचने लगा दो तीन महीनों में रुपयों का प्रबन्ध करके उम ले लेंगे। मसूरी भी बुरा नहीं है वहाँ किन्नर के नजदीक भी पहुँच जाएंगे।

आज की डाक में श्री प्रेमराज का पत्र मिला। मैंने अपने 'किन्नर देश में' में सराहन के बँगले में उनके मेरे नाम से जवाब देने की भी पुस्तक न होने का निवेदन लिखा था। उन्होंने बड़े शोभन शब्दों में गलती मानते हुए लिखा था कि उस दिन सराहन के बँगले में जिस पत्नी से मुलाकात हुई थी वह कोई इंजीनियर साहब थे। वह इतनी बंगाली हिन्दी नहीं थे इसलिए इस बात को कैसे मान सकता था? मैंने सोचा अगर मेरे मित्र

हो तो मन्दिर स्वावलम्बी हो सकता है। लेकिन, फिर आज के मकान पर्याप्त नहीं होंगे।

हमारे निवास में मालिक से मरम्मत कराने की आशा नहीं थी और टूटे हुए शीशों से सर्दी और हवा भीतर पहुँच रही थी, इसलिए उन्हें अपने ही लगवाया। २६ मार्च को कुछ घण्टों तक बजरी पड़ती रही। ओला बर्फ जैसा कठोर होता है और नरम पिलपिले ओले को बजरी कहते हैं, जिसके गिरने पर टीन की छत भड़भड़ाती नहीं और आदमी की खोपड़ी पर चोट नहीं पहुँचती। सर्द स्थानों में टेम्परेचर गिरने के साथ बरसता पानी बजरी के रूप में परिणत होता है और कुछ सर्दी और बढ़ने पर वह हिम बन जाता है, अधिक सर्दी होने पर कणों के रूप में नहीं, बल्कि रूई के बड़े बड़े फाहों के रूप में हिम हवा में तैरते हुए गिरने लगता है।

कमला असाधारण दुबली थी। सिर्फ ९२ पौण्ड वजन था, फिर सिरदर्द पेटदर्द और दूसरी तरह की शिकायतें क्यों न होतीं? यहाँ के सरकारी अस्पताल के डा० मल्होत्रा ने रोंतगन कराने को कहा। दूसरे देशों में एक्सरे को उसके आविष्कारक जर्मन विद्वान् के रोंतगेन नाम से पुकारा जाता है, लेकिन अंग्रेज जर्मन नाम क्या पसन्द करने लगे? उन्हीं का दिया नाम एक्स रे हमारे यहाँ चलता है। रोंतगन करवाया, डाक्टर ने और परीक्षा की और बतलाया, कमला का रक्तभाव कम है, विटामिन की आवश्यकता है, जिसके लिए सलाद, टमाटर और कलेजा खानी चाहिए। लेकिन, कमला सलाद और टमाटर के खिलाफ है। मैंने झुंझला कर कहा—'कमला की औंधी खोपड़ी इसे माने तब ना। जीभ औषध ग्रहण करने में रुकावट डाल रही है।' कमला का वजन ठीक होने में बहुत समय लगा, और वजन ठीक होने पर शिकायतें कम हो गईं, यह स्वाभाविक था। २४ अप्रैल को फिर डा० मल्होत्रा और सिविल सर्जन ने कमला को देखा। सिराजाल की गोलियाँ और एक टानिक पीने के लिए कहा। शाम को भोजन के बाद टानिक खाने पर कै हो गई। इधर वजन सौ पौण्ड तक पहुँचा

करता था जिसके कारण पढ़ने लिखने में अड़चन थी। सलाद मुश्किल से कुछ खा लेती, लेकिन टमाटर की तरफ उनका देखने का भी मन नहीं करता था। खाने के बारे में जबर्दस्ती करना अच्छा भी नहीं, क्योंकि उसमें कै हो जाने का डर था। आधाशीशी का कारण चश्मे की जरूरत भी हो सकती थी। डा० मायादास ने देखकर परीक्षा करके चश्मा दिलवाया। डा० मायादास नैनीताल की विभूति थे। वह दार्शनिक डाक्टर थे, रोगी की चिकित्सा करना, हर तरह से उसकी दिलजोई करना वह अपना परम कर्तव्य समझते थे। मस्तमौला तो ऐसे कि पीठ पर झोला रखे मीलों घूमने चले जाते थे। रास्ते में मिलने पर कोई कह नहीं सकता कि यह एक सिद्ध-हस्त डाक्टर हैं।

दिल्ली से खबर मिली कि वहाँ शिक्षा मंत्री ने भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्धी परिषद् स्थापित की है जिसके २६ सदस्यों में मेरा भी नाम है। वहाँ मैंने डा० काणे, कृष्णस्वामी अय्यंगर, तारापोरवाला, आर० सी० मजूमदार जैसे नामों का अभाव देखा और एक तिहाई से अधिक इस्लामिक संस्कृति के प्रतिनिधियों को पाया। यह बुरा नहीं था, पर शिक्षा मंत्रालय से भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में इससे अधिक आशा ही क्या हो सकती थी?

पश्चिमी पाकिस्तान में एक बार जोर का तूफान आया, और उसके बाद हिन्दुओं मुसलमानों का खून में लथपथ इधर से उधर जाना आना फिर खतम हो गया। लेकिन, पूर्वी बंगाल में हिन्दुओं पर विपदा हर रोज बरस आ रही थी। हिन्दुओं के लिए वहाँ निश्चिंत और सम्मान-पूर्वक रहना मुश्किल-सा हो रहा था, इसलिए वह बड़ी भारी संख्या में अपने घरों को छोड़कर पश्चिमी बंगाल में आ रहे थे—यह सिलसिला आज (२८ फरवरी १९५६) भी जारी है।

डा० भट्ट के लिए अब एक दूसरी चिन्ता होने लगी। असनताए बाले हैं और रतन में अपने को असमर्थ बतला रहे थे। उनका यहाँ प्रबन्ध किया जाए, यह एक बड़ी समस्या थी। श्रद्धेय टण्डनजी ने भी इसके लिए

प्रयत्न किया और उसके परिणामस्वरूप भट्टजी को निकालकर सड़क पर नहीं फेंक दिया गया।

अभी मैं नैनीताल ही में था, लेकिन लखनऊ के "पायनियर" में छप गया था कि मैं मसूरी में बसने जा रहा हूँ। उस समय यह अभी भविष्य वाणी सी ही थी। रसोइये की बड़ी दिक्कत थी। ४ अप्रैल को एक नये रसोइये बिसुनसिंह को रखा। असल में मई जून में जब सीजन शुरू होता है तभी पहाड़ के भिन्न भिन्न स्थानों से काम करने वाले लोग विलासपुरियों में पहुँचते हैं। हम समय से पहले चले आए थे, इसलिए अभी न अच्छे रसोइये मिल सकते थे न मकानों के प्रबंधक एजेंट या स्वामी यहाँ मौजूद थे।

हिन्दी कौरवी भाषा का साहित्यिक रूप है। कुरुक्षेत्र मुख्यतः गंगा और जमुना के बीच उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में आधे बुलन्दशहर जिले तक फैला था। जमुना के पश्चिम आजकल का हरियाना उस समय कुरुजांगल नाम से पुकारा जाता था। यहाँ पर आबाद जंगल अधिक थे, जहाँ पर गुरुओं के पशु अधिकतर चरा करते थे। कुरु और कुरु-जांगल अथवा मेरठ कमिश्नरी का तथी भाषाभाषी भाग और हरियाना की बोली एक ही है। वैसे तो चार चार कोस पर भाषा में कुछ अन्तर आ जाता है। पश्चिमी हरियाना में ण और ळ है कि जहाँ और जगह न कौरव, है वाले हैं वहाँ पश्चिमी हरियाना वाले में बस्ते हैं। इसी तरह हूँ भी सूँ हो जाता है। लेकिन इस हल्के अन्तर से भाषा को भिन्न नहीं कहा जा सकता है। गुजराती में भी ह से का अन्तर उसके पश्चिमी और पूर्वी रूपों में मिलता है और साहित्यिक गुजराती ह को नहीं स्वीकार करती है—हारा-सारा, होरा सोरा। किसी भी साहित्यिक भाषा के लिए अपनी मातृ भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना अत्यावश्यक है। इसके बिना वह प्रवाह हीन नदी की छाड़न बन जाती है। मैं वर्षों से जान कौरव मित्रों को प्रेरित करता रहा कि कौरवी के लोक-गीतों लोक कथाओं और दूसरे नमूनों को जमा करना चाहिए। इधर कितने ही तरुण तरुणी इस काम में लग गए हैं, लेकिन नैनीताल के मेरे निवास के समय

अभी बसा करते लाग नही मिले थे। आकलाज क कोठे क एक भाग म आवरसियर श्री शीतलप्रसाद गुप्त रहते थे। उनकी सौतेली मा रामन माई ८० वर्ष की बुढ़िया उनके साथ थी। रामन माई मुजफ्फरनगर जिले म पैदा हुई, और मेरठ जिले क मवाना तहसील के एक गाँव म ब्याही गई। जन्मभर अनपढ़ और गाँव की रहने वाली रही, बहुत चुप रहने वाली नहीं। पुरानी बातो के संग्रह क लिए सहायता करने के वास्ते वह आदर्श थी। मुझे ख्याल आया कि रामन माई स गीता और कहानियो का क्यो न इकट्ठा करूँ। अब उनसे काफी परिचय हो गया था, और कमला पर तो उनका बहुत वात्सल्य था। आते ही पूछती—"कमलरानी रोटी-रोटी कर ली? कौरवी क इन मधुर शब्दो को सुन कर भारी आकर्षण हुआ। उनके पडोस म रहते तीन हफ्ते हो गए थे, इसलिए सकोच की बात नही थी। मेरे कहने पर रामन माई ने अपनी याद कहानियो और गीतो को लिखाना स्वीकार कर दिया। दोपहर के भोजन क बाद मैंने एक कहानी लिखने का निश्चय किया और पहली कहानी ४ अप्रैल को लिखी गई। कुछ ही दिन बाद तो मेरी ही तरह रामन माई को भी अपनी कहानियो को लिखा देने की धुन हो गई। पहुँचने मे जरा भी देर होने पर आकर पूछती—"क्या आज कहानी नहा लिखाणी है?" आगे तो मैंने एक एक दिन म तीन-तीन कहानियाँ लिखी। यद्यपि रामन माई के बुढ़ापे की स्मृति क कारण कितनी कहानियाँ और गीतें पूरी नही थी, और सभी कहानियाँ साहित्य की दृष्टि से बहुत ऊँची नहीं थी, तो भी विशेषता यह थी कि य सभी कहानियाँ एक व्यक्ति के मुँह से निकली थी एक ही भाषा म थी, जो आज स ७० वर्ष पहले जैसी बोली जाती थी, उस रूप म थी। रामन माई क पुत्र तो कुछ इन पसन्द भी करते थ, लेकिन उनकी पत्नी हेमलताजी गवार नहीं शिक्षिता तरुणी थी। वह शब्दो क गँवारू भद्दे उच्चारण को पसन्द नहीं करती थी। सोचती होगी, यह तो हमारे परिवार के संस्कृतिहीन होने का निशानी है। लेकिन रामन माई को अपनी बहू की इस रुख की कोई परवाह नहीं थी। य कहानियाँ और गीत उसी साल आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत'

ताल का पता नपाल से कुमाऊँ छीनने (१८१४) के बाद पाया। फिर यहाँ बगले बनने लगे, तथा धीरे धीरे ननीताल प्रदेश की ग्रीष्म राजधानी बन गया। २३ अप्रल का सर्वोच्च शिखर पर जाने की हमारी सलाह हुई। ननीताल जानेवाले पिकनिक के लिए एकाध बार वहाँ जरूर आते हैं। सडक से कितनी ही दूर जा गिरिमेखला के डाँडे को पार कर पगडण्डी पकड ऊपर शिखर पर पहुचे। एक पत्थर पर सामने दिखाई देनेवाले हिमाच्छादित शिखरों के नाम लिखे हुए थे, जो रेखा की सीध म देखने से सामने दिखलाई पड़ते थ। आज हमारे दुर्भाग्य से अधिकतर शिखर बादल से ढके थे। बदरीनाथ से जमुनोत्री (बन्दरपूछ) तक के शिखर ही नही देख सकते बल्कि पूव म नपाल के शिखर भी सामने पडते हैं। हम ६ आदमी थ। रास्ते भर कुतूहल और विनोद होता गया। यहाँ बठकर वनभोज हुआ। सामने नीचे की ओर ताल म नावो को दौडते और आग मदानी भूमि दखते रहे। सवा ६ बजे वहा स लौटे। दूसरे रास्ते से जो केमल बैक (ऊट शिखर) की ओर स होकर आता है। चीना चुंगी तक हम सडक मिली। अब सूय भी डूब गया और हमारे साथियो न पगडण्डी पकड ली, जिसम कितनी जगह सीधी खडी उतराई उतरनी थी। ऐसी जगह यदि पैर काँपने लगे तो दाप क्या? जब सडक पर पहुँचे तो जान म जान आई। अंधेरा हो जाने पर ८ बजे घर लौटे।

१ मई को श्री परमानन्दजी ने १० हजार रुपये का चेक भेज दिया, अर्थात् अब मकान खरीदने की ओर लुढकने का आधा सामान तयार हो गया। नामताल भी ननीताल जिले म एक सुन्दर स्थान है। वहा एक बगले के बिकाऊ होने की बात सुनी। अधिक पता लगाने पर मालूम हुआ कि कोई साहब आठ हजार म खरीदकर उसे १५ हजार म बचना चाहते हैं। हम रामगढ देख चुके थे इसलिए ऐसे स्थान म जाने के लिए तैयार नही थे, जहाँ बिजली-पानी का प्रबन्ध न हो। चन्द्रकान्तजी कुल्लू से लिख रहे थे कि मनाली म सेवा के बाग के साथ एक बहुत अच्छा बगला बिक रहा है। मनाली की सुषमा मेरे लिए आकषक हो सकती थी, लेकिन बगला उसके

भी लगा हुआ था, पर अब उसकी आशा खतम हो गई। मई के मध्य में पहुँचते-पहुँचते नैनीताल का सीजन पूरी तरह से शुरू हो गया। सलानी चारों तरफ दिखाई पडते। सभी दूकानें खुल गई थीं। शाम को ताल के किनार के राजपथ पर सैलानियों की भीड़ रहती। पजाबी ललनायें फैशन में सबका कान काट रही थीं। नैनीताल उनके शृंगार के लिए मनो अंगर-राग और काजल खर्च कर रहा था। लोग दिन में भिन्न भिन्न स्थानों में पिकनिक करने जाया करते थे।

२१ मई इतवार का दिन था। हमने भी पिकनिक के लिए डारोथी सीट की ओर प्रस्थान किया। बाबूलालजी सपरिवार, गुप्ताजी सपरिवार, हम दोनों और माचवेजी सभी चले। पकवान घर से बनाकर ले गए। चाय पीकर गए थे पर कलकत्ते के मित्र श्री मदनलाल टाटिया मिल गए उन्होंने चाय पिलाई। १० बजे चढ़ाई चढ़ते डारोथी सीट पर पहुँचे। यहाँ से नैनी-ताल और आसपास के पर्वतों का सुन्दर दृश्य सामने आता है। किसी अंग्रेज ने अपनी पत्नी डारोथी के नाम पर यहाँ सीमेंट का एक चबूतरा बना दिया था जिस पर खड़े होकर लोग परिदर्शन करते। हरे हरे वृक्षों की छाया में हमारी एक दर्जन से अधिक पुरुषों और महिलाओं की मण्डली भोजन के लिए बैठी। सबने कुछ कुछ सामान और कुछ विशेष पक्वान तैयार किए थे। बैठकर खाने में बड़ा आनन्द आ रहा था। हमारी कोशिश थी कि यह आनन्द जल्दी समाप्त न हो जाए। काफी चढ़ाई चढ़कर आए थे इस-लिए विश्राम लेने में भी एक विशेष खुशी मालूम होती थी। बहुत देर बाद वहाँ से चलकर एक देवदारों से घिरी थोड़ी-सी खुली जगह में पहुँचे। यहाँ भी कुछ फलाहार हुआ। फिर हरे हरे वृक्षों के भीतर से चलते हम घर लौटे। मुझे इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि रामन भाई को टाटियाजी के बगल पर ही छोड़ दिया गया। उनको चढ़ाई चढ़ना शायद मुश्किल होता और डाँडी पर चलने के लिए वह तैयार नहीं हुई इसलिए और कोई चारा नहीं था। बिहारीलालजी शायद पहाड़ी हैं। वह आयरपाटा (दक्षिणा गिरि-मंगला) की एक दुर्गम चाटी टिफिन टाप पर हम ले गए जहाँ से हम में से

चढ़ने का उतरने में बड़ी मुश्किल मालूम हुई। कमला का एक जगह पैर रपट गया, इसलिए उन्हें डाँडी पर भेजना पड़ा। बाजार में आकर शरदजी के भी पैर उठने मुश्किल हो रहे थे, इसलिए उन्हें भी डाँडी का सहारा लेना पड़ा। सभी लौटने पर थकावट से चूर चूर थे, लेकिन दिन बहुत अच्छा कटा, इसे सभी मानते थे।

२३ मई को मन्मथगुप्तजी के पत्र से मालूम हुआ कि भट्टजी अस्पताल छोड़कर बिना सूचित किए दूसरी जगह चले गए, जहाँ दस रुपये प्रतिदिन खर्च लग रहा है। कुछ रुपये उनके पास थे, लेकिन वह कितने दिनों चलते? उसी दिन हमने सम्मेलन का हिसाब करके बाकी रुपया भेज दिया और अब एक तरह काम से हाथ खींच लिया।

मवाली—कुमाऊँ लिखने की धुन थी। लेकिन हिमालय के किसी भूभाग का परिचय अधूरा ही रहता है, यदि उसमें अपनी की हुई यात्रा का भी कुछ वर्णन न हो। माचवेजी भी तैयार हो गए। हमने निश्चय किया, कुमाऊँ के कुछ स्थानों को देखा जाए। डा० कसरवानी कितनी ही बार मिलकर और पत्र से भी भवाली आने के लिए लिख चुके थे। २४ मई को भोजन करके १० बजे हम तल्ला ताल के मोटर-अड्डे पर पहुँचे। साढ़े ११ बजे भवाली की बस मिली और १२ बजे सेनीटोरियम पहुँच गए। डा० धर्मानन्द कसरवानी अपने आफिस में थे। अपने बँगले पर ले गए, जो ६३०० फुट की ऊँचाई पर था। पहले यह रामपुर-नवाब की सम्पत्ति थी। यहाँ जल्दस्वर बाबू (छपरा) को देखकर और भी प्रसन्नता हुई। वह वकालत छोड़कर कितने ही दिनों से भारत सरकार के श्रम-परामर्शक (लेबर एडवाइजर) थे। छपरा में हम राजनीतिक-सहकर्मी थे। दिल्ली में भी उनसे एक बार मुलाकात हो चुकी थी। वह अपने काम से संतुष्ट नहीं थे। उनसे कम योग्यतावाले लोग हाईकोर्ट के जज बन गए थे, इसलिए भी उनका मन नहीं लगता था। घनिष्ठ मित्र होने के कारण मेरी भी उन्होंने सलाह माँगी और मैंने भी इस पद को छोड़ने की ही राय दी। डा० कसरवानी गुरुकुल के स्नातक होने से हिन्दी और संस्कृत के विद्वान और प्रेमी थे,

इसलिए परिभाषा के काम में उनकी रुचि ज्यादा हो, यह स्वाभाविक था। उनकी पत्नी जो महाराष्ट्र तरुणी हैं, भी मौजूद थीं। लिखना तो चाहते थे, लेकिन समय की दिक्कत बतला रहे थे। मैंने कहा, किसीको रखकर डिक्टेट कराइए।

भवाली की पहाड़ियाँ चीड़ के जंगल से ढँकी हैं। टी० बी० के लिए चीड़ की हवा अच्छी समझी जाती है, इसलिए उसके जंगल को और भी प्रोत्साहन मिला है। शाम को टहलने के लिए डाक्टर साहब हमें बगल में उस तरफ ले चले, जहाँ से नल का पानी आता है। जलेश्वर बाबू भी हमारे साथ थे। रास्ता क्या पगडण्डी भी उसे मुश्किल से कह सकते थे। उस रास्ते चलना मेरे लिए भी मुश्किल था, पर जलेश्वर बाबू तो बहुत पछताने लगे। डा० केसरवानी की पत्नी की सखी कुमारी स्मृति सान्याल भी इस समय अपनी रुग्ण माता को लेकर यहाँ आई हुई थीं, वह भी हमारे साथ थीं। उस मुश्किल की स्थिति में उन्होंने अपने मधुर कंठ से कुछ गीत सुनाकर हमें संतोष प्रदान किया। भवाली में दो सौ एकड़ से अधिक भूमि सेनिटोरियम के पास है और २४० रोगी रहते हैं। इसका आरम्भ १९१२ में हुआ था। मकानों की कमी है, इसलिए और रोगियों को लिया नहीं जा सकता। डा० केसरवानी जर्मनी के बड़े-बड़े अस्पतालों और बड़े-बड़े डाक्टरों के सम्पर्क में रह चुके थे, चाहते थे काम को कुछ आगे बढ़ाएँ। लेकिन उनकी टाँग पकड़-कर खींचने वाले लोग अधिक थे। उनका खरा स्वभाव भी बाधक था। पीछे जो लोग उनके सामने इस ऊँचे पद को पाने में असफल रहे, वे मौके की ताक में पड़े हुए थे। पहाड़ी अपहाड़ी, जात पाँत, झूठ सच सभी उपायों से वे उन्हें नीचा गिराना चाहते थे। मेरे नैनीताल आने के बाद वे अपने उद्देश्य में सफल हुए, और डा० केसरवानी को भवाली से दूसरी जगह बदल कर मातहत के पद पर रख दिया गया। इतने ही से संतोष नहीं हुआ, बल्कि निर्दयता की हद पर डाक्टरों की सभा ने इनका नाम सदस्यता से यह कहकर खारिज कर दिया कि वह गुरुकुल के आयुर्वेद स्नातक हैं, एलोपेथी डाक्टर नहीं। डा० केसरवानी ने इसके लिए मुकदमा किया, और वह

गेत गए। राम युनिवर्सिटी के वह एम० डी० थे, और जर्मनी में बड़े ऊँचे द पर रहकर डाक्टर का काम कर चुके थे। हा वह जितना काम कर रखने थे, उसके लिए रास्ता बन्द हो गया।

२५ मई को डा० केसरवानी ने अपना शल्यगृह और मजरा की चीज दिखलाइ। कुछ रोगियों को देखने में भी हम गए। स्त्री रोगियों की भी कोठरियाँ को देखा। उन्होंने हृदय के ऑपरेशन किये थे, वह भी देखे। हृदय का आपरेशन आसान काम नहीं है।

अल्मोड़ा—उसी दिन १० बजे हम बाजार में मोटर के अड्डे पर पहुँच गये। आठ रुपये में अल्मोड़ा के दो टिकट लिए। बड़ी गर्मी मालूम हो रही थी। बड़ी-बड़ी खूबानियाँ देखकर मुह में पानी आने लगा। हमने खा खाया और माचवेजी ने भी। बस आगे चली। ड्राइवर के पास वाली सीटी से लोगों ने कै करना शुरू किया। एक के बाद एक पूरी पाँती लुट गई। फिर दूसरी पाँती की भी वही हालत हुई। हमारी पाली आड़े-बड़े दा री। माचवेजी सामने की सीट पर थे, जिसमें भी महामारी पहुँची। एक र बार एक और लुढ़क गए। माचवेजी ने बड़ी हिम्मत की, लेकिन आखिर च नहीं पाये। उस दिन तो इतना हो रहा। उसके बाद तो खूबानियों में उनको चिढ़ हो गई। नैनीताल में शरद जी यदि दो खूबानी सामने रख देती, तो यह माचवेजी का पारा गरम करने के लिए काफी थी। वह समझते थे मारे चिढ़ाने के लिए कर रही हैं।

रानी खेत रास्ते में पड़ा, लेकिन उसे हम लौटने के लिए छोड़ गये। गाग एक जगह सड़क का मोड़ था। एक-दूसरे को बिना देखे आमने-सामने लॉरें आईं, और ड्राइवरों का जैसा स्वभाव है, हॉर्न देने की जरूरत नहीं समझा। उस दिन दोनों के भिड़ जाने में कोई कसर नहीं रह गई थी, लेकिन अन्त में मडगार्ड पहाड़ में धँस गया। ड्राइवर ने कर किसी तरह से रोका और हम बाल-बाल बचकर आगे चले। ५ बजे अल्मोड़ा पहुँचे, समस्त होटल में ठहरे। नाम न करिए, यहाँ यह बिल्कुल मामूली तरह का साजो सामान वाला मजदूर होटल था। आजकल अल्मोड़ा जो भी यहाँ

ठहरे थे। उनसे मुलाकात हुई। हरिश्चन्द्र जोशी प्रो० पाडे और कुछ और मित्रो को लेकर हम घूमने निकले। सुन्दरी मन्दिर मे विष्णु की सुन्दर मूर्ति थी जो गुजर प्रतिहार या कत्चुरी काल की हो सकती है अर्थात् अल्मोडा नवीन स्थान नही है।

अगले दिन (२६ मई को) सारा दिन घूमने म ही लगाया। सवेरे नना दवी गए जिसे राजा दीपचन्द ने बनवाया था। त्रिपुर सुन्दरी मन्दिर म कई खण्डित किन्तु अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ थी। पुजारी से आज्ञा लेकर मूर्तियो को बाहर निकाल फोटो लेने का प्रयत्न बिल्कुल बेवकूफी है। एस स्थानो के लिए गोली भर कर बन्दूक तयार रखे, और इतनी फुर्ती स दागे कि जब तक किसी को खबर लगे तब तक काम बन जाए। मैं इसी नीति का मानने वाला हूँ। फोटो के लिए उन खण्डित मूर्तियो को बाहर निकाला। बुढ़िया पुजारी स डर लग रहा था। लेकिन जब उसे मालूम हुआ कि हम फोटो ले रहे हैं तो वह भी पट्टिन ओढकर पास म बठ गई। वहाँ से हम लक्ष्मीदत्त जोशी (सेठजी) के पास गये। वह सास्कृतिक वस्तुओ के बडे प्रेमी थे। हस्तलिखित पुस्तक तथा दूसरी कितनी ही चीजे सग्रह करके रखे हुए थे। दोपहर के भोजन के बाद कुछ क्षण विश्राम करने के लिए लेट गए। ३ बजे फिर चले। हरीश जोशी वकील के यहाँ एक छोटी-सी साहित्यिक गोष्ठी थी। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त यशपाल मैं और कुछ स्थानीय साहित्यकार वहाँ आये थे। भाषा के बारे म मैंने भी अपनी राय देते कहा कि प्रादेशिक भाषाओ को अपने प्रदेशो म सर्वेसर्वा रखते हुए भी सार देश की एक सम्मिलित भाषा की हम अनिवार्य आवश्यकता है यदि हम हिन्दी को यह स्थान नही देंगे, तो अग्रेजी स हमारा पिण्ड नही छूट सकता।

कटारमल—कुमाऊँ के सबसे पुराने मन्दिरो म कटारमल भी है। यह नाम पडने का कारण क्या है इसे नहा कहा जा सकता। पर यह सूय का मन्दिर था। जो बतलाता था, यह गुजर प्रतिहार काल से भी पहले का हो सकता है। सूय की बूटधारी प्रतिमाएँ शको के साथ भारत म आकर स्थापित हुइ। साढ़े सात बजे की बस से चलकर नीचे कोसी नदी के किनारे

की एक दूकान में हमने अपना सामान रख दिया और फिर मन्दिर की ओर चल पड़े। पहले गाँव मिला, जिसमें ८०-९० परिवार रहते थे। नायक, खस (राजपूत), ब्राह्मण और शिल्पकार (हरिजन) सभी थे। मन्दिर के पुजारी खस थे, जिन्होंने देखने में मदद दी। मन्दिर भग्नावस्था में था। बहुत-सी मूर्तियाँ थीं, जो अधिक सुन्दर रही होंगी, जिन्हें अंग्रेज सैलानी या कपुरिया व्यापारी उठा ले गये होंगे, इसमें सन्देह नहीं। उसका तीन चार सौ साल पुराना नक्काशी वाला काठ का दरवाजा किसी म्यूजियम में सुर-क्षित रखने लायक था। सूर्य की बूटधारी तीन मूर्तियाँ थीं। शिव और विष्णु की भी मूर्तियाँ थीं। मन्दिर के जगमोहन के सामने के खम्भे पर कुटिल अक्षर में तीन पंक्तियों का लेख था, जिसमें 'मल्लदेव' साफ पढ़ा जाता था। मल या मल्ल पीछे के कत्यूरियों की भी उपाधि मिलती है। चन्द वंश से पहले के किसी राजा ने इस मन्दिर को बनवाया होगा। शिखर का एक तिहाई भाग गिर चुका था। इस प्राचीन मन्दिर के नष्ट भ्रष्ट करने का अप-राध १७४३ ई० के करीब रुहेलों ने किया। वे धातु की मूर्तियों को गला कर दरब बनाने के लिए अपने साथ लिए चलते थे, इसीलिए धातु की मूर्तियाँ मन्दिरों में नहीं मिलतीं। पत्थर की मूर्तियाँ किसी काम की नहीं थीं, इसलिए उन्हें भग्न करके छोड़ देते थे। एक घर के पास पहुँचकर मैं पुजारी से पूछ रहा था, नायक लोगों के घर कहाँ हैं। पुजारी ने चुप चुप रहने के लिए कहा और पीछे बतलाया कि ये घर नायक लोगों के हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के गन्धर्व लोगों की तरह यहाँ के नायक लोग खानदानी वेश्यावृत्ति का पेशा करते रहे, या करने के लिए मजबूर थे। उनकी लड़कियाँ यहाँ या नीचे देश में इसके लिए चली जाती थीं। वर्तमान शताब्दी में उनके सुधार के लिए बड़ा आन्दोलन हुआ, जिसने इस प्रथा को खतम कर दिया। अब तो वे नायक नाम भी सुनना नहीं चाहते।

मुख्य मन्दिर के पीछे के मन्दिर में एक जगह पत्थर पर खुदा हुआ था 'जंगम राउर जाणी जाण राउर जाणा।' जंगम पाशुपत (शैव) को कहते थे, जो अब उत्तर भारत से नष्ट हो चुके हैं, और केवल दक्षिण में कर्नाटक,

तमिलनाड में वीर शैव के नाम से मौजूद है। दक्षिण के शैवों ने ही बनारस में जंगमबाड़ी के नाम से अपना प्राचीन मठ कायम कर रखा है। पहाड़ में पाशुपत धर्म सबसे पीछे तक रहा यह इस अभिलेख से भी पता लग रहा था।

किन्नर देश में मैंने पुराने काल की कब्रों और चीजों को देखा था और जानता था कि उस समय लोग मुर्दों को शराब की कुपियों और भोजन भरे बरतन के साथ कब्रों में दफनाते थे। मैं समझता था यह प्रथा सारे हिमालय में होनी चाहिए। अल्मोड़ा से बस में आते समय एक सज्जन ने बतलाया कि रानीखेत के पास हमारे गाँवों में भी ऐसी कब्रें निकलती हैं जिन्हें लोग मुसलमानों की कब्रें बतलाते हैं। चूंकि उनमें खाने पीने के बरतन निकलते हैं इसलिए ये मुसलमानों की कब्रें नहीं हैं यह निश्चित था। कटारमल देखकर कोसी के किनारे अपना सामान लेकर मोटर से बैजनाथ की ओर जाने के लिए आये। दोपहर हो गया था। भोजन किया और बस पर रवाना हुए। श्री हरीश जोशी ने सीट अलमोड़ा से ही रिजर्व करा कर हमारे लिए रखे थे नहीं तो पर्वों में बस में जगह मिलनी मुश्किल होती। दोनों तरफ के पहाड़ चीड़ के दरख्तों से ढंके थे। कहीं-कहीं खाली जगह या खेत भी मिलते थे। सोमेश्वर काफी बड़ा बाजार है यहाँ एक पुराना मन्दिर भी है। वहाँ से आगे चलकर कौसानी पहुँचे। कविवर पन्त जिस घर में पैदा हुए थे उस घर को भी देखा। कौसानी सुंदर और ठण्डी जगह है। जंगलों में अधिकतर चीड़ के दरख्त हैं। कौसानी के डाँडे पर पहुँचकर सामने हिमालय श्रेणी दिखाई पड़ी फिर बस नीचे उतरने लगी। घुम घुमौवा रास्ते से ६ बजे हम गरुड़ पहुँचे। अभी मोटर-सड़क यहीं तक आई थी आगे बागेश्वर तक उसके जाने में अभी कुछ वर्षों की देर थी। सामान उतरवा कर हम बैजनाथ मन्दिर की ओर चले जो वहाँ से आध मील से ऊपर तथा नदी के पार था।

बैजनाथ—शताब्दियों तक बैजनाथ कुमाऊँ की राजधानी रहा। कत्यूर कुमाऊँ के सम्मिलित राजा कत्यूरी राजाओं का राज्य जब छिन्न भिन्न

हुआ, तो तब शासक अपनी पुरानी राजधानी जोशीमठ छोड़कर बैजनाथ (वैद्यनाथ) में आ गए। राजधानी के लिए पहाड़ में भी काफी समतल और सुरक्षित स्थान ढूँढ़ा जाता है। बैजनाथ में ये दोनों गुण थे। एक तरफ कोसानी का ऊँचा गिरिप्राकार था, और दूसरी तरफ गोमती के निकास का द्वार। यहीं से द्वाराहाट और जोशीमठ को भी जानेवाले रास्ते थे। अब भी बदरीनाथ को बहुत से यात्री गरुड़ में मोटर से उतरकर इसी रास्ते जोशीमठ जाते हैं। गरुड़ से ही भूमि चौरस सी हो गई है, जिसमें बड़े बड़े सपाट खेत चले गए हैं, जो पहाड़ के लिए असाधारण से हैं। बैजनाथ में शायद हमारे बारे में चिट्ठी पहुँच गई थी, इसलिए कुछ परिचित पुरुष आ गए। हरीशजी के साथ रहने से और भी सुभीता हुआ। मोटर से उतरकर हम बाजार होते आगे बढ़े। मोटर का अन्तिम अड्डा होने से यहाँ का बाजार काफी बड़ा है, जिसमें हमारे सामान के नागरिक मानसिक लोग भी काफी थे। जोहार और गर्ब्याङ के निवासी ये भोट पश्चिमी तिब्बत के सबसे बड़े व्यापारी हैं, जो माल खरीदने के लिए बम्बई-कलकत्ता तक पहुँचते हैं। उनकी दूकानें यहाँ क्यों न होतीं? इस समय शाम के ६ बज चुके थे, इसलिए हम पहले निवास पर जाना था। मन्दिरों का झुरमुट, जिसे बैजनाथ कहते हैं, यहाँ से प्रायः मील भर था। गोमती का पुल पार करके दाहिने मुड़कर गोमती ही के एक घुमाव पर बैजनाथ है। एक अच्छे साफ सुथरे कमरे में हमको ठहराया गया। अन्न की समस्या सारे भारत में ही आजकल कठिन थी, और कुमाऊँ गढ़वाल तो अन्न के बारे में स्वावलम्बी भी नहीं है। लेकिन, यहाँ भी दो चार दुकानें थीं, जिनसे खाने का सामान मिल गया। श्री जय-वल्लभ ममगाई ने मेरी सहायता में कोई कसर उठा नहीं रखी।

अगले दिन (२८ मई को) बैजनाथ के भिन्न भिन्न मंदिरों और उनकी मूर्तियों को देखा। अष्टभुजा भगवती की काफी बड़ी मूर्ति बहुत सुन्दर है। अधिकांश मूर्तियों को रुहेलों ने तोड़ दिया और मंदिर भी टूटने के लिए छोड़ दिए। प्रधान मंदिर का चिह्न भर अवशिष्ट है। लेकिन, राजा की राजधानी यहाँ से कुछ हटकर तलीहाट में थी। कुमाऊँ-गढ़वाल में

पुराने समय में हाट बाजार का नहीं, बल्कि राजधानी का वाचक था, जिस नाम के साथ हाट हो वहां अवश्य ही पुराने मन्दिर या अवशेष मिलेंगे यह द्वाराहाट और दूसरे हाटों से सिद्ध है। तैलीहाट क्या नाम पड़ा ? तेली शायद किसी शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। जैसे ग्वालियर के किले में तैलप के मंदिर को तेली मंदिर कहकर किया गया है। गांव में चौपड़ चबूतरा दिखा कर बतलाया गया कि यहीं राजा रानी चौपड़ खेला करते थे। बहुत सम्भव है यहीं राजा का अन्तःपुर रहा हो। नारायण मंदिर की मूल मूर्ति इस वक्त गणनाथ में रखी हुई है। मंदिर खाली है। रावल मंदिर भी गांव के भीतर है। लक्ष्मीनारायण मन्दिर गांव से बाहर है जिस पर शाके १२२४ (सन् १३०२ ई०) का लेख है। यह भी मालूम होता है कि राजा हमीरदेव ने इसे बनवाया या मरम्मत करवाया था। उनके गुरु या महन्त लिंगराव देव थे। रानी धारादेई ने मन्दिर पर सुवर्ण कलश चढ़वाया था। एक दूसरे लेख में 'किकरा लाका रावल पाल्ह १४२१' लिखा हुआ था। १४२१ भी शाके ही होगा जिसका मतलब है कि रावल पाल्ह १४९८ में हुए थे। रावल मंदिर भी शून्य मन्दिरों में से है। गांव से बिल्कुल बाहर खेतों में सत्यनारायण का अत्यन्त ध्वस्त मन्दिर है जिसकी मूर्ति पुरानी नहीं है अर्थात् १७४२ से भी बाद की होगी। पुरानी होती तो रहते बिना खण्ड मुण्ड किये कैसे रहते ? पुजारी वैष्णव थे। पहाड़ में साधु रहना वैसा ही मुश्किल है जैसे स्वर्ग की अप्सराओं के बीच। बैजनाथ के महन्त भी कभी दशनामी साधु थे और अब उनके वंशजों का एक गांव बस गया है। वही बात यहां साधु की हुई है। बैजनाथ तैलीहाट और दूसरे प्राचीन स्थानों में जितनी मूर्तियां आज देखी जाती हैं पहले उनसे कहीं अधिक थीं। लोगों ने बतलाया कि गोमती का जब पुल बनने लगा तो उसमें गाड़ियों में मूर्तियां भरकर नाव में डाल दी गईं। सारनाथ के रेलवे पुल के बारे में भी हम यह बात सुन चुके थे इसलिए अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था।

लौटकर बैजनाथ के मुख्य मन्दिर के बाहर की सुन्दर देवी मूर्ति को देखा। पास के एक मन्दिर पर खुदा हुआ है "भयंकरनाथ जोगी।" नाथ

से गोरखनाथ पंथी भी हो सकता है, इंडोनेसिया में भी नाथ की उपासना का प्रचार है। हो सकता है यह नाथ जंगम (वीर शैव या पाशुपत) रहा हो। हमें मालूम है उत्तरी भारत में सबसे पीछे तक पाशुपतधर्मी लोग हिमालय प्रदेश में रहते थे। पुरातत्त्व विभाग का ध्यान यहाँ की बहुमूल्य मूर्तियों की ओर गया था और उसने एक मूर्ति-गोदाम बनाकर उसमें २८ मूर्तियाँ सुरक्षित रख दी हैं। एक मूर्ति के ऊपर लिखा था "महाराजाधिराज परम भट्टारक श्री लखनपालदेवस्य भूमिना राजा त्रिभुवनपालदेव दान।" "लखनपाल वैद्यनाथ कार्तिकेयपुर" लेख से साफ होता है कि राजा लखनपाल वैद्यनाथ (कार्तिकेयपुर) के शासक थे। कार्तिकेयपुर राजधानी का नाम था, जो शायद कत्यूरीपुर का संस्कृत रूपान्तरण है। कत्यूरी-वंश १४वीं १५वीं तक कुमाऊँ का शासक रहा। उसके बाद भी उसकी भिन्न-भिन्न शाखायें भिन्न भिन्न जगहों पर शासन करती रहीं। उसके बारे में और अपनी इस यात्रा के सम्बन्ध में भी हम कुमाऊँ में लिख चुके हैं। लेखों से यह भी पता लगता है कि लखनपाल के बाद इन्द्रपाल और उनके बाद त्रिभुवनपाल हुए थे। त्रिभुवनपाल ने श्री वैद्यनाथदेव भूमिदान सुवर्णराउल भूमि दीयमाना सुवर्णदान' लेख लिखवाया था और भूमि और सोने का दान किया था। वैद्यनाथ में सूर्य की बूटधारी मूर्ति भी मिली। यह बहुत सम्भव है कि शक काल में हिमालय के लोगों पर शकों का भारी प्रभाव पड़ा। यह क्या मालूम होगा कि मध्य-एसिया में दोनों का उद्गम एक ही था। हमें यहाँ से आज ही बागेश्वर (व्याघ्रेश्वर) जाना था। घोड़े की आशा में मध्याह्न का भोजन करके हम बहुत देर तक इन्तजार करते रहे। जब उनके आने की आशा नहीं रही, तो साढ़े ४ बजे शाम भर की चीजें कंधे पर रख हम दोनों चल पड़े। कुछ दूर जाने पर श्री समशादजी दौड़े आए और कहा कि घोड़े आ गए। हम घोड़े पर जायें और वह पैदल, यह हो नहीं सकता था, इसलिए हमीं घोड़े को लेकर चल पड़े। आगे चाय की दूकान के पास पहुँचते पहुँचते जोर की वर्षा आई। कुछ देर रुकना पड़ा, फिर सन्ध्यार रात को कमेड़ा गाँव में ९ बजे पहुँचे। यह रास्ता

काफी चालू मालूम होता है। आसपास के पहाड़ों में बहुत से गाँव भी हैं, इसलिए सड़क पर जगह जगह बनियों ने दूकानें खोल रखी हैं। हम रहने के लिए सिर पर छत मिल गई। घोड़ेवाले ने भोजन बनाया। रास्ते में मालवेशी एक जगह घोड़े की पीठ से जमीन पर आ गए। जिनके पुरखे घोड़ों की पीठ पर रह सारे भारत की विजय करने में एक बार करीब करीब सफल हो गए थे उनके लड़के गुरुदयालपण के बल पर घुड़सवारी करें यह अचरज की बात थी।

बागेश्वर—अगले दिन (२६ मई को) अँधेरा रहते ५ बजे ही हम चल दिये। रास्ता अच्छा था। मोटर की सड़क का काम भी शुरू हो गया था। चाहिए था मील मील सड़क तैयार करते आगे बढ़ते लेकिन किया गया था सड़क को सब जगह बनाया जाए और पुलों के काम को पीछे के लिए छोड़ दिया जाए। जब बजट में रुपया नहीं दिखाई पड़ा तो जहाँ तहाँ बनी सड़क को बिगड़ने के लिए छोड़ दिया गया। साढ़े ६ बजे तक हम साढ़े चार मील की यात्रा पूरी करके बागेश्वर पहुँच गये। काफी बड़ा बाजार है। यहाँ साल में एक बार भोट और पहाड़ के व्यापारियों का कई दिनों का एक बड़ा मेला लगता है। बैजनाथ से आनेवाली गोमती और दूसरी तरफ से आनेवाली सरजू का यहाँ संगम—त्रिवेणी—है। बड़ा मनोरम स्थान है। अधिकतर दूकानें और बाजार नदी के पार बसा हुआ है। पर सरजू के पार भी बस्ती और कितने ही साधुओं के स्थान हैं। व्याघ्रेश्वर में कत्यूरी राजाओं का एक शिलालेख था जिसे देखने का खास आकर्षण था पर मालूम हुआ वह चोरी चला गया। मंदिर के गंगा की तरफ जानेवाले दरवाजे पर पत्थर की दो अपशाकुन बड़ी मूर्तियाँ पड़ी हुई थीं। इन्हें मूर्तियाँ नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बहुत गौर से देखने पर ही आकार प्रकार मूर्ति का मिलता। ये अशाम्य युग में बुद्ध की मूर्तियाँ थीं। ऐसी हालत में क्यों? शायद जिस मन्दिर में ये मूर्तियाँ थीं उसमें आग लगा कर जला दिया गया और ज्वाला में आग का पत्थर का भाग निकल कर निकल गया। १७४३ में रुहेले लूट पाट करते मार कुमाऊँ गढ़वाल में दौड़े थे।

उन्होंने मन्दिरों में आग लगा और मूर्तियों को तोड़ कर मज़ार शामिल किया था। अकबर के एक नौकरी में हुए जेनरल मुहम्मद हुसैन [illegible] ने भी पहाड़ पर जलाने वाली थी। जानी हूँ, १५वीं [illegible] के [illegible] और १८वीं सदी के मध्य में इस प्रकार का बार मूर्ति तोड़क और मन्दिर-[illegible] ज्यादा यहाँ पहुँचे थे। बागेश्वर के मन्दिर का भी उन वक्त क्षति हुई होगी, लेकिन दीवार अधिकतर पत्थर की थी। विशाल शिवलिंग में पाशुपत का चिह्न नहीं मिलता, लेकिन बगल में दो-तीन छोटे छोटे मन्दिर हैं जिनमें खण्डित मूर्तियों में मुखयुक्त लिंग भी है जो बतलाते हैं कि यह पाशुपतों (लकुलीशों) का एक समय गढ़ था। कत्यूरी शिलालेख में व्याघ्रेश्वर महादेव को भूमि दान देने का उल्लेख है और यह भी कि राजा के मित्र किसी किरात-पुत्र ने भी अपनी जमीन दान दी थी। हिमालय में [illegible] सीमा से लेकर नेपाल के उत्तर होते कम्बुज (कम्बोडिया) तक [illegible] मोन-ख्मेर जाति का पता लगता है। आज तिब्बत के सीमान्त पर [illegible] मुख मुखवाली जो जातियाँ मिल रही हैं उनमें से अधिक [illegible] तिब्बती खान मान कहते हैं। जोहार गरब्याल, नीति [illegible] व्याघ्रेश्वर से कुछ ही दूर पर आस्कोट में बसने [illegible] किराती (राजी)—उसी वंश की हैं।

किया। एकाध मकानों में अंगूर की लताएँ देखीं, उनके फलों के लिए चार महीने तक यहाँ रहना चाहिए था। सम्भव न देखकर हमने कहा ये अंगूर जरूर खट्टे होंगे। कल पनावा के सेनानी के वंशज ढाई हाथ के टट्टू से जमीन पर आ पड़े थे उससे हाथ में कुछ चोट आ गई थी। अस्पताल देख-कर उपचार के लिए हम वहाँ पहुँच गए। डाक्टर साहित्य के प्रेमी हों, यह कम ही देखा जाता है, लेकिन यह थे। उन्होंने पिछले ही हफ्ते दिल्ली के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपा मेरा एक लेख पढ़ा था और नाम से पहले ही परिचित थे। यदि हम ऐसा समझे होते तो यहीं सामान छोड़ना होता। खैर कुछ देर तक बात होती रही। गांधी आश्रम के उनकी कताई-बुनाई के केन्द्र को भी देखा। १२ बजे हम रवाना हो गये। ढाई मील चलने पर जोर की आँधी आई और डेढ़ घंटे के लिए हम एक दूकान में शरण लेनी पड़ी। आज हो बस के टिकट का इन्तजाम करना था जिसका मिलना आसान नहीं था। इसलिए हमने घोड़ों को पर बढ़वाया और ६ बजे बैज-नाथ पहुँच गये। इस समय विश्वास करने से काम नहीं चलता इसलिए स्वयं टिकट लेने के लिए गरुड़ पहुँचे। जवाब मिला—कल देंगे। क्या पता कल टिकट मिलेगा ही?—"यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोष।" खैर गरुड़ बाजार को देखा और सामने बैजनाथ की ओर के पहाड़ों के ऊपर से झाँकते हिमालय के उत्तुंग शिखरों—त्रिशूल आदि की पाँती को भी। बैजनाथ में दोनों मलानियों के आने की खबर लग चुकी थी। रात को डाक्टर स्कूल के अध्यापक तथा दूसरे साहित्यप्रेमी आ गये, जिनसे देर तक गोष्ठी होती रही, हम दोनों बारी बारी से बोलते रहे।

द्वाराहाट—बैजनाथ से पहाड़ी डाँडे को पार कर एक सीधा रास्ता भी द्वाराहाट को जाता था जो आठ दस मील से अधिक लम्बा नहीं था। लेकिन हम छ महीने के नहीं बरस दिन के रास्ते को पसन्द करते थे, इस-लिए मोटर से रानीखेत से हो द्वाराहाट जाने की ठानी। मोटर में जगह मिल गई और साढ़े सात बजे हम रवाना हो गए। कौसानी में दो मिनट के लिए उतरे फिर सोमेश्वर पहुँचे। यहाँ से अपेक्षाकृत कुछ सरल रास्ता द्वाराहाट

को जाता था। घोड़े मिलते तो शायद हम इसी रास्ते चल देते, लेकिन उसकी सम्भावना नहीं थी। वस्तुतः सवारी या भारवाहकों का अच्छा और बराबर का प्रबन्ध तभी हो सकता है जब यहाँ बराबर सैलानी आते रहें। इक्के-दुक्के आनेवाले सैलानियों के लिए कौन अपने घर से खा पीकर यहाँ इंतजार करता रहेगा? खासी पुल पर जरा देर रुक कर उसी बस में हम रानीखेत पहुँचे। डॉ० सिंह होटल को दफ्तर चले भोजन के लिए चले गए। फिर हिन्दी के कथाकार अनामजी (श्री जमुनादत्त पांडे वल्लभ) मिल गए। जब भाई बिरादरी का आदमी मिल जाय तो कोई स्थान अपरिचित कैसे रह सकता है? लेकिन, हम आज ही द्वाराहाट जाना चाहते थे। ख्याल आया कि इतनी हड़बड़ी करने की क्या जरूरत? लेकिन भूतकाल के और वर्तमान काल के क्षणों में अन्तर होता है। भूतकालिक क्षण दस सेरस भी सस्ते मालूम होते हैं। हमने अपना सामान अनामजी के पास 'जीवन-विलास' में रखा और पैदल चल पड़े। घोड़ों के मिलने की न सम्भावना थी, और न आशा में हम बैठे रहना चाहते थे। आशा दिलाने के लिए किसी ने कह दिया था कि गगास के पुल पर घोड़े मिल जायेंगे जो यहाँ से साढ़े पाँच मील उतर कर पड़ता था। बदरीनाथ जानेवालों के कुछ रास्ते एक ही हैं लेकिन लौटनेवाले यात्री गंगासागर की गंगा की तरह सहस्रधार में बह जाते हैं। इन्हीं में एक चौखुटिया से द्वाराहाट होकर रानीखेत में मोटर पकड़ काठगोदाम रेलवे स्टेशन जाने का है। मोटर चलता देखकर हममें से कितने ही समझते हैं कि अब कोई काहेको पैदल चलता होगा, लेकिन बदरीनाथ के यात्री अब भी बहुत से ऐसे हैं, जो मुश्किल से रेल के लिए कुछ रुपये जमा कर पाते हैं, और आटा सत्तू बाँधकर पहाड़ की सारी यात्रा पैदल बिना पैसे की करते हैं। हम सड़क पर चलते बदरीनाथ से लौटे कुछ यात्री मिले जो बतला रहे थे कि वहाँ चावल दो रुपया सेर मिल रहा था। गगास में पुल पर कोई घोड़ा नहीं मिला, और न आगे दड़-माड़ में ही। बगड़ा का भी यही हाल रहा। उससे कुछ पहले सड़क की एक झोपड़ी में चार छोटे छोटे बच्चों और बीवी के साथ [illegible] —— [illegible]

मिला। पूछने पर पता लगा, उसने देश के लिए कई बार जेल काटा है। उसने कुछ चिल्म रख छोड़ी थी, जिनको पहाड़ी लोग खरीदते थे। वही गुजारा का साधन था। कह रहे थे—बच्चों का कोई प्रबन्ध हो जाय, बस मुझे इसी की चिन्ता है। किसी के बच्चे भी अनाथ हों, यह असह्य और अक्षम्य बात है। आधी दुनिया में बच्चों का अब अनाथ होने की जरूरत नहीं है। उनके माता पिता सरकार है, लेकिन हमारे यहाँ अभी जनतांत्रिक अहिंसामय समाजवाद की बाट जोही जा रही है।

कफनी से चढ़ाई चढ़नी पड़ी तल्लामिरे पहुँचे। नया घर बन रहा था जिसमें धूए के लिए चिमनी भी लग रही थी। उसके अच्छे दिन आए थे कपड़ा से इस तरफ के पहाड़ वृक्ष शून्य है। जान पड़ता था हम तिब्बत में आ गये। इन वृक्षों का संहार आदमी के हाथों ने किया। मुझे हरे या नंगे पहाड़ याद आ रहे थे और बीच बीच में चुटुल करने की भी इच्छा होती थी लेकिन मार्चवेजी की बुरी हालत थी। उतराई में तो कोई बात नहीं थी लेकिन चढ़ाई भारी आदमी के लिए भली नहीं मालूम होती। पैर फूट चुके थे और वह हिम्मत करके ही चल रहे थे। डर लगने लगा था कि हम मल्ली मेरे तक नहीं पहुँच सकेंगे। इसी समय हिमालय के देवताओं को दया आई खाली घोड़ेवाला मिल गया। अब हम लोग उस पर चढ़कर वहाँ पहुँचे। चढ़ाई पार कर गए फिर उतराई थी। रास्ते पर ही चडेसर (चन्द्रेश्वर) का पुराना मंदिर मिला जिसमें कितने ही कत्यूरी या गुजर प्रतिहार काल की खण्डित मूर्तियाँ मिलीं। उसी काल की मूर्तियाँ जितनी बुंदेलखण्ड के खजुराहा में मिलती हैं। इनमें वराह की भी एक गुप्त छोटी-सी मूर्ति थी। अभी द्वाराहाट आगे था लेकिन उतराई ने हिम्मत बढ़ा दी थी साथ ही सहायता देने के लिए दूध की तरह छिटकी चाँदनी भी आ गई थी। चाहे मोटर की न हो, पर यह सड़क थी, इसलिए भूलने भटकने का डर नहीं था। यहाँ के मन रानीखेत-गणपुर के से जान पड़ते थे। अन्त में हम द्वाराहाट पहुँच गए। किसी समय यह हाट (राजधानी) रही होगी, अब हमारे बारह सौ लोगों का एक बड़ा गाँव है, जिसमें बहुत सी

दूकानें बाजार की तरह पाँतों से लगी हुई हैं। रानीखेत से किसी ने श्री अमरनाथलाल शर्मा का पत्र दे दिया था। उनके घर पर पहुँचे। उनके भाई हरिश्चन्द्र पन्त बड़े उत्साही सहायक मिल गये। नेपाल की तरह का कई मंजिलों का और अधिकतर काठ का मकान था। सबसे ऊपरले भाग पर सोने के लिए स्थान मिला। डायबटीज के लिए सोने का वह स्थान अनुकूल नहीं होता जहाँ पास में पेशाब का प्रबन्ध न हो। रात को निना स्नाव पन्तजी कम सोने देते, यद्यपि हम लोगों की उस थकावट में सबसे प्रिय भूल था। एक ही दिन पहले तो हम बागेश्वर में थे और उसके दूसरे ही दिन द्वाराहाट पहुँच गये।

सबेर निकल पड़े। चाय पीने के लिए घर पर इन्तिजार करने से किसी दूकान पर चाय पीना अच्छा था, इसलिए मकानवाले के आग्रह पर भी हम दोनों उठ खड़े हुए। पथ-प्रदर्शक हरिश्चन्द्रजी थे। द्वाराहाट में बहुत दूर तक पुराने नगर के चिह्न मिलते हैं और मन्दिरों की संख्या दर्जन के करीब होगी। कई मन्दिरों को सुरक्षित घोषित कर दिया गया है। ये मन्दिर बिल्कुल खाली थे। आखिर टूटी फूटी भी मूर्तियाँ तो कहीं होनी चाहिए। पर जब पिछले सौ सालों के मूर्तिचोरों और मूर्तिभक्तों पर ध्यान देंगे तो कारण मालूम होना मुश्किल नहीं होगा। मूर्तियाँ भूगोल के भिन्न भिन्न भागों पर बिखर गई होंगी। कितनी ही इंग्लैण्ड में, कुछ यूरोप में और कितनी ही अमरिका भी पहुँच गई होंगी। मृत्युंजय मन्दिर में जाने पर रेवा सती के आसपास की कुछ टूटी फूटी मूर्तियाँ मिलीं। द्वाराहाट में भी गंगा की कथा की बात सुनने में आई और बतलाया गया, इनमें मिट्टी के बरतन मिलते हैं। घूमते घामते नदी पार कचार मन्दिर में गए। यहाँ पीतल की पार्श्वनाथ और पत्थर की तीर्थंकर महावीर की मूर्ति देखी। पाचढ की मूर्ति को बालगोपाल कहकर पूजा जाता था। द्वाराहाट जब राजधानी थी उस समय वहाँ के सम्पन्न सेठों में कोई जैन धर्म का भी मानता होगा। पाँच पीढ़ी पहले भरतगिरि फक्कड़ साधु यहाँ आए, जिनकी सन्तानें यहीं रहती हैं। नदी पार कर हम बाजार लौट आए। नदी क्या नाला है।

लेकिन जहाँ साल में ३० ४० इंच पानी बरसता हो, वहाँ पानी का दुःख क्या? ऊपर बाँध-बाँधकर भारी जलनिधि तैयार की जा सकती है लेकिन यह काम यहाँ के बारह सौ जीव तो नहीं कर सकते। यदि जलनिधि तैयार हो जाए, तो यहाँ दसियों हजार बहुत अच्छे सेन मोतिया जैसे चावल को उत्पन्न करने के लिए तैयार हैं। रतनदेव के मन्दिर में गए। यह सात मन्दिरों का झुरमुट है जिनमें एक में भी मूर्ति नहीं है। मध्य मन्दिर में भी उसी तरह सात मन्दिर हैं। शायद सप्तमातृकाएँ यहाँ कभी पूजी जाती थीं। मन्दिर की चहारदीवारी में एक जैन मूर्ति देखी। और मन्दिरों की तलाश करते करते पंडित जवाहरलालजी के समय पुराने प्राइवेट सेक्रेटरी श्री शिवदत्त उपाध्याय के घर के पास पहुँचे। उपाध्यायजी घर पर नहीं थे। पास में कालिका का स्थान है जिसमें भी तीन खण्डित जैन मूर्तियाँ (पार्श्वनाथ, महावीर की) देखीं। फिर द्वाराहाट के सबसे पुराने दामजिला मकान को देखने गए जिसने गोरखा शासन को देखा था लेकिन अब गिरने की प्रतीक्षा कर रहा था। इसे तो ऐतिहासिक स्मारक के तौर पर सुरक्षित रखना चाहिए। कभी शायद राजा की कचहरी रही हो। यहाँ दस शिखरदार मन्दिर हैं। मूर्तियाँ तेलिया (काले) पत्थर की हैं। गूजरदेव का मन्दिर किसी समय यहाँ का सबसे भव्य मन्दिर रहा होगा। गुरदेव से शायद गुजर प्रतिहार राजा अभिप्रेत है। इस मन्दिर की सारी दीवारें सुन्दर मूर्तियों और नक्काशी से भरी हुई थीं। अब मन्दिर का निचला भाग ही बच रहा है। ९वीं ११वीं शताब्दी में यह भूमि गुजर प्रतिहारों के हाथ में थी, इसमें तो सन्देह नहीं। कन्नौज में प्रतिहार वंश के अपदस्थ होने पर भी उसका कोई छोटा मोटा राजा गढ़वालों के अधीन रहते यहाँ शासन करता हो, तो आश्चर्य नहीं। मन्दिर के भीतर एक सुन्दर खण्डित मूर्ति है। बाजार पार कर मियानन्द की पोखरी के पास बने नए मन्दिर में कितनी ही खण्डित मूर्तियाँ देखीं। मियानन्दे पोखरी सूख गई है। बदरीनाथ के मन्दिर में रखी एक बूटधारी सूर्य की मूर्ति भी है।

भोजनोपरान्त हमने रानीगन की ओर मुँह किया। रास्ते में ही हार्द

स्कूल था, वहाँ गये। अध्यापकों से घंटे भर चर्चा होती रही। पता लगा कि द्वाराहाट से बदरीनाथ की ओर थोड़ा ही बढ़ने पर शिला में मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यह भी बतला रहे थे कि यहाँ की खेती राम भरोसे होती है, अर्थात् वर्षा के मारे पानी को बह जाने दिया जाता है। द्वाराहाट में १४-१५ घंटे में ही काफी परिचय हो गया था, इसलिए किराये पर दो घोड़ों के मिलने में दिक्कत नहीं हुई। हम साढ़े १२ बजे रवाना हुए, और साढ़े ६ बजे अशोकजी के स्थान पर पहुँच गये।

रानीखेत—रानीखेत आधुनिक अर्थ में हिमालय की सप्तपुरियों में है। अंग्रेजों ने गर्मी से बचने के लिए इसकी स्थापना की थी। रानीखेत मुख्यतः सैनिक छावनी का काम देती रही। फिर भारतीय नवशिक्षित लक्ष्मीपात्र भी इन पुरियों से लाभ उठाने लगे। अशोकजी एक तरुण स्वनिर्मित कुशल चित्रकार के पास ले गये। यदि बाकायदा शिक्षा पाने का अवसर नहीं मिला, तो यह राष्ट्र का दोष है। लेकिन चित्रकला के भरोसे जीना आजकल मुश्किल है। बहुतेरे प्रतिभावान चित्रकार फोटोग्राफी से शरीर-यात्रा चलाने के लिए मजबूर हैं। यही बात इनकी भी है। सबसे अधिक आकर्षक चीज उनका थापों का संग्रह था। विवाह या उत्सव आदि के समय दीवार पर थापे या रंगवल्ली (रंगोली) बनाने का रवाज है उसी तरह जैसे मधुर लोकगीतों के गाने का। गीतों का अब भी मधुर और अभ्यस्त कण्ठ मिल जाते हैं लेकिन थापों के भाग्य में ऐसा बहुत कम देखा जाता है। उत्तरी भारत में सभी जगह थापों के नाम पर चिंहारी खींचा जाती है। यदि लड़कियाँ बड़ी बुढ़ियों से कुछ समय लगा कर ध्यानपूर्वक सीखती रहतीं तो इन चिंहारियों को मौका नहीं आता। चिंहारियाँ भी अपना मूल्य रखती हैं इसमें संदेह नहीं। मैं समझता हूँ कि उत्तर भारत में कला की दृष्टि से सबसे समृद्ध कुमाऊँ के थापे हैं। इनको कागज में उतारने की भी प्रथा है। तरुण चित्रकार ने सैकड़ों थापे बड़े परिश्रम से जमा किये हैं। इस साल (१९५६ ई०) श्री अशोकजी से मालूम हुआ कि उनका संग्रह और भी आगे बढ़ा है। यह राष्ट्रीय निधि होने लायक है और इसे दिल्ली की

राष्ट्रीय चित्रशाला में सुरक्षित रखने की जरूरत है। निजी संग्रहों के नष्ट होने की संभावना होती है, क्योंकि उत्तराधिकारी भी उनके साथ वही भाव रखें, यह बहुत कम देखा जाता है।

रानीखेत पहाड़ी रीढ़ पर दूर तक बसा हुआ है। जिधर देखें उधर चीड़ के दरख्त हैं जो कि हिमालय के कुरूप वृक्षों में से एक है।

दोपहर को २ बजे रानीखेत से रवाना हुए और साढ़े ४ बजे भवाली पहुँच गये। उसी दिन ५ बजे बाद तल्लीताल में उतर, नाव से मल्लीताल, फिर ६ बजे आकर राज में पहुँच गये।

नैनीताल—नैनीताल का जीवन शुरू हो गया था। डा० गोरख प्रसाद और डा० अमरनाथ झा से मुलाकात हुई। अठारह वर्ष बाद पं० रुद्रदेव शास्त्री से मिलकर बहुत हर्ष हुआ। छोटा-सा कद जिस पर प्रभाव लाने के लिए पण्डितजी ने दाढ़ी पालने का किसी समय रहस्य बतलाया था अब वह बिल्कुल सफेद हो गई थी।

४ जून को कुछ ज्वर सा मालूम हुआ। १० बजे ९७ डिग्री, १२ बजे ९८.४ डिग्री, ३ बजे १०० डिग्री और ६ बजे १०० डिग्री तापमान रहा। उस दिन भोजन नहीं किया। अगले दिन भी उपवास रखा और ४८ घंटे के बाद सालूगान के पथ्यवाले उपवास से ज्वर ने विदाई ले ली। पहाड़ में मांस भक्षण सदा से विहित रहा है, लेकिन शिकार के मांस का सौभाग्य बहुत कम को ही मिलता है। ७ जून को साधारण शिकार नहीं बल्कि *घोराल मृग का मांस किसी मित्र ने भेजा। घोराल का शिकार अंग्रेजों के* लिए बड़े साधु की चीज थी। मांस बड़ा स्वादिष्ट लगा।

भवाली—भवाली में कोई समारोह था, जिसमें डा० कमरबाली ने हमें भी निमंत्रित किया। १० तारीख को साढ़े ११ बजे हम वहाँ पहुँच गये। सैनिटोरियम का एक भाग डा० अमरनाथ झा से उद्घाटित करवाई गई। वहीं एक अंग्रेज के बिकाऊ बंगले डेवोनशायर को देखने गये। बीस हजार दाम माँग रहे थे। दीवारें टूटी छत टपी थी। फर्नीचर कामचलाऊ कहे जा सकते थे। सात हजार में भी मिलता तब भी मैं लेने के लिए तैयार नहीं

था। पास में आके लाज का दाम ३८ हजार बतलाया जा रहा था। सेनि
टोरियम के यह काम के हो सकते थे लेकिन सेनिटोरियम का अपना स्थान
यहाँ से कुछ दूर है। अगले दिन (११ जून को) नैनीताल लौट आए।

कल ही श्री धूपनाथ सिंह और वीरेन्द्र कुमार आ गये थे। वहीं देर
तक बातचीत होती रही। धूपनाथजी का अपने विशाल परिवार की स्थिति
नाराजनक मालूम होती थी पर एक के चार और चार के सोलह घर तो
हमेशा से होते आए हैं। घर भरा-पूरा बहुत अच्छा लगता है। चार मेह
मानों के साथ बातें करने, चाय पीने या खाने में स्वाद दुगुना हो जाता है।
हमारे घर में खूब चहल पहल थी। कुछ मलानी मित्र आ जाते थे। १५
जून को प० वाचस्पति पाठक आए। पाठकजी "मगन रहु चोला" के बड़े
अच्छे उदाहरण हैं। वर्षों की मनहूसी घर में उनके पैर रखते ही भाग खड़ी
होती है। उनके साथ गंगाप्रसाद पाण्डे भी थे फिर चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
आ गए। विद्यालंकारजी एक प्रकाशक के लिए कोई उपन्यास लिखने की
बात कह रहे थे लेकिन अभी तो लिखने का कोई ख्याल नहीं था।

मसूरी—डा० सत्यकेतु से सलाह हो गई थी कि वह मसूरी में मकान
ले रखें, और लिखने पर मैं चला आऊँगा। कमला को भी ले जाना चाहता
। लेकिन पहाड़ में मोटर की सवारी उनके लिए मुफीद नहीं होती इस-
ए साथ ले चलने का ख्याल छोड़ना पड़ा। काठगोदाम में रेल पकड़नी
थी। १७ को हमारे साथी धूपनाथजी वीरेन्द्रजी और शरद तथा असग के
साथ माचवेजी भी नैनीताल से निकले। बाबा (असग) अभी २० मास का
ही था लेकिन कभी हँसाता कभी भालू-नाच दिखलाता, कभी दूसरी नकल
भी करता। वीरेन्द्रजी ने कहा मैं अपनी प्रकाशन-संस्था का नाम राहुल
पुस्तक प्रतिष्ठान रखना चाहता हूँ। धूपनाथ के परिवार के लिए मैं इन्कार
क्या कर सकता था? मुझे बरेली पहुँचकर रेल पकड़नी थी, और दूसरों को
काठगोदाम में इसलिए तल्लीताल में ही हम अलग अलग हो गये। साढ़े
रुपये देकर मैंने बरेली वाली बस पकड़ी और ७ बजे चलकर साढ़े ९ बजे
बरेली पहुँच गया। रास्ते में हल्द्वानी कस्बा देखा। तराई में मुसलमानों के

गाँव के गाँव है यह भी पता लगा। शायद १६वीं से १८वीं सदी में ये यहाँ बसे। कुछ दिनों पहले भयंकर आंधी इधर से गुजरी थी। सड़क के किनारे कितने ही पेड़ जड़ से उखड़कर पड़े हुए थे। बरेली में पता लगा कि गाड़ी साढ़े ११ बजे रात को मिलेगी। गाड़ी पर चढ़े। हमारे डब्बे में प्रसिद्ध इंजीनियर राजा ज्वालाप्रसाद के पुत्र श्री शांतिवीर गुप्त, श्री सुशीलादेवी शास्त्रिणी के पितकुल के थे और मेरे बारे में भी कुछ जानते थे। उन्होंने बिजनौर से चार मील पर अपना फार्म खोल रखा है। जाड़ों में आने के लिए निमंत्रण मिला।

पौ फटते समय हमारी गाड़ी हरद्वार पहुँची। फिर वह दून में घुसी, और ७ बजे हम देहरादून पहुँच गये। बाहर बसें और टक्सियाँ खड़ी थीं स्टेशन से पौने दो रुपये का टिकट लेकर रोडवेज की बस पर ८ बजे बैठे और २२ मील चलकर ६ बजे किक्रेग पहुँच गए। मसूरी अब से सात वर्ष पहले एक बार देखी थी लेकिन उस समय का कोई मानसिक नक्शा तुलना करने के लिए ठीक से मौजूद नहीं था। किक्रेग जरूर कुछ-कुछ याद आता था। पहले चिट्ठी भेज दी थी। डा० सत्यकेतु अड्डे पर ही मिले। फिर उनके साथ स्कसमोंट गए। चाय पान और स्नान हुआ। कुछ देर के लिए सो गए। शाम की चाय पीकर ५ बजे देखने के लिए निकले। कमल्स बैक (कल-पाठ) सड़क से होकर एक चक्कर लगाया। सिंघानिया का प्रासाद देखा। उससे आगे आधा फर्लांग पर नीचे रुक्मिणी विला" बिकाऊ था। उसके साथ एक काटेज (कुटी) भी था। विला में ६ कमरे और एक नहान कोष्ठक दूसरे में तीन कमरे और एक कोष्ठक साथ में साढ़े तीन एकड़ जमीन थी। लेकिन घर तुरन्त रहने लायक नहीं था। रहने लायक बनाने में दस हजार की जरूरत थी। पसन्द नहीं आया। कुल्हड़ी से नीचे भी १६ १७ हजार पर मिलने वाला घर देखा। उसमें जमीन कुछ नहीं थी, और कमरे भी बरक की तरह के थे। डाक्टर साहब ने लण्ढौर डिपो में भी बँगले की बात बतलाई। अपनी अव्यवहारिकता पर अब हँसी आती है लेकिन उस समय यदि कोई कहता, तो सुनने के लिए भी तैयार होता। सच है

एक बार जहडाव, तो बावन वीर कहावे।" एक बार धोखा खान पर ही हम अक्ल आने वाली थी। लेकिन यह एक बार तो आखिरी बार होने वाला नहीं था। इस बेवकूफी की बानगी इन कुढ़ने वाली पंक्तियों से भी स्पष्ट है—'लण्ढौर डिपो में बँगला अच्छा मिल जाए वहीं के लिए कोशिश करनी है। मकान लेकर ही लौटना यह निश्चय है" (१८ जून)। ऐसे उतावलेपन से अच्छे की आशा नहीं हो सकती थी। डा० सत्यकेतु की चलती, तो हम किराये पर ही यहाँ कुछ समय बिताते फिर ठोक ठठाकर कोई मकान लेते। घुमक्कड़ शास्त्री से अब हम एकान्तवासी बनना चाहते थे। यदि कहीं लण्ढौर में मकान लिया होता, तो न जाने कैसी बीतती? घूमते हुए एक जगह प्रा० धर्मेन्द्र शास्त्री तर्कशिरोमणि मिल गए। गायवाले पड़ोस दूध दुहा रहे थे। पंजाब की छाप पड़ी थी इसलिए दूध के लिए फकीर क्या न होते? और शुद्ध दूध तभी मिल सकता है, जब भैंस सामने दुही जाए। आजकल यहाँ यंग वीमेन क्रिश्चियन एसोसियेशन के मकान में डा० पा चाउ (इलाहाबाद) ठहरे हुए थे। अगले दिन (१९ जून) वह मिलने आए। वह कम्युनिस्ट क्रान्ति के पहले से आकर भारत में रह रहे थे और राजनीति से सम्पर्क नहीं रखते थे। कम्युनिस्टों के बारे में कितनी ही झूठी-सच्ची बातें सुन रखी थीं उन्हीं के फेर में पड़े थे। डा० पा-चाउ चीनी बौद्ध-साहित्य के अच्छे पण्डित हैं। इलाहाबाद युनिवर्सिटी में पढ़ाते हुए अब डी० लिट० की भी तैयारी कर रहे थे। मैंने कहा—नवीन चीन में विद्वानों के लिए विस्तृत कार्यक्षेत्र प्रतीक्षा कर रहा है। आप थीसिस का काम समाप्त करते ही चीन जाइये।

भोजनोपरान्त ३ बजे डा० सत्यकेतु मुझे लिए लण्ढौर डिपो की तरफ चले। लण्ढौर में श्री जानकीनाथ इंजीनियर मिल गए। उनका अपना भी मकान [illegible] था। जिस मकान का [illegible] थे, [illegible] थे। डिपो और मसूरी को [illegible] दिया है। [illegible] नाम इतना भयंकर नहीं था नदी सा कोई दूसरा [illegible] नाम था। यहाँ से दूर दूर तक उत्तर में हिमालय श्रेणियाँ और [illegible] दिखाई देता है।'

है यदि बादल बाधक न हो। टिफन के बाद एक विशाल बँगले में ले गए, जिसमें उस समय पाँच यूरोपीय परिवार ठहरे हुए थे। हम इतने बड़े बँगले को लेकर क्या करते ? फिर सो काम बँगले को दिखाया। डिपो पर्वत की परिक्रमा सड़क है, जिसके किनारे एक-दूसरे से हटकर कितने ही बँगले बने हुए हैं। डिपो को अंग्रेजों ने सबसे पहले आबाद किया। डिपो का मतलब कम्पनी के जमाने में सैनिक छावनी था। बीमार गोरों के लिए ही इस जगह को पसन्द किया गया था। मसूरी के दूसरे सभी पहाड़ों से यह ज्यादा हरा भरा है और देवदारों के कारण सुन्दर है। साढ़े सात हजार फुट की ऊँचाई होने से यह सर्द भी अधिक है और जाड़ों में यहाँ बर्फ पहले पड़ती है। सो काम के साथ साढ़े पाँच एकड़ जमीन भी थी। इससे काफी हटकर एक और बँगला और कुटीर मिला। बँगला साढ़े १२ हजार में मिल जायगा, यह जानकर प्रसन्नता हुई। छोटा सा किन्तु सुन्दर था। सामने छोटी-सी फुलवारियाँ थीं और साग-सब्जी के लिए खेत भी काफी थे, जिनमें आलू लगे हुए थे। उस समय वहाँ कनाडा का राजदूत ठहरा था। छोटे छोटे कई कमरे थे। मैं मुग्ध हो गया। उस समय जरा भी ख्याल नहीं आया कि यह मसूरी का कालापानी है, जहाँ साउन में भी आदमियों के बहुत कम चेहरे दिखलाई देते हैं। करीब-करीब मैं तै कर चुका था। फिर हम उसके साथ लगे हुए कुटीर को देखने गए। कुटीर में दो तीन कमरे थे और सस्ते के कारण एक यूरोपीय पादरी अपनी पत्नी के साथ ठहरे हुए थे। कुटीर से आगे चलने पर रास्ते में वह मिल गए। श्री जानकीनाथजी ने उनसे खैर सलाह पूछी, तो वह मुँह गिराकर बोले— जरा हो इधर उधर गया था कि मेरा हमारा कम्बल कोई उठा ले गया। इस जगह के बँगले का यह दूसरा रूप भी मालूम हो गया। मैं इस खतरे को मोल लेने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए उस बँगले और डिपो में कहीं भी मकान लेने का ख्याल छोड़ देना पड़ा। २० जून को सबेरे ८ बजे मुनीलालजी और डाक्टर माहेश्वर के साथ ग्लोवेला की ओर निकले, जिसे देखते ही मैंने उसका नाम सुभूमि रख दिया। मसूरी के एक छोर पर यह सुन्दर स्थान है, जिसमें बहुत से बँगले

बने हुए हैं। चार्लविल का फाटक आया, फिर नीचे जाने वाले रास्ते को पकड़ा। हैपीवेली क्लब के सामने काफी लम्बा चौड़ा मैदान देखा। एक फाटक पर बिड़ला भवन के भवन का नाम उत्कीर्ण देखा। आगे चुंगी की चौकी मिली। बाएँ दो बँगलों को छोड़कर हम हल क्लिफ पहुँचे। न जाने क्या सोचकर उस दिन की डायरी में ब्रैकेट में इसका नाम "मानस भवन" भी रख दिया। शायद बिड़ला भवन से तुक मिलाई। उस समय चौकीदार मौजूद नहीं था, इसलिए मकान को बाहर ही से घूमकर देखा। साढ़े १६ हजार के आस-पास मकान पट जायगा, यह खयाल कर मन में और भी उछाह था—अग्रिम २५ हजार रुपये बैंक में आ ही चुके थे।

शाम को फिर आकर भीतर से जाकर देखा। बीच में एक बड़ा हाल और उसकी अगल-बगल में हॉल जैसे दो शयनकक्ष जिनके दोनों सिरों पर दो स्नानगृह थे। सामने शीशे वाला बरांडा भी कमरों की शक्ल में मौजूद था। दिमाग उड़ने लगा—शयनकक्ष बैठक भी हो सकती है और अतिथि निवास भी। वस्तुतः छह कमरों की जगह थी, किन्तु बड़ा बनाकर रख दिया गया था। विभाजन करके हाल को दो बनाया जा सकता है या भोजनालय के तौर पर एक और कमरे का इस्तेमाल किया जा सकता है। शयनकक्षों को विभाजन द्वारा दो बनाया जा सकता है, और बरांडा लेकर एक समय तीन अतिथियों का काम चल सकता है। और हौज (बाहरी घर) में दासनिवास आठ कोठरियाँ थीं, जिनमें से एक को अतिथि भवन में भी परिणत किया जा सकता है। यदि उसकी बगल वाली को स्नान-कक्ष बनाया जा सके। बँगले की अगल-बगल में साग-भाजी के लिए खेत भी था। सामने बहुत स्थान नहीं था, किन्तु फाटक वाले पाख में टहलने का एक अच्छा स्थान बनाया जा सकता था। दो एकड़ जमीन और साढ़े १६ हजार रुपया दाम बहुत ज्यादा नहीं लगा। पता लगा, टिहरी रानी की सम्पत्ति है। मकान के बारे में निर्णय हो चुका था, तो भी लौटते वक्त हम दूसरे रास्ते से चले। वहाँ पटियाला के राजकुमार और उनके साले दलीपपुर के राजा की कोठियाँ देखीं। राजा साहब की कोठी में बहुत से कमरे थे, लेकिन दाम ४०

हजार माँग रहे थे। राजकुमार तो लाख की बात करते थे। कुछ ही दिनों बाद ये कोठियाँ मिट्टी के मोल गईं, पर उस समय अभी लोग लाखों की सोचते थे। मैं इन विल्फ को पसन्द कर चुका था। और कोठियाँ कोई ऐसी देखने को नहीं थीं या यह कहिये कि उतावले आदमी के पास उसके लिए फुरसत नहीं थी। इन विल्फ भाग्य से बच गया, और उस रात निश्चिन्त होकर सोया।

२३

मसूरी को

२१ जून को एजेन्ट से बातचीत हुई। दाम अधिक कहते थे लेकिन साढ़े १६ हजार से ऊपर बढ़ने के लिए मैं तैयार नहीं था। उस समय ऐसे मकान का उतने से ज्यादा दाम नहीं हो सकता था और आज तो २० हजार खर्च करके यदि आधा मिल जाए तो बहुत ममझिये। पड़ोसी बिल्डर वाले जो ६० हजार से कम की बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे पीछे २२ हजार मिलने पर स्वामिनियों ने इसे बहुत समझा। नाम तक उतने ही दाम पर मकान ठीक हो गया। मकान पुराना था लेकिन हमने सोचा दस-बीस साल तो चल ही जाएगा। किताबघर की ओर जा रहे थे तो रास्ते में श्री जगदीशचन्द्र माथुर पत्नी सहित मिल गये। आजकल बिहार सरकार के शिक्षा-सचिव थे। बड़े मुस्नद पुरुष हैं। बिहार सरकार ने डा० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट कायम करना निश्चय किया था। माथुर साहब ने बतलाया कि इसके खर्च के लिए इस साल २५ हजार रुपया रखा गया है। जायसवालजी से मेरे सम्बन्ध और मेरे काम के बारे में उन्हें जानकारी थी। हिन्दी के एक अच्छे साहित्यकार के नाते वह मुझसे परिचित थे। सबसे पहले हमारा परिचय उस समय हुआ था, जबकि स्टाइक के दिनों में कम्युनिस्ट होने के कारण मैं हजारीबाग जेल में बन्द था, और माथुर साहब आई० सी० एस० करके काम सीखने के दौरान जेल में आए। मेरे जैसे

सनरनाव राजय दी के साथ उस समय मुलाकात करना नये अफसर के लिए खतरे की बात थी लेकिन माथुर साहब का अपने ऊपर विश्वास था। जायसवालजी के नाम की संस्था में काम करने की इच्छा क्या न होती लेकिन न मैं नौकरी कर सकता था, और न बिहार की गर्मी-बरसात को बर्दाश्त कर सकता था। मैंने यही कहा कि मैं सहयोग देने को तयार हूँ, किन्तु वैतनिक काम नही कर सकता। किताबघर (लाइब्रेरी) को सौ साल पहले अंग्रेजो ने अपने लिए स्थापित किया था। पहले इसमें अंग्रेज छोड कोई मेम्बर नहीं बन सकता था। अब छूट थी यद्यपि प्रबन्ध एंग्लो इंडियन पुरुषों और महिलाओं के हाथ में था। इसके अपने मकान में नीचे कई दूकानें हैं और सदस्य शुल्क भी आता है इसलिए इसे निर्धन नही कहा जा सकता। सौ साल में बहुत-सी काम की पुस्तकें जमा हो सकती थीं, लेकिन यहाँ हल्की फुल्की पुस्तकें ही ज्यादा दिखीं। हिमालय-सम्बन्धी एटकिन्सन की जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों का अभाव था।

२२ तारीख को फिर एजेन्ट साहब ने मकान के दाम बनाने की बात शुरू की। पहले तो मालूम हुआ, अब दूसरा घर ढूँढना पड़ेगा। हम उसमे एक पैसा भी आगे बढ़ने के लिए तयार नही थे। अन्त में उतना ही ठहरा, मैंने दो हजार बयाना दे दिया। डा० सत्यकेतु को पाँच सौ रुपया देकर मकान की मरम्मत और सफेदी आदि कराने के लिए कह दिया। डा० बसेसर डा० सत्यकेतु के परिवार से परिचित थे और मुझसे भी दस्तादगी थी। उस दिन शाम को रुक्समाट में वे चाय पीने के लिए आए। मुझसे भी दरस परस हुआ। उस शाम को फिर हनसिंह गया। हन किस्म के सारे गुणों को देखने के लिए न उस समय मेरे पास आँखें थीं और न उसके दोषों का ही देख सकता था। मुझे बारहो महीना मसूरी में रहना था जहाँ जाड़ों में कितनी ही बार दिन में भी तापमान हिमबिन्दु से नीचे रहता है। उस समय के लिए हमारा शीशेदार बराडा बहुत अनुकूल साबित हुआ क्योंकि उसमें सूर्योदय के समय ही सूर्य की किरणें आ जाती और सूर्यास्त तक हटने का नाम नहीं लेती थी। बराडे के भीतर या बाहर से हिमाच्छादित गिरिराज

की चोटियाँ प्रायः केदारनाथ के पास से जमुनोत्री के करीब तक दिखाई पड़ती थीं। चोटियाँ ही नहीं, उनके नीचे बहुत दूर तक अनेक पर्वत पंक्तियाँ एक-दूसरे से मिलती क्रमशः ऊपर उठती चली गई थीं। वर्षा-काल में जब नीचे की सारी पर्वत-स्थली हरियाली से हरी और ऊपर रजतशिखर शृंखलाएँ निरभ्र दिन में सामने उपस्थित होतीं तो दृश्य बड़ा मनमोहक होता। बादलों के होने पर उपत्यका के एक छोर से दूसरे छोर तक तना हुआ सतरंगा इन्द्रधनुष यहाँ के लिए दुर्लभ चीज नहीं थी। इन गुणों को उस समय मैंने नहीं समझा था, और न इस बड़े दोष को कि ये तीन हाथ के जो लम्बे चौड़े हाल अधिक नहीं हैं, बल्कि दोमंजिला इमारत के बराबर ऊँचे हैं आग जलाने का इन्तजाम होने पर भी कभी गरम नहीं किया जा सकता, आग के पास दुबक कर बैठने पर ही थोड़ा-सा गर्मी मिल सकती है। बंगले में पंखे और वातानुशीतन का इन्तजाम नहीं था पर उसे बगल ही यहाँ अधिक मिलते हैं।

नैनीताल—मकान ठीक-ठाक हो जाने पर जब नैनीताल से सामान सहित कमला को ऊपर आ जाना था। २६ जून को श्री प्रोफेसर गयाप्रसाद शुक्ल के यहाँ (सेवन आश्रम रोड पर) सवा ११ बजे पहुँचा। जून का अन्त था। वर्षा होने पर भी पसीना होना आम बात थी, और शुक्लजी के यहाँ पंखे का सहारा लेना पड़ा। मक्खियाँ भी बहुत थीं। इन दोनों का मसूरी या नैनीताल में अभाव था। देहरादून ने अपनी लीचियों के लिए बड़ी ख्याति प्राप्त की है। यहाँ की अच्छी लीचियाँ अपने स्वाद और आकार में मुजफ्फरपुर की लीचियों से किसी तरह भी कम नहीं होतीं। एक टोकरी लीची सौगात के तौर पर मैंने भी ले ली। साढ़े ७ बजे रात को छूटने वाला एक्सप्रेस पकड़ा जिसमें प्रयाग का डब्बा रहता था। हमारे डब्बे में जबलपुर जाने वाले एक सिख कर्नल और १०-१२ वर्ष के एंग्लो इण्डियन लड़के थे। कर्नल साहब के दो लड़के जो उनके साथ चल रहे थे, और पिता-पुत्र केवल अंग्रेजी में बात करते थे। यह दिमाग भला सिपाहियों में घुलने मिलने देगा। लेकिन अभी तो सारे कुएँ में भाँग पड़ी मालूम होती है।

लक्सर में डब्बा सवेरे तक खड़ा रहा, फिर पश्चिम से दूसरी ट्रेन में जुड़कर ९ बजे बरेली पहुँचा। प्रो० भोलानाथ शर्मा से मिलना चाहता था, लेकिन काठगोदाम वाली ट्रेन के जाने में देर नहीं थी। उसे पकड़कर ५ बजे शाम को मैं काठगोदाम पहुँचा, फिर बस पकड़कर पौने [illegible] बजे नैनीताल। वर्षा हो रही थी। इसी वर्षा में हमें मसूरी स्थान परिवर्तन करना था। आजकल खूब भीड़ थी, नावों में लोग किश्ती खेल रहे थे, जिसके कारण वह नहीं मिली और कुली पर सामान उठवाकर रात को ओक लाज पहुँचा।

२५ जून को इतवार था। आज साहित्यकार पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आये। बहुत सीधा-सादा लेकिन तरुण के लिए अति आकर्षक व्यक्तित्व है। उन्होंने उपन्यास लिखे, नाटक लिखे और सभी काफी परिश्रम से तथा अच्छे लिखे गये। मुझे आश्चर्य और दुःख भी होता था कि क्या इस सीधे-सादे पुरुष को हिन्दी वाले समझ नहीं रहे हैं। बहुत सी बातें शान्तिप्रिय द्विवेदी और गोविन्दवल्लभ पन्त में एक सी हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी की भी बहुत दिनों तक उपेक्षा रही, लेकिन इस शब्द और अर्थ के सजग शिल्पी को अब हिन्दी वाले पहचानने लगे हैं। इस अष्टावक्र मुनि के ऊपर अपने देह भर ही का नाम है, जो मन भर का भी नहीं है। शान्तिप्रिय को फूंक दें, तो उड़ जाएँ। उनकी कृतियाँ अगर आज से ५० वर्ष बाद अस्तित्व में आतीं, तो उनके पास अपना बंगला होता, अपनी कार होती, एक से अधिक महिलायें प्राइवेट सेक्रेटरी, साहित्य सेक्रेटरी और टाइपिस्ट का काम करतीं। खाओ पियो मौज करो की ध्वनि घर के दरोदीवार से भी निकलती, लेकिन आज अजगरी वृत्ति है। सिर समाने के लिए ठीक से घर भी नहीं। अपना घर होता ही कैसे? किसी साहित्य रसिका महिला का कृपा-कटाक्ष उन्हें कभी नहीं मिला। शान्तिप्रियजी का अगले जन्म पर विश्वास है, इसलिए शायद वह इस जन्म का घाटा अगले जन्म में सूद-दर-सूद के साथ पूरा कर लें। इतना होने पर भी जब पन्तजी का मुकाबिला शान्तिप्रिय से करते हैं, तो यह कहना पड़ता है कि पन्त को और भी भीषण कष्टों और चिन्ताओं के बीच से होकर गुजरना पड़ता है। नैनीताल [illegible] सस्ता

होने के कारण वह ऐसे मकान में रहते हैं, जो कभी भी गिरकर उन्हें चिन्ताओं से मुक्त कर सकता है। क्या इसी ख्याल में तो वह उसमें नहीं रहते? उनकी कृतियाँ भी मानो के अक्षरों से लिखी गई हैं। "नूरजहाँ" को उठाते वक्त मुझे ख्याल आया यह ऐतिहासिक कथा को लेकर लिखी हुई पुस्तक है, जो 'दुर्गम् पथ तत् कवयो वदन्ति।" इस दुर्गम पथ में पद पद पर स्खलित होने का डर है, लेकिन पुस्तक समाप्त करने पर मैं वाह वाह करते इस बात से असन्तुष्ट हुआ कि मैं हो क्या इतने दिनों तक इसे देखने से वंचित रहा। पन्त के नामराशि हमारे प्रदेश के मुख्यमन्त्री भी हैं। साहित्यकार ने अपने नाम के साथ कोई उपनाम भी नहीं लगाया, इसका परिणाम अक्सर यह होता है कि साहित्यकार पन्त की चिट्ठियाँ मुख्यमन्त्री के पास चली जाती हैं और उनके चिट्ठियों के जंगल में भूलकर कितनी ही फिर लौटकर अपने स्थान पर नहीं पहुँचने पातीं। ऐसे सुन्दर साहित्यकार की इस दीन हीन स्थिति को देखकर दिल बागी हो कहता— उठकर सभी अट्टालिकाओं में आग लगा दो। पर यह तो पागलपन होगा। अट्टालिकाओं ने क्या अपराध किया? अट्टालिकायें तो स्वामी परिवर्तन कर सकती हैं और उनमें से एक उपन्यास-नाटककार गोविन्दवल्लभ पन्त को और एक मानिया पिराने वाले शान्तिप्रिय को मिल सकती है। इन अट्टालिकाओं पर आज अयोग्यों का अधिकार है अन्धेरनगरी जो है। जब तक अन्धेरनगरी दूर नहीं होती, तब तक सभी जगह अन्धेर खाना रहेगा।

श्री प्रभुदयाल मित्तल (मथुरा) की पुस्तक "ऋतु-सौंदर्य" भूमिका लिखने के लिए आई। मित्तलजी ने ब्रजभाषा की कितनी ही निधियों का जिस लगन के साथ संग्रह और सम्पादन किया है, उसे देखते आग्रह को ठुकराना मेरे लिए सम्भव नहीं था। पर काव्य-कृतियों के सम्बन्ध में राय देने में मुझे इस दर्जे का संकोच होता है। मैं उसके लिए अपने को अयोग्य समझता हूँ। अयोग्य क्यों न समझूँ? जिन पंक्तियों को सुनकर लोग मस्त हो सिर हिलाने लगते हैं उन्हें सुनकर या पढ़कर मेरा मन न पसीजता है न उत्पन्न होता है, जैसे भैंस के सामने बीन बज रही है। सचमुच ही मैं

लक्सर में डब्बा सवेरे तक खड़ा रहा, फिर पश्चिम से दूसरी ट्रेन में जुड़कर ९ बजे बरेली पहुँचा। प्रो० भोलानाथ शर्मा से मिलना चाहता था, लेकिन काठगोदाम वाली ट्रेन के जाने में देर नहीं थी। उसे पकड़कर ५ बजे शाम को मैं काठगोदाम पहुँचा, फिर बस पकड़कर पौने ७ बजे नैनीताल। वर्षा हो रही थी। इसी वर्षा में हमें मसूरी स्थान परिवर्तन करना था। आजकल खूब भीड़ थी, नावों में लोग झिझरी खेल रहे थे, जिसके कारण वह नहीं मिली और कुली पर सामान उठवाकर रात को आर्क लाज पहुँचा।

२५ जून को इतवार था। आज साहित्यकार पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आये। बहुत सीधा-सादा लेकिन तरुण के लिए अति आकर्षक व्यक्तित्व है। उन्होंने उपन्यास लिखे, नाटक लिखे और सभी काफी परिश्रम से तथा अच्छे लिखे गये। मुझे आश्चर्य और दुःख भी होता था कि क्या इस सीधे-सादे पुरुष को हिन्दी वाले समझ नहीं रहे हैं। बहुत सी बातें शान्तिप्रिय द्विवेदी और गोविन्दवल्लभ पन्त में एक सी हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी की भी बहुत दिनों तक उपेक्षा रही, लेकिन इस शब्द और अर्थ के सजग शिल्पी को अब हिन्दी वाले पहचानने लगे हैं। इस अष्टावक्र मूर्ति के ऊपर अपने देह भर ही का बोझ है, जो मन भर का भी नहीं है। शान्तिप्रिय को फूँक दें, तो उड़ जायँ। उनकी कृतियाँ अगर आज से ५० वर्ष बाद अस्तित्व में आतीं, तो उनके पास अपना बंगला होता, अपनी कार होती, एक से अधिक महिलायें प्राइवेट सेक्रेटरी, साहित्य सेक्रेटरी और टाइपिस्ट का काम करतीं। खाओ पियो मौज करो की ध्वनि घर के दरो-दीवार से भी निकलती, लेकिन आज अजगरी वृत्ति है। सिर छिपाने के लिए ठीक से घर भी नहीं। अपना घर होना ही कैसे? किसी साहित्य रसिका महिला का कृपा-कटाक्ष उन्हें कभी नहीं मिला। शान्तिप्रियजी को अगले जन्म पर विश्वास है, इसलिए शायद वह इस जन्म का घाटा अगले जन्म में सूद दर सूद के साथ पूरा कर लें। इतना होने पर भी जब पन्तजी का मुकाबिला शान्तिप्रिय से करता हूँ, तो यह कहना पड़ता है कि पन्त को और भी भीषण कष्टों और चिन्ताओं के बीच में होकर गुजरना पड़ता है। नैनीताल में सस्ता

होने के नाते वह एक जंगल में रहते हैं, तो कभी भी फिक्र उन्हें
चिन्ताओं से मुक्त कर सकता है। क्या इसी व्यक्ति से नाता जोड़ने नहीं
रहते? उनकी कृतियों की मात्रा के कारणों से लिखा गई हैं। 'नूरजहाँ'
का दर्शन वक्त मुझे ख्याल आता था ऐतिहासिक कथा को लेकर लिखी
हुई पुस्तक है, जो उपन्यास तक बनता बन्दिनि। इस कृति पद में पद
पद पर स्वलित होने का डर है, लेकिन पुस्तक समाप्त करने पर मैं बाद
करते इस बात से असन्तुष्ट हुआ कि मैं ही क्यों इतने दिनों तक इससे
वंचित रहा। पन्त के नामराशि हमारे प्रान्त के मुन्समनी भी
हैं। साहित्यकारों ने अपने नाम के साथ कोई उपनाम भी नहीं जोड़ा। इसका
परिणाम अक्सर यह होता है कि साहित्यकार पन्त की चिट्ठियाँ मुन्समनी के
पास चली जाती हैं और उनकी चिट्ठियाँ के जाल में भूलकर कितनी ही
फिर लौटकर अपने स्थान पर नहीं पहुँचने पाती। इस सुन्दर साहित्यकार
की इस दीन हीन स्थिति को देखकर किसी को भी हो कहना— उठकर सभी
अट्टालिकाओं में आग लगा दो। पर यह तो पागलपन होगा। अट्टा
लिकाओं ने क्या अपराध किया? अट्टालिकायें भी स्वामी परिवर्तन कर
सकती हैं और उनमें से एक उपन्यास-नाटककार गोविन्दवल्लभ पन्त को
और एक मानिनी पिरान वाले शान्तिप्रिय को मिल सकती है। इन अट्टा
लिकाओं पर आज अयोग्यों का अधिकार है अन्धेरनगरी जो है। जब तक
अन्धेरनगरी दूर नहीं होगी तब तक सभी जगह अन्धेर-खाता रहेगा।

श्री प्रभुदयाल मित्तल (मथुरा) की पुस्तक 'ऋतु-सौन्दर्य' भूमिका
लेखन के लिए आई। मित्तलजी ने ब्रजभाषा की कितनी ही निधियों को
इतने लगन के साथ संग्रह और सम्पादन किया है उसे देखते आग्रह को
टालना मेरे लिए सम्भव नहीं था। पर काव्य-कृतियों के सम्बन्ध में राय
देने में मुझे हद दर्जे का संकोच होता है। मैं उसके लिए अपने को अयोग्य
समझता हूँ। अयोग्य क्यों न समझूँ? जिन पंक्तियों को सुनकर लोग मस्त
हो सिर हिलाने लगते हैं उन्हें सुनकर या पढ़कर मेरा मन न पसीजता है
न उत्पन्न होता है जैसे भैंस के सामने बीन बज रही है। सचमुच ही मैं

अपने को काव्य नेत्र का अन्धा समझता, यदि अश्वघोष, कालिदास, बाण, तुलसी, जयशंकर प्रसाद इस पत्थर के दिल को हिलाने और पिघलाने में समर्थ न होते। मित्तलजी की पुस्तक के साथ मैं अन्याय नहीं कर सकता था, पर दूसरे भी कितने ही तरुण और प्रौढ़ कवि जब इसी तरह का आग्रह करते हैं तो बड़ी मुश्किल आ जाती है। कितनों को सम्मति लिखने की बात करके टरकाना, कितनों को बदरंग वाक्यों में कुछ लिख देना पड़ता है।

२६ जून को श्री पुरुषोत्तम कपूर का लखनऊ से भिजवाया दसेरी आम आया। पहाड़ की सर्दी के लाभ में फैशन का यह सबसे बड़ा घाटा रहता है कि आमों के मौसिम में आमों के पास रहने का मौका नहीं मिलता। आम के प्रति मेरा विशेष पक्षपात है, यह कहना आत्मश्लाघा होगी, क्योंकि आम अजातशत्रु नहीं, बल्कि सर्वप्रिय है। हिमालय की विलासपुरियों में बसे आम दुर्लभ नहीं हैं, केवल दाम दूना होता है, लेकिन सबसे घाटे की बात यह है कि पेड़ के नीचे ताजे पके आम को बाल्टी के पानी में रखकर खाने का जो आनन्द आता है, वह आनन्द यहाँ कहाँ? बासीपन सा मालूम होता है, हम आम नहीं पठार पस खा रहे हैं।

इसी समय खबर पढ़ी, अमेरिका आधे दक्षिणी कोरिया से सन्तुष्ट न रह सारे को अपनी मुट्ठी में करना चाहता है। उसने अपनी कठपुतली सिगमन री को उकसाकर उत्तर कोरिया पर आक्रमण करा दिया है। असली बात यह थी, लेकिन हमारे यहाँ तो सारे संसार की खबरें रयूटर की मार्फत आती हैं, जो अमेरिका के मिलीन ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति की प्रचारक एजेंसी मात्र है। अखबारों में छप रहा था, आक्रमण उत्तरी कोरिया ने किया है। उत्तरी कोरिया का कम्युनिस्ट शासन अमेरिका के आँखों का काँटा था, जिसे मान रूस के लिए उसे बराबर अफसोस हो रहा था।

२७ जून को परमानन्दजी ने बाकी १५ हजार का चेक भी भेज दिया। दस हजार पहले आया था, उसमें से सात खर्च होकर अब तीन हजार रह गया था। अभी १४ हजार मकान का देना था। हम कभी शाहखर्ची किया करते थे, लेकिन मास भर के खर्चे के लिए चिन्ता भी हो रही थी।

२८ जून को एकाएक यह खबर पाकर मैं सन्न रह गया कि २६ जून को स्वामी सहजानन्द का देहान्त हो गया। उनके शरीर और राम-राम की कर्मठता देखकर मुझे कभी खयाल भी नहीं हो सकता था कि वह इतना जल्दी जवाब दे देंगे। पता लगा उनको रक्तचाप की बीमारी थी। मुजफ्फरपुर जिले में मोटर से कहीं जा रहे थे। रास्ते में दौरा होने से अधिक बढ़ा और उनको लकवा मार गया। अस्पताल पहुँचाना बेकार हुआ। मजदूर किसान राज्य की स्थापना का निश्चय स्वप्नद्रष्टा शोषित पीड़ितों का अनन्य नेता चल बसा। अभी इसी मार्च को तो वह प्रयाग में मिले थे और आगे की कितनी ही योजनायें बना रहे थे। अपने स्नेह के कारण ही तो उस दिन प्रयाग में कितनी ही जगहों पर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आखिर उन्होंने मुझे पकड़ निकाला था। कम्युनिस्ट पार्टी की वर्तमान नीति से उनका मतभेद था लेकिन पार्टी के वह अनन्य हितचिन्तक ही नहीं बल्कि भक्त थे। कहते थे तपे हुए ईमानदार कार्यकर्ता यहीं हैं। यहाँ वह तरुण और प्रौढ़ हैं जो अपने काम को सीखने के लिए पूरी मेहनत करते, खूब पढ़ते, खूब सोचते हैं। वे भ्रष्टाचार में नहीं पड़ सकते। पार्टी ही हमारे देश के भविष्य की एकमात्र आशा है। उस समय पार्टी के कुछ नेता तुरन्त क्रान्ति के लिए काम करना चाहते थे। स्वामीजी उस समय को अनुकूल नहीं मानते थे। कहते थे—हम तो समझौता छोड़ने से हम भी बाज नहीं आयेंगे। पर ऐसा तो तभी होना चाहिए, जब देश की प्रबुद्ध तरुण मानवता का बहुत बड़ा भाग इस काम में साथ देने के लिए तैयार हो, तभी कुछ बन सकता है। स्वामीजी मेरे जिले (आजमगढ़) के पड़ोसी गाजीपुर जिले में पैदा हुए थे। यह कहना गलत नहीं है, मेरे पितृग्राम से उनका जन्मग्राम कुछ ही कोसों पर था। बरस पहले उनका नाम असहयोग के सिलसिले में सुना था, लेकिन उस समय मैं बिहार में काम करता था और वह युक्त प्रान्त में। पहली मुलाकात १९२५ ई० में छपरा में हुई थी। वहाँ भूमिहार ब्राह्मण सम्मेलन हो रहा था। आरम्भिक सार्वजनिक जीवन में स्वामीजी ने भूमिहारों के उत्थान का बीड़ा उठाया था। यह जाति गिरी हुई नहीं थी। पूर्वी युक्त प्रान्त और

बिहार में ही भूमिहार रहते हैं। वहाँ के बड़े बड़े जमींदारों की अधिक संख्या भूमिहार थी। किसान होने पर भी वह अच्छी हालत में थे, जिसका यह अर्थ नहीं कि भूमिहारों की अधिक संख्या भूख प्यास की पहुँच से बाहर है। यह बात कुछ समय बाद स्वामीजी समझ पाए। उस समय स्वामीजी के चरण धोने के लिए सचमुच ही बड़े बड़े भूमिहार महाराजा और महाराजा बहादुर तैयार थे। सम्मान की सुनहरी जंजीर से बाहर निकलना आदमी के लिए बहुत मुश्किल होता है। लेकिन उस सच्चे और निर्भीक हृदय पुरुष को अपने ध्येय से कोई शक्ति नहीं रोक सकती थी। भूमिहार सम्मेलन में छपरा में उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु यह देखकर दुःख भी हुआ कि वह जात पात के हिमायती के समर्थक हो रहे हैं। १९२६ में कांग्रेस ने कौंसिलों के चुनाव में सीधे भाग लेने का निश्चय किया। बाबू जलेश्वर प्रसाद कांग्रेस की तरफ से उम्मीदवार खड़े हुए थे और उनके प्रतिद्वंद्वी कांग्रेस के ही दूसरे कार्यकर्ता बाबू श्रीनन्दन प्रसाद नारायण सिंह थे। श्री नन्दन बाबू को कांग्रेस कर्मियों का बहुत अधिक सहयोग मिला था। जिले के कांग्रेस कर्मी उन्हीं को खड़ा करना चाहते थे। पर जब जलेश्वर बाबू को कांग्रेस ने खड़ा कर दिया, तो मेरे लिए उनका समर्थन करने के सिवा कोई रास्ता नहीं था। जलेश्वर बाबू मेरे घनिष्ट मित्र थे यह कारण नहीं था, बल्कि श्री नन्दन बाबू का स्नेह और सम्मान भी मेरे प्रति कम नहीं था। इस समय चुनावक्षेत्र में स्वामीजी और मैं आमने-सामने थे। जलेश्वर बाबू की तरफ से मैं था और श्रीनन्दन बाबू के स्वामीजी। मैं सिर्फ छपरा जिले में ही सबसे अधिक चुनाव प्रचार का काम करता था और स्वामीजी कई जिलों में घूम रहे थे। हाँ चुनाव के दिन जरूर हम दोनों उन थानों में डटे हुए थे जहाँ के वोट निर्णायक थे। दो दलों के अगुवा होकर व्यक्तिगत स्नेह और सम्मान को अटूट रख सकता है इसका पता मुझे वहीं लगा। स्वामीजी के ऊपर व्यक्तिगत आक्षेप सुनने के लिए मैं तैयार नहीं था, और वही बात उनके मन में भी थी। १९३१ में हम अपने उद्देश्यों में एक हो गए और तब से १६ वर्ष बीत गए, हम एक दूसरे के अत्यन्त समीप रहे—

आध्यात्मिक शरीर में हम अभिन्न हो गए। उनसे कितनी आशाएँ बँधी हुई थीं उनके शरीर को तीन ही महीने पहले क्षयग्रस्त रूप चुका था। ऐसे पुत्र का एकाएक हयना के लिए विछोह क्या न असह्य होता?

मसूरी में डा० सत्यकेतु के घर के आने की देर थी, और हम यहाँ में चले पड़ना था। उनका पत्र महीने की अन्तिम तारीख को आया कि ७ जुलाई तक बंगला रहने लायक हो जाएगा। लेकिन हम ११ जुलाई को ही नैनीताल छोड़ सके।

इधर केन्द्रीय सरकार के कई मंत्रालयों ने हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के बनाने का काम अपने हाथ में लिया था। इसका कारण मौलाना आजाद की उदासीनता या कामराज नीति थी। शिक्षा मंत्रालय को इसके लिए आगे बढ़ना था, पर मौलाना के दिल को बहुत धक्का लगा, जब उर्दू के सम्बन्ध में उनकी बात नहीं मानी गई। अब वह अपनी नाक कटाकर भी असगुन करने के लिए तैयार थे। कृषि मंत्री ने भी अपने विभाग सम्बन्धी ऐसी परिभाषावलि जमा करने के लिए एक समिति बनाई, जिसमें मेरा भी नाम था। ऐसे ही कुछ और विभागों ने भी समितियों में मुझे रखा, पर मसूरी पहुँचने के साथ मैं अपने सामने के कामों में ही पूरी तौर से लगाना चाहता था, जिसमें समितियों की सदस्यता बाधक होती, इसलिए मैंने सबसे इस्तीफा दे दिया।

५ जुलाई से अपनी बिखरी हुई किताबों को फिर बक्सों में डालकर वर्षा से बचाने के लिए तिरपाल से मढ़वाना शुरू किया। मकान का बाकी तीन सौ रुपया किराया भी चुका दिया। ६ जुलाई को हमारे पड़ोसी श्री शीतल प्रसाद गुप्ताजी ने एक छोटा सा भोज दिया, जिसमें नीचे ऊपर के सभी लोग शामिल थे। मालूम हो रहा था, पिछले तीन चार महीनों में यहाँ हमारी जड़ भीतर तक चली गई थी। गुप्ताजी का परिवार और लालजी का परिवार हमारा अपने परिवार से हो गए थे। एक दिन भी मन मुटाव होने की नौबत नहीं आई। रसोइए की दिक्कत हम बराबर रहती थी, लेकिन उस समय बौद्धलालजी के यहाँ आग्रहपूर्वक हमारा भोजन तथा

होना। चौकेलालजी का सारा परिवार आर्यसमाजी था। वह नैनीताल आर्यसमाज के मुखिया थे और इस समय आर्यसमाज मन्दिर बनाने में लगे हुए थे। उनकी पत्नी शनिवार को मौन रहती थी न जाने कितने महीनों या वर्षों से। हमने कभी नहीं कहा मौन बेकार है, बल्कि उसकी अतिशयोक्ति पूर्वक प्रशंसा करते रहे, जिसके कारण उन्होंने एक दिन अपने इस व्रत को छोड़ दिया। बिहारीलालजी जैसे अदम्य पर्वतारोही थे वैसे ही वह हँसमुख भी थे और मेरी सहायता के लिए तो हर वक्त तैयार रहते थे। घर के बच्चे भी बहुत प्यारे थे। रामनमाईन तो कौरवी की सुन्दर कहानियों और गीतों को बोलकर हमारी बड़ी सहायता की थी। उनकी बात भूलने की नहीं। रोज खाना खा १० ११ बजे आकर कहती— कमला रानी, रोट्टी राट्टी कर ली। गुप्ताजी और उनकी पत्नी हेमलता रामनमाइ की तीसरी पीढ़ी लायक थी। वह ऊपर की मंजिल में हमारी बगल में ही रहते थे, इसलिए उनके साथ रात दिन का सम्पर्क था।

१० जुलाई को सामान को बुक करके भिजवाने में गुप्ताजी और श्री विद्याप्रकाश कौंसिल ने बड़ी सहायता की। पाँच बक्सों को ही हम रेलवे पार्सल से भेज सके, बाकी तरह चीजें अपने साथ रखी थीं। गुप्ताजी और विद्याप्रकाशजी की मदद से बस में जगह मिल गई। कमला ने पहाड़ की मोटर यात्रा के लिए सबेरे से ही तैयारी की थी, मेरी चली होती तो एक प्याला चाय भी न पीने देता। रास्ते में उन्हें पाँच बार कै हुई। वह हमेशा दोष पहाड़ की गंध को देती थी। आँख बन्द करके चलने की बात को भी बेकार मानती थी। सचमुच ही बेकार थी, क्योंकि यदि मन नहीं तैयार है, तो आँखों के बन्द करने से क्या होना है? ट्रेन से हम बरेली होकर मसूरी जा रहे हैं, यह खबर श्री भोलानाथ शर्मा को मिल गई थी। वह काठगोदाम पर आ गये थे। बरेली तक साथ जाने वाले थे। उनसे बड़ी सहायता मिली। इसी डब्बे में राजस्थान के ठाकुर कर्नल शार्दूलसिंह भी जा रहे थे। नैनीताल में उनके चाय-सत्कार पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अभी वह चोटी

हिंदी की तरफ झुका नहीं है, लेकिन उसके साथ एक तरह का स्नेह जरूर पैदा हो रहा था।

हमारा ट्रेन लेट होकर १० बजे रात को बरेली पहुँची। दून एक्सप्रेस भी एक घंटा लेट था। काठगोदाम से ही हम पं० भोलानाथजी के अरस्तू के 'राजनीतिशास्त्र' के अनुवाद को देख रहे थे। वह अपने काम में बड़े सजग रहते हैं। अगर ग्रीक दार्शनिकों की पुस्तक का कोई नया संस्करण यूरोप या अमेरिका में कहीं निकला सुनते हैं तो उसकी सहायता लिए बिना अपने काम को अपूर्ण समझते। अरस्तू का लिखा "एथन्स का संविधान" नया सम्पादित हुआ था। अनुवाद कर लेने पर यह बात उन्हें मालूम हुई। उस पुस्तक को भी मँगाया। इस प्रकार १९५० के मध्य में "राजनीतिशास्त्र" हिन्दी में अनुवादित होकर तैयार हो गया, लेकिन उसके प्रकाशित होने की नौबत १९५६ में ही आई। यदि पहले प्रकाशित हो गया होता तो अरस्तू के कम से कम तीन ग्रन्थ और उन्होंने मूल ग्रीक से हिन्दी में कर डाले होते। हिंदी की यह कितनी बड़ी क्षति है? ऐसा योग्य विद्वान् इस काम के लिए हर वक्त मिल नहीं सकता। अपनी कमी पर हाथ मलना पड़ता था। एक्सप्रेस में पहले दर्जे में सिर्फ एक स्थान खाली था और हम थे दो आदमी। लेकिन किसी तरह चलना तो था ही। वर्षा भी उस वक्त भिगाने के लिए तैयार थी। कहीं कहीं गाड़ी की छत से भी बूँदें टपक रही थीं। सामान रखा और दोनों एक सीट पर बैठ गए। पं० भोलानाथजी न होते तो बहुत मुश्किल होता। अधिक सामान लेकर चलना बड़ी कचाहट है लेकिन जब कंधे पर घर-द्वार चल रहा हो तो उसकी शिकायत क्या? सवेरे (११ जुलाई) ८ बजे बाद हम देहरादून पहुँचे। पं० गयाप्रसाद शुक्ल जी स्टेशन पर आए थे। जलपान करके चलने का उनका आग्रह था, लेकिन मसूरी जाने की बसें स्टेशन के बाहर खड़ी थीं। सारे सामान को लेकर या छोड़कर जलपान के लिए जा फिर यहीं लौटना था। कमला तो जलपान भी नहीं कर सकती थी क्योंकि अभी पहाड़ की मोटर-सवारी सामने थी। एक स्टेशन-वैगन पर सब सामान रखवाया और चल पड़े। बस पर जाते

तो किंक्रेग पर ही उतरना पड़ता वाना या टैक्सी से सीधे किताबघर पहुँचा जा सकता था, जहाँ से हपीवेली नजदीक थी।

नौ कुलियों पर सामान रखकर हम हन क्लिफ पहुँचे। मकान के एजेंट ने कह रखा था कि बिक्री की लिखा पढ़ी हो जाने पर ही बँगले में रहना होगा। लिखा-पढ़ी अभी हुई नहीं थी। पर इसका हम पता नहीं था। बँगले के चौकीदार को भी यह बात मालूम थी, लेकिन उसने बाधा नहीं डाली। उसने बँगला खोल दिया। सफाई अच्छी नहीं हुई थी, लेकिन डा० सत्यकेतु के घुटने में चोट आ गई थी, इसलिए देखभाल नहीं कर सके थे। फर्नीचर में से भी कितने ही उठ गए थे, और हम अचानक आकर बैठ न जाते, तो और भी कितने उठ गए होते। मकानों के बिकते समय अक्सर ऐसा होता है। चार अच्छी चारपाइयों की जगह चार रद्दी चारपाइयाँ थीं। सामान की सूची में आखिर संख्या ही तो लिखी जाती है और वह यहाँ पूरी थी। एक कमरे की दरी का आधा भाग भी गुम था। कमला ने बँगले को पसन्द किया। हाँ, उसके एकान्त में होने की बात अवश्य कर रही थी। लेकिन हन क्लिफ मामूली एकान्त स्थान नहीं था। यह ऐसा बँगला था, जिसके लिए ऋषि मुनि भी तरसते। मसूरी म्युनिसिपल्टी की सीमा और बँगले की सीमा एक थी, अर्थात् पश्चिम में इसके बाद कोई बँगला नहीं था। ऊपर हनहिल का विशाल बँगला था, जिसका ही हनक्लिफ मेहमानखाना था, और केवल वक्त ही दोनों की भूमि का बँटवारा हुआ था। हनहिल भी वर्षों से किसी रहने वाले का मुँह नहीं देख पाया था, और वही अवस्था उसके पास की हनली बँगले की भी थी। हनली के नीचे किल्डेर का दोमंजिला भव्य बँगला था, जिसमें पुसाग बहनें और उनके भाई स्थायी निवासी थे। वर्षों तक उनके पड़ोसी रहने का हमें आनन्द मिला।

योगिराज विट्ठलदास (गुजराती) इसी समय मसूरी में आये हुए थे। मेरे साथ उनका अस्पष्ट परिचय था। मैंने उन्हें एक सिद्धहस्त घुमक्कड़ पाया। उन्होंने पूर्री न खिलाई होती, तो उसी दिन बिजली पानी हमारे लिए न खुलता। यह भी पता लग गया कि रेलवे पार्सल से भेजी हमारी पुस्तकें लौट

एजेंसी म आ गई हैं। पुस्तका का रखन क लिए सिफ दा रक थे। तीन अलमारियाँ कपडों की थी, तीन चार कपबोड पुस्तका का रखन के लिए उपयुक्त नहा हा सकत थे। दा-तीन अलमारिया की तत्काल आवश्यकता मालूम हुई।

११ जुलाइ अपन मकान म पहली रात थी, अभी वर्षों मुझे इस मकान से असन्तुष्ट होन की जरूरत नहीं थी। उस समय ता बहुत खुशी हा रही थी।

१२ जुलाइ को मकान ठीक ठाक करन म दोपहर तक लग रहे फिर कमला क साथ एक्समोंट गए। योगिराज ने कुछ गुजराती पकवान तैयार किए थ। योगिराज यौगिक आसन और कितना ही और क्रियाएँ जानत थ, और उनका प्रयोग रहस्यमय ढग से नही, बल्कि स्वास्थ्य क उपयोग क लिए करत और दूसरो को भी सिखलाते थे। वह अपनी इसी विद्या का लेकर यूराप घूम आए थे, और कुछ ही दिना बाद फिर विश्व-परिक्रमा क लिए निकलने वाल थे। सेठ गोविन्ददास की "पृथिवी परिक्रमा' मे योगिराज यूयाक म मिले थे। कितने साला से न मिलने पर मन लालायित ता हाता है लेकिन घुमक्कड ता बतासपछा हात हैं, जा बिछड गए सा बिछड गए।

नय मकान का किसी ने लिया है, यह सुनकर एक मिस्त्री आए और कहा, बँगले का पुश्ता कमजोर है इसे मजबूत करना चाहिए नहीं ता गिर जान का डर है। हम कोई कमजारी नही मालूम हुई। और पुश्ता मजबूत करन का मतलब हजार डेढ हजार स्वाहा करना था। साथ रह थ एक रसाइया ता रखना ही हागा जिसक लिए भाजन और २५ रुपया महीना देना पडेगा। आस-पास जा जमीन है, उसका फुलवारा सजाना चाहिए, जिसके लिए ४० रुपय मासिक कम-से-कम माली का भी दन पडेंगे। सब चाहिए लेकिन पास मे रुपय कितन हैं इसको भी देखना था, इसलिए उस समय एक रसोइय का ही रखन का निश्चय किया। बाजार स कुछ काम की चीजें खरीदी जिसम ६० रुपय लग गए। रेडियो भी अब अनिवाय मालूम हान लगा, खासकर इस एकान्त बँगले म उसकी जरूरत समाचार क

रजिस्ट्री कर दी। मैं नहीं गया, डा० सत्यकेतु ने सब काम क
विवाद होने पर सारी जिम्मेवारी हमारे ऊपर रखने की
थी, जिसे मैंने निकलवा लिया। उसी दिन से डा० सत्यकेतु
नौकर मातवरसिंह को रसोई बनाने के लिए हमारे पास भ
मिले नौकरों में वह सबसे अच्छा था। ईमानदार था, काम क
नगी था और बिना कहे काम को करता जाता था। हाँ
अच्छी नहीं बना सकता था और वेतन भी अधिक था।

मैं भी कभी शीर्षासन किया करता था। योगिराज ने
हलासन की तारीफ की, तो फिर १६ जुलाई को मैंने शुरू कर
बहुत दिनों तक चला नहीं। वस्तुतः बाहर टहलने से बचने,
मन ने यह बहाना ढूँढा था और पीछे उसने यह भी कह दि
बेटीज तो जीवन भर के लिए साथ हो गई है इसलिए इससे

धीरे धीरे हम हनबिल्फ के वासी और मसूरी के नि
यहाँ की चीजें कुछ दिनों तक नई सी दीखती रहीं पीछे उनक
जाता रहा। कमला का ध्यान के प्रति स्नेह बहुत सूक्ष्म गति
लगा। वह तपस्विनी होने के लिए नहीं पैदा हुई थीं, औ
घुमक्कड़ थीं।

२४

मसूरी का प्रथम निवास

१९४३ में मैं पहले-पहल मसूरी आया था और मानसरोवर जाने तिब्बत की सीमा के पास के नेलङ गाँव से जल्दी-जल्दी मंजिल मारता यहाँ पहुँचा था। मेरे साथ नेलङ गाँव का एक तरुण था, उसके परिचित किशनसिंह लण्ढौर बाजार में रहते थे। उन्होंने अपनी छोटी-सी दूकान और निवास की कुटिया को दिखलाकर कहा था—'तकलीफ तो होगी लेकिन यह कुटिया हाजिर है।" उन्होंने कुछ ऐसे स्वर में ये बातें कही थीं कि मैं उन्हीं के पास ठहर गया। कुटिया हो या महल, सब जगह आनन्दपूर्वक रहना घुमक्कड़ के लिए आवश्यक चीज है, मैं उसका अभ्यस्त था। किशनसिंह की फिर याद आई और २४ जुलाई को कमला के साथ हम घूमते उनके पास गए। मसूरी में उन्हें मैंने सदा अपने स्वजन बन्धु सा पाया। किशनसिंह टनौर के ननसू गाँव के रहनेवाले थे। अपने भाई-बन्धुओं की तरह व्यापार के कारण वह भी तिब्बत कई बार गये, और वहाँ की भाषा को अपनी मातृभाषा की तरह बोलने लगे। घुमक्कड़ी में कन्धा-बहँगी पर ढोह यहाँ लाया। द्विपाद से चतुष्पाद हो गये, आगे षट्पद और अष्टापद हुए। जीविका के लिए दूसरे साथी भोटियों की तरह उन्होंने भी सूई, तागा, चाकू-कैंची, साबुन और इसी तरह की सस्ती चीजों की छोटी-सी दूकान खोल दी। सीजन के वक्त उनकी पत्नी टोकरियों का सामान लेकर होटलों में

साहबों के पास भी जाती, लेकिन अंग्रेजों के चले जाने पर अब इन चीजों के ग्राहक बहुत कम थे। जाड़ों में वह दिल्ली में रहते थे। वहां यूरोपियन ज्यादा थे जो तिब्बत और चीन की दस्तकलापूर्ण चीजों को पसन्द करते थे। मसूरी में १०-१५ लम्बा तिब्बती परिवार थे, जो पहले से ही यहीं काम करते आये थे। किशनसिंह ने भी वही जीवन अपनाया था। किसी तरह गुजारा कर लेते थे। किशनसिंह से मिलकर फिर लण्ढौर बाजार के अन्तिम सिरे तक गये। मकान में बढ़ई से कुछ काम करवाना था, पूरनसिंह होशियारपुरी अपने पुत्र के साथ आने के लिए तैयार हुए। कई शीशे टूट गये थे लकड़ी की चीजों में भी मरम्मत करनी थी छत कहीं-कहीं चूती थी और हौज की बुरी हालत थी। दरअसल इस घर की मरम्मत नाममात्र की ही हो पाई थी। उस दिन लण्ढौर से हम बहुत सी चीजें खरीदकर लाये। मसूरी में लण्ढौर, कुलड़ी और किताबघर तीन बाजार हैं जिनमें लण्ढौर ही बारहों महीने का है क्योंकि यह सिर्फ सैलानियों पर निर्भर नहीं रहता बल्कि आस पास के पहाड़ी गांवों के लोग भी यहीं चीजें खरीदने आते हैं। पहाड़ों की तरफ भी अब मोटर सड़क बन रही है और बहुत से गांवों से लण्ढौरवालों का हाथ धोना पड़ेगा। उस समय अंग्रेजों के जाने पर भी उनके सम्बन्ध की बहुत सी चीजें बिक रही थीं। फौज की बेकार का सामान और दवाओं का ढेर लगा हुआ था अंग्रेजी किताब और अंग्रेजों के दूसरे सामान भी बिक रहे थे मैंने एक पाठ पर का सैनिक वाला भी ले लिया जिसमें १५ सेर सामान आसानी से आ सकता था। सोच रखा था, अगले साल गढ़वाल के सिलसिले में बदरीनाथ जाना पड़ेगा उस वक्त यह काम आयेगा। घुमक्कड़ी तो मैं कर चुका था लेकिन मेरी यह लालसा अपूर्ण ही रहा कि सब सामान अपनी पीठ पर रखकर चला जाए। जिन्दगी में सिर्फ एक बार कुछ दिनों के लिए पहली तिब्बत यात्रा में ऐसा मौका मिला था। लेकिन सामान जरूरत से कुछ अधिक था, और मुझे बोझा ढोने का अभ्यास नहीं था। समझता था, अब अभ्यास करके शायद उसे पूरा किया जा सके। बहुत पहले घुमक्कड़ी में पैर रखने ही वाला साथ के साथ इस

श्लोक का पद था "एकाकी निस्पृह शान्त पाणिपात्रो दिगम्बर । कदा भविष्यामि ।" पाणिपात्र और दिगम्बर बनकर प्राथना करने की साध तो अब नहीं रह गई थी पर इसकी साध जरूरी थी कि सब सामान अपनी पीठ पर रखकर घूमता। लेकिन, यह क्या उस समय सोचने की बात थी, जब कि मैं घर बाँध चुका था, और कोई कहे, न गृह गृहमित्याहु गृहिणी गृहमुच्यते।" तो गृहणी भी गृह के साथ आ गई थी। कमला के साथ परिचय और घनिष्ठता दूसरी स्थिति और दूसरे उद्देश्यों से हुई थी। पर यह घनिष्ठता अब दूसरे रूप में परिणत होनेवाली थी। मैं जब दोनों की आयु का ख्याल करता, तो हिचकिचाता था समझता था, कमला को सुशिक्षित कर अपने पैरों पर खड़ा कर देना ही ठीक होगा। पर जब अपने देश के समाज को देखता तो यह नीचे दर्जे का स्वार्थ मालूम होता। आखिर कमला और मेरे साथ रहने का समाज किस अर्थ में ले रहा था। हमको यदि मुझे पर्वाह नहीं थी, तो यह तो देखना ही था कि दूसरों की टीका-टिप्पणियों का कमला के ऊपर क्या असर होगा। यह सब देखते घुमक्कड़ी का दबाव अब बिल्कुल बेकार की बात थी।

२४ को ही सरदार पूर्णसिंह अपने लड़के के साथ काम करने के लिए चले आए और कई दिनों तक काम करते रहे। बंगले के कुछ सामान उठ गये थे लेकिन तो भी काफी सामान थे। गद्दीदार कई कुर्सियाँ मरम्मत के बिना बेकार थी, दो-तीन छोटी छोटी मेजें भी गोदाम से निकल आई। फर्नीचर की मरम्मत के बाद इन को भी रंगना आवश्यक समझा गया। हमारे बंगले की छत बिना रंगी थी। गुनियों ने बतलाया कि रंग देने पर शाह की चादरें मुर्चे से भी बच जाती हैं उनकी आयु बढ़ जाती है। खैर, इस वर्ष तो अभी इन चादरों को बदलवाने की जरूरत नहीं पड़ी, क्या जाने यह रंगने ही के प्रताप से हुआ। श्री सेनगुप्त अब भी इलाहाबाद में परिभाषा का काम कर रहे थे। मैं उनकी देखभाल कर लिया करता था पर प० बलभद्र मिश्र के हट जाने के बाद मुझसे कोई आशा नहीं रह गई थी सेनगुप्त को वहाँ युनिवर्सिटी में रूसी पढ़ाने का काम मिल रहा था, मेरे

भी इसमें सहमति और सहायता रही। अब वह युनिवर्सिटी में चले गये। लेकिन उसके बाद भी उन्होंने काम से हाथ नहीं उठाया। कलिम्पाग में तैयार किये हुए हमारे कोशों में से कितने उनकी ही सावधानी के कारण अच्छी तरह छप सके।

मेरी दो-तीन पुस्तकें गुजराती में अनुवादित हो चुकी थीं। अहमदाबाद के श्री नवनीतलाल मद्रासी गुजराती प्रकाशन का काम करते थे, और मेरे मित्र पं० भागवताचार्य के स्नेहपात्र थे। उन्होंने कुछ और पुस्तकें गुजराती में अनुवाद करके प्रकाशित करनी चाहीं। मैंने अनुमति दे दी और 'जय यौधेय', "सिंह सेनापति", "मधुर स्वप्न", 'जादू का मुल्क" आदि कई पुस्तकें उन्होंने प्रकाशित कीं। उनके पत्र से मालूम हुआ कि आजकल पं० भागवताचार्य जी अमेरिका गये हुए हैं। स्वामी सहजानन्द और स्वामी भागवताचार्य में कितनी ही बातें एकसी थीं। दोनों ही मेरे स्नेह और सम्मान के एकसे भाजन थे। दोनों ही संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। राजनीति में भी दोनों आगे बढ़े हुए थे, पर स्वामी सहजानन्द जहाँ मजूर-किसानों के बिल्कुल अपने हो गये थे, वहाँ भागवताचार्य जी गान्धीजी के मानवतावाद तक पहुँचे थे। उन्होंने संस्कृत में गान्धीजी की पद्यबद्ध जीवनी "भारतपारिजातम्" तीन भागों में लिखी थी।

इस समय वाई० डब्लू० सी० ए० (तरुण महिला क्रिश्चियन सभा) में कई देशों की महिलाओं का क्लास हो रहा था। डा० पा चाउ से उन्हें मेरे बारे में मालूम हुआ, और उन्होंने मुझे व्याख्यान देने के लिए कहा। इसमें कोई उज्र नहीं हो सकता था, विशेषकर जब कि इसके द्वारा एसिया के बहुत से भागों की महिलाओं से भेंट करने का मौका मिल रहा था। पर भारत में अंग्रेजी में व्याख्यान देना मैं पसन्द नहीं करता। इसमें एक तरह की हीनता का भाव समझ लीजिए, या अंग्रेजी को भाषा होने से अपने देश में गुलामी का चिह्न समझकर उसके उपयोग में आत्मग्लानि होती है। हिन्दी जाननेवाला यदि अंग्रेजी में पत्र लिखता, तो मैं उसका जवाब देने से इन्कार कर देता। लेकिन, यदि कोई अंग्रेजी ही जानता है, तो उससे बोलने

या पत्र-व्यवहार करने के लिए अंग्रेजी के व्यवहार में मुझे कोई आपत्ति नहीं। यहाँ भी आखिर जापान, इंडो चायना, फिलिपीन, सीलोन आदि की महिलाएँ थीं, जो अंग्रेजी ही समझ सकती थीं, इसलिए मैंने उनके यहाँ भाषण देना स्वीकार कर लिया और भाषण दिया भी।

हमारे नीचे का "हन लाज" बंगला जान लेडली के पिता की संपत्ति थी। बैंक के मैनेजर बूढ़े लेडली थे। अवकाश प्राप्त करने पर मसूरी में 'हन लाज' और 'आर्डेन' दो बंगलों को लेकर यहीं रहने लगे। आर्डेन में लेडली पिता-पुत्र रहते, और 'हन लाज' में एक शरणार्थी सरदार दो-तीन सालों से रह रहे थे। वह कूका सिक्ख थे। कूका गुरु रामसिंह और उनके शिष्यों ने देश के लिए कितना आत्मबलिदान किया, यह सभी को विदित है। उनके सैकड़ों शिष्यों को गोली से उड़ा या फाँसी देकर गुरु रामसिंह को अंग्रेजों ने बर्मा भेज दिया। शिष्यों ने प्रतिज्ञा की कि हम अंग्रेजों की कचहरियों में नहीं जाएँगे, हम अंग्रेजों की रेलों पर नहीं चढ़ेंगे इत्यादि। और इसका उन्होंने भारत के स्वतन्त्र होने तक निर्वाह किया। सरदार से जब तब बातचीत हो जाती थी, पर उनका ज्ञान और रुचि सीमित थी, इसलिए हम मामूली बातों तक ही सीमित रहते। उन्होंने बतलाया, यहाँ बघेरे तो हैं, और जाड़ों ही नहीं, गर्मी-बरसात में भी रात को आ जाते हैं, लेकिन अभी तक उन्होंने किसी मानव पुत्र को कोई कष्ट नहीं दिया, न उस पर हमला किया। हाँ, कुत्तों को वह बिलकुल नहीं छोड़ते। अपने एक कुत्ते के बारे में बतला रहे थे: अभी सूर्य बिलकुल डूबा भी नहीं था। लड़के जंजीर में बँधे कुत्ते को खाना खिला रहे थे। इसी समय न जाने कहाँ से वह टूट पड़ा और उसे लेकर चम्पत हो गया। हमारे ऊपर की कोठी 'हन हिल' वर्षों से सूनी थी। एक ओट होम दुमंजिला था, और एक कई कमरों का एकमंजिला नौकरों के लिए। इन कमरों में चौकीदार के अतिरिक्त धोबी, नाई और सीजन के वक्त में दूसरे भी काम करनेवाले रहते। पाविन के कई कुत्ते बघेरा ले गया था। कुत्ते और बघेरे के इस सम्बन्ध को सुनकर हमने सोचा, तब कोई महँगा कुत्ता नहीं लेना चाहिए।

लेकिन कुत्ते के लिए अपनी जान तो महँगी ही होती है। खैर, अभी कुत्ता …न में देर थी। किशनसिंह से कह रखा था कि एक हमारे लिए भी ढूँढ रखें। उनके पास एक सुन्दर तिब्बती कालीन पड़ा हुआ था। कमला उसकी जरूरत नहीं बतला रही थी, लेकिन किशनसिंह को हम कुछ सहायता करना चाहते थे, इसलिए सौ रुपये पर उसे ले आए।

पिछले साल चूक जाने का अफसोस था। इस साल कमला को मिडिल की परीक्षा अवश्य दिलवानी थी। चाहे इसके लिए इलाहाबाद ही जाना पड़ता। मालूम हुआ देहरादून में भी परीक्षा केन्द्र है। हमने दोनों जगह फार्म भरवा दिया। कमला पहले ही से कुछ तैयारी कर रही थी। साल भर से रात दिन वह हिन्दी ही बोल रही थी, हिन्दी पुस्तकों को पढ़ भी रही थी। मेरी नई पुस्तकों का वही टाइप भी करती थी, इसलिए भाषा का ज्ञान उसका काफी था, अब पुस्तकों को तैयार करना था।

पहाड़ी जिले में रहने के लिए हथियारों की जरूरत थी। मैंने एक रिवाल्वर और एक बन्दूक के लाइसेंस के लिए दरख्वास्त दे दी। पुलिस इसके बारे में जाँच कर रही थी। पुलिस क्या खाक जाँच करती? राजनीतिक दृष्टि से मैं पूरा अविश्वसनीय था। विश्वसनीय होने पर भी पैसेवाले या हो अँग्रेज हथियार लिया करते थे। यदि पैसा नहीं है तो यह तर्क दिया करते थे कि उसे किस चीज की रक्षा करने की जरूरत है। देश को परतन्त्र रखने के लिए उन लोगों को निहत्था रखना भी उनके लिए जरूरी था। स्वतन्त्र भारत के शासन सूत्रधार अंग्रेजों की बनाई लकीर से जरा भी हिलने-डुलनेवाले नहीं हैं। मालूम होता है, वह भी हमारी जनता से उतना ही डरते हैं, जितना अंग्रेज डरते थे। डरना भी चाहिए, क्योंकि उनका शासन जनता के हित के लिए नहीं, बल्कि कुछ मुट्ठी भर चोरबाजारी सेठों और घूसखोर मन्त्रियों-नौकरशाहों के लिए है। अंग्रेजों से स्वतन्त्रता की माँग करते कांग्रेस में प्रस्ताव करते थे कि हर स्वतन्त्र देश के नागरिक को हथियार रखने का अधिकार है, इसलिए हथियार के कानून को रद्द करना चाहिए। पर अब यह प्रस्तावकर्ता अगर जिन्दा भी हैं, तो यह मानने में

लिए भी तैयार नहीं हैं कि वह कभी ऐसी माँग करते थे। यदि स्वतन्त्र नागरिक के लिए अपनी रक्षा के लिए बन्दूक और पिस्तौल का रखना नागरिक के हक के तौर पर उचित है और ऐसा दूसरे देशों में देखा भी जाता है तो हथियार के कानून को क्यों नहीं उठा के ताक पर रख दिया जाता और बन्दूक तथा पिस्तौल को भी लाठी छूरे की तरह माना जाता? इन हथियारों के दाम इतने हैं कि गरीब स्वयं इन्हें नहीं खरीद सकते। और मन्त्रियों और प्रभुओं को जैसे-तैसे आदमियों के हाथों में इनके जाने से डरना भी नहीं चाहिए क्योंकि जैसे तैसे आदमी अगर किसी की जान लेने के लिए तैयार हैं तो हथियार का कानून उनको रोक नहीं सकता। क्या गोडसे को उसने रोका? क्या हमारे देश के भिन्न भिन्न भागों में लूट-मार करनेवाले सैकड़ों डाकुओं को आधुनिकतम पिस्तौलों बन्दूकों ही नहीं बल्कि स्टेनगनों के पाने से वंचित किया? जनता को निहत्थी रखकर बल्कि उसे इन हथियार लेकर घूमनेवाले लुटेरों की दया पर छोड़ दिया जाता है। किसी भी दृष्टि से देखने से अब हथियार के कानून की आवश्यकता नहीं थी लेकिन किसी तरह भी सोचने से यह आशा नहीं कि आज की सरकार इसमें जरा भी ढिलाई करेगी।

मुझे इस समय तो देश के लिए नहीं बल्कि अपने लिए हथियारों की आवश्यकता थी। पुलिस की रिपोर्ट पर वह नहीं मिल सकती थी। यद्यपि मैं छत्तीस हजार रुपये की आमदनी पर टैक्स दे रहा था, और इस प्रकार रखने का हक था। उस समय श्री लालबहादुर शास्त्री युक्त प्रान्त में गृह विभाग के मन्त्री थे। उनके पास मैंने चिट्ठी लिखी— मैं ऐसी जगह रहता हूँ जहाँ हथियार की जरूरत है। पुलिस क्या मेरे बारे में जाँच करके मालूम करेगी। आप मुझे और मेरे राजनीतिक विचारों को भी वहीं अधिक जानते हैं। यह बतलाइये कि लाइसेन्स देने की मनसा है या नहीं। लाल बहादुर शास्त्री वैसे तो बहुत हल्के फुल्के मुट्ठी भर के आदमी हैं। शिक्षा के लिए भी उन्हें आक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज तो दूर यहाँ के किसी विश्वविद्यालय का भी मुँह देखना नहीं पड़ा, वह काशी विद्यापीठ में पढ़े। लेकिन, न

काबुल में गदहों का अभाव होता है और न दूसरी ही जगहों में। लाल-बहादुर शास्त्री के विचारों से सहमत होना न मेरे लिए जरूरी था, न मेरे विचारों से सहमत होना उनके लिए, पर मैं अच्छी तरह उनके मूल्य को जानता था, और वस्तुतः इसीलिए मैंने उन्हें सीधे लिखा था। नौकरशाही लाल फीते से बचना तो मुश्किल था, लेकिन अगर किसी आदमी में उसकी अवहेलना की शक्ति थी, तो वह लालबहादुर शास्त्री थे। उन्होंने ऊपर से हुकुम दिया। मुझे बन्दूक का लाइसेन्स मिल गया और कुछ दिनों बाद पिस्तौल का भी लाइसेन्स आ गया।

६ अगस्त को श्री आनन्दजी के शहर अम्बाला के लाला सूपमानजी आये। वह गाँधीवादी और आनन्दजी के पुराने नाम हरनामदास से कुछ परिचित भी थे। आदर्शवाद की पुट तो जीवन में थी। अम्बाला के बाहर कितनी ही एकड़ जमीन थी, जिसमें साम्यवादी परिवार के बसाने का स्वप्न देखते थे। उस समय ख्याल कर रहे थे यहीं पास के 'हन हिल' बँगले को लेकर उसकी काफी जमीन में खेती बारी करते रहें। लेकिन, कहावत है "अल्ला मियाँ गंजे को नाखून नहीं देता। नहीं तो वह अपनी खोपड़ी ही कुरेद डाले।" मेरे मन में भी तरह तरह के स्वप्न आते थे, जिनमें एक स्वप्न को अभी अभी मकान के खूँटे से बाँधकर पूरा किया। अगर लाख रुपये और मिल जाते, तो इसमें शक नहीं कि 'हन हिल', 'किल्डर" और "हन ली" को भी खरीद डालते। सोचते यहाँ साहित्यकार मित्र आकर रहें। ऐसा करने में मेरा अनुभव शायद महादेवीजी से बिल्कुल भिन्न नहीं होता, लेकिन, अल्ला मियाँ ने नाखून न देकर अच्छा ही किया।

७ अगस्त १९५० मेरे लिए बहुत ही स्मरणीय दिवस था। उसी दिन मुझे जन्म-जन्म के बिछुड़े मित्र की तरह एक बन्धु से साक्षात्कार करने का मौका मिला। स्वामी हरिशरणानन्दजी जन्मजात घुमक्कड़ थे। यह समान गुण हम दोनों में एक सा था। कविराज विट्ठलदासजी के साथ वह पहले भी एक दिन आए थे, लेकिन उस दिन उनसे परिचित होने का मौका नहीं मिला था। आज वह अपनी पत्नी जानकीदेवी के साथ आए। फिर उनमें

चान करने उनके बारे म जानने का मौका मिला। यद्यपि मुझे उन्होने देखा नही था पर मेरी पुस्तका के पढने स मेरा काफी परिचय रखत थ। पहले मैंने यही समझा कि वह दुर्गम पहाडो के जबर्दस्त घुमक्कड रहे हैं एक सपन्न वैद्य हैं पीछे कुछ ही दिना म जब उनकी आयुर्वेद सम्बन्धी पुस्तकें पढी, ता यह भी मालूम हुआ कि वह कूपमडूकता स बहुत दूर हैं और राजनीतिक-सामाजिक विचार भी बहुत आग बढ़ हुए रखते हैं। इसके बाद तो हमारी घनिष्टता दिन पर दिन बढ़ती गई। मैं उन्हें भैया कहने लगा। मैं अपने घर म सबस बडा लडका था और पास पडोस के परिवार म भी कोई मुझसे बडा नही था। गाया मैं किसी बडे भाई का ढूढ ही रहा था और वह स्वामी हरिशरणानन्द के रूप म मिल गए। वह हर साल मसूरी आते और कई महीने रहत थ। उस समय बडा मन लगता पुस्तका के काम का छाडने म भी दुःख नही होता। हफ्ते म एक दिन जरूर मैं उनके यहाँ जाता और वह भी मेरे यहाँ आते। वह मुझसे कहा अधिक व्यावहारिक थे यह कहना उनके गुणा का कम करना हागा। आदर्शवादी रहते भी जितनी व्यावहारिकता रह सकती है, वह सारी की सारी उनके भीतर मौजूद थी। मैं तो इसम अपने को कोरा समझता हूँ यद्यपि अबुद्धिवादी न होने के कारण उससे मुझे उतनी हानि नही उठानी पडी।

स्वामी हरिशरणानन्द की जीवनी अलग लिख चुका हूँ इसलिए उनके बारे म विस्तार स यहाँ कहने की आवश्यकता नही। वह कानपुर म मुझसे दो-तीन साल पहले पैदा हुए। माँ पहले मर गई पिता भी बचपन ही म चल बसे। साधुओ के सम्पर्क म आए। अयाध्या मन्दिर म गए और साधु हो हरिदास बन गए। ८वी ९वी क्लास तक स्कूल म पढ़े इसलिए उनको ज्ञान सम्पन्न गुरु और समाज की आवश्यकता थी। घुमक्कडी दग सिखाने की और सुनी-सुनाई बाता स याग के प्रति अनुराग यागी बनने की प्रेरणा दे रहा था। घुमक्कडी करते हरद्वार म उन्हें एक यागिराज स परिचय हुआ। यागिराज वैष्णव रामी मत के थ पर रूढिवादी नही थ। उन्होने अपने सम्प्रदाय के सम्बन्ध को दिखलाने के लिए दास का हटाकर हमारे मित्र को

न आगे बढी न पीछे हटी। सबका स्वभाव एक नहीं होता, लेकिन स्वभाव में भेद होने से यह जरूरी नहीं कि दो पहिये की गाडी न चल पाए। दोनों कभी रुठते भी, फिर मिल जाते।

कलिम्पोंग से लौटकर आई हुई डाक में शासन विधान सम्बन्धी परिभाषाओं की दो सूचियाँ भी थी, लेकिन इसमें बालकृष्णजी का नाम नहीं था जो खटकने की बात थी। बालकृष्णजी से योग्य इस विषय का जानकार व्यक्ति मिलना मुश्किल नहीं बल्कि उनके तजर्बे को देखकर कहना पड़ेगा *कि असम्भव था। लेकिन अच्छी सरकारी मशीनों में भी गल्ती हो जाती* है, और यहाँ तो नीचे से ऊपर तक अयोग्यों की ही भरमार है। मन्त्रियों में से अधिकांश जी हुजूरी या तिकड़म के भरोसे ऊपर पहुंचे। अपने विभाग के *सँभालने की उनमें कोई क्षमता नहीं। यदि आइ० सी० एस० सक्रेटरियों के* भरोसे सँभालना है, तो किसी भी मिट्टी के लोंदे को वहाँ बैठाया जा सकता है। बाकी जगहों पर भाई भतीजा भांजो की या और किसी तरह से घनिष्टता प्राप्त सम्बन्धियों या उनकी सन्तानों की गुंजाइश है। ऐसी अवस्था में योग्यता को कौन देखता है? कौन-सा योग्य आदमी इस दम घुटने वाले वातावरण में अच्छी तरह साँस ले सकता है? इसका परिणाम सारी मशीन का तीन सालों में भीतर ही अकर्मण्य हो जाना हुआ। प्रान्तों *से लेकर केन्द्रीय सरकार तक के दफ्तरों में अंग्रेजों के समय से अब चौगुने से* भी ज्यादा कर्मचारी हो गए हैं, जबकि देश का क्षेत्रफल पाकिस्तान के अलग हो जाने से कम हो गया है। यह कर्मचारियों की चौगुनी पल्टन उतना भी काम नहीं कर पाती जितना कि अंग्रेजों के समय इनसे चौथाई आदमी कर लेते थे। १० बजे आफिस का समय हो, तो ११ बजे कर्मचारी और १२ बजे बडे साहब यदि पहुँच जाएँ तो बहुत मेहरबानी है। कभी कभी बड़े साहब का फोन आ जाता है कि आज कचहरी बँगले पर ही होगी। दूर दूर से *तारीख पर कचहरी में जमा हुए लोगों को अब साहेब के बँगले पर दौड़* करनी होगी। वहाँ पहुँचने-पहुँचते यह भी सुनना पड़ता है डिप्टी-कमिश्नर साहब आज देहात के दौरे पर चले गए हैं। कौन पूछने वाला है, जब एक ही

हौडी के जालिम से सभी पुत हुए हैं और सभी किसी न किसी भाई चचा या मामा की सिफारिश का बल रखते हैं। पीछे मालूम हुआ, सचमुच ही प्रो० बालकृष्ण को उस स्थान से हटा दिया गया। अंधेरनगरी [illegible] बन गई हो।

१८ अगस्त को सूचना के अनुसार ११ बजे मैं स्थानीय कचहरी में गया। हथियार के लाइसेंस के बारे में जाँच करनी थी। नायब तहसीलदार साहब साढ़े ११ बजे के करीब आए। यह गनीमत थी। इन्कम-टैक्स की रसीद के बारे में पूछा। इन्कम-टैक्स ही सरकार के लिए प्रामाणिक चीज है, [illegible] की सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं।

वर्षा के समय पहाड़ी में कहीं पर भूपात होना और कहीं पुल टूट जाना साधारण-सी बात है। लेकिन मसूरी की तरह जिसके पास सवा सौ वर्ष का तजर्बा हो, वह कठिनाइयों को जानता है और उसके लिए आदमी मौजूद रहते हैं। २१ को डाक नहीं आई। मालूम हुआ, रास्ते में कुछ खराबी है और अगले दिन पता लगा कि देहरादून से आने वाली सड़क पर कहीं पहाड़ टूट गया। पहाड़ टूटने पर डाक के थैलों को उसी समय भेज देना कोई मुश्किल नहीं था, लेकिन जब बहाना मिल गया, तब क्या तरद्दुद उठाया जाए।

मैं तो जंगल में आ गया था। अभी मुझे कुछ भी नहीं मालूम हो रहा था कि मैंने गलती की है। हाँ, यह जरूर चाहता था कि पास के हर्नक्लिफ और 'हर्न ली' दोनों बँगलों में अगर कोई हितमित्र आ जाएँ, तो बहुत अच्छा। सूर्यभानुजी पहले आकृष्ट हुए थे, फिर भैया को भी मैंने आकृष्ट करना चाहा, लेकिन वह मुझसे कहीं अधिक व्यावहारिक थे। अब क्या इस जंगल के टूटे मकान में २५-३० हजार रुपया लगाएँ? वह जानते थे कि साल में तीन महीने के लिए तीन-चार सौ रुपये पर केन्द्रीय कुलड़ी बाजार में आस-पास अच्छा मकान मिल सकता है।

इस समय चीनी की बहुत किल्लत थी। मेहमानों के सत्कार का सबसे अच्छा साधन चाय है। चोरबाजार की चीनी बहुत महँगी थी और भरसक उससे बचना चाहता था। एकाध बार राशन के अधिकारी ने नि…

स कुछ चीनी दिलवाई। फिर हमने सोचा गुड की साफ की हुई अच्छी चाशनी बना ली जाए। गुड अपेक्षाकृत सस्ता था और उस पर कंट्रोल भी नही था। गुड के साथ काफी पीना मैंने काफी की जन्मभूमि कुगम मे सीखा था। वहाँ रहते रहते यह मेरा विश्वास जम गया था कि काफी के लिए चीनी इस्तमाल करना उसके स्वाद का घटाना है, इसलिए भी गुड की ओर मेरा पक्षपात था और काफी पीने के समय तो मैं बराबर गुड की चाशनी ही इस्तेमाल करना चाहता था।

सितम्बर के पहले सप्ताह म मालूम हुआ श्री पुरुषोत्तमदास टडन काग्रेस के सभापति चुने गये हैं। यह भी कहा जा रहा था कि नेहरूजी ने उनके चुनाव का सबसे अधिक विरोध किया था, और यह भी धमकी दी थी कि उनके चुन जाने पर मैं इस्तीफा दे दूगा। एक बार ऐसी ही परिस्थिति म गांधीजी का भारी विरोध होते भी सुभाष बाबू काग्रेस के सभापति चुन गये थे। उस समय काग्रेस के लिए शक्तिशाली नेतृत्व की आवश्यकता थी। पर आजकल कोई भी काग्रेस को उस दलदल स निकाल नही सकता जिसमे वह अपने साथ देश को भी लिये जा रही है। कोई त्यागपत्र क्या देगा क्योकि सरकार स निकलकर बाहर उसके लिए करने को क्या है? लोगो ने यदि नेहरू की बात को ठुकराकर टडनजी को सभापति बनाया तो इसका अथ यही था कि अभी उनके दिमाग अपरिपक्व थे, और अपनी हानि लाभ को नहीं समझते थे। नये साधारण चुनाव के बाद जो मूर्तियाँ ऊपर आईं उन्होंने इस तथ्य को समझा कि नेहरूजी के बिना हमारा काम नही चल सकता साथ ही हमारे बिना उनका भी काम नही चल सकता।

हन क्लिफ म साग-सब्जी के लिए जमीन जरूरत के मुताबिक काफी थी और नया आदमी उसे देखकर समझेगा कि थोडा-सा हाथ पर चलाना चाहिए, फिर साग सब्जी खरीदने की जरूरत नही पडेगी। मसूरी म साग सब्जी बहुत महगी मिलती है। नीचे देहरादून म जो चीज दो आना सेर लगा, वह यहाँ छ आना सेर। साग-सब्जी के लिए आस-पास के पहाडी

गाँवों को प्रोत्साहन देने की कोशिश नहीं की गई। नई नगरपालिका के निर्वाचन होने पर आशा की गई थी कि वह कुछ करेगी, लेकिन जान पड़ता है राजा भोज के सिंहासन पर बैठते ही आदमी का दिमाग फिर जाता है। पहले दो तीन वर्षों तक मुझ पर साग-सब्जी की खेती की सनक सवार थी। अपने भी काम करना था। जानता तो था नहीं कि गोभी कैसे और कब रोपी जाती है, और टमाटर के लिए क्या करना होता है। अपने, मानवसिंह और कभी किसी मजदूर को लगाकर वर्षों से घास की चरागाह बन गई क्यारियों को खुदवाया, खाद डलवाई, बाजार से बीज मँगवाया। सोचा, यदि जमीन गीली हो और खाद पड़ जाय, तो बीज जमेगा। जब बीज ने हफ्तों जमने का नाम नहीं लिया, तब मालूम हुआ कि उसके जमने के लिए तापमान की आवश्यकता है। जाड़ों में वह नहीं जमा करते। तापमान के अतिरिक्त हरेक का अपना काल होता है। हमने सोचा, सभी चीजें जमीन में डाल दो, यह स्वयं आगे काम देगा। गोभी, टमाटर, पालक, मूली सब के बीजों को डाल दिया।

सुनते तो हैं हो दुनिया में जब ऐसे खेतों में साग-सब्जी उगाई जाती है, तो हम भी उगा लेंगे, हाँ कुछ गलती करके तजरबा हासिल करेंगे। पर यह मालूम नहीं था कि यहाँ समय समय पर लंगूर और लाल मुँह के बन्दरों की पल्टन आया करती है। यह घुमन्तू घर बाँधकर रहनेवालों के हरेक श्रम को अपनी ही चीज समझते हैं, और हफ्तों नहीं महीनों में जो तैयार हुई फसल को पलक मारते मारते सफाचट करके चल देते हैं। इस साल जब हमने खेत को तैयार किया, तो दर्जनों फसल का समय बीत चुका था, इसलिए हनुमानजी की शाखी मार्गी पल्टन को तब रखने से लाभ उठाने का कोई मौका नहीं मिला।

किताबों के रखने के लिए अलमारी की जरूरत थी। बचालियों के यहाँ भैया ने कर लिये। ७५ रुपये में दो शीशेदार अलमारियाँ हमारे पास पहुँच गईं और हमने आवश्यक किताबों को उनमें सजा भी दिया। जब दाम देने लगे, तो भैया ने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया। मित्रों के साथ

स कुछ चीनी दिलवाई। फिर हमने सोचा गुड की साफ की हुई अच्छी चाशनी बना ली जाए। गुड अपेक्षाकृत सस्ता था और उस पर कन्ट्रोल भी नही था। गुड के साथ काफी पीना मैंने कॉफी की जन्मभूमि कुर्ग म सीखा था। वहा रहते रहते यह मेरा विश्वास जम गया था कि काफी के लिए चीनी इस्तेमाल करना उसके स्वाद को घटाना है इसलिए भी गुड की ओर मेरा पक्षपात था और काफी पीने के समय सा मैं बराबर गुड की चाशनी ही इस्तेमाल करना चाहता था।

सितम्बर के पहले सप्ताह म मालूम हुआ श्री पुरुषोत्तमदास टडन काग्रेस के सभापति चुन गये हैं। यह भी कहा जा रहा था कि नेहरूजी ने उनके चुनाव का सबसे अधिक विरोध किया था, और यह भी धमकी दी थी कि उनके चुन जाने पर मैं इस्तीफा दे दूगा। एक बार ऐसी ही परिस्थिति म गांधीजी का भारी विरोध होने भी सुभाष बाबू काग्रेस के सभापति चुन गये थे। उस समय काग्रेस के लिए शक्तिशाली नेतत्व की आवश्यकता थी। पर आजकल कोई भी काग्रेस का उस दलदल से निकाल नही सकता, जिसम वह अपने साथ देश का भी लिये जा रही है। कोई त्यागपत्र क्या देगा, क्योंकि सरकार से निकलकर बाहर उसके लिए करने का क्या है? लोगा ने यदि नेहरू की बात को ठुकराकर टडनजी को सभापति बनाया, तो इसका अथ यही था कि अभी उनके दिमाग अपरिपक्व थे, और अपनी हानि लाभ का नही समझते थे। नये साधारण चुनाव के बाद जो मूर्तियाँ ऊपर आई उन्होंने इस तथ्य को समझा कि नेहरूजी के बिना हमारा काम नही चल सकता साथ ही हमारे बिना उनका भी काम नही चल सकता।

इन लिए म साग-भाजी के लिए जमीन जरूरत के मुताबिक काफी थी और नया आदमी उसे देखकर समझेगा कि थोडा सा हाथ पर चलाना चाहिये फिर साग सब्जी खरीदने की जरूरत नही पडेगी। मसूरी म साग सब्जी बहुत महगी मिलती है। नीचे देहरादून म जो चीज दो आना सेर होती वह यहाँ छ आना सेर। साग-सब्जी के लिए आस-पास के पहाडी

गाँधी को प्रोत्साहन देने की कोशिश नहीं की गई। नई नगरपालिका के निर्वाचित होने पर आशा की गई थी कि वह कुछ करेगी, लेकिन जान पड़ता है राजा भोज के सिंहासन पर बैठते ही आदमी का दिमाग फिर जाता है। पहले दो तीन वर्षों तक मुझ पर साग-सब्जी की खेती की सनक सवार थी। अपने भी काम करना था। जानता तो था नहीं कि गोभी कैसे और कब रोपी जाती है और टमाटर के लिए क्या करना होता है। अपने मानबहादुरसिंह और कभी किसी मजदूर को लगाकर वर्षों से घास की चरागाह बन गई क्यारियों को खुदवाया। खाद डलवाई। बाजार से बीज मँगवाया। सोचा यदि जमीन भीगी हो और खाद पड़ जाय तो बीज जमेगा। जब बीज ने हफ्ता जमने का नाम नहीं लिया तब मालूम हुआ कि उसके जमने के लिए तापमान की आवश्यकता है। जाड़ों में वह नहीं जमा करते। तापमान के अनिश्चित होने का अपना काल होता है। हमने सोचा, सभी चीजें जमीन में डाल दो, यह तजर्बा आगे काम देगा। गोभी, टमाटर, पालक, मूली सब के बीजों को डाल दिया।

सच तो है ही, दुनिया में जब सब देशों में साग सब्जी उगाई जाती है तो हम भी उगा लेंगे, हाँ कुछ गलती करके तजर्बा हासिल करके। पर यह मालूम नहीं था कि यहाँ समय समय पर लंगूर और लाल मुँह के बन्दरों की पल्टन आया करती है। यह घुमन्तू घर बाँधकर रहनेवालों के हरेक श्रम को अपनी ही चीज समझते हैं, और हफ्ता नहीं महीनों में लगाकर रखी गई फसल को पलक मारते मारते सफाचट करके चल देते हैं। इस साल जब हमने खेत को तैयार किया तो दरअसल फसल का समय बीत चुका था, इसलिए हनुमानजी की काली गोरी पल्टन को नये रदन से लाभ उठाने का कोई मौका नहीं मिला।

किताबों के रखने के लिए आल्मारी की जरूरत थी। कबाड़ियों के यहाँ कमला ने खरीद लिये। ७५ रुपये में दो शीशेदार आल्मारियाँ हमारे पास पहुँच गईं और हमारी आवश्यक किताबों को उनमें सजा दिया। जब दाम देने लगे तो कमला ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। मित्रा के साथ

ऐसा नाता स्थापित करना मुझे रुचिकर नहीं होता, लेकिन भैयाजी इस साल ही तक नये रहे, अगले साल से वह नवीनता जाती रही, और इस तरह का आग्रह न हमारी ओर से हुआ न उनकी ओर से।

ससार म रहने पर बहुत दिना के विछुडे भी मिल जाते हैं। ३३ वष हुए मैं भी तरुण था और मास्टर विश्वम्भरदयाल भी। प्रथम विश्व युद्ध के समय १६१७ म धोल्पुर के राजा ने वहाँ बनने आयसमाज मन्दिर को तोडवा दिया या बनना बन्द कर दिया था। भिडके छत्ते म अँगुली दे दी थी। अभी सत्याग्रह की धूमधूर दक्षिण अफ्रीका मे ही सुनाई पडी थी, लेकिन आय-समाजियो न धौल्पुर म उस युद्ध का छेड दिया। मेरे गुरु मुन्शी महाप्रसाद जी वहाँ पहुँचे मैं भी गया, मास्टर विश्वम्भरदयाल भी आ मौजूद हुए, और भी न जाने कहाँ-कहाँ की मूर्तियाँ आइ। स्वामी श्रद्धानन्द भी आए। उन्होन ही बीच म पडकर राजा को समझाया। हम म से कितने ही गरम खूनवाले तरुण स्वामीजी का दब्बू कहने मे भी बाज नहीं आय। लेकिन बात आगे नहीं बढी और हफ्ते भर क करीब हा हम वहाँ सत्याग्रहियो के कष्ट का जीवन बिताने का आनन्द मिला। मास्टरजी उस समय शायद गुरुकुल कागडी क स्कूल विभाग क हेड मास्टर थ। उनक चेहरे और व्यव-हार की छाप एसी पडी थी कि उनसे मिलत जुलत पटना क काग्रेसी नता लाल बाबू से घनिष्ठता हान पर मुझे बार-बार मास्टर विश्वम्भर-दयाल याद आत। १० सितम्बर का वह मरे घर आय। वद्ध और बूढी हड्डिया को उठाने क लिए भारी भरकम शरीर। इन दिनो आन म था। ो भी चढाई थी लेकिन वह आय। उनक पुत्र भारतभूषणजी यहाँ के इन्टर कालेज म अध्यापक थ वह भी उनक साथ थे। कितनी ही दर तक पुरान और नय युग की बातें हाती रही।

मसूरी म मेरे आन का पता लोगा का लग गया। हिन्दी पत्रो म सूचना निकल गई थी। वह समय भी आयगा, जब आज स कही अधिक समृद्ध और भारी सख्यावाली मसूरी का अपना दनिक पत्र निकलेगा जिसे लोग चाव स खरीदेंगे। उस वक्त मसूरी म कौन आ जा रहा है इसका पता

लगना मुश्किल नहीं रहेगा। अभी भी अंग्रेजी राज्य की देन दो-तीन साप्ताहिक अंग्रेजी में निकलते हैं, लेकिन वह विज्ञापन के लिए ही हैं। शायद ही कोई उन्हें पैसे देकर खरीदता है। श्री सत्यप्रकाश रतूड़ी ने "हिमाचल" की धूनी रमा दी है, लेकिन वही बतला सकते हैं कि कैसे वह वर्षों से इसे चला रहे हैं। मसूरी के दूकानदार उसमें विज्ञापन देने को लाभदायक नहीं समझते। यहाँ के अल्ट्रा माडर्न सैलानी जेंटलमैन और लेडीज तो हिन्दी की ओर देखकर नाक भौं सिकोड़ना भी पसन्द नहीं करते। कुछ वर्षों रहकर रतूड़ीजी अपने "हिमाचल" को कृपिकेश ले गये। वहाँ भी तो जरूर वह बहतर हालत में है। खैर, किसी तरह प० नरदेव शास्त्रीजी का पता लगा। उन्हें सूचना दी और १७ सितम्बर को आये। शास्त्रीजी मेरे लिए उन पुरुषों में से हैं, जिनको आदर्श मानकर मैंने अपनी पढ़ाई में आगे बढ़ने की कोशिश की। उनको वेदतीर्थ जान मैंने भी वही रास्ता लिया और मध्यमा पास कर गया। यदि थोड़ा और प्रयत्न किया होता तो वेदतीर्थ होने में कोई सन्देह नहीं था। शास्त्रीजी आये। स्थान की प्रशंसा करते नहीं थक रहे थे। आखिर गुरुकुल के पारखी ठहरे और इस एकान्त स्थान में दिखती हिमालय की छटा सामने आकर आदमी की आँखों में चकाचौंध पैदा किये बिना नहीं रहती। अब भी उस दिन मौजूद थे। वे बड़े गर आदमी हैं उनकी बिल्कुल उल्टी राय साफ शब्दों में देने में नहीं हिचकते।

अगले दिन भैया आये, तो उन्होंने अपनी कल्पना मेरे सामने रखी। वह व्यावहारिक है, लेकिन कल्पनाशून्य नहीं। वह मेरी कठिनाइयों को समझ रहे थे। साथ रहें थे अपना प्रेस बढ़ाया जाय, पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय। अमृतसर में उनका प्रेस था, जिसमें दो-तीन मशीनें थी। लेकिन अमृतसर भारत में एक कोने में है, सो भी पाकिस्तान की सीमा पर। यहाँ किराये पर मकान मुश्किल से या बहुत महँगे मिलते हैं। पर आप अपने मकान या जमीन को बेचना चाहें, तो विभाजन से पहले जिसका नगद दाम मिलता उसका २५ हजार मिलना भी मुश्किल है। व्यापारी तो बड़े-बड़े खतरे मोल लेने के लिए तैयार रहते हैं। लड़ाई के दिनों में शरणार्थियों के

भीतर से दोनों राष्ट्र देशों के नागरिक अपने सौदे को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने में प्राणों की बाजी लगाते हैं। पाकिस्तान हिंदुस्तान की सीमान्त चौकियों की गोलियों से लुढ़कने का डर रहता है तब भी गैर कानूनी तरह से माल को इधर से उधर करने में लाग बाज नहीं आते। जान पड़ता है मनुष्य सदा से प्राणों का जूआ खेलता आया है, अब भी वह इसे छोड़ना नहीं चाहता। तो भी कोई उद्योगपति अब अमृतसर में नया कारखाना नहीं खोलना चाहता, कोई व्यापारी अपने व्यापार को यहाँ बढ़ाने की जगह उसे दिल्ली में स्थानान्तरित करना अधिक पसन्द करता है। भयाजी भी इसे समझते थे और चाहते थे कि प्रेस को अमृतसर से अन्यत्र लाया जाय। मेरे पास रखने के ख्याल से कितने ही दिनों तक देहरादून के बारे में सोचते रहे। वहाँ जगह मकान भी देखे। मेरी चलती होती, तो प्रेस देहरादून आ जाता। जब प्रेस की बात छिड़ गई तो ख्याल आया उसे अप टू डेट कर देना चाहिए। भयाजी ने दिल्ली में भी जमीन देखी। उनकी व्यवहार-बुद्धि ने बतला दिया कि देहरादून की बेवकूफी छोड़ो, दिल्ली की यह जमीन ले लो। वहाँ कभी घाटे की गुंजाइश नहीं। प्रेस प्रकाशन चला, तो चला नहीं तो अल्ला-अल्ला कर सल्ला। उन्होंने ५४ ५५ हजार रुपया लगाकर पैंठ बाजार में बड़े अच्छे मौके पर जमीन ले ली। उसमें कुछ और अधिक रुपया लगाकर मकान भी खड़ा कर दिया। अमृतसर से प्रेस मँगा-कर लगा दिया। दमन लगा पीर बवर्ची भिश्ती सब हम ही होना होगा। प्रेस की मजदूरी करो, कम्पाजीटर टाइप न चुराएँ उसकी देखभाल करो, बाहर से काम ढूँढकर लाओ प्रकाशन में भारी रकम लगाने के लिए तैयार होओ। यदि जवानी होती तो इसमें शक नहीं भयाजी पिल पड़ते। मैं सलाह दे रहा था क्या अन्तिम साँस तक के लिए है-है खट-खट कर रहे हैं। गति का रुख बदला। छुड़ाओ इस प्रेस के जंजाल में अपने सिर को। एक एक करके बेच दिया। अभी भी एक दो मशीनें बिकने को बाकी हैं। प्रेस जो हाल में बनाया था वह अच्छे किराये पर उठ गया। ऊपर की मंजिल पर एक ओर के कमरे अपने लिए रखे और दूसरी ओर का डेढ़ सौ रुपये

महीने पर किराये पर दे रखा। तीसरी मंजिल बनने को बाकी है, जिसका तीन सौ रुपया महीना से साल भर का किराया पेशगी देने के लिए लोग तैयार हैं। कितनी दूर की सूझ? यदि प्रेस प्रकाशन नहीं चला, तो भी जायदाद बेकार नहीं है। हजार बारह सौ रुपये महीने किराया मिलने को तैयार है।

एक जगह घर बाँधकर रहने पर पुस्तकों का संग्रह किया जा सकता था। अब तक तो मेरी अजगरी वृत्ति थी, पुस्तकें मिलती थीं, उन्हें बाँट देता था। पालि संस्कृत के अपने संग्रह को बिहार रिसर्च सोसायटी के पुस्तकालय में रख छोड़ा था, जिसे अब यहाँ मँगाने की सोचने लगा। प्रकाशक मित्रों ने भी अपने प्रकाशनों की प्रतियाँ भेजीं। प्रयाग से पं० गणेश पांडे ने इसे आरम्भ किया, फिर सत्यपालजी की पुस्तकें आईं। उसके बाद देवराज जी ने राजकमल प्रकाशन की पुस्तकें भेजीं। धीरे धीरे हिन्दी की पुस्तकें काफी जमा हो गईं। पुस्तकों के बारे में पहले ही सयानों ने कह रखा है 'लेखनी पुस्तिका नारी परहस्तगता गता।' और यहाँ तो लेखक का पुस्तकालय है। अपने लिखने के काम में उसमें जाने किस पुस्तक की आवश्यकता पड़े। पर कितना ही संकोच करो, कभी पुस्तकें सदा के लिए परहस्तगता हो ही जाती हैं।

२१ सितम्बर को वाई० डब्लू० सी० ए० में मैंने एशियायी महिलाओं के सामने भाषण दिया। इसमें लेबनान, फिलिस्तीन, जापान, बर्मा, लंका, जावा, स्याम, हिन्दचीन और चीन की ४० महिलाएँ थीं। उनका कोई कैम्प या सेमिनार चल रहा था। आयु में वह ३० से ६० वर्ष तक की थीं। भाषण के बाद आधा घंटा तक प्रश्नोत्तर चलता रहा। आर्मेनियन महिला मार्क्सवाद के बारे में पूछने लगी। मार्क्सवाद या बौद्ध-दर्शन यह तो मछली के लिए पानी का मिल जाना था। पर ईसाई मिशनरी आम तौर से कम्युनिज्म से सशंकित हैं, एशिया में तो विशेष तौर से।

२७ सितम्बर को दिल्ली के साप्ताहिक "नवयुग" में मेरा दाराहार की आलोचना लेख छपा। इसी में डा० रामविलास शर्मा का लेख मेरे

विरुद्ध निकला, जिसमे उन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि राहुलजी मार्क्सवादी नही केवल बौद्ध हैं। उसमे कुछ सत्य का अंश भी था लेकिन झूठ का अंश ज्यादा। रामविलासजी उन आदमियो मे हैं, जो किसी बात पर तुल जाते तो वह किसी हथियार का भी इस्तेमाल करने से बाज नही आते। इसके बाद और भी लेख उसी तरह लिखे। मुझे जवाब देने के लिए सम्पादक और दूसर मित्रो ने भी कहा, लेकिन मैंने उसे बेकार समझा। हजारो पृष्ठ मैंने इन विषयो पर लिखे हैं अगर वह मेरी सफाई नही दे सकते तो कुछ पृष्ठो को तू-तू मैं मैं से काला करना बेकार था। यद्यपि तरुणाई मे मैं वाणी के मल्लयुद्ध को पसन्द करता था कलम से भी और वाणी से भी ऐसा करने मे मुझे आनन्द आता था। ऐसी घटनाएँ "मेरी जीवन यात्रा" के प्रथम भाग मे मिलेंगी। अब उस तरह के मल्ल युद्ध की कोई इच्छा नही। मुझे बुद्ध का वचन याद आया सत्ताह सद्दो भविस्सति' (झूठे प्रचार का हल्ला सप्ताह भर रहता है) फिर अपने आप ठण्डा हो जाता है। प्राचीन दर्शनो मे बौद्ध दर्शन मार्क्सीय दर्शन के अत्यन्त समीप है। धर्मकीर्ति मार्क्स से हेगल से भी अधिक समीप है इसलिए यदि धर्मकीर्ति के स्थान के महत्व को मैं बतलाऊँ तो आश्चर्य नही।

मैंने सिंहलद्वीप मे पालि त्रिपिटक के पढते वक्त "बुद्धचर्या" लिखी थी, और १६३१-३२ मे वह छपी। कितने ही दिनो से वह समाप्त हो चुकी थी। मैं तो समझता था इतनी बड़ी पुस्तक का हिन्दी मे नया संस्करण मेरे जीवन के बाद की बात है। पर देवप्रियजी की कृपा से अब उसका दूसरा संस्करण छपने लगा था। अपनी सन्तान आँखो के सामने न मरे इसकी प्रसन्नता होती ही है। २५ सितम्बर को बरिस्टर श्री मुकुन्दीलालजी आये। मुकुन्दीलालजी अपने क्षेत्र मे बड़ा स्थान रखते हैं जो कि जायसवाल जी बिहार मे दोनो आक्सफोर्ड के स्नातक और बैरिस्टर हैं। जायसवालजी बरिस्टरी से उतने नहीं बढ़े हुए खर्च के लिए पर्याप्त न होने पर भी वह ...न मे चार पाच हजार कमा लेते थे। मुकुन्दीलालजी जम नहा। रिया ...की माफ अर्जी करने चले गए। एक मनवा कुछ वर्षों के लिए आप

स्थान भ्रष्ट हो जाइये, तो फिर प्रेक्टिस जमाना मुश्किल हो जाता है। जायसवालजी की तरह मुकुन्दीलालजी भी हिन्दी को आदर की दृष्टि से देखते हैं, और कभी कभी उसमें लिखते भी हैं। लेकिन, अपने सभी बढ़िया अण्डों को उन्होंने अंग्रेजी की एक ही टोकरी में रखा — यह गलती थी। उनके गम्भीर और सुन्दर लेख अंग्रेजी के बड़े बड़े पत्रों और पत्रिकाओं में निकलते थे। चित्रकला, विशेषकर पहाड़ी कलम, उनका अपना प्रिय विषय है। उस पर उनके सचित्र लेख कीमती पत्रिकाओं में छपे हैं। अंग्रेजों के राज्य के समय यदि फुर्सत निकालकर अपने विषय पर बड़ी पुस्तकें लिखते, तो छपने में कोई दिक्कत नहीं होती। लेकिन आजकल अंग्रेजी के समय प्रकाशक भी अंग्रेजी पुस्तकों के प्रकाशन में रुपया लगाने में बड़ी हिचकिचाहट दिखलाते हैं। कला की पुस्तक तो दस बीस वर्ष में भी अपने खर्च को नहीं निकाल सकता। मैं उनको देखकर अपने भाग्य को सराहता था। उन्होंने यदि एक टोकरी (अंग्रेजी) में अपने सारे अण्डे रखे, तो मैंने भी एक टोकरी अर्थात् हिन्दी में सब कुछ लिखा। दो चार पुस्तक तिब्बती में या दो चार संस्कृत में यों ही लिखीं। हिन्दी के लिए दिन पर दिन अनुकूल समय आता गया, और अब सौ सौ पृष्ठ की पुस्तक लिखने पर भी यह सोचकर माथापच्ची की जरूरत नहीं कि इसे प्रकाशित करनेवाला कहाँ मिलेगा। मुकुन्दीलालजी सही अर्थों में सुशिक्षित और सुसंस्कृत पुरुष हैं। जब भी उनके साथ बात करने का मुझे मौका मिलता है, मालूम होता है, हम दोनों की बगल में जायसवालजी भी बैठे हुए हैं—मुकुन्दीलालजी का जायसवालजी से घनिष्ठ परिचय था। इस समय मैं 'गढ़वाल' लिखने जा रहा था। मुकुन्दीलालजी गढ़माता के योग्य पुत्र हैं, और उसके इतिहास और संस्कृति का गम्भीर परिचय रखते हैं। उन्हीं से मालूम हुआ कि पहले टेहरी के महाराजा नरेन्द्रशाह नरेन्द्रनगर से अपनी मोटर पर ऋषिकेश आते खड्ड में गिरकर मर गये। शराब में धुत होकर मोटर हाँकना कभी न कभी ऐसा परिणाम जरूर लाता है। बंदर की माँ कितने दिनों तक खैर मनाती। महाराजा नरेन्द्रशाह निरंकुशता को पसन्द करते थे, लेकिन शिक्षित और योग्य थे

इसमें संदेह नहीं। हमने उनके ही मकान को लिया था और हमारी अनुपस्थिति के समय एक बार वह इस बंगले के हाते में भी आये थे। रहना तो वहां होता। पर, मुकुन्दीलालजी वर्षों से यहां के सरकारी टरपेन्टीन फैक्ट्री के मुख्य प्रबंधक हैं।

उसी दिन (२५) भाभीजी के साथ भैयाजी आए। पं० गंगाप्रसाद शुक्ल भी सबेरे आए थे। भोजनोपरान्त शुक्लजी देहरादून लौट गए। उन्हें पहाड़ में मोटर पर चलने में कष्ट मालूम होने लगता है इसलिए पैरों के भरोसे ही वह यहां स्थान करते हैं। हम लोग कम्पनी बाग गये। जब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज रहा, तब तक सार्वजनिक उद्यानों या दूसरे सार्वजनिक स्मारकों के साथ कम्पनी का नाम जोड़ा जाता था। कम्पनी बाग नाम सुनने से ही मालूम था कि इसकी स्थापना १८५७ के पहले हुई होगी। मसूरी के मुख्य केन्द्र से जितनी दूर हमारा स्थान है, करीब करीब उतना ही यह बाग भी है। चार्लविल होटल से हो उसकी भी सड़क अलग होती है। कम्पनी बाग छोटा किन्तु अच्छा बाग है। फूलों की सजावट सितम्बर के अन्त में हो ही क्या सकती थी, वैसे भी उस समय उसकी अवस्था अच्छी नहीं थी। कम्पनी बाग के साथ लगे हुए पहाड़ पर दूर तक अंग्रेजों ने देवदार लगा दिए हैं। किसी को छोड़ मसूरी का सबसे बड़ा देवदारों का जंगल यहीं है। इसे देखनेवाला समझेगा, यह प्राकृतिक देवदार वन है। पर प्राकृतिक देवदार भी दस हजार फुट से नीचे नहीं होता। हिमालय में विशेष विशेष उपत्यकाएं ही हैं जहां स्वाभाविक देवदार पाया जाता है। अंग्रेजी शासनकाल में जंगलों की रक्षा की ओर ध्यान जाने पर जंगलात विभाग संगठित हुआ। उसने भी बहुत जगह नये देवदार वन लगाये। कम्पनी बाग में बच्चों के लिए झूला भी है। रेस्तोरां की कोठरी और मकान भी, लेकिन इनके कभी आबाद होने की संभावना नहीं है। अधिकांश लोग अपने साथ खाने-पीने की चीजें लाते हैं, फिर यहां कौन अपना रेस्तोरां या दूकान खोलकर मक्खी मारने के लिए तैयार होगा? कम्पनी बाग के रास्ते में डा० अमरनाथ झा का बंगला और प्रो० रंजन की

बैरक मिले। प्रो० रजन साहब के विद्वान् हैं, इसलिए कला के प्रति उदासीनता दिखाएँ, तो कोई आश्चर्य नहीं। सचमुच उन पानी से सड़ी तीन-चार सीमेंट की कोठरियों के रूप में देखकर ख्याल आता है, इसे और बेहतर बनाया जा सकता था। डा० मा० का बंगला किसी साहब का पुराना बंगला है, और पहले-पहल जो भी उसके भीतर पहुँचता, वह जरूर समझता कि हम इन्द्र की अमरावती के किसी कोने में हैं। वहाँ चारों ओर हरे-हरे वृक्षों और वनस्पतियों की छाया थी। मा० साहब के निधन पर यह बंगला मिट्टी के मोल बिक गया।

सितम्बर के समाप्त होते-होते वर्षा खतम हुई मालूम होने लगी। झरने सूख गये थे, तब पता लगा कि यहाँ पानी बिना कुछ नहीं हो सकता। पीने का पानी ड्रेन में डालना एक तो नागरिक कानून की अवहेलना करना था, और दूसरा वह बहुत महँगा पड़ता था। हैन क्लिफ और हैन हिल हमारे स्थान से सटे लगे थे। ऊपर पानीघर बना था, जिसमें बरसात का बहुत सारा पानी जमा हो जाता जो खेतों के लिए साल भर पर्याप्त होता था। इस समय वर्षों से उस पानीघर की कोई खोज खबर लेनेवाला नहीं था। छत टूट गई थी, सीमेंट भी उखड़ गया था, जिससे सारा पानी सुरक्षित नहीं रह सकता था। तो भी मोटे पाइप द्वारा छत का पानी हौज में आ जाता था। आजकल पीने के लिए उसका कोई उपयोग नहीं था। हाँ, धोबन को उसके कारण अपना कपड़ा धोने के लिए दो-तीन मील दूर धोबीघट्टा जाने की जरूरत नहीं थी। 'हैनहिल' के और होम में स्थायी रहनेवाले निवासियों में धोबिन, उसका बच्चा-कच्चा पति और नन्दू नौकर भी थे। शहर होने के साथ आदमी यदि अकेला भी हो जाय, तो सचमुच ही वह मनुष्य क्या प्राणी भी नहीं रह जाता। दुनिया की किसी चीज को टटोलने भर का ही उसको अधिकार था। यदि वह आवाज लगाता तो मालूम नहीं होता कि उसकी आवाज किसी के कान में पड़ रही है। वह [illegible] आ रहा है, इसलिए उस पर क्रोध करना चाहिए अथवा आसपास कोई आदमी नहीं है इसलिए गुस्सा करने से फायदा क्या? कुशल की सीमा के भीतर

आ जाने पर उसने तरुणी करेंठिन से ब्याह किया था। कितने ही साल दोनों के हँसी खुशी में गुजरे। उसी समय एक पहाड़ी छोकरे को कपड़ा धोने के लिए नौकर रख लिया। नन्दू की बिरादरी के लोग हजाम का काम करते थे, पर नन्दू ने कपड़ा धोना ही सीखा। फिर समय आया, जब धोबी आँखों और कानों से खो बैठा और लोथ की तरह अपनी कोठरी में पड़ा रहता। क्या सोचता और क्या बड़बड़ाता था, इसे सुनने की किसी को फुरसत नहीं थी। तो भी करेंठिन उसको खिला पिला दिया करती, पेशाब पाखाने में सहायता करती। एक दिन, एक महीना नहीं बल्कि वर्षों तक ऐसा करना साधारण बात नहीं थी। वह हर वक्त उसके पास उपस्थित नहीं रहती थी, क्योंकि उसे कमा कर अपने पति को भी खिलाना था। आसपास की कोठियों में अब कम ही लोग रहते थे और करेंठिन कपड़ा भी अच्छा नहीं धोती थी, तो भी उसके खान पीन के लिए कोई तकलीफ नहीं थी। उसे काम मिल जाता था। नन्दू उसके काम का भागीदार था, पर करेंठिन उसे नौकर ही कहकर याद किया करती थी।

साग-सब्जी उगाने के लिए पानी अब हमारे लिए समस्या थी। यदि ऊपर के मकान को कोई खरीद लेता और पानीघर को ठीक करवा देता, तो मुमकिन है हमारा भी काम चलता। जम गये गोभी या टमाटर में हर हफ्ते पानी डलवाने की जरूरत थी।

हमारा देश भी विचित्र है। दुनिया में भी ज्योतिष, हस्तरेखा आदि पर विश्वास करनेवालों का अभाव नहीं है, पर यहाँ की तो दुनिया ही दूसरी है। किसी ज्योतिषी ने खबर उड़ा दी कि २४-२५ सितम्बर को भूकम्प आयगा। फिर क्या था, लोग शहर का शहर खाली करने लगे। अमृतसर से हजारों भाग कर मसूरी आ पहुँचे। देहरादून में हजारों लोग घर छोड़ कर मैदान में पड़े रहे। ऐसे ज्योतिषियों को फाँसी पर क्या नहीं चढ़ा दिया जाता? इन्हीं की अफवाहों से चोरों की बन आती है।

कोरिया में घमासान युद्ध चल रहा था। अमेरिका उसमें कूद पड़ा था और उत्तरी कोरिया की सेना को ढकेल कर वह ३८ अक्षांश के ऊपर ले

जाने पर तुला हुआ था, अर्थात् वह उत्तरी कोरिया को भी अपनी मुट्ठी में रखना चाहता था। हमारी सरकार ने अमेरिका को सावधान किया कि यदि आगे बढ़े तो चीन चुप नहीं रहेगा। लेकिन, मदमस्त अमेरिकन थैलीशाही के भारत की बात कान में क्या लाने लगी? युद्ध ने और तूल पकड़ा। चीन को उसमें कूदना पड़ा, क्योंकि वह अपनी सीमान्त को खतरे में डालने के लिए तैयार नहीं था। नवीन चीन की सेना के विक्रम का अमरिका देख चुका था। चांग काइ-शेक को खिलौना बनाकर वह लड़ा था हाँ अपनी सेना द्वारा नहीं, बल्कि सेनापतियों द्वारा। सब करने पर भी कम्युनिस्ट सेना ने चांग-काइ-शेक को प्रशान्त महासागर में फेंक दिया। अमरिका शायद समझता था, चीन बन्दर घुड़की दे रहा है। प्रायः सारे उत्तरी कोरिया को अपने हाथ में करने के बाद अमरिका को चीनी स्वयंसेवकों से पाला पड़ा। अब तुरन्त सन्धि सुलह की बात करना कायरता होता। १० अक्तूबर को कोरिया में अमेरिकन प्रगति को देखकर हृदय काँप रहा था। अपने व्यक्तित्व को अपने नजदीक से दूर करने का यही फल है। पर आदमी यदि ऐसा न हो, तो आदमी ही क्या? मालूम हो रहा था कोरिया में उत्तरी कोरियनों की हार नहीं, बल्कि हमारी हार हो रही थी।

वर्षों तक हमारा मकान बिना धनी धोरी का था। टोल-मोहल्ले के लोग उसे अपनी चरागाह बनाये हुए थे। कितने परिश्रम से और महँगा पानी डाल-डाल कर गोभी तैयार की थी। ११ अक्तूबर को यादिन की बकरी ने आकर सब साफ कर दिया। दरवाजे के फाटक को हमने लगवा लिया था लेकिन बकरी ऊपर की तरफ से आई थी। गुस्सा किसपर उतार होता?

१५ अक्तूबर को ११ बजे कम्पटी फाल (जलप्रपात) स्नान निकले। पीठ को फौजी चोला आखिर किसलिए खरीदा था? आज उस पीठ पर राशन और खाली नहीं, कुछ सामान के साथ। १४-१५ आदमियों की पल्टन थी। डा० मथरानु का परिवार, उनके साथ और भी कुछ परिवार भैया भाभीजी, कमला और मैं। वहाँ जाने पर और भी टोलियाँ मिलीं। कम्पटी

अपनी जमीदारी क गाँव क किसानो म भी विताए थे, और ग्रामाद्यान करना चाहते थे। पहले गाँववालो पर उनकी विद्या का प्रभाव पडा, लेकिन बहुत घुल मिल जाने पर उन्होने इन्हे अव्यावहारिक देखा। मेरा रामचन्द्र जी का सम्बन्ध पहिले ही जैसा रहा। उनको देखकर यही अफसोस होता था कि देश एक बडी प्रतिभा से वंचित हो गया।

२० अक्तूबर को विजयादशमी थी। यह उत्तरी भारत के मैदानो का त्योहार है। हिमालय म नवरात्र का मान है, विजयादशमी से उन्हे कुछ लेना देना नही है। हाँ, यदि इसमें कुछ लीला-तमाशा हो, नाच गाना हो तो शायद पहाड के नर नारियो को आकृष्ट कर सकती। मसूरी तो अंग्रेजो की थी उन्हे य चीज पसद नही थी। अब ऐसी परम्परा कायम करने म बडे श्रम धन और धय की आवश्यकता है।

बरसात क बाद मसूरी का दूसरा सलानी-सीजन शुरू होता है, जो मई जूनवाले की अपेक्षा छोटा होता है पर दोनो क सलानी बँटे हुए हैं। सबसे पहले अप्रैल म बम्बई तरफ स कुछ थोडे स लोग आ पहुँचते हैं। फिर उत्तर प्रदेश और दिल्ली का सीजन शुरू होता है। बरसात म पजाबी लोग रहते हैं और बरसात क बाद दुर्गा पूजा की छुट्टियो का फायदा उठाते कितने ही बगाली भद्र परिवार आ जाते हैं लेकिन वे मसूरी की एकान्त निष्ठा से साथ नहीं आते बल्कि इसी यात्रा म वे हरद्वार, ऋषिकेश, दिल्ली, मथुरा बनारस सब को शामिल कर लेते हैं। बगाल बिहार का पुराना सम्बन्ध है दोनो एक प्रान्त थ और बडी जद्दोजहद क बाद बिहार अपने को अलग कर पाया था। अब फिर 'पुनर्मूषिको भव' क न्याय को चरितार्थ किये जाने का उपक्रम हो रहा है। इस छोटे सीजन म बिहार क भी कुछ लोग आ जाते हैं। उस दिन प० गोविन्द मालवीय मिले। कुछ दुबले मालूम हो रहे थ। उसी दिन शाम को बिहार के मुख्य मन्त्री श्री कृष्ण बाबू सदल बल शामन मडप म आते दिखाई पडे। बिहार अपने वातावरण को, जान पडता है साथ टाये चलता है। बीस आदमियो से कम की मण्डली क्या रही होगी? दूसर मन्त्री और मुसाहिब भी थ, शरीर रक्षक भी थे और

दया दृष्टि के इच्छुक भक्त लोग भी। मसूरी म चहल-पहल थी।

२१ अक्तूबर को श्री मुकुन्दीलालजी न मोलाराम क बारे म बतलाया। "गढ़वाल" क बारे में बात हो रही थी। मोलाराम भारत क महान् और गढ़वाल क परम यशस्वी चित्रकार ही नहीं थ बल्कि उन्होंने गढ़वाल का पद्यबद्ध इतिहास लिखा था। उनक ऊपर मुकुन्दीलालजी न लेख लिखे थ जिन्हें वह अपन साथ लाय थ। उनस यह भी मालूम हुआ कि मोलाराम क वंशज श्रीनगर म अब सुनारी का काम करत हैं। अगले साल गर्मियों म बद्री-केदार की यात्रा करनी थी क्योंकि उसक बिना गढ़वाल पूरा नहीं समझा जा सकता था सोचा उसी समय उनक बारे म भी कितनी ही जानकारी प्राप्त करेंगे।

२२ तारीख को तजर्बे न लिखवाया—'यहाँ साग पैदा करना काफी महनत का काम है। लगूर और लालमुँहे आते ही रहत हैं।' अगले दिन मालवीयजी से मुलाकात हुई। वह इस समय हिन्दू विश्वविद्यालय क कुल पति थ। वह रह थे हम विश्वविद्यालय म इण्डोलोजी का महाविद्यालय स्थापित कर रहे हैं आपको उसम आकर काम करना चाहिए। बराबर नहीं तो कुछ महीनों क लिए और जिस वक्त चाहें उसी वक्त आकर रहें। मैं भी समझता था काशी इस विषय का विशाल केन्द्र बन सकती है। संस्कृत का गढ़ वह पहले ही से है और वहाँ आसानी से बृहत्तर भारत की जानकारी क लिए भाषाओं और साहित्य क पढ़ाने का प्रबन्ध भी हो सकता है। पर अब तो मसूरी स जाना असंभव था मकान के बगल का जिम्मा ऊपर छोड़ कर जाता?

उसी दिन मैं जब लौट रहा था तो एक परिचित स पुरुष न परम रहस्य क तौर पर कहा— आपकी पुलिस देखभाल करती है।' वह इस प्रसन्न थ मुझे यह मालूम नहीं है। देखभाल करती रहे मुझे उसकी क्या पर्वाह। मेरे विचार तो "आजकी राजनीति" म आ गये हैं, और समय-समय पर अपन लेखों म भी उन्हें व्यक्त कर देता हूँ। मैं कम्युनिस्ट हूँ यद्यपि इस समय पार्टी का मेम्बर नहीं था। पर ... हरेक विषय को अपने को

जिम्मेवार मानता हूं और वही कारण था कि हार हो रही थी। कोरिया में उत्तर कोरियावालों की और यहां हमारी नाक हराम हो रही थी, मालूम होता था कलेजे में सैकड़ों सूइयाँ चुभ रही हैं।

बंगले में फ्लश की कमी खटकती थी। युगों से हाथ से पाखाना साफ होता रहा है, मसूरी में भी अधिकांश बंगले फ्लश के बिना है, पर मुझे उसका अभाव बहुत खटकता था। देहरादून के गुप्ता सेनिटरी स्टोरवाला ने अपनी योजना दी। मैंने उसे मंजूर किया। लेकिन, फ्लश के तैयार होने में अगले साल के आरम्भ तक की प्रतीक्षा करनी थी।

शरदपूनो बड़ी प्यारी होती है। मसूरी में अक्सर उस दिन आकाश निरभ्र होता है। ऊपर नीले आसमान में सोलह कला से उगे चन्द्रदेव, नीचे देवदारों के नोकदार उच्च वृक्षों वान (बञ्जाठ) के घन पत्तों और खुली तथा ढकी जमीन पर फैली हुई चांदनी। इस एकान्त स्थान में रात की नीरवता जल्दी छा जाती थी, और कभी कभी कोई चिड़िया निश्चित सेकेन्ड के बाद अपनी आवाज देती सारी रात बोलती रहती। चांदनी सामने की हिम शिखर पंक्ति पर और भी तेज पड़ती और वह गन्धर्वनगर सी दिखाई पड़ती। १० बजे रात को चाँद और ऊपर चढ़ गया, चमक और भी तेज हो गई। इस समय हिमश्रेणी पर बादल नहीं था। रातनगरी के उत्तुंग विशाल सौधों की भाँति हिमालय दिखाई पड़ रहा था, यद्यपि सुस्पष्ट नहीं था। हिमालय लाखों नहीं बल्कि करोड़ों वर्ष से इसी तरह रहा होगा। शरद पूनो की यही छटा रहती होगी, पर सारा शृंगार बेकार है, यदि उसकी दाद पर तारीफ करनेवाला न हो। मनुष्य ने ही पृथ्वी पर आकर इस सौन्दर्य के मूल्य को बढ़ाया।

२६ अक्तूबर को नारनौल से भिक्षु धर्मालोक आये। हमारी बिरादरी बहुत बड़ी हुई है। घुमक्कड़ तो अपने हैं ही निजत और निजता से सम्बंध रखनेवाले भी बन्धु हैं और बौद्ध भिक्षु तो घुमक्कड़ और बौद्ध दोनों होने के नाते। साहित्यकार भी सहोदर हैं कम्युनिस्टों के बारे में तो कहना ही नहीं। बहुत वर्ष हो गए एक अंग्रेज योग रहस्यवाले विद्वान् डा० इवेन्ज वेन्ज

साधाश्रम खोलने के लिए ऋषिकेश में ३१ एकड़ भूमि ली थी। अब आश्रम खोलने की सम्भावना नहीं रह गई इसलिए उन्होंने उसे महाबोधि के सभा को और कुछ धर्म के साथ देना चाहते थे। सभा ने धर्मालोकजी को जमीन देखने के लिए भेजा था। वह उसे देखकर यहाँ आये थे। वह कह रहे थे वहाँ मच्छर बहुत हैं। ऋषिकेश से थोड़ा हटकर जमीन थी। पास में ही मीरा बहिन ने "पशुलोक" खोल रखा था। मैंने कहा—"दोनो लोग एक जगह रहें अच्छा होगा। लेकिन जगह को सम्भालते वक्त मसूरी में भी एक जगह लेना जरूरी होगी। उन्होंने पूछा— क्या? मैंने कहा— मलेरिया में लोग जब महीनों बीमार रहेंगे, तो उनके लिए एक स्वास्थ्यकर जगह भी चाहिए।" अगले दिन धर्मालोकजी गये और उसी दिन भैया और भाभीजी भी। उनके साथ ही वह ऋषिकेश गये। भैयाजी अपनी याददाश्त ताजा करने के लिए लक्ष्मण झूला के महन्त रामोदार दास के पास भी गये। अपनी घुमक्कड़ी के समय उन्होंने लक्ष्मण रामोदार दास को वहाँ के पहले महन्त के पास रखवा दिया था। मैं भी वैरागी रहते उनका नाम सुन चुका था क्योंकि मेरा भी नाम उस समय यही था। १९४३ में मैं लक्ष्मणझूला गया और उनके मठ के कई मकानों के विस्तार को भी देखा। न जाने कहाँ से मैंने खबर सुन ली थी कि अब वह इस दुनिया में नहीं हैं। इसे अपनी जीवन-यात्रा में भी लिख मारा। भैयाजी ने उसे पढ़ लिया था।

अक्तूबर के अन्त तक जाड़े का आगमन हो चुका था। फूल सब सूख गये थे। गिरनेवाले पत्ते गिरकर पड़ा को नंगा कर चुके थे। सबेरे बोरी पागर (चेस्टनट) नासपाती सभी कोने हो गये थे। हमारे लिए पहले पहल जाड़ा मसूरी में आनेवाला था उसके बारे में जानकार लोगों से हम जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करते थे। मिस पुलोम और उनके परिवार से अब अच्छा परिचय हो गया था। वह बतला रही थी—१९४५ में बर्फ इतनी अधिक पड़ी कि आना जाना रुक गया। ६० रुपया लगाकर हमने रास्ता बनवाया। छत पर इतनी बर्फ पड़ गई कि कितनी टूट गई और कितनी की दीवारें धँस गई।" देखना था इस साल कैसा जाड़ा होगा।

२९ को कानपुर निवासी श्री बलदेवजी आए। उनके साथ मेरठ की श्रीमती शकुन्तलादेवी भी थीं। बलदेवजी प्राय हर साल ही मसूरी आ जाया करते थे, और उस समय हर साल उनसे बातचीत करने का मौका मिलता। शकुन्तलाजी का तो यहाँ अपना मकान है, और कुछ दिनों के लिए वह यहाँ जरूर आती थीं। इधर उन्होंने सार्वजनिक कार्यों में हाथ लगाया था, इसलिए समय की शिकायत रहती थी। उद्योगपरायण हैं, यह तो इसी से मालूम होगा कि कितने सालों के बाद फिर मेहनत करके उन्होंने मैट्रिक दूसरी श्रेणी में पास किया। चाहती तो और भी आगे बढ़ सकती थीं, लेकिन अब उन्हें मेरठ की महिलाओं का नेतृत्व करना था। जिसका जीवन अभी आधा भी न बीता हो, और वैधव्य का भार सिर पर पड़ा हो, उसके लिए अपने जीवन का इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता है।

भैया और मामीजी के चले जाने से एक अभाव-सा मालूम होने लगा। जब से मसूरी पहुँचे थे तब से ही हर सप्ताह दो-तीन बार घंटों हम साथ रहते। यदि हम स्वामी हरिशरणानन्द के रूप में एक दिली दोस्त मिल गया था तो कमला को भी जानकीदेवी का स्नेह प्राप्त था। उनके रहते कमला को यहाँ का एकान्त अखरता नहीं था। मैं पुस्तकों में डूबता हूँ, तो सब गम गलत हो जाते हैं। ६० के होने में मुझे तीन वर्ष की देर थी। दूसरे के मानने नहीं बल्कि अपने भीतर भी मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि मैं जरा की सीमा के भीतर पहुँच गया हूँ। हाँ ६० वर्ष के बाद जबर्दस्ती जरा ने इसे मनवा लिया। उस समय हफ्ते या दस दिन में मैं शहर जरूर चला जाता था। शहर का मतलब किताबघर भी हो सकता था, क्योंकि वहाँ भी बहुत-सी दूकानें हैं, पर मैं कुल्हड़ी को ही शहर कहता हूँ। जो केन्द्र में है और जहाँ बड़ी संख्या में अच्छी-अच्छी दूकानें हैं। वहीं बड़ा डाकखाना और रेलवे का आफिस है, बैंक भी वहीं हैं। वैसे सबसे अधिक दूकानें लण्ढौर में हैं। लण्ढौर कभी छठे-छमाहे जा पाता था, लेकिन उस समय शहर जाना हो तो लण्ढौर चला जाता था। ४ नवम्बर को सर्दी पूरी तौर से आ गई थी। लण्ढौर गया तो सड़क सर्दी के कारण कुछ अधिक कड़ी थी या फिसलाऊ

थी। एक जगह मेरा बूट फिसला और जोर से गिरा। खैर, कहीं छिला-छला नहीं, और हथेली पर भार पड़ने से उसी में कुछ दर्द हुआ।

तिब्बती—लण्ढौर में १५-१६ तिब्बतीभाषी परिवार हैं, जिन्हें यहाँ के लोग भोटिया कहते हैं। किशनसिंह भोटिया नहीं कनौरे थे, लेकिन उन्हें भी उसी नाम से लोग जानते थे। लण्ढौर जाने का एक आकर्षण किशनसिंह से मिलना भी था। मसूरी के तिब्बतीभाषी वस्तुतः ग्यगर खम्पा हैं। ग्यगर भारत और खम् चीन के भीतर पूर्वी तिब्बत के बढ़े हुए भाग को कहते हैं। यह मूलतः खम् के रहनेवाले थे, इसमें भारी सन्देह है। वस्तुतः अज्ञात काल में किसी समय इन्होंने घुमन्तू-जीवन स्वीकार किया और अपनी घुमक्कड़ी में हर साल भारत और तिब्बत का चक्कर काटते रहे। जाड़ों में दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तक धावा मारना और गर्मियों में मानसरोवर प्रदेश चला जाना। इन्हीं में से कुछ बघूरियों की चीजें बेचते मसूरी में पहुँच यहीं बस गये। कितने ही समय तक माल सौदे को लाने के लिए तिब्बत भी जाते थे, फिर तिब्बत और चीन के नाम से बिकनेवाली चीजें अमृतसर और दिल्ली में तैयार होने लगीं, जो सस्ती भी थीं, इसलिए वहाँ जाने की जरूरत नहीं रह गई। इनसे मिलने पर तिब्बती भाषा बोलने और तिब्बत के बारे में जानने का मौका मिलता था। यही बतला रहे थे, चीनी कम्युनिस्ट सेना सिक्यांग से चाङ्थाङ के रास्ते गरतोक पहुँच गई है। सिक्यांग चीनी तुर्किस्तान है, चाङ्थाङ वह विशाल निर्जन मैदान है, जो आबाद तिब्बत के उत्तर और सिक्यांग के दक्षिण में पड़ता है। यह भी मालूम हुआ कि गरतोक आने वाली सेना ने जाप का स्तुमार किया। अखबारों में यह भी पता लगा, कि ल्हासा के साथ भारत का सम्बन्ध नहीं है। अभी तिब्बत और चीन के सम्बन्ध के बारे में भारत सरकार अपना कोई निश्चय नहीं कर पाई है। सरदार राजगोपालाचारी और दूसरे नेता चीनी कम्युनिस्टों के घोर विरोधी थे, और उनमें विरुद्ध मत रखनेवाले नेहरू जैसों की चलती नहीं थी। तिब्बत में कम्युनिस्टों के आने पर लद्दाख में भी गड़बड़ी मचे तो आश्चर्य क्या?

भी हम इत्मीनान था कि अब कमला अकेली नहीं रहेगी।

देहरादून में प० गयाप्रसाद शुक्लजी के यहां गए। आज ही वह आगरा से लौटे थे। डी०ए०वी० कालेज में विद्यार्थियों के सामने मैंने भाषण दिया। कालेज में तीन हजार से अधिक विद्यार्थी हैं पर पुस्तकें केवल १० हजार, यह बात खटकती थी। हिंदी की समस्या पर भाषण और कुछ प्रश्नोत्तर हुए। रात को दिल्ली की गाड़ी में सीट रिजर्व थी। ट्रेन में कुछ देर तक शुक्लजी से बात होती रही। फिर वहाँ से चलकर १८ के सवेरे साढ़े ६ बजे दिल्ली पहुँच गए।

क्या बात थी, यहाँ का भी तापमान मसूरी जैसा ही दीख पड़ता था। अब की बौद्ध विहार में ठहरा। वहाँ सिंहल के भिक्षु मिले, जिन्होंने बतलाया कि इस समय विद्यालंकार परिवेण (विहार) में त्रिपिटक का संगायन चल रहा है और कितने ही भिक्षु मिल कर उसका संशोधन कर रहे हैं। जिस समय बुद्ध के उपदेश कागज पर उतरे नहीं थे और लोग उन्हें कंठस्थ करके रखते थे उस समय विशेष स्वर से मिलकर उनके पाठ करने को संगायन कहते थे। अब तो संगायन का सवाल नहीं था क्योंकि सभी विनय, सुत्त और अभिधम्मपिटक मुद्रित हैं। कोई कंठस्थ करके रखनेवाला भी नहीं मिलेगा। धम्मपद जैसे छोटे मोटे संदर्भ का याद रखनेवाला भले ही कोई मिल जाए। पालि त्रिपिटक इस समय सिंहली बर्मी थाई (स्यामी), कम्बोजी और रोमन लिपियों में छपा मिलता था, जिनमें पूरा और अधिक सुलभ बर्मी और स्यामी लिपि का ही था। भारत में संस्कृत की पुस्तकें पहले नागरी बंगला उड़िया, तलुगु, ग्रंथतमिल मलयालम कन्नड़ लिपियों में छपा करती थीं। नागरी सबके ऊपर हावी हो गई और २०वीं सदी के आरंभ में जो उसने संस्कृत पर एकाधिपत्य कायम करना शुरू किया, तो आज ऐसी अवस्था पैदा हो गई कि शायद ही कोई संस्कृत पुस्तक उन लिपियों में छपती हो। नागरी के लिए पालि साहित्य में भी बहुत मौका है। यही एक लिपि है जिसको पालि के लिए आज के सारे बौद्ध देश अपना सकते हैं। वस्तुतः कितने ही हद तक अपनाये भी हैं। सिंहल में प्रायः सभी

पालि पंडित किंतु संस्कृत से परिचित होते हैं, क्योंकि वैद्यक और ज्योतिष की पुस्तकें वहाँ संस्कृत में ही पढ़ाई जाती हैं। और बौद्ध देशों में भी थोड़े बहुत संस्कृत पढ़नेवाले, अतएव नागरी अक्षर से परिचित विद्वान् मिल जाते हैं। अब तक नागरी में त्रिपिटक को प्रकाशित करने में सफलता नहीं हुई है। इस दिशा में जो प्रयत्न हुए, वह बहुत दूर तक नहीं जा सके। भिक्षु उत्तम की सहायता से हम लोगों ने नागरी में पालि त्रिपिटक का सम्पादन शुरू किया था, लेकिन वह सुत्तनिकाय के कुछ ग्रंथों तक ही सीमित रह गया। जातक का भी एक ही भाग नागरी में निकला। दीघनिकाय और विनयपिटक के छिट-फुट ग्रंथ जहाँ-तहाँ से छपे। यह प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार, नालन्दा से सारे त्रिपिटक को नागरी अक्षरों में छपवाने जा रही है। दीघनिकाय प्रेस में चला गया है और सम्पादन का काम बहुत तेजी से हो रहा है, पर मुद्रण चींटी की चाल से होने के कारण इस गति से इस शताब्दी के अन्त तक शायद त्रिपिटक को नागरी अक्षरों में देखा जा सके। खैर, यह शुभ आरम्भ है। आशा है पालि के बारे में नागरी वही काम करने में समर्थ होगी, जो कि संस्कृत के सम्बन्ध में उसने किया।

परिभाषाओं की विशेषज्ञ समिति बनाई गई थी, जिसके ही सम्बन्ध में दिल्ली आया था। हमारे परिचित श्री बालसुब्रह्मण्य अय्यर और डा० कुन्हन राजा भी इसमें शामिल हुए थे। कानून और दूसरे विषयों की परिभाषाओं के लिए अलग-अलग समिति की शाखाएँ बनाने का निश्चय हुआ। पहले संसद (पार्लियामेण्ट) सम्बन्धी परिभाषाएँ, फिर भू-कर आदि कानून सम्बन्धी हाथ में ली जाएँ। बालकृष्णजी का अभाव खटकता था। जान पड़ता था कि परिभाषा के बारे में सरकार ज्यादा उत्सुक नहीं है, वह उसे टालना चाहती है।

अगले साल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति मेरी दी हुई योजना के अनुसार साहित्य का कार्य कराने जा रही थी, जिसमें विद्वानों की आवश्यकता थी। नागार्जुन उसके लिए बहुत योग्य थे, पर उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। डा० भारद्वाज ने बतलाया, यदि [illegible] बर्दाश्त कर सकें, तो कोई हर्ज

भी हम इत्मीनान था कि अब कमला अकेली नहीं रहेंगी।

देहरादून में प० गयाप्रसाद शुक्लजी के यहाँ गए। आज ही वह आगरा से लौटे थे। डी०ए०वी० कालेज में विद्यार्थियों के सामने मैंने भाषण दिया। कालेज में तीन हजार से अधिक विद्यार्थी हैं, पर पुस्तकें केवल १० हजार, यह बात खटकती थी। हिन्दी की समस्या पर भाषण और कुछ प्रश्नोत्तर हुए। रात को दिल्ली की गाड़ी में सीट रिजर्व थी। ट्रेन में कुछ देर तक शुक्लजी से बात होती रही। फिर वहाँ से चलकर १८ के सवेरे साढ़े ६ बजे दिल्ली पहुँच गए।

क्या बात थी, यहाँ का भी तापमान मसूरी जैसा ही दीख पड़ता था। अब की बौद्ध विहार में ठहरा। वहाँ सिंहल के भिक्षु मिले, जिन्होंने बतलाया कि इस समय विद्यालंकार परिवेण (विहार) में त्रिपिटक का संगायन चल रहा है, और कितने ही भिक्षु मिल कर उसका संशोधन कर रहे हैं। जिस समय बुद्ध के उपदेश कागज पर उतरे नहीं थे और लोग उन्हें कंठस्थ करके रखते थे, उस समय विनाप स्वर से मिलकर उनके पाठ करने का संगायन कहते थे। अब तो संगायन का सवाल नहीं था, क्योंकि सभी विनय, सुत्त और अभिधम्मपिटक मुद्रित हैं। कोई कंठस्थ करके रखनेवाला भी नहीं मिलेगा। धम्मपद जैसे छोटे मोटे संदर्भ को याद रखनेवाला भले ही कोई मिल जाए। पालि त्रिपिटक इस समय सिंहली, बर्मी, थाई (स्यामी) कम्बोजी और रोमन लिपियों में छपा मिलता था, जिनमें पूरा और अधिक सुलभ बर्मी और स्यामी लिपि का ही था। भारत में संस्कृत की पुस्तकें पहले नागरी, बंगला, उड़िया, तेलुगु, ग्रंथतमिल, मलयालम, कन्नड लिपियों में छपा करती थीं। नागरी सबके ऊपर हावी हो गई और २०वीं सदी के आरंभ में जा उसने संस्कृत पर एकाधिपत्य कायम करना शुरू किया, तो आज ऐसी अवस्था पैदा हो गई कि शायद ही कोई संस्कृत पुस्तक उन लिपियों में छपती हो। नागरी के लिए पालि साहित्य में भी बहुत मौका है। वही एक लिपि है, जिसको पालि के लिए आज के सारे बौद्ध देश अपना सकते हैं। वस्तुतः कितने ही हद तक अपनाये भी हैं। सिंहल में प्रायः सभी

पालि पढ़ने भिक्षु संस्कृत से परिचित होते हैं, क्योंकि वैद्यक और ज्योतिष की पुस्तकें वहाँ संस्कृत में ही पढ़ाई जाती हैं। और बौद्ध देशों में भी थाइ-यहून संस्कृत पढ़ने वाले अतएव नागरी अक्षर से परिचित विद्वान् मिल जाते हैं। अब तक नागरी में त्रिपिटक को प्रकाशित करने में सफलता नहीं हुई है। इस दिशा में जो प्रयत्न हुए, वह बहुत दूर तक नहीं जा सके। भिक्षु जगदीश काश्यप की सहायता से हम लोगों ने नागरी में पालि त्रिपिटक का सम्पादन शुरू किया था, लेकिन वह सुत्तनिकाय के कुछ ग्रंथों तक ही सीमित रह गया। जातक का भी एक ही भाग नागरी में निकला। दीघनिकाय और विनयपिटक के छिट-पुट ग्रंथ जहाँ-तहाँ में छपे। यह प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार नालन्दा से सारे त्रिपिटक को नागरी अक्षरों में छपवाने जा रही है। दीघनिकाय प्रेस में चला गया है और सम्पादन का काम बहुत तेजी से हो रहा है, पर मुद्रण चींटी की चाल से होने के कारण इस गति से इस शताब्दी के अन्त तक शायद त्रिपिटक को नागरी अक्षरों में देखा जा सके। खैर, यह शुभ आरम्भ है। आशा है पालि के बारे में नागरी वही काम करने में समर्थ होगी, जो कि संस्कृत के सम्बन्ध में उसने किया।

परिभाषाओं की विशेषज्ञ समिति बनाई गई थी, जिसके ही सम्बन्ध में दिल्ली आया था। हमारे परिचित श्री बालसुब्रह्मण्य अय्यर और डा० कुन्हन राजा भी इसमें शामिल हुए थे। कानून और दूसरे विषयों की परिभाषाओं के लिए अलग-अलग समिति की शाखाएँ बनाने का निश्चय हुआ। पर्ल्समेंट (पार्ल्यामेण्ट) सम्बन्धी परिभाषाएं फिर भूल कर आगे कानूनी सम्बन्धी हाथ में ली जाएं। बालकृष्णजी का अभाव खटकता था। जो धन-शाला था कि परिभाषा के बारे में सरकार ज्यादा उत्सुक नहीं है, वह उसे टालना चाहती है।

अगले साल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की हुई योजना के अनुसार साहित्य का काम कराया जा रहा थी, जिसमें विद्वानों की आवश्यकता थी। नागार्जुन उसके लिए बहुत योग्य थे, पर उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। डा० भारद्वाज ने बतलाया, यदि वह सर्दी बर्दाश्त कर सकें, तो बाद हज

नहीं। मैंने नागार्जुनजी को आने के लिए लिख दिया।

१६ को फिर विशेषज्ञों की समिति की बैठक हुई। हम लोगों ने पहले ही विचार किया था कि स्टाफ (कर्मियों) को बढ़ाए बिना काम शीघ्रता से नहीं हो सकता। इस बैठक में राष्ट्रपति और अध्यक्ष मावलंकरजी आए थे। गुप्तजी ने स्टाफ बढ़ाने का सुझाव रखा, दोनों ने इसे माना। जब तक संविधान सभा थी, तब तक राजेन्द्र बाबू उसके अध्यक्ष थे। संविधान बन जाने पर वह भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति बने। वह जानते थे, परिभाषा का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है, उसके बिना अंग्रेजी हमारी छाती पर से नहीं उतर सकती क्योंकि परिभाषा बिना हिन्दी उसका स्थान लेने योग्य नहीं होगी। वह यह भी समझते थे कि मौलाना और उनका शिक्षा विभाग संविधान में उर्दू के सम्मिलित भाषा में प्रयत्न की हार से और जल उठा है, वह हिन्दी के रास्ते में पग पग पर रोड़ा अटकाएगा। इसलिए विशेषज्ञों की समिति का भार मावलंकर को दिया। इधर जब और तरह से काम नहीं बनते देखा और परिभाषा का काम अपने विभाग में नहीं आया, तो आजाद ने एक दूसरी चाल चली और दिवाकर, सत्यनारायण तथा मावलंकर से मिलकर चाहा कि परिभाषा बनाने का काम हिन्दुस्तानी एकेडमी को दे दिया जाए, जिसमें ताराचंद कालेलकर सर्वेसर्वा बनकर सारा गुड़ गोबर करें। मुझे आश्चर्य होता है इन लोगों को नाक की सीध से दूर क्यों नहीं सूझता? किसी एक या दस पाँच आदमी के प्रयत्न से कोई भाषा भारत की सार्वदेशिक भाषा नहीं हो सकती। जिसमें वैसा होने की क्षमता है, वही हो सकता है। हिन्दी सदियों से अन्तःप्रान्तीय क्षेत्र में सम्मिलित भाषा के तौर पर व्यवहार की जाती रही है, क्योंकि देश के बहुत बड़े क्षेत्र में वह बोली या समझी जाती है। उर्दू नहीं, हिन्दी शैली ही सार्वदेशिक भाषा बनने की क्षमता रखता है, यह हमारे या किसी के प्रयत्न के कारण नहीं, बल्कि हिन्दी और भारत की और प्रादेशिक भाषाओं के शब्दकोश एक होने के कारण, जिसमें उसका यह अंश पहले ही से हिमालय से कन्याकुमारी तक मिलता आता है। उर्दू के फारसी अरबी शब्द असमिया, बंगला, उड़िया

तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती के लिए लोहे के चने हो जाते हैं। हिंदी को हटाकर उर्दू हिन्दुस्तानी के नाम से थोपे गये से सार्वदेशिक भाषा नहीं बन सकती, इसे जरा भी दिमाग रखनेवाला आदमी समझ सकता है, लेकिन प्रान्त में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए क्या कहा जाए? काका कालेलकर अपनी महंथी चाहते थे, सत्यनारायण उसी के नाम पर ऊपर तक पहुँचे थे, दिवाकर और मावलंकर बड़ों की हाँ में हाँ मिलाने वाले ठहरे। हिन्दी के खिलाफ यह षड्यन्त्र देखकर सचमुच क्षोभ होती थी।

बिना काम बड़ों से मिलने की मेरी इच्छा नहीं होती। लेकिन श्री मोहनलाल शास्त्री और शंकरानन्दजी ने बहुत जोर दिया, इसलिए शंकरानन्दजी के साथ १६ नवम्बर को मैं डा० अम्बेडकर के यहाँ गया। अम्बेडकर की योग्यता और काम को न मानना मेरे लिए संभव नहीं था। उनने कितनी ही प्रतिगामी बातों को जानते भी सबसे दलित जाति में चेतना और आत्माभिमान पैदा करने का जो बड़ा काम किया था, उसके लिए मैं उनका बहुत प्रशंसक हूँ। सचमुच ही मेरे लिए यह समझना बहुत मुश्किल था कि उनकी तरह का समझदार आदमी कैसे अमेरिकी और अंग्रेज थैलीशाहों का समर्थक और रूस जैसे शोषण के कट्टर शत्रु तथा अपने व्यवहार से विषमताओं को हटानेवाले देश के प्रति द्वेष रख सकता है। मुझे अम्बेडकर से मिलने की इच्छा नहीं थी। प्रायः पौन घंटे बातें हुई। वह इस समय बुद्ध पर एक पोथी तैयार कर रहे थे, उसके बारे में भी कहा। इस पुरुष को जिन्दगी में बड़ी ठोकरें खाना पड़ी। बड़ी जातवालों ने बराबर यह अपमान की कोशिश की कि तुम अपनी स्थिति समझो। लेकिन इसने कर्ण के शब्दों में कहा—

'सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥

अम्बेडकर ने अपने पौरुष से अपना लोहा मनवा लिया। मेरे लिए उनका यह रूप बहुत ही प्रिय और सम्माननीय था। पर उस थोड़ी देर की बात-व्यवहार में मुझे उनमें नीरसता मालूम हुई। मैं तो पहले ही सुन रहा था, इसलिए मेरा तो कुछ दूसरा रूप देखकर धारणा बनाना आसान

था। इस तरह की मुलाकात में चाय पानी की बात करना जरूरी था, लेकिन मालूम होता था, मैं कानून मंत्री के आफिस में कोई नौकरी ढूंढने के लिए गया हूँ, उन्हें नपी तुली ही बातें करना चाहिए। खैर, इससे कोई मतलब नहीं था। इसके बाद मेरा विचार यही हुआ—'सात खून माफ लायक आदमी है किन्तु मेरी तो यह प्रथम और अन्तिम भेंट मालूम होती है।' मृत्यु से कुछ दिन पहिले नेपाल में अम्बेडकर को देखा। योद्धा अब भी थे पर स्वास्थ्य जवाब दे चुका था। मरने से पहिले अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म की नींव पुनः रख दी।

बौद्ध विहार में कई जगहों के आदमियों से मुलाकात हुई, जिसके लिए हो जब कि मैं यहीं ठहरा था। पाकिस्तान के हाथ में गये मीरपुर (जम्मू) के शरणार्थी श्री ओमप्रकाशजी मिले। वह उस समय अपने घर से भगे, जब मीरपुर में भी आग लग गई थी। उनके पिता वकील थे। अपना घर द्वार और सम्पत्ति थी। कैसे ही भागे। अपना और अपनों का प्राण सम्पत्ति से अधिक मूल्यवान होता है। जब होश आया तो चारों ओर से अपने को घिरा देखा। पिता और परिवार के कितने ही लोग मारे गये। दो बहनें पाकिस्तान में कई वर्षों तक रहीं, जहाँ उनका ब्याह भी हो गया था लेकिन यह जबर्दस्ती का था। इसलिए अवसर मिलने पर वह अपने भाई के पास भारत चली आई। जिस तरह हिन्दू स्त्रियों ने आततायियों के हाथ में पड़ने की जगह नदी में कूद कर अपना छुटकारा किया, वैसा सामत सही इसका बड़ा हृदय द्रावक वर्णन कर रहे थे। मैंने ओमप्रकाशजी से कहा—इसको लिपिबद्ध कर डालिए। हाँ, यह जरूर था कि यह आततायीपन एकतरफा नहीं हुआ, जहाँ जिसका बस चला, वहाँ उसने अपने को मानवता से गिरा साबित किया।

अमृतसर—भयाजी का बहुत आग्रह था कि दिल्ली आने पर अमृतसर जरूर आऊँ। आजकल सर्दियों का समय था, इसलिए तकलीफ का कोई सवाल नहीं था। ९ बजे रात की अमृतसर वाली गाड़ी पकड़ी और सहारनपुर के रास्ते चलकर २१ नवम्बर के सवेरे अमृतसर पहुँच गये। भैया और भाभीजी स्टेशन पर मौजूद थे, इसलिए घर ढूंढने की तकलीफ नहीं

उठाना पड़ी। तीन वर्ष पहले अमृतसर में आग लगी थी वास्तविक और मानसिक भी। समझता था कि शहर अधिकतर उजड़ा मिलेगा और लोग बहुत कम। भैया का घर शहर के गर्भ में था इसलिए शहर के बहुत से भाग को रास्ते में देखते जाना पड़ा। मनुष्यों की संख्या कम नहीं मालूम होती थी। पहले कूचा कुतियाँ में भैया के तिमंजिला मकान की ऊपरी छत पर पहुंचा। इधर उधर की बातें हुई, भोजन किया तब बाहर निकले। अकाली मार्केट में भैया का प्रेस पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी और दवाईखाना है। भाई साहब दिमाग में बिल्कुल आधुनिकता रखते हैं और बुद्धिवाद की तो साकार मूर्ति हैं। जब आयुर्वेदिक दवायें बनानी शुरू की तो उन्होंने सोचा दवाओं के बनाने में आधुनिक यंत्रों की भी सहायता ली जा सकती है। गोलियों के बनाने के लिए पहले भी कितने ही लोग मशीन का इस्तेमाल करते थे। भैया ने खरल और ढेंकी तथा आवलं का काम भी बिजलीचालित यंत्रों द्वारा लिया और इसके लिए मशीनें यहीं के मिस्त्रियों से बनवाई। भस्म बनाने में भी उन्होंने आधुनिक साधनों का उपयोग किया, और दवाइयों में अनन्त शुद्ध कच्ची सामग्री इस्तेमाल की। इसी के कारण उनकी फार्मेसी खूब चली। फार्मेसी के कारखाने को देखकर यह मालूम होता था कि उस पर यंत्र-युग की छाप थी पर घर में उतनी सफाई नहीं थी। पर यह अपना घर भी नहीं था। जैसे-तैसे घर में काम शुरू किया था जिसमें सुधार करना अपने वश की बात नहीं थी। वाइलेट (अतिवासिनी) किरणों का तेलों पर क्या असर होता है, आजकल इसकी परीक्षा पर भाई साहब जुटे हुए थे। अकमी प्रान्त में भी दूध का बायकाट नहीं है लेकिन दूध के भ्रम से धूने के पानी पर टूटने वाला दूधभक्त यहाँ कोई नहीं मिलेगा। पंजाब में भाई साहब को रहते तीस वर्ष से अधिक हो गये, इसलिए यदि पंजाब की कितनी ही बातों को अपना चुके थे तो क्या आश्चर्य ? मामीजी को यहाँ आए अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, लेकिन उनकी चाल पर पंजाबी अधिक छाई हुई थी। घर में बड़े बड़े दूध देने वाली दो भैंसें थीं। इस समय एक दूध दे रही थी। दूध, मक्खन, या दही का क्या पूछना ? देश में

न हो पर उस घर में तो दूध की नदी बह रही थी। छाछ इतना होता कि मुहल्ले वालों में सदावत जारी था। अपने राम भी छाछ के बड़े प्रेमी हैं। दूध के लिए जमा आक्षेप दूसरे पर करते थे वैसे ही दूसरे छाछ के लिए हमारे ऊपर कर सकते थे। घर में तांगा और अच्छी घोड़ी ही नहीं, बल्कि उसकी बछेड़ी भी थी। घुमक्कडराज ने गृहस्थी अच्छी जोड़ी है, क्या इसे कहने की आवश्यकता है?

वहां बाजार से होते दरबार साहब की ओर चले। दरबार तो तालाब के बीच में है लेकिन तालाब के हाते के भीतर घुसते ही हुकुम हुआ सिर ढांक लीजिए। सम्मान प्रदर्शित करने के अपने अपने तरीके हैं। जब केश रखना परम धर्म माना गया तो केशों का नंगा रखना शोभा की चीज नहीं थी इसलिए पगड़ी बांधना अनिवार्य हो गया। जब सारे लोग पगड़ी बांध कर मन्दिर में जा रहे हैं तो दूसरों को नंगे सिर कैसे जाने दिया जाए इस लिए सिर ढांकने के नियम को सबसे मनवाया जाने लगा। बौद्धों में सिर ढांककर मन्दिर में जाना अब असम्मान प्रदर्शित करना है ईसाइयों में भी यही बात है। पर मुसलमानों में सिर ढांकना जरूरी है। शायद कितनी ही बातों की तरह इसे भी सिक्खों ने मुसलमानों से लिया। अमूर्तिपूजक सिक्ख मन्दिर के भीतर कोई मूर्ति नहीं रख सकते और जो मूर्ति का जबर्दस्त बायकाट करेगा, वह कला से वंचित हो जाएगा। लेकिन, लोगों को क्या पता कि वस्तुत: भगवान् झूठा है और मूर्तियां ही सच्ची हैं। भगवान् उतने उच्च भावों को मनुष्य के हृदय में नहीं भर सकता, जितना कि सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियां। ग्रंथ साहब को वहां दो अंधे रागी पढ़ नहीं गा रहे थे। सुन्दर इसमें संगीत की तो पूछ जरूर है। तालाब के किनारे संगमरमर का फर्श लगा है। जान पड़ता है धीरे धीरे आसपास संगमरमर ही संगमरमर हो जाएगा। बहुत से मकानों को गिराकर वहाँ एक तरह के मकान बनवाये गए थे। सरोवर के भीतर मन्दिर देखकर तिब्बत के बौद्ध इस गुरु पद्म-सम्भव का स्थान मानते हैं और जाड़ों में कितने ही तिब्बती तीर्थयात्री दण्डवत् करते परिक्रमा करते भी देखे जाते हैं। मन्दिर को देखकर देश के

लिए सिक्खों का बलिदान याद आये बिना नहीं रहता। इन वीरों के भविष्य की सेवाओं का ख्याल आते तुरन्त कामागातामारू की अमर कहानी आँखों के सामने आ जाती है, और प्रथम विश्वयुद्ध में ७० ७० वीरों के हँसते हँसते देश के लिए सूली फांसी पर चढ़ जाने का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है। करतारसिंह होता तो आज बूढ़ा होता, लेकिन उसने बीस वर्ष की अवस्था में ही अद्भुत निर्भीकता का परिचय दे अपनी जवानी का बलिदान किया था और उसकी वह जवानी अमर है।

दिल्ली में बमन की पुस्तक 'मिस्ट्री आफ बिड़ला हाउस' मिली। उस घर में बैठे पढ़ते रहे। आँखों के सामने यह सब हो रहा था, तब भी शिक्षितों के कान पर जूँ क्यों नहीं रेंगती?

अमृतसर मैं सिर्फ दो दिन के लिए आया था। पहले दिन रात को ऊपर से सीढ़ियों से उतर रहा था, रोशनी साफ नहीं थी और पैर ने एक की जगह दो सीढ़ी पार करना चाहा। शायद वह आखिरी सीढ़ी थी, इसलिये पास से गिरने पर बहुत चोट नहीं आई, हाँ घुटना छिल गया। 'कोई बात नहीं'—मैंने उस वक्त यही कहा।

२७ को चाय पीकर कम्पनी बाग की ओर टहलने गए। आजकल मन्दिर उत्सव की तैयारी हो रही थी। रास्ते में गाड़ीवाला मिला। एक जगह घोड़ा गिर गई और तांगा उसके ऊपर पहुँच गया। पर घोड़े ऐसे अभ्यस्त होते हैं। डा० महाजन से भेंट करने गए। ८० वर्ष के हो चुके हैं। वह पुरानी पीढ़ी के उन पुरुषों में से हैं जिनको बुद्ध के व्यक्तित्व ने बहुत आकृष्ट किया। छोटे और दूसरी पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह उनके पास था और पुरानी मूर्तियों के भी प्रेमी थे। स्वयं बुद्ध भक्त थे और बुद्धिवादी, पर पत्नी राधास्वामी की भक्तिन थीं। द्वन्द्व-समास था, पर विरुद्ध प्रकृति के लोगों में जब स्नेह होता तो वह और बहुत घना हो रहता है।

शाम को टहलने जलियाँवाला बाग गए। डायर के कांड के ३१ वर्ष बाद अब भी कितनी ही गोलियों के निशान मौजूद थे। भाई साहब ने उस

मन्दिर को भी दिखलाया, जिसके पीछे छिपकर उन्होंने और दूसरों ने अपने प्राण बचाये।

मसूरी—२२ की शाम को देहरादून की गाड़ी पकड़ी और सोते हुए रात के पौने बजे सहारनपुर पहुँच गया। दिल्ली के अखबार इसी वक्त यहाँ आकर विशेष कार से मसूरी पहुँचाये जाते हैं, यह हमें मालूम था। स्टेशन से बाहर निकलते ही आवाज सुनी और सात रुपया देकर "स्टेटसमन" वाली टैक्सी में बैठ गये, जो पौने चार बजे रवाना हुई। अँधेरे ही अँधेरे में मैदान छोड़ सिवालिक में प्रविष्ट हो घाटी पार करते पता भी नहीं लगा। हाँ, रास्ते में "राजाजी सैंक्चुअरी" अंग्रेजी में लिखा देखा। मालूम हुआ, अंग्रेजों के समय का "अभयारण्य वन" अब राजाजी के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। घंटे भर में हम देहरादून पहुँच गए। कारवाले ने एजेंटों को अखबार दिए, फिर पहाड़ पर चढ़ते ६ बजे किताबघर में ले जाकर हमें उतार दिया। अभी भी चिराग जल रहे थे। देहरादून से मसूरी की दीपमालिका दिखाई पड़ती थी और यहाँ से तो देहरादून हजारों बिजली के चिरागों से जगमग-जगमग कर रहा था। इतने सवेरे भला कुली कहाँ से मिलता। चिरागों के बुझ जाने तक अपना सामान लिए अड्डे पर बैठा रहा। अँधेरा दूर हुआ, कुली आए। उनकी पीठ पर सामान रखकर अपने घर की ओर चले। रास्ते में सड़क पर कुछ ऐसी जगह हैं, जहाँ सूर्य की धूप नहीं पड़ती। वहाँ की ओस जमकर सफेद बर्फ बनी हुई थी।

महादेवजी सर्दी से परेशान मिले, लेकिन कहा—"कोई बात नहीं, भुगत लेंगे।" रात को आग जला लेते थे। मकान खरीदते वक्त ऊँची छत को भूषण समझा था, लेकिन अब वह दूषण दीख रही थी। छोटी छत होती, तो लकड़ी जलाकर सारे मकान को गरम कर लिया जाता और जाड़े को बाहर रहकर चिरौरी करनी पड़ती। पहले मकान में ढिलाई हो रही थी। मैंने समझा था, लौटकर आने तक वह तैयार मिलेगा।

महादेवजी की सर्दी का इन्तिजाम सबसे पहले करना था, इसलिए अगले दिन (२४ नवम्बर को) उनके साथ हम लण्ढौर बाजार गए, और

गरम कपड़े कोट पायजामा बनाने के लिए दर्जी को दे आए। बाजार जाने पर डा० सत्यकेतु के यहाँ चाय पीना अनिवार्य था।

लौटते वक्त हपी वली क्लब के घर को रंगा जाते देखा। किसी समय यह क्लब मसूरी की नाक थी। उस समय समझा जाता था, इस क्लब के बिना मसूरी श्रीहीन होगी। इतना लम्बा चौड़ा समतल स्थान मसूरी में किसी मकान के पास नहीं है। उसमें सात आठ टेनिस कोर्ट थे। गांधीजी ने यहाँ कितनी ही बार शाम की प्रार्थना कराई थी और पास में ही बिड़ला निवास में ठहरे थे। मैंने अपने प्रथम वर्ष के निवास में बहुत चाहा कि अंग्रेजी नाम बदलकर इसका भारतीय नाम हो जाए और गांधी भूमि जैसे नाम का सुझाव भी दिया था। उस समय कई सालों से नगरपालिका के बोर्ड को तोड़कर प्रबन्ध को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था। आशा थी कि जन निर्वाचित नगरपालिका कुछ करेगी, पर वह पहले से भी गई बीती साबित हुई—इसी में नहीं और बातों में भी। हपी वली क्लब वर्षों से सूना पड़ा हुआ था, बरसात में छत चूती थी, जिससे कितने ही फर्नीचर और दरी टाट खराब हो गए थे। क्लब में पुस्तकों का भी एक अच्छा संग्रह था, जिसकी पूछ करनेवाला कोई नहीं था। आज घर को रंग जाते देख कर आशा हुई, हपी वली का भाग्य शायद फिर जगेगा, लेकिन जब सारी मसूरी का भाग्य ही रूठा हो, तो इस क्लब की क्या आशा थी?

नेपाल में इस समय स्वतन्त्रता का युद्ध छिड़ा हुआ था। नेपाली कांग्रेस के वीरों ने वीरगंज को राणा शासन से मुक्त कर लिया था। लेकिन, कांग्रेसी स्वयं सेवक सुशिक्षित सेना नहीं थी, न उनके पास हथियार थे। भारत सरकार किसी तरह की सहायता प्राप्त करने में बाधा डालने के लिए उतारू थी। स्वतन्त्रताप्रेमियों को चक्की के दो पाटों के भीतर पड़कर पिसना था। २४ नवम्बर को पता लगा, नेपाली कांग्रेस के स्वयंसेवकों को वीरगंज छोड़कर पीछे हटना पड़ा। क्या उनकी कुर्बानियाँ व्यर्थ जाएँगी? उस समय भय हो आता था कि नेपाली सेना राणाओं के हाथ से बेहाथ हो जाएगी। सारी परिस्थिति प्रतिकूल मालूम हो रही थी, लेकिन का

मंदिर का भी दिखलाया जिसके पीछे छिपकर उन्होंने और दूसरों ने अपने प्राण बचाये।

मसूरी—२२ की शाम को देहरादून की गाड़ी पकड़ी और सोते हुए रात के पौने बजे सहारनपुर पहुँच गया। दिल्ली के अखबार इसी वक्त यहाँ आकर विशेष कार में मसूरी पहुँचाये जाते हैं यह हमें मालूम था। स्टेशन से बाहर निकलते ही आवाज सुनी और सात रुपया देकर "स्टेटसमैन" वाली टक्सी में बैठ गये जो पौने चार बजे रवाना हुई। अंधेरे ही अंधेरे में मैदान छोड़ सिवालिक में प्रविष्ट हो घाटा पार करते पता भी नहीं लगा। हाँ रोशनी में "राजाजी सैंक्चुअरी" अंग्रेजी में लिखा देखा। मालूम हुआ, अंग्रेजों के समय का अभयदान वन' अब राजाजी के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। घंटे भर में हम देहरादून पहुँच गए। कारवाले ने एजेंटों को अख बार दिए फिर पहाड़ पर चढ़ने ६ बजे किताबघर में ले जाकर हमें उतार दिया। अभी भी चिराग जल रहे थे। देहरादून से मसूरी की दीपमालिका दिखाई पड़ती थी और यहाँ से तो देहरादून हजारों बिजली के चिरागों से जगमग-जगमग कर रहा था। इतने सवेरे भला कुली कहाँ से मिलता। चिरागों के बुझ जाने तक अपना सामान लिए अड्डे पर बैठा रहा। अंधेरा दूर हुआ, कुली आए। उनकी पीठ पर सामान रखकर अपने घर की ओर चले। रास्ते में सड़क पर कुछ ऐसी जगहें हैं जहाँ सूर्य की धूप नहीं पड़ती। वहाँ की ओस जमकर सफेद बर्फ बनी हुई थी।

महादेवजी सर्दी से परेशान मिले लेकिन कहा—"कोई बात नहीं भुगत लेंगे। रात को आग जला लेते थे। मकान खरीदते वक्त ऊँची छत को भूषण समझा था लेकिन अब वह दूषण दीख रही थी। छोटी छत होती, तो लकड़ी जलाकर सारे मकान को गरम कर लिया जाता और जाड़े को बाहर रखकर किरोरी करनी पड़ती। पत्थर बनाने में दिक्कत हो रही थी। मैंने समझा था, लौटने के आने तक वह तैयार मिलेगा।

महादेवजी की सर्दी का इन्तिजाम सबसे पहले करना था इसलिए अगले दिन (२४ नवम्बर को) उनके साथ हम लण्ढौर बाजार गए और

गरम कपड़ा कोट पायजामा बनाने के लिए दर्जी को दे आए। बाजार जाने पर डा० सत्यकेतु के यहाँ चाय पीना अनिवार्य था।

लौटते वक्त हैपी वेली क्लब के घर को रंगा जाते देखा। किसी समय यह क्लब मसूरी की नाक थी। उस समय समझा जाता था, इस क्लब के बिना मसूरी श्रीहीन होगी। इतना लम्बा चौड़ा समतल स्थान मसूरी में किसी मकान के पास नहीं है। उसमें सात आठ टेनिस कोर्ट थे। गांधीजी ने यहाँ कितनी ही बार शाम की प्रार्थना कराई थी, और पास में ही बिड़ला-निवास में ठहरे थे। मैंने अपने प्रथम वर्ष के निवास में बहुत चाहा कि अंग्रेजी नाम बदलकर इसका भारतीय नाम हो जाए और गांधी भूमि जैसे नाम का सुझाव भी दिया था। उस समय कई सालों से नगरपालिका के बोर्ड को तोड़कर प्रबन्ध को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था। आशा थी कि जन निर्वाचित नगरपालिका कुछ करेगी, पर वह पहले से भी गई-बीती साबित हुई—इसी में नहीं और बातों में भी। हैपी वेली क्लब वर्षों से सूना पड़ा हुआ था, बरसात में छत चूती थी, जिससे कितने ही फर्नीचर और फर्श टूट खराब हो गए थे। क्लब में पुस्तकों का भी एक अच्छा संग्रह था जिसकी पूछ करनेवाला कोई नहीं था। आज घर को रंगा जाते देखकर आशा हुई हैपी वेली का भाग्य शायद फिर जगेगा लेकिन जब सारी मसूरी का भाग्य सो रहा हो तो इस क्लब की क्या आशा थी?

नेपाल में इस समय स्वतन्त्रता का युद्ध छिड़ा हुआ था। नेपाली कांग्रेस के वीरों ने बीरगंज को राणा शासन से मुक्त कर लिया था। लेकिन, कांग्रेसी स्वयंसेवक सुशिक्षित सेना नहीं थे न उनके पास हथियार थे। भारत सरकार किसी तरह की सहायता प्राप्त करने में बाधा डालने के लिए उतारू थी। स्वतन्त्रताप्रेमियों को चक्की के दो पाटों के भीतर पड़कर पिसना था। २४ नवम्बर को पता लगा नेपाली कांग्रेस के स्वयंसेवकों को बीरगंज छोड़कर पीछे हटना पड़ा। क्या उनकी कुर्बानियाँ व्यर्थ जाएँगी? उस समय तो तब ही आशा था कि नेपाली सेना राणाओं के हाथ से बाहर हो जाएँगी। सारी परिस्थिति प्रतिकूल मालूम हो रही थी, लेकिन बाद स्वतन्त्रताप्रेमियों

के पक्ष में था। अगले दिन की खबरों से मालूम हुआ कि नेपाल का सशस्त्र विद्रोह सफल नहीं हुआ। कांग्रेसवाले सेना को प्रभावित नहीं कर सके, भारत सरकार ने भारी रुकावट पैदा कर दी। अंग्रेज बलि का बकरा बनाने के लिए नेपालियों को अपनी सेना में भरती कर रहे थे जिसमें राणा परम सहायक थे इसलिए वह अपने पोष्यपुत्रों को कैसे अपदस्थ होने देते? इसी बीच त्रिभुवन काठमाण्डू के भारतीय दूतावास में शरण लेकर और हमारी इकना के कारण भारतीय विमान में चढ़कर दिल्ली पहुँच गए। सरकार की ओर से उनका खूब स्वागत हुआ था। पर यदि राणाओं को अपने पद पर बने रहने के लिए अप्रत्यक्ष रूप में काम करने देना था, तो इस प्रदर्शन का क्या मतलब?

भारत में पिछले कई वर्षों से जो शासन का सूत्र कांग्रेसियों के हाथ में आया तब से भ्रष्टाचार और अयोग्यता इतनी बढ़ गई कि कितने ही लोग समझने लगे कि कांग्रेस अब चूनी नाव है, उसमें रहने की जरूरत नहीं। डेमोक्रेटिक फ्रंट यही सोचकर कांग्रेस से अलग हो गया। लेकिन, कांग्रेस को निकालना तो तभी फायदा उठाया जा सकता है जब उसके मुकाबले में कोई दूसरा सम्मिलित संगठित मोर्चा तैयार हो।

बम्बई—संविधान के संस्कृत अनुवाद समिति के डा० काणे अपनी वृद्धावस्था के कारण बम्बई से इधर उधर जाने में असमर्थ थे इसलिए समिति की बैठक बम्बई में बुलाई गई थी। मुझे भी वहाँ जाना था। २७ नवम्बर को घर से प्रस्थान कर तीन स्पेन में टैक्सी से सवा १० बजे गुप्ताजी के घर पहुँचा। पत्नी बनानेवाले बड़ी सुस्ती दिखला रहे थे। गुप्ता स्टोर में पूछने पर मालूम हुआ अभी कलकत्ता से सामान नहीं आया। छपरा के दो तरुण दस वर्षों से रह रहे थे एक सफल वैद्य थे और दूसरे ने हिन्दी विद्यालय खोल रखा था। दूसरा उनका घर बनता जा रहा था अगली पीढ़ी तो शायद छपरा की बोली भी भूल जाएगी।

आजकल युनिवर्सिटियों में डाक्टर बननेवालों की बाढ़ आ गई थी। पी एच० डी० और डी० लिट० का टैग भर होना कुछ लोगों को बुरा लग

रहा था। पर यह दोष डिग्रियों का नहीं है। डिग्री के लिए अनुसंधान करने वालों में कोई-कोई अच्छे भी निकल आ सकते हैं। शुक्लजी संस्कृत और हिंदी के विद्वान् तथा सफल अध्यापक हैं। उनको कुछ इच्छा इस मैंने भी ज्यादा प्रोत्साहन दिया। विषय 'कृष्ण काव्य का स्रोत' रखना था। कुछ साल तक शुक्लजी का ध्यान इधर था और मैं भी आगे बढ़ाने की कोशिश करता रहा। लेकिन, यह भार ढोना उनके लिए मुश्किल और व्यय भी था। हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे देहरादून छोड़कर और कहीं काम करने जाना नहीं था, इसलिए डाक्टर बनने में कोई लाभ नहीं था। फिर शुक्लजी बहुधन्धी और सबकी सेवा के लिए हर वक्त तैयार रहते हैं। कालेज में पढ़ाई के घंटा था। छोड़कर बाकी सारा समय उनका परोपकार में लगता है। सवेरे चाय और मध्याह्न भोजन तो घर में होना निश्चित है। फिर १२ बजे रात तक उनका घर में पता नहीं रहता। साईकिल भी नहीं चलाना जानते सारी यात्रा पैदल ही करते थे। इससे एक लाभ तो उन्हें जरूर होगा कि वह शुक्लाइनजी की तरह कभी डायबटीज के शिकार नहीं हुए। नगरपालिका के नये चुनाव में वह शिक्षा विभाग के अध्यक्ष बना दिये गए— एक अकेला दूसरे नाम पर चला । अब भला उनको साँस लेने की फुरसत कहाँ हो सकती थी? पर मेरे आने पर थोड़ी बहुत फुरसत उन्हें निकालनी ही पड़ती थी।

देहरादून से बम्बई के लिए रवाना हुआ। २८ नवम्बर को सवेरे पौ फटते हमारी ट्रेन दिल्ली पहुंची। यहीं हम ट्रेन बदलनी थी। दूसरी ट्रेन में पेय रिजर्व नहीं इसलिए जगह मिलने में सन्देह मालूम हो रहा था लेकिन फ्रंटियर मेल में कितने ही लोग दिल्ली में उतरे। मैं जिस डब्बे में बैठा, उसमें अमृतसर से आने वाले दो तरुण भी थे। ट्रेन ने यहीं से लेट होना शुरू किया। मथुरा भरतपुर कोटा रतलाम बड़ोदा सूरत से होते जाना था। रास्ते में करौली और जयपुर के दो इलाके मिले। एक जगह जयपुर के गुप्तजी गाड़ी पर चढ़े हमारा कम्पार्टमेंट पूरी तौर से भर गया। मालव की भूमि पार करते गुजरात में प्रविष्ट होने के कारण कुछ ही देर बाद रात

हो गई। सवेरे बडसार आया। मालूम हुआ ट्रेन दो घंटा लेट है। दो घंटा लेट ही हम बम्बई सेंट्रल स्टेशन पहुँचे। श्री घनश्यामदास पोद्दार को पहले ही पत्र लिख चुका था, उनका आदमी मौजूद था। इसलिए मलाबार हिल पर सेठजी के घर पर पहुँचने में कोई दिक्कत नहीं हुई। आजकल स्वास्थ्य के ख्याल से पोद्दारजी समुद्र के किनारे जुहू में रहते थे, मुझे उनके घर पर ही ठहरना था। दो दिन पहले आ गया था, सोचा था इसमें बम्बई के मित्रों से मिलना जुलना हो जाएगा। उस दिन स्नान और भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम किया। बड़े शहरों में एक जगह से दूसरी जगह जाने की बड़ी दिक्कत होती है, पर कार मौजूद थी। मुझे परतन्त्र सवारी में घूमने में एक डर यह भी रहता है कि कहीं कोई घाव न लग जाय। सिद्धांत के तौर पर तो पहले से ही मानता था कि डायबेटीज में घाव या फोड़ा फुंसी होना ही उसे बीमारी का रूप देना है।

अमृतसर में घुटना मामूली-सा छिल गया था। जिन्दगी में इस तरह का छिलना कोई बात नहीं समझता था। मसूरी में रहने पर मालूम हुआ वह सूख गया। यहाँ आकर स्नान करते वक्त भिगोने से परहेज नहीं किया। जब डायबटीज मेहरानी ने अपना रूप दिखाना शुरू किया। पहले दिन खतरा उतना मालूम भी नहीं हुआ था। उस दिन ३ बजे निकले। 'गढ़वाल' लिखने में हाथ लगाया था, इसलिए केदारखण्ड और कुछ दूसरी संस्कृत पुस्तकों की आवश्यकता थी। वेंकटेश्वर प्रेस गया। 'वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक शास्त्रीजी और दूसरे कितने ही अदृष्ट परिचित निकल आए। वेंकटेश्वर प्रेस ने संस्कृत की बड़ी सेवा की है। अपने बचपन में संस्कृत से अपरिचित होते समय पण्डितों से मैंने इस प्रेस का नाम सुना था, जब कि मेरे नाना के पुरोहित कन्नी बाबा के नाते ने कोई पुस्तक यहाँ से वी० पी० द्वारा मँगवाई थी। उसी के आसपास कनैला में आने पर इस प्रेस की छपी कुछ पोथियाँ और दूसरी पुस्तकें अपने घर पर मिलीं, जिन्हें मेरे मामा फूफा ने बम्बई से भेजा था। आजकल उसका प्रबन्ध रिसीवर के हाथ में था जिसके कारण उन्नति रुक गई थी। सारा प्रेस दिखाया गया, केदारखण्ड

भी मिल गया। प्रेस के मालिक तरुण मठ भी मिले।

वहाँ से पार्टी के केन्द्रीय आफिस में गए, कुछ परिचित मित्रों से मुलाकात हुई।

अगले दिन ३० नवम्बर को डा० हेमचन्द्र जोशी से मिलने गया। आजकल वह यहाँ 'धर्मयुग' साप्ताहिक का सम्पादन कर रहे थे। इलाचन्द्र जोशी भी यहीं पर थे। 'धर्मयुग' को नये तौर से चालू करना था तब इनके लिए उनकी योग्यता से लाभ उठाना था जब इनका परिश्रम और वर्ग-पहेली के कारण धर्मयुग ५० हजार से भी अधिक छपने लगा तो इनकी जरूरत नहीं रही। और मटरु ने पत्ता बना लिया। डांगे से मिलने गये। वह उस वक्त घर पर ही थे। कितनी ही देर तक बातचीत होती रही। डांगे सबसे पुराने तपे हुए मजदूर नेता और मार्क्सवाद के पण्डित ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहास और राष्ट्रनीति के भी गम्भीर विद्वान हैं। उनके साथ बात करने में आदमी को आनन्द आता है। वह कह रहे थे हम पार्टी की नीति सम्बन्धी होनी बड़ी गलती की गई है जिससे पार्टी को बहुत हानि पहुँची है।

उसी समय एक चीनी फिल्म का निजी प्रदर्शन मद्रास स्टूडियो (ताड़देव) में हो रहा था। इस फिल्म देखने का बहुत कम ही मिलने के जो मिलने के पास बनने हो। इस मौके से लाभ उठाये बिना मैं कैसे रह सकता था। पास भी मिल गया था। एक चीनी ग्राम तरुणों का जीवन इसमें चित्रित किया गया था। कैसे उनने हमलावर जापानी आक्रमणकारियों के हाथों अपने प्राण लाये और उसके पहले कितने साहस के बड़े-बड़े काम किये यह उसमें दिखाया गया था।

१ दिसम्बर को देखा, बाईं धुन्न का छिला भाग हरा हो गया है। दवाई लगाई, पानी से पोंछ बचाया भी पर अब ठीक नहीं हुआ। आज अनुवाद समिति की बैठक थी, इसलिए वहाँ जाना जरूरी था। समय था इसलिए पहले म्यूजियम में डा० मोतीचन्द्र के पास गया। फिर उनसे ही बातचीत होती रही और म्यूजियम नहीं देखा। समिति की बैठक में

घंटे तक चली। पं० लक्ष्मण शास्त्री और डा० मंगलदेव शास्त्री के किए हुए अनुवादों को दोहराया गया। डा० मंगलदेव शास्त्री, डा० बाबूराम सक्सेना, सुनीति बाबू और डा० काणे उपस्थित थे। डा० कुन्हन राजा संस्कृत पढ़ाने ईरान चले गए थे, इसलिए उनके आने की आशा नहीं थी। अब रोज अपराह्न में समिति की बैठक होने लगी। सोमवार को श्री बालसुब्रह्मण्य अय्यर और महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा भी आये, लेकिन सुनीति बाबू और डा० बाबूराम चले गये। अनुवाद का काम उधर चलता रहा, और इधर मेरे घाव ने अपना रूप दिखाना शुरू किया। तब भी एकाध दिन रोका। 'रिपु रुज पावक पाप इनहिं न गनिय छोट करि।' की सूक्ति दिमाग में चक्कर काटने लगी जब डाक्टर की शरण लेना अनिवार्य जान पड़ा। सेठजी के मकान के पास ही उनके डाक्टर थे। उन्होंने मूत्र की परीक्षा करके बतलाया कि चीनी दो सैकड़ा है, रक्तदाब १७० १६० है, जो थोड़ा सा अधिक है। पैरों में हल्की सूजन भी है। आज उन्होंने इन्सुलिन दे दी। अभी तक मैं इन्सुलिन का एकान्त भक्त नहीं हुआ था, उससे बचना चाहता था। बस सूई लेने में कोई घबराहट नहीं होती। डाक्टर ने कहा, आवश्यकता हुई तो कल पेनिसिलिन देंगे, और तब तक के लिए पेनिसिलिन की दस गोलियाँ खाने के लिए भी दीं। सोच रहा था—"अवहित भार हूँ। जीवन में करणीय से अधिक कर चुका हूँ इसलिए मृत्यु का जरा भी भय नहीं, अफसोस नहीं। तो भी बुरी मौत मरने की आवश्यकता क्या?" अब पैर पर अपना पूरा अधिकार नहीं था लेकिन अवलम्ब रखने की उतनी आवश्यकता भी नहीं थी। समिति की बैठक की जगह पर कार से पहुँच अपनी कुर्सी पर जा बैठता।

कोरिया की स्थिति ने अब गम्भीर रूप धारण किया थ
३५ अक्षांश को पार कर आगे बढ़े, अपने को बड़ा तीसमा
था लेकिन जब चीनी सैनिकों से पाला पड़ा तो उनकी
मच गई। जान पड़ने लगा कि चांग काई शेक की तरह
भी चीनी बहादुर प्रशान्त सागर में फेंक कर ...

माणु बम इस्तेमाल करने की धमकी दी। धमकी ही नहीं, उसने इस्तेमाल करने के लिए वह तुला दीख पड़ा। पश्चिमी यूरोप के उसके पिट्ठू घबड़ा उठे। रूस के पास भी परमाणु बम था वह अमरिका को खुला छोड़ नहीं सकता था। रूस के परमाणु बमों के सबसे पहले शिकार इंग्लैण्ड और फ्रांस होते और वहाँ "रहा न कोउ कुल रोवनिहारा" की नौबत आती इसलिए एटली यह समझाने के लिए भाग भाग अमरिका गए परमाणु बम इस्तेमाल न करें और चीन के साथ सुलह की जाय।

पेनिसिलिन और इन्सुलिन दोनों का इन्जेक्शन होने लगा। यहाँ से चलने के पहले घाव को सूख जाना चाहिए था। पर डायबीटीज ऐसी बात सुनने के लिए तैयार नहीं थी। बम्बई के कौंसिल भवन में ही हमारी बैठक होती थी म्यूजियम भी वहाँ से बहुत दूर नहीं था। ५ दिसम्बर को संग्रहालय में डा० मोतीचन्द्रजी से एक घंटे बातें होती रहीं। वहीं पटना के एक क्यूरिया विसना मिल गये। वह रहे थे हमारे पास ४० हजार हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इनमें और जालानजी ने राजगुरु पं० हेमराज की बहुत सी पुस्तकें खरीद ली हैं। राजगुरु ने बड़ी मेहनत से जिन्दगी भर कितना ही तालपत्र और दूसरी दुर्लभ पुस्तकें जमा की थी। इस तरह का संग्रह मिलना ाहित्य या किसी राष्ट्रीय संग्रहालय या पुस्तकालय का। अब वह इस तरह कष्ट रहा था। निजी संग्रहों में अनमोल वस्तुओं को सुरक्षित रखना संभव नहीं है यही ख्याल करके मैंने अपने संग्रह को पटना म्यूजियम और बिहार रिसर्च सोसाइटी को दे दिया था।

आज ही ७८ वर्ष की उमर में श्री अरविन्द घोष के देहान्त की खबर मिली। महर्षि रमन और अरविन्द आध्यात्मिकता के महान् प्रकाश-स्तम्भ थे। मेरी दृष्टि में भले ही वह महान् अन्धकार स्तम्भ रहे हों पर लाखों उनको मानते थे। सेठ-सेठानी तथा राजा रानी तो उन्हें अंतिम अवतार समझ कर आरती उतारते थे। अफसोस है यह दोनों चले गए। लेकिन पूरी उम्र पाकर ही इसलिए किसी को निराश करने की गुंजाइश नहीं। दोनों का विदेशों में पिछली चौथाई शताब्दी में धुआंधार प्रचार हुआ

था। अरविंद के चेले कहा करते थे कि उनका शरीर कभी नहीं विकृत होगा लेकिन दो ही दिन में जब गंध आने लगी तो जल्दी जल्दी उन्हें बक्स में बन्द करके दफना दिया गया। हिन्दुओं ने दफनाने की प्रथा बहुत पहले ही छोड़ दी थी, और उसकी जगह जलाने की स्वास्थ्यकर प्रणाली अपनायी थी। पर चेलों को तो अरविन्द की कब्र पुजवानी थी इसलिए क्यों उसे जलाने लगे? दोनों आध्यात्मिक प्रकाशस्तम्भों में आपस में नहीं बनती थी। कभी एक जगह बैठने का तो उन्हें मौका नहीं मिला पर मन ही मन समझते थे कि एक जंगल में दो सिंह नहीं रह सकते। विश्वासियों को घबराने की जरूरत नहीं अगर उनके पास मूढ़ श्रद्धा मौजूद है तो अघोरपुंज के दूसरे महास्तम्भ खड़े होने में मुश्किल नहीं होगी। देर लगेगी लेकिन कल्की अवतार आयेंगे जरूर। अरविन्द के मरने से सारी बम्बई पर शोक छा गया यह कहना गलत है क्योंकि वह केवल उस वर्ग के पूज्य और परिचित थे जिनकी संख्या अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। उन लोगों में जरूर शोक छाया हुआ था।

६ दिसम्बर को डा० जगदीशचन्द्र जैन से मिले। फिर अंधेरी में सरदार पृथिवीसिंह से मिलने गया। सरदार आजकल यहाँ नहीं थे और प्रभा भाभी जो पुत्र विजय के साथ घूमने गई थी इसलिए दोनों से मुलाकात नहीं हो सकी।

७ दिसम्बर को डा० मोतीचन्द और उनके एक पारसी मित्र के साथ ताज होटल में चाय पीने गया। पारसी सज्जन पीतलों और पीतल की मूर्तियों के संग्राहक तथा उत्साही जिज्ञासु थे। वहाँ से डा० मोतीचन्द दूसरे होटल में ले गये जहाँ मुगमुसल्लम का भोज हुआ। उनके चचा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने समय के समाज से बहुत आगे बढ़े हुए थे, लेकिन मुगमुसल्लम का साहस उन्होंने भी कभी नहीं किया होगा। यदि जीते जी यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ तो श्राद्ध का मुगमुसल्लम तो मौजूद था। आओ परमवैष्णव, और नहीं तो 'घ्राणम् अर्द्ध भोजनम्' ही सही।

८ दिसम्बर को फिर अंधेरी गए। अब के प्रभा बहिन मिलीं। विजय

की बहिन प्रभा भी समारोह में आई थी। वहीं भोजन हुआ। फिर पिछले कई सालों की बीती बातें सुनीं। सरदार का एक पैर बम्बई में और एक पर भावनगर में रहता है। प्रभा बहिन बच्चों की शिक्षा का ख्याल करके बम्बई छोड़ने के लिए तैयार नहीं।

९ सितम्बर को अन्तिम बार समिति में तीन चार घंटे रहा। भारतीय विद्या भवन में आज ही भारतीय संस्कृति पर भाषण देना था। मुनि जिनविजयजी समिति के सदस्य होने के कारण वहीं मिल गये थे, वही इस सभा के सभापति थे। मुनिजी बहुत वर्षों तक भारतीय विद्या भवन के संचालक रहे, उसके प्रतिष्ठाता श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीजी थे। मुनिजी भारतीय संस्कृति और विद्या के गम्भीर साधक विद्वान थे। हम दोनों का परिचय भी साधारण नहीं था। उन्होंने 'प्रमाण वार्तिकभाष्य' को यहाँ से प्रकाशित करना चाहा था, जिसमें वह सफल नहीं हुए। तिब्बत से एक दूसरी महत्त्वपूर्ण ताल पोथी हर्षवर्धन शीलादित्य के गुरु गुणप्रभ की महान् कृति 'विनयसूत्र' को उतारकर मैं लाया था, जो सारे विनयपिटक का सार था। सूत्तपिटक के बारे में जो काम वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोश के रूप में किया, वही काम विनयपिटक के सम्बन्ध में गुणप्रभ ने किया था। तिब्बत में पाँच मूल पाठ्य ग्रंथों में एक यह भी है। इसका तिब्बती अनुवाद का पता तो लगा था, पर मूल के मिलने की आशा नहीं थी। मैं उसे बड़ी साध के साथ वहाँ से उतारकर लाया था। हिन्दुस्तान में पहले विद्या भवन ने उसे छपवाना शुरू किया था। सारी पुस्तक १९४७ में ही छप चुकी थी, सिर्फ भूमिका के लिखने की जरूरत थी, जिसके लिए मैं व्यग्र था। पर ४७ में छप गई पुस्तक १९५६ में भी प्रकाश में नहीं आई। शायद हमारी अगली पीढ़ी को इसे देखने का अवसर मिलेगा। यह दीर्घ सूत्रता मेरे लिए असह्य थी, लेकिन शिकायत से क्या होता है? मुनिजी अब बम्बई में रहते भी नहीं थे। चित्तौड़ में चार मील पर ऋषि-आश्रम बनाने की धुन में थे और साथ ही राजस्थान सरकार ने भी अपने अनुसन्धान प्रतिष्ठान का भार उन्हें सौंप दिया है, इसलिए उन्हें भी क्या

दाप दिया जाए ?

आज ही शाम को पोद्दारजी के यहा जुट गय। पाँच वर्ष के लिए जमीन मिली थी, जिस पर ५० हजार रुपया खर्च करके बंगला खड़ा कर दिया गया था। साल का दस ही हजार तो हुआ। स्थान हवादार और स्वास्थ्यप्रद था इस कहने की आवश्यकता नही। सेठ घनश्यामदास सरल प्रकृति के मितभाषी और मारवाडी सेठों के बहुत से दुगुणो से मुक्त पुरुष हैं। इस समय लखनऊ के एक कलाकार तरुण उनके यहा ठहरे हुए थे। वह नाक से सितार शहनाई वीणा ऐसी सुन्दर बजाते थे, कि असल और नकल में भेद करना मुश्किल था। कई भाषाओं में बोलने में वह गजब का अनुकरण करते थे। इस दिशा में उनकी प्रतिभा गम्भीर कला का रूप ले सकती थी, किन्तु अभी इन चीजों को मामूली कौतूहल साधन तक ही सीमित रखा जाता है। रात को मैं भी यही जुहू में रहा। अगले दिन सबेरे उठकर समुद्र तट पर गया जो कुछ ही हाथो पर नीचे तरंगित हो रहा था। पैर अभी ऐसी स्थिति में नही था कि बहुत दूर तक चहलकदमी कर सकता। आस पास में दिखला सेठ आनन्दीलाल पोद्दार आदि के भी बगले थे। जमनालाल बजाज ने यहाँ बहुत सी जमीन मिट्टी के मोल खरीद ली थी जो अब सोन की हो गई थी। चारो ओर बगले बगलिया और सौध बनते जा रहे हैं। यहाँ तक बस आ जाने के कारण कम खर्च में आने-जाने का भी लोगो को सुभीता था। मलाबार हिल से यह जगह अधिक ठडी थी किन्तु बम्बई में सर्दी की बात करने की जरूरत ही नही वहाँ तो माघ-पूस में भी सिनेमा घरो में पंखे चलाने पडते हैं।

आज पूर्वाह्न में माटुंगा के मद्रासी बन्धुओं की हिन्दी कक्षा में भाषण देने जाना पड़ा। वहाँ तरुण-तरुणियाँ सैकडो की संख्या में उपस्थित थे, और बतला रहे थे कि तमिलभाषी लोग भी हिन्दी के महत्त्व को समझते हैं। मैंने अपने भाषण में पल्लव-संस्कृति पर बहुत बतलाया था, कि तमिल भूमि की संस्कृति ने जावा और कम्बोज पर कितना प्रभाव डाला था।

आज भी खाने के बाद १ बजे से ४ बजे तक अनुवाद समिति में रहा।

वर्धा—गाड़ियों में अब भी बहुत भीड़ रहा करती थी, लेकिन मैंने पहले दर्जे की एक बर्थ पहले ही से रिजर्व करा ली थी। हमारे डब्बे में एक मारवाड़ी दो पिता पुत्री बच्ची और मैं चार ही आदमी थे। वे तीनों उड़ीसा (बंगाल) के नेपाल बाबा के पास जा रहे थे। लड़का नेपाल उड़ीसा में ईसा मसीह का अवतार बनकर पैदा हुआ था। अंधे जाते और वह एक आँख देख लेना, आँख मिल जाती। लँगड़े लूले जाते और दर्शन मात्र से वह पैरों से दौड़ने लगते। कोढ़िया की कंचन काया बन जाती, निर्धन मालामाल हो जाते। कौन सी तकलीफ और आफत थी, जिसको नेपाल बाबा के दर्शन मात्र से नहीं हटाया जा सकता था। बच्ची वृद्ध की लड़की की एक आँख में बहुत बड़ी फूली पड़ी हुई थी बस वह तरुणी और सर्वांग सुन्दरी थी। नेपाल बाबा यदि उसकी फूली को हटा देंगे, तो फिर वह किसी मनका से कम नहीं होगी। इस लालसा से वह पिता के साथ जा रही थी। मारवाड़ी सज्जन भी अपनी किसी गरज के लिए जा रहे थे। सारा ट्रेन में मालूम होता था नेपाल बाबा के भक्तों का डब्बा था। बड़ी भीड़ थी। लोग आपस में बात भी कर रहे थे तो नेपाल बाबा ही की। मैं दिलचस्पी से उनकी बातें सुन रहा था, लेकिन अपनी तरफ से कोई श्रद्धा नहीं प्रकट कर रहा था। ट्रेन दिन ही में रवाना हुई थी। घंटा-डेढ़ घंटा तक हमारा ओर से नेपाल बाबा की भक्ति के बारे में कुछ भी न निकलते देखकर एक ने स्वयं कहा—"ऐसे महात्मा का दर्शन भाग्य से मिलता है।" मैंने कहा—"इसमें क्या शक?" ट्रेन में तिल रखने की जगह नहीं, यही इसका प्रमाण था उन्होंने कहा—"आप भी चलिए।" मैंने कहा—"मेरे कहाँ भाग्य कहाँ, कि उस दिव्य पुरुष के दर्शन कर सकूँ।" उन भोले भक्तों के सामने मैं नेपाल बाबा के बारे में मन टूटने की बात कहने की क्या कोशिश करता।

११ दिसम्बर के सबेरे ८ बजे मैं वर्धा स्टेशन पहुँचा। आनन्दजी और दूसरे मित्र स्टेशन पर मौजूद थे। हिन्दी नगर में जब भी जाता, वहाँ कुछ वृद्धि अवश्य दिखाई पड़ती। अबकी अतिथि भवन तैयार हो चुका था। एक कुएँ पर बिजली का पम्प भी लग गया था। साहित्यिक योजना के बारे में

कुछ वातचीत हुई, और कार्यकर्ताओं के वेतन और दूसरे खर्च का हिसाव लगाया गया। शाम को टाउन हाल में वर्तमान परिस्थिति पर व्याख्यान दिया। विनोदजी को परिचय का काम मिला और अतिशयोक्ति के लिए उनकी जीभ पर शारदा बैठ गई।

१२ दिसम्बर को २ बजे आनन्दजी और विनोदजी के साथ नागपुर गया। वहां लश्करिया की पाठशाला में पहले भाषण देना पड़ा फिर नागपुर महाविद्यालय (मॉरिस कालेज) में छात्रों और अध्यापकों के सामने हिन्दी साहित्य और परिभाषा पर बोला। रात को डेढ़ घंटा साहित्यिक गोष्ठी हुई जिसमें यहां के सर्वोच्च अधिकारी तथा नागरिक सम्मिलित हुए। बहुत तरह के प्रश्न पूछे गए उनमें हिन्दी की रुचि को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।

१३ दिसम्बर को हम यहां से मसूरी को प्रस्थान करना था। घाव का घाना-बांधना अब भी वैसे ही चल रहा था और वह सूखने का नाम नहीं ले रहा था। दोपहर की गाड़ी पकड़ने से पहले राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा से मिलना ठीक हुआ था। प० हरिकिशन शर्मा पकवासाजी की सुयोग्य पुत्रवधू के हिन्दी अध्यापक थे। उनके ही आग्रह पर इसे स्वीकार किया और पौने ६ बजे राजभवन में पहुंचे। प्रातराश के साथ ही वातचीत भी करनी थी। एक सुशिक्षित सस्कृत शिष्ट देशप्रेमी के अनुसार ही वहां सवाल जवाब हुए। पकवासाजी स्वयं भी डायबटीज के मरीज थे। उन्होंने अपने तजर्बो को बतलाया और हम दोनों की बड़ी इच्छा प्रकट की। उस समय अभी हमारे कांग्रेसी नेता रूस से भड़कते थे, और आजकल की तरह की आशा नहीं की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

मसूरी—राजभवन से स्टेशन आकर गाड़ी पकड़ी। फिर अनेक बार चले उसी रास्ते से इटारसी की ओर चला। भोपाल रास्ते में पड़ा। अगले दिन (१४ दिसम्बर) को सवेरा आगरा में हुआ, ११ बजे दिल्ली आई। दिल्ली में उतरना था। घाव की भी देखभाल करनी थी। भैया के स्थानीय मनेजर श्री गौरीलाल धानका स्टेशन पर आये हुए थे। उनके साथ गली में

उनके घर पर गए जो पुरानी दिल्ली के मोहल्ले में था। यहां आधे हिन्दू और आधे मुसलमान रहा करते थे। विभाजन के बाद सारे मुसलमान पाकिस्तान चले गए और उनके घरों में पंजाब के शरणार्थी रहने लगे। श्री गौरीशंकरजी भी उसी तरह अब एक कोठरी में रहते थे। दोपहर का भोजन करके तीन घंटा सोना रहा। आगे देहरादून तक न जाने सोने को मिले या नहीं, इसलिए पहले ही कमी पूरी कर देना चाहता था। पालू करके ८ बजे फ्रंटियर मेल पर सवार हुआ। जगह पहले ऊपर मिली। एक तो डायबेटीज वाले को पेशाब के लिए उठना पड़ता है, इसलिए भी ऊपर की सीट अनुकूल नहीं होती, पर अब तो जख्म भी हो गया था। दूसरे सज्जन ने अपनी सीट हमें दे दी। घाव की मरहम-पट्टी हुई, लेकिन उसमें कुछ भी सुधार नहीं मालूम होता था।

सहारनपुर तक ही इस ट्रेन में जाना था, जहां रात २ बजे से पहले पहुँच गया। अखबार वाली कार में बैठकर साढ़े ५ बजे किताबघर पहुंचा। वहीं से सामान उठवाया, और उपाध्याय में ही हो विन्प" आ गया। देखा, पन्नाबाई ने पादप बैठाने के लिए जमीन साफ की थी। महादेवजी के दाहिने हाथ में इधर कितने ही दिनों से दर्द था, वह लिखने में असमर्थ थे। अब वह चश्मे की साफ रहे थे। पर, मैंने कहा—'कोई लिपिक आ ही रहा है इसलिए उसकी चिन्ता न करें। अपना पट्टा खोली तो घाव का देख देखकर जान पड़ा अस्पताल जाना पड़ेगा। लेकिन कमला को विशारद की परीक्षा इसी महीने देनी थी। अस्पताल यहां से बहुत दूर लण्ढौर के पास था। वहां जाने में न जाने कितना समय लगे, इसलिए तब तक मरहम पट्टी यहीं करने का निश्चय किया।

आज सरदार वल्लभभाई पटेल का बम्बई में देहान्त हो गया। "कांग्रेस में वही एक आदमी था जो कुछ करने की क्षमता रखता था। चाहे शून्य न भी हो।' रियासतों का एकीकरण सरदार का सबसे बड़ा काम था और हैदराबाद का ठीक करना उसमें भी बड़ा काम। कांग्रेस के नेता के ये काम हमेशा स्मरणीय रहेंगे। येन म पटा वे सदा बड़े समर्थक थे, और

अपने रास्ते में किसी रोड़े को फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहते थे।

कमला के साथ रहते अब डेढ़ वर्ष से ऊपर हो गया था। उन्हें आगे बढ़ाने में पहला कदम यही हुआ था कि इस साल वह विशारद में बैठने वाली थी। उन्हें मेरे साथ और मुझे उनके साथ रहना था। इतने दिनों में हम एक-दूसरे की प्रकृति से काफी परिचित हो चुके थे। स्त्री पुरुष के ऐसे घनिष्ट सम्बन्ध को अनिश्चित स्थिति में रखना ठीक नहीं था। पुरुषों के राज में स्त्रियों के लिए यह स्थिति और भी असह्य थी। इसलिए १८ दिसम्बर को हमने निश्चय किया कि दोनों पति पत्नी बन जाएँ। मुझसे हिचक सबसे बड़ी आयु की थी। मैं नहीं चाहता था कि तरुण जीवन को बन्धन में डालूँ। २३ दिसम्बर को उषा—बाबा के साथ डा० सत्यकेतु और शीलाजी ११ बजे आ गए। नागार्जुन के आने की आशा थी लेकिन अभी वह नहीं आ पाए थे। महादेव भाई साथ ही थे। १२ बजे के करीब डा० सत्यकेतु पुरोहित बने और हम दोनों का ब्याह हो गया। साहित्यिक काम और मेरे स्वास्थ्य के बारे में इस साल जो देखभाल कमला ने की थी वह बड़ी ही श्लाघनीय थी। डायबटीज का शिकार शरीर हो ही चुका था इसलिए उसको ठीक से चलाने में भी कमला के हाथ की जरूरत थी। यदि मैं ऐसे न करता तो यह हद दर्जे की स्वार्थपरता होती और कमला के साथ भारी अन्याय भी। अगले दिन (२४ दिसम्बर को) परीक्षा देने के लिए कमला को देहरादून जाना था, जिससे पहले इस काम को कर लेना था।

१६ दिसम्बर को भी घाव की वही हालत रही। अब इन्सुलिन का इन्जेक्शन स्थान में पहले रोज लेने लगा मिथाजोल की गोलियाँ भी खाई। घाव में बचाना तथा इन्सुलिन को बराबर लेते रहना है अब यह साफ दिखलाई देने लगा। जब तक घाव है तब तक तो इन्सुलिन से पिण्ड नहीं छूटना लेकिन पीछे के लिए समझता था कि उसे लगातार नहीं लूँगा, भोजन का संयम रखूँगा। पर यह करना आसान काम नहीं था। वर्ष के अन्त में ३१ दिसम्बर को डायरी में लिखा—"अभी भी घाव अच्छा नहीं हो रहा है। रोज चाहता हूँ परिवर्तन लगा। दो ढाई महीने के करीब यह घाव मेरे

साथ रहा। उसने शिक्षा दी कि अब इन्सुलिन का राज लेना चाहिए, और घाव से जितना बचा जाय उतना बचना चाहिए। मसूरी में रहते उसकी संभावना कम थी, लेकिन बाहर जाना चाहे रेल की हो मोटर की या पैदल घाव का डर बना ही रहता है इसलिए मैंने बाहर जाने का ख्याल छोड़ दिया। पहले इन्सुलिन शाम-सवेरे दो वक्त लेता रहा फिर सोचा यदि खाना शाम का छोड़ दें तो दो बार सूई चुभाने की जरूरत नहीं होगी। तब मैं शाम का खाना छोड़ दिया। पीछे डाक्टर ने बतलाया उस वक्त अधिक खाने से हृदय को बहुत काम करना पड़ता है, हृदय का दर्द उसी के कारण है। तब २४ घण्टे का इन्सुलिन लेकर दोनों वक्त खाने लगा भेद न काम करने से इन्कार कर दिया, और खट्टी डकारें आने लगी। इसलिए दो वक्त में चाय के वक्त थोड़ा भोजन करके मध्याह्न भोजन को ही मुख्य बनाने का निश्चय किया। घाव न रहने पर इन्सुलिन न लेने से पेशाब का अधिक आना मुह का सूखा बना रहना और साथ ही दिमाग में एक तरह का खुमार सा बना रहना बुरा था जिसके कारण ही इन्सुलिन-अनी चलना पड़ा।

२४ दिसम्बर को परीक्षा देने के लिए कमला देहरादून गई। वह परीक्षा ही देने के लिए नहीं गई थी, बल्कि उन्हें अब की कलिम्पोंग भी जाना था, अर्थात् महीने भर बाद ही वह लौट सकती थी। उस दिन बादल छाया था, सर्दी बहुत बढ़ गई थी। आग जलाई तो चिमनी का रास्ता रुका हुआ था, सारे घर में धुआं भर गया। रात को पानी बरसा। २५ को बड़े दिन का सवेरा आया। वर्षा हिमपात के रूप में परिणत हो गई। दोपहर तक हमारी क्यारियाँ और रास्ता बर्फ की सफेद चादर से ढँक गया। हवा बिल्कुल बन्द था। बर्फ वृक्षों के पत्तों पर, पत्ते-पत्ते पर पड़ गई, सामने की विलायती मजूर पहाड़ हाथी के कान जैसे अपने पत्तों को हिलाकर बर्फ के फाया को हटाना चाहता थी, पर जब हवा बन्द हुई तो पत्तों पर भी फाये चिपकने लगे। आसपास और न्यारे मकान की सारी छतें सफेद हो गईं। कीट-पतंग पशु-पक्षी कहीं किसी का आवाज नहीं सुनाई देती, चारों तरफ नीरवता का अखण्ड राज था। बरामदे में दिन में भी तापमान ३४ डिग्री था, बाहर और

भी कम, इसलिए बर्फ के पिघलने का कोई सवाल नहीं था। मैंने ज्यादातर चारपाई पर बैठे बैठे "गढ़वाल" लिखने में अपना समय बिताया। अगले दिन 'प्रथम हिमपात' के नाम से एक छोटा-सा लेख लिखकर "नवयुग" को भेजा। आज बर्फ पिघलने लगी, लेकिन आकाश से बादल बिल्कुल हटे नहीं थे, तो भी सूर्य बीच बीच में झाँककर दीखता था। २६ को महादेवीजी देहरादून से आ गये।

हमारे पड़ोसी लेडली परिवार और पूसन परिवार ईसाई एंग्लो इण्डियन थे। दोनों के ही साथ हमारा सम्बन्ध बहुत अच्छा था। बड़े दिन का पर्व उनके लिए वैसा ही महत्व रखता था, जैसा हमारे लिए होली दीवाली। चाहे हम उसके धार्मिक अंश पर विश्वास न रखें, पर बचपन से उसके कारण जो मीठे पकवान खाये हैं, परिवार और समाज में जो उल्लास देखा है, वह अब भी अपना आकर्षण पैदा किये बिना नहीं रह सकता।

२९ को महादेवजी फिर देहरादून गए। उनसे कह दिया, यदि कमला कलिम्पोंग जाना चाहे, तो इसी वक्त हो आए। कमला परीक्षा देकर वहाँ गई भी।

३० दिसम्बर को सर्दी बढ़ गई थी। प० सुखलालजी ने अपने सम्पादित "हेतु बिन्दु" की एक प्रति भिजवाई। धर्मकीर्ति की इस महत्वपूर्ण पुस्तक का मूल संस्कृत नहीं मिला था। किसी जैन भंडार में अर्चट लिखित इसकी टीका मिली थी, और दुर्वेक मिश्र की उस पर अनुटीका तिब्बत में मैंने लिया था। प० सुखलालजी ने इन्हें सम्पादित करने का भार लिया। मैंने तिब्बती के आधार पर उसके मूल को भी संस्कृत में कर दिया। तीनों चीजें एक साथ छपी हैं, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई—धर्मकीर्ति की एक और कृति मूल भाषा में उनके अभ्यासियों के सामने आ गई।

१९५० का अंतिम दिन (३१ दिसम्बर) रविवार को पड़ा। साल भर का लेखा जोखा देखने पर मालूम हुआ कि इस साल 'मधुर स्वप्न' और 'दार्जिलिंग परिचय' प्रकाशित हुए। 'कुमाऊँ' लिखकर प्रेस में भेजा था, किन्तु १९५६ के अन्तिम मास में ही उसके छपने की नौबत आई। "आदि

हिन्दी" की छपाई में हाथ लगा और "गढ़वाल" के दो सौ पृष्ठ लिखे जा चुके। अपने काम से सन्तोष था। पर अभी सामने ढेर का ढेर काम पड़ा हुआ था। सबसे बड़ा काम था "मध्य एसिया का इतिहास" जिसमें न जाने कितना समय लगेगा। इस साल बाहर न जाने का संकल्प रहते भी कलिम्पोंग, कलकत्ता, दिल्ली, प्रयाग, अमृतसर, बम्बई तथा नागपुर, हैदराबाद जाना पड़ा। शरीर में शक्ति की कमी नहीं मालूम होती थी, तो भी घाव विकट रूप ले रहा था, इसकी चिन्ता जरूर थी।

मसूरी में रहते प्रायः ६ महीने हो गये थे। यहाँ का प्रथम आकर्षण न रहने पर भी वह अच्छी मालूम होती थी। आबोहवा बिल्कुल अनुकूल थी। सर्दी मेरे लिए परेशानी की चीज नहीं थी और सफेद-सफेद बर्फ को देखने में तो बस ही आनन्द मिलता, जैसे हरे हरे देवदारों के वन को देखकर। परिचित अधिक बढ़ाना पसन्द नहीं था, क्योंकि उसमें समय के अपव्यय का ख्याल था, तो भी सहृदय हितैषियों से मिलकर जो आनन्द प्राप्त होता है उससे वंचित रहना मैं भी नहीं पसन्द करता था। 'हैप्पी विला' से बाजार की ओर आने जाने में थोड़ी-सी चढ़ाई पड़ती थी, जो बिल्कुल मालूम नहीं होती थी और न हृदय पर उसका किसी तरह का भार मालूम होता था। डायबिटीज से यद्यपि इस वक्त परेशान था, किन्तु चीनी इतनी नहीं जा रही थी कि जिसका वजन पर असर पड़ता।

खेती-बारी का तजर्बा अभी नया-नया था और यह भी उस समय का जबकि गर्मी का मौसम बीत चुका था। घण्टे डेढ़ घण्टे निकालकर खेत में काम करना मैं चाहता, और करता भी था। कितना ही साग-सब्जियों से निराश होकर भी हिम्मत छोड़नेवाला नहीं था। बर्फ के दिनों में राई और गोभी डटा रहा। बर्फ पिघलते ही उनकी हरी हरी पत्तियाँ फिर चमकने लगीं। टमाटर ने मुरझाकर फिर उठने का नाम नहीं लिया। लाल मिर्च की भी स्थिति वैसी ही दीख पड़ी। तभी सुना कि अगर गमले के भीतर रखकर नट का ही मृत न होने दिया जाय तो वसन्त में वही पेड़ फिर पत्ते और अंकुर देने लगते हैं, और सबसे पहले इनमें फल लगते हैं। हर साल

उनकी रक्षा मे हम यथोचित ध्यान नही दे सके, लेकिन तो भी इन्होंने, विशेषकर मिर्च ने निराश नही किया। १९५० की लगाई एक लाल मिर्च तो आज भी उसी तरह तयार है, और हर साल सैकड़ो फल देती है। कड़वी इतनी, कि बड़े बड़े सूरमाओ के दांत खट्टे कर देती है। प्रो० विश्वनाथ शुक्ल बड़ी डींग हांकते थे। जब घर की एक छोटी सी मिर्च उनके सामने रख दी गई तो उन्होने हार मान ली। मिर्च का बिल्कुल बायकाट तो नही करता पर हमारे घर मे मिर्च प्रेमियो की कमी नही है। कमला का तो उसके बिना सरता ही नही।

• • •